तुलसी-साहित्य
की
अर्थ-समस्याएँ
और
उनका निदान

शोध-प्रबन्ध
इलाहाबाद विश्वविद्यालय की
डी० फिल्० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

निर्देशक

डॉ० जगदीश गुप्त

शोधार्थी

नरेन्द्रदेव पाण्डेय

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

जनवरी १९७७

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएं और उनका निदान। साहित्य के आन्तरिक रूप को अर्थ और बाह्य रूप को शब्द कहते हैं। अर्थ को शब्दों में सम्बद्ध करना ही साहित्य है। तुलसी साहित्य का तात्पर्य तुलसी के मौलिक प्रामाणिक ग्रन्थ, जिनमें द्वादश ग्रन्थों को मान्यता प्राप्त है। सामान्यतया समस्या के साथ समाधान शब्द जोड़ दिया जाता है, परन्तु वस्तुतः समाधान शंकाओं का होता है। समस्याओं का तो निराकरण ही किया जा सकता है, अथवा निदान। निदान का तात्पर्य कारणों की व्याख्या तथा अन्तिम परिणाम से लिया जाता है, जिसमें निराकरण एवं समाधान का भाव भी स्वतः आ जाता है। अतएव मैंने समाधान एवं निराकरणों की तुलना में निदान शब्द को वरीयता दी। यह इसलिए भी किया कि बहुत से स्थलों पर समाधान संभव ही नहीं हो पाता है, केवल निराकरण अथवा कारणों का स्पष्टीकरण ही संभव होता है। कभी-कभी ऐसा करना ही पर्याप्त प्रतीत होता है।

तुलसी-साहित्य एक सजीव, चिंतन अनुशीलन साहित्यिक मूल्यांकन एवं लोक-सम्पृक्तिपरक रामकथा के आदर्श एवं भक्तिमूलक पाठ और पारायण की जीवंत एवं प्रवहमान परंपरा से जुड़ा हुआ है। रामचरितमानस एक ऐसी कालजयी, देशजयी रचना है जिसकी विश्व के प्रमुख देशों के अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मानस का इन दृष्टियों से विशेष महत्त्व होते हुए भी पंडितों द्वारा तुलसी से इतर ग्रन्थों से भाव-साम्य, अर्थ-साम्य तथा विचार-साम्य के प्रभूत प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अपने मत को संपुष्ट करने की प्रवृत्ति भी पर्याप्त सक्रिय मिलती है। फलतः तुलसी साहित्य का ऐसा अर्थ- अनुशीलन कार्य नहीं हो सकता, जिसे सर्वथा अन्तिम कहा जा सके। किन्तु इतना अवश्य है कि बहुत काल से चली आती हुई अर्थ-समस्याओं को व्यवस्थित रूप से वर्गीकृत एवं विश्लेषित करने की आवश्यकता बनी हुई थी, जिसकी पूर्ति प्रस्तुत अध्ययन के रूप में करने का प्रयास किया गया है। शोध की दृष्टि से समस्त साहित्य का मंथन

करने पर अनेक अर्थ-समस्याएं सामने आयीं, किन्तु प्रबन्ध की सीमा को देखते हुए सबका एक साथ निदान करना असंभव है । अत: प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तुलसी साहित्य के प्रमुख स्थलों की अर्थ-समस्याओं के निदान को प्रस्तुत किया गया है । पंडिताऊ ढंग के शंका-समाधान से अलग हटकर प्राचीन संस्कृत की टीका परम्परा तथा आधुनिक काव्यभाषात्मक विश्लेषण-विवेचन की पद्धति को ध्यान में रखकर इस कार्य को साहित्यिक गरिमा के साथ वास्तविक रूप में पूरा करने का सम्यक् उपक्रम किया गया है । संभव है कुछ और समानान्तर अर्थ-समस्यायें आगामी अनुशीलकों द्वारा की जाय, परन्तु ऐसा विश्वास है कि वे किसी न किसी रूप में प्रस्तुत अध्ययन के वर्गीकरण से सर्वथा असम्बद्ध सिद्ध न होंगे ।

तुलसी साहित्य का महत्त्व शाश्वत एवं स्थायी है । एक ओर कवि छंदात्मक अनुशासन को स्वीकार करते हुए लिखता है --कविहि अरथ आखर बलु सांचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ।।[1] दूसरी ओर वह शब्दार्थमयी भाषा की असीम संभावनाओं के प्रति एक तत्वद्रष्टा की तरह संकेत करते हुए यह भी लिखता है कि ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी । गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ।।[2] इस प्रकार तुलसी का कवि-कर्म शब्दार्थ के ग्राह्य-अग्राह्य अथवा मूर्त और अमूर्त या अभिधेय एवं व्यंग्य दोनों ही प्रकार के रूपों तक व्याप्त रहा है ।

उनके काव्य की अर्थ-समस्याओं का कोई भी गम्भीर अनुशीलन तब तक उपादेय नहीं हो सकता, जब तक वह कवि की निजी काव्य दृष्टि के प्रति निरंतर उन्मुख न रहे । कवि का अभीष्ट अर्थ क्या था, इसका उद्घाटन करना मेरे जैसे अकिंचन व्यक्ति द्वारा नितांत असंभव है । किन्तु विद्वानों, संतों और साहित्याचार्यों द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करके कवि के यथार्थ अर्थ को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है । मैंने आद्यंत प्राय: सभी अर्थ-समस्याओं को कवि-व्यक्तित्व एवं काव्य-वैशिष्ट्य के ठोस आधार पर प्रतिष्ठित किया है । वायवी ऊहापोह, अनपेक्षित विस्तार, अनर्गल

---

१. मानस २।२४०।४

२. वही २।२९३।१

भावुकता तथा साम्प्रदायिक जड़ता, कृत्रिम मौलिकता तथा छद्म पांडित्य से बचने की पर्याप्त चेष्टा की है। अधिकतर वस्तुगत आधार पर इनके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। जहाँ कहीं व्यक्तिगत मत दिया गया है वहाँ भी अपनी सीमा स्वीकार करते हुए एक सुझाव के रूप में अपनी बात की गयी है। तुलसी-साहित्य इतना विशद, गहन एवं प्रेरक है कि उसके सम्पर्क में आकर बहुत सी अर्थगत कठिनाइयों का निदान मुझे उसी की प्रेरणा से स्वतः उपलब्ध हुआ। केवल शब्दों को पहचानने की ओर उनके निखरे हुए व्यक्तित्व को सुस्पष्ट करने की चेष्टा सजग रूप से अवश्य करनी पड़ी। बहुत से पूर्व स्थापित मतों का खंडन भी मैंने यथास्थान किया है, किन्तु वह भी किसी प्रमुख आधार के उपलब्ध हो जाने के कारण ही किया गया है अथवा जहाँ भ्रम या त्रुटिवश कोई अर्थ प्रचलित रहा उसका निराकरण ही पर्याप्त माना गया है। अन्य टीकाकारों की टीकाओं का दोष-प्रदर्शन का अप्रिय कार्य मैंने उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने हेतु नहीं किया है। मेरा तात्पर्य मात्र यह है कि विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो कि तुलसी साहित्य के सही अर्थ निर्धारण हेतु अभी और प्रयत्न एवं श्रम की आवश्यकता है। वास्तव में यदि तुलसी साहित्य का इतना विपुल टीका - साहित्य सेतु रूप में न उपलब्ध होता तो मेरे जैसा लघुव्यक्ति कभी भी तुलसीसाहित्य-समुद्र से पार न होता-

अति अपार जे सरितवर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।।[3]

साहित्य अनेक स्तरीय रचना-प्रक्रिया से उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव भी अनेक स्तरीय मानव मन पर निरंतर पड़ता रहता है। अतः किसी एक स्तर तक सीमित होकर मैंने अपना कार्य नहीं किया है। तुलसी जैसे संवेदनशील कवि के साहित्य के साथ मैं कहाँ तक न्याय कर सका हूँ, यह तुलसी-विशेषज्ञों के द्वारा ही निर्णीत हो सकेगा। अपनी ओर से मैंने इस बात की चेष्टा अवश्य की है कि हिन्दी साहित्य के अनुशीलन में अर्थगत समस्याओं के महत्त्व को इस प्रकार रेखांकित कर दूँ कि अन्य साहित्यकारों के साहित्य के विषय में भी अर्थ को लेकर समस्यामूलक चिंतन आरंभ हो

---

३. मानस १।१३

जाय । मेरा विश्वास है कि इससे हिन्दी में साहित्यानुशीलन की एक नई दिशा प्रारम्भ होगी और कवियों तथा काव्यों के मूल्यांकन में सहायता भी मिलेगी ।

तुलसी साहित्य का अर्थ विषयक सर्वांगीण अध्ययन का एक भी वैज्ञानिक प्रयास अभी तक नहीं हो सका । थोड़ा-बहुत यदि हुआ भी है तो पूर्ण नहीं, तुलसी के किसी कृति विशेष तक ही सीमित रहा । हाँ, उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कुछ ग्रन्थों की जो विशद टीकाएं प्राप्त होती हैं, उनके अनावश्यक अर्थ-विस्तार के कारण स्वाभाविक और वैज्ञानिक अर्थ चारुता प्राय: क्षीण हो गयी है । प्रस्तुत प्रबन्ध में तुलसी साहित्य के सही अर्थ-अन्वेषण का प्रयास किया गया है । अन्वेषण की इस प्रक्रिया को तर्कपूर्ण और सही दिशा देने के लिए इसे ११ अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में शब्द और अर्थ को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है । शब्द की महत्ता, शब्द-शक्ति, अर्थ की महत्ता, अर्थ बोध के साधन, शब्द और अर्थ का स्वरूप और उसका परस्पर सम्बन्ध एवं अर्थ-विनिश्चय के साधनों का उल्लेख प्राचीन साहित्य के आधार पर किया गया है । साथ ही पाश्चात्य साहित्य के उपादेय तथ्यों का भी यथावश्यक उपयोग किया गया है ।

अध्याय २ के अन्तर्गत टीकाकारों और समीक्षकों के द्वारा तुलसी साहित्य के तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय के प्रयास को प्रस्तुत किया गया है । अर्थगत पूर्ववर्ती कार्य की अपर्याप्तता और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता एवं तुलसी-साहित्य की अर्थ समस्याएं और उनका वर्गीकरण भी प्रस्तुत अध्याय में ही किया गया है । साथ ही भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य के अर्थ-विनिश्चय की प्रक्रिया को संक्षिप्त रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की गयी है ।

ठेठ और तद्भव शब्दों के कहीं तो पाठ ही परिवर्तित कर दिये गये हैं और कहीं भावार्थ देकर ही विराम ले लिया है । ऐसे शब्दों के अर्थ करने में टीकाकारों ने अनुमान का भी आश्रय लिया है । कुछ विदेशी शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से मान कर अर्थ परिवर्तित कर दिये गये हैं । कतिपय विदेशी शब्दों को कवि ने भिन्नार्थ में ग्रहण किया था । अत: उनको उसी अर्थ में ग्रहण करने के कारण भी गड़बड़ी हुई है ।

प्रयास किया गया है।

अध्याय - ४ में पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है। पाठभेद के कारण भी अर्थ में अनेक भ्रान्तियाँ उपलब्ध होती हैं। अर्थ न समझने के कारण पाठ ~~परिवर्तित~~-परिवर्तन प्राचीन टीकाकारों के लिए साधारण बात थी। भ्रष्ट पाठ को ही प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। पाठ चयन के सिद्धान्तों के आधार पर ही पाठ का समर्थन और उनके अर्थ-विनिश्चय का प्रयत्न किया गया है।

टीकाकारों ने कहीं शाब्दिक, तो कहीं वाक्यों के और कहीं पूरे पद के अर्थ में भावभेद, प्रसंगान्तर और विपर्यास कर दिया है। कहीं सामान्य एवं प्रचलित अर्थ को छोड़कर असामान्य और अप्रचलित अर्थ को ग्रहण करने में व्यर्थ की खींचतान की है। अतः अध्याय-५ में अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

अध्याय- ६ के अन्तर्गत अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है। एक ही शब्द के कई अर्थ सम्भव होने के कारण अनेक अर्थों की कल्पना साहित्य में स्वाभाविक है।

मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ-विनिश्चय में खूब खींचतान की गयी है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्राण लक्षणा और व्यंजना का सर्वस्वीकृत रूढ़ रूप होता है, किन्तु टीकाकारों ने इनके अधिधेयार्थ की अभिव्यक्ति में परीशक्ति लगा दी है। अध्याय - ७ में ऐसे ही मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय- ८ के अन्तर्गत आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। आरोपित अर्थों की समस्याएं मानस में ही प्राप्त हुई हैं। कथावाचकीय शैली के टीकाकारों ने मनमाना अर्थ निकालने के लिए व्याख्येय पंक्तियों के पदों को तोड़-मरोड़कर विचित्र-विचित्र कल्पनाएं की हैं। विभिन्न पदों के चार-चार, पाँच-पाँच और आठ-आठ अर्थों से लेकर लाखों अर्थ तक किये गये हैं।[४]

----

४. द्रष्टव्य बाबूराम शुक्ल कृत तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य।

कूट एवं कूटोन्मुखी शब्दों के अर्थ बड़े ही पेंचदार होते हैं । अतः अध्याय- ६ में कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट-प्रयोगों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है ।

अध्याय-१० के अन्तर्गत अन्वय भेद एवं गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है । पूर्वापर प्रसंगानुसार ध्यान न देने के कारण तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने यत्र-तत्र असंगत अन्वय करके अर्थ समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं । साथ ही गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठकों को बड़ी उलझन में डाल दिया है ।

छन्दानुरोध के कारण कहीं कवि को मात्राएं घटानी-बढ़ानी पड़ी हैं, कहीं शब्दों और मात्राओं का लोप करना पड़ा है तथा कहीं-कहीं उसने नवीनशब्दों का भी निर्माण कर लिया है । ऐसे कुछ स्थलों पर टीकाकारों ने अर्थ ठीक न लगा पाने के कारण पाठ-परिवर्तन करके छन्दोभंग कर दिया है । अतः अन्तिम और ११ वें अध्याय में छन्दानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयत्न किया गया है ।

'उपसंहार' में प्रस्तुत प्रबन्ध के उद्देश्य या परिणाम को संक्षेप में बतलाया गया है । साथ ही लेखक ने अपने निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत किया है और इस कोटि के ग्रंथ की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है ।

परिशिष्ट 'क' में तुलसी साहित्य की कतिपय अतिरिक्त अर्थ-समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है । 'ख' में सहायक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है ।

इस प्रकार तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्याएं और उनका निदान का यथा-संभव एक सर्वांगीण अध्ययन उक्त अध्यायों के सहारे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । उदाहरणों के पाठ के लिए मानस का काशिराज संस्करण और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड का आधार ग्रहण किया गया है । जहाँ पर मतभेद हुआ है, उसका भी उल्लेख कर दिया गया है । विनय पत्रिका के उदाहरणों के पाठ के लिए विनय-पीयूष का आधार लिया गया है, क्योंकि इसका पाठ प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है । काशिराज संस्करण में ह्रस्व 'ए' और 'ओ' के उच्चारण उनकी प्रचलित मात्राओं को किंचित वक्र बनाकर निर्दिष्ट किये

गये हैं। टंकण-यंत्र में ऐसे चिह्नों की व्यवस्था न होने के कारण उन्हें सामान्य मात्राओं की तरह टंकित किया गया है। साथ ही टंकण यंत्र में अंकाकार "S" और आधा "ब" भी नहीं है। अतः सुधीजनवर्ग भी तदनुरूप पाठ एवं अवग्रह की परिकल्पना कर लें। काशिराज संस्करण के पाठ पर मानस-पीयूष का प्रभाव लक्षित होता है।

तुलसी साहित्य तथा विशेषतः मानस के प्रति मैं शैशव-काल से आकृष्ट रहा हूँ। यह आकर्षण मुझे श्रीमद्भागवद्भगवद्गायन रसास्वाद पटुल परम पूज्य पिता जी के अत्याधिक सान्निध्य और स्नेह से प्राप्त हुआ, जिनका जीवन लगभग दो दशकों से तुलसी-साहित्य के विशेषतः मानस और विनय-पत्रिका के अध्ययन, मनन, प्रवचन और सत्संग में व्यतीत हो रहा है। एम०ए० में विशेष कवि के रूप में गोस्वामी तुलसीदास पर अध्ययन करने के उपरांत भी जब तुलसी-साहित्य के अध्ययन की अतृप्ति बार-बार मन को कुरेदती रही तो पुनः इस पर अध्ययन की इच्छा बलवती हुई। फलतः श्रद्धेय गुरुवर डा० जगदीश गुप्त ने मुझे तुलसी साहित्य की अर्थसमस्याएं और उनका निदान विषय पर शोध करने की प्रेरणा दी। विद्वता, सौजन्य और सरलता की समन्वित मूर्ति डा० गुप्त के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता विज्ञापित करना परमपुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अत्यंत व्यस्तमय जीवन में भी सदैव योग्यतम पथ-प्रदर्शन, निर्देशन एवं प्रोत्साहन किया। उनके स्नेह और अनुग्रह का प्रतिफल ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध है।

मानस तत्त्वान्वेषी नित्यानवरताभारतीसमाराधनतत्पर पं० रामकुमारदास जी का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने न केवल श्रीरामग्रन्थागार से अलभ्य सामग्री प्रदान की, वरन् विविध सुझावों से प्रस्तुत प्रबन्ध को अधिकाधिक सारगर्भित बनाने में हाथ बंटाया। तुलसी साहित्य विशेषज्ञ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का आभारी हूँ जिन्होंने प्रबन्ध की रूपरेखा देखकर उपयोगी सम्मति प्रदान की। मानस मर्मज्ञ पं० रामेश्वरप्रसाद त्रिपाठी डा० त्रिभुवननाथ चौबे और डा० किशोरीलाल प्रभृति विद्वानों के प्रति लेखक उनके अमूल्य सुझावों के लिए हृदय से आभार प्रकट करता है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने मुझे हतोत्साहित करने का प्रयास किया, किन्तु इससे भी मुझे प्रेरणा ही मिली। अतः मैं उनका भी आभारी हूँ। श्री स्वामी श्यामनारायणाचार्य वेदान्त केशरी, प्रयाग का आभारी हूँ जिनका आशीर्वाद मेरा संबल बना।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन,प्रयाग के हिन्दी-संग्रहालय के कर्मचारियों के प्रति साधुवाद विज्ञापित कर देना अपना परम कर्तव्य समझता हूं। इन कर्मचारियों से उदारतापूर्वक जो सहायता प्राप्त हुई, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। हिन्दी-संग्रहालय से हिन्दी की अपूर्व सेवा हो रही है। साथ ही केन्द्रीय पुस्तकालय,इलाहाबाद और राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी,इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय आदि पुस्तकालयों से शोध विषयान्तर्गत सामग्री का अवलोकन और निरीक्षण करने का अवसर मिला है। अत: उक्त संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है। मानस-संघ, रामवन सतना के कर्मचारियों के अकारण अनुग्रह के हम चिर आभारी हैं। डा० कपिलदेव द्विवेदी की पुस्तक अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन से अत्यन्त सहायता मिली। अत: मैं डा० द्विवेदी का भी आभार स्वीकार करता हूं। तुलसी साहित्य के व्याख्याकारों, मर्मज्ञ आलोचकों और मनीषी अनुसंधाताओं की कृतियों से मैंने यथेष्ट लाभ उठाया है। अत: मैं उन सबका आभारी हूं। अंत में आभार स्वीकार करने के हेतु मैं समवेत रूप से उन अनेक विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं जिनकी रचनाओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता मिली है। अपने अभिन्न मित्रों के बारे में मौन रहना अपराध ही होगा अनुसंधित्सु मित्र हरिशंकर द्विवेदी, विद्याधर द्विवेदी और हरिशंकर मिश्र,कैलाशनाथ मिश्र और डा० गोविन्दस्वरूप गुप्त के सान्निध्य से सहायता प्राप्त हुई, अत: ये सब धन्यवाद के पात्र हैं। साहित्यानुरागी सुहृदवर डा० जनार्दन उपाध्याय ने समय-समय पर जो प्रोत्साहित किया उनके प्रति धन्यवादार्पण में अंतरंग आत्मीयता के कारण मुझे संकोच होता है। शोध प्रबन्ध के टंकक श्री मेवालाल मिश्र का भी कृतज्ञ हूं जिन्होंने यथासंभव शुद्ध टंकणकार्य कर संशोधन सम्बन्धी कठिनाइयों से बचाकर मेरी सहायता की।

श्री रवीन्द्र सिंह रौतेला ने प्रबन्ध लेखन हेतु निजी कक्ष प्रदान करके अत्यधिक सहायता की। अत: मैं रौतेला जी का विनम्र आभार स्वीकार करता हूं।

अर्थ-निदान की टीका परंपरा से भिन्न साहित्यिक दिशाबोध में चार वर्षों का यह कठिन श्रम यदि सहायक हुआ तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा। संस्कृत में ऐसे कार्य हुए हैं, हिन्दी में हो तो बहुत प्रसन्नता होगी।

नरेन्द्रदेव पाण्डेय
(नरेन्द्रदेव पाण्डेय)

जमथा,तरबगंज
गोण्डा,उ०प्र०

संकेताक्षर-सूची

अयो०	अयोध्याकाण्ड	पा०भा०	पांचवां भाग
अष्टा०	अष्टाध्यायी	पा०मं०	पार्वती-मंगल
अ०भा०वि०परि०	अखिलभारतीय विक्रम परिषद्		
अ०रा०	अध्यात्म रामायण	प्र०भा०	प्रथम भाग
अरण्य०	अरण्य काण्ड	प्र०सं०	प्रथम संस्करण
उ०र०	उत्तर काण्ड	प्रका०	प्रकाशक
ऋग्०	ऋग्वेद	पृ०	पृष्ठ
कविता०	कवितावली	बरवै०	बरवै रामायण
कवित्त	कवित्तरामायण	बाल०	बालकाण्ड
का०प्र०	काव्य प्रकाश	बाहुक	हनुमान बाहुक
किष्कि०	किष्किन्धाकाण्ड	भा०	श्रीमद्भागवत
केन०	केनोपनिषद	मानस	रामचरित मानस
कौ०ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण	मा०पी०	मानस-पीयूष
खं०	खंड	मा०भा०	मानस-भाव प्रकाश
गीता०	गीतावली	मा०हिं०को०	मानक हिन्दी कोश
जा०मं०	जानकी-मंगल	मा०म०	मानस मयंक
ती०खं०	तीसरा खंड	रामा०	रामायण
तु०शब्द०	तुलसी शब्दसागर	रा०परि०परिशिष्ट प्र०-	रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश ।
तृ०खं०	तृतीय खण्ड		
दे०	देखिए	रामाज्ञा०	रामाज्ञा-प्रश्न
दोहा०	दोहावली	लंका०	लंकाकाण्ड
द्वि०खं०	द्वितीय खण्ड	वाक्य	वाक्य प्रदीयम्
नहछू	रामलला-नहछू	वि०टी०	विजया टीका
पं०भा०	पंचम भाग		विनयकी टीका

वि०पी०	विनय पीयूष
विनय०	विनयपत्रिका
वै०सं०	वैराग्य-संदीपनी
व्या०महा०आ०	व्याकरण महाभाष्य आन्हिक
श्रीकृष्ण०	श्रीकृष्णगीतावली
सं०हिन्दी० शब्द०	संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर
सं०टी०	संजीवनी टीका
सा०द०	साहित्य दर्पण
सि०ति०	सिद्धान्त तिलक
सुन्दर०	सुन्दर काण्ड
हि०श०	हिन्दी शब्दसागर

विशेष – बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर काण्डों के लिए क्रमश: १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय — ४ पृ० १७७-२२४

पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान, पृ० १७७-१७८

विषय-प्रवेश

शब्द और अर्थ

अध्याय – १

विषय-प्रवेश : शब्द और अर्थ

शब्द क्या है ? :-

विभिन्न भाषाओं में शब्द के अनेक पर्याय और अर्थ मिलते हैं। `शब्द` मूलत: संस्कृत का शब्द है। अमर कोष में इसके पर्याय हैं – शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्राद, नाद, निस्वाद, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव।[१] `संरं` और `राव` शब्द चन्द्रिका में प्राप्त और घोष जटाधर में उपलब्ध पर्याय हैं। त्रिकांड शेष में शब्द के जो आठ पर्याय माने गये हैं, वे मूलत: ध्वनि-पर्याय भी हैं, वे हैं – शब्द, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, ध्वनि, वास और कुवरित।[२] अभिधान चिंतामणि में शब्द के सत्ताइस पर्याय माने गये हैं – शब्द, निनाद, निर्घोष, स्वान, ध्वान, स्वर, ध्वनि, निर्ह्राद, निनद, ह्राद, नि:स्वान, नि:स्वन, स्वन, रव, नाद, स्वनि, घोष, संराव, विराव, आराव, आरव, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण।[३]

१, शब्दे निनादनिनदध्वनि ध्वान रवस्वना: ।
 स्वाननिर्घोष निर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वना: ।
 आरवारावसंरावविरावा: ।। – अमरकोष १।६।७

२, शब्दाभिलापौस्त्वभिधाऽभिधाने वाचको ध्वनि:वास:कुट्टरितश्च । -त्रिकांडशेष १।६।१

३, शब्दो,निनादो निर्घोष: स्वानो ध्वान: स्वरोध्वनि: ।
 निर्ह्रादोनिनदो, ह्रादो नि:स्वानो नि:स्वन:स्वन: ।
 रवो नाद: स्वनिर्घोषा संराविरावौ:रावआरव: ।
 क्वणनं निक्वणं क्वाणो निक्वाणश्चक्वणो रण: । -हेमचन्द्राचार्य ६।३५-३६

यदि 'वाणी' को भी 'शब्द'-पर्याय में स्वीकार किया जाय तो तेरह शब्द और इस सूची में जुड़ जायगे -- ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी (गिर-गिरा), वाक् (वाच्), वाणी (वाणि), सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच।[४]

कुलमिलाकर विभिन्न कोष-ग्रन्थों से उपलब्ध शब्द के जो संस्कृत पर्याय मिलते हैं, उनकी सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है --

शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्राद, नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव, संख, राव, घोष, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, श्रवसुर्हरित, स्वर, ह्राद, नि:स्वान, नि:स्वन, स्वनि, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण, ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी, वाक्, वाणी, सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच और पद। (५१ पर्याय)

'शब्द' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी सामान्यत: इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है --

१. शब्द (शब्द करणे) + घञ् = शब्द:।

२. शप् (आक्रोशे) + दन् = शब्द:।

(शाशपिभ्यां ददनौ। पकारस्यबकार:।)

'शब्द' का धातुगत अर्थ है -- (क) शब्द या ध्वनि करना।

(ख) आविष्कार करना।

यथा -- शब्द: करणे। शब्द: आविष्कारे -- सिद्धांतकौमदी।

शब्द के अनेक अर्थ विभिन्न शास्त्रों में मिलते हैं। इन अर्थों में प्रमुख हैं -- ध्वनि, श्रोत्रग्राह्यगुण पदार्थ विशेष, कलरव (मनुष्य और मनुष्येतर जीवोत्पन्न) वचन, नाम, संज्ञा, प्रातिपादिक, उपाधि, विशेषण इत्यादि। वाङ्मयार्णवकार

----

४. ब्राह्मी तु भारती भाषा, गीर्वाग्, वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वच:॥ -- अमरकोष १।६।१

ने शब्द को अक्षर, यशोगीति, वाक्य, आकाश, श्रवण और ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त किया है[५]।

शब्द चुरादिगण की धातु है, जिसका परस्मैपद (शब्दयति) और आत्मनेपद (शब्दते) दोनों में प्रयोग होता है । अतः यह उभयपदी धातु के रूप में स्वीकृत है । शब्द कल्पद्रुम ने "शब्द" को केवल परस्मैपदी माना है । क्रिया रूप में शब्द का अर्थ है ध्वनिकरना, बोलना, बुलाना इत्यादि । अंग्रेजी शब्द Word डच- Woord , जर्मन- Wort , गोथिक- Waurd, आइसलैंडिक- Orth , लैटिन- Verbum और ग्रीक -Liro आदि का सम्बन्ध भी "बोलना" या "ध्वनि-करना" से है । अरबी "लफ्ज़" भी मूलतः "मुंह से फेंका हुआ या ध्वनि किया हुआ" या "बोला हुआ" है । इस प्रकार "शब्द" के विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुआ पर्याय भी मूलतः परस्पर सन्निकट है ।

विश्व की समस्त भाषाओं को दृष्टि में रखते हुए शब्द की सम्यक दृष्टि से परिपूर्ण परिभाषा देना प्रायः असम्भव - सा है । इसविषय पर विचार करते हुए अनेक पश्चिमी विद्वान येस्पर्सन, वैन्ड्रिय, डेनियल, जोन्स तथा उल्मन आदि ने अपनी कठिनाई को स्पष्ट शब्दों में में स्वीकार किया है । असंभावना के होते हुए भी " शब्द" की अनेकानेक परिभाषाएं दी गयी हैं ।

महाभाष्यकार ने शब्द क्या है, इसको स्पष्ट करने के लिए गौ शब्द को उदाहरण रूप में लिया है । लोक में शब्द और अर्थ में अभेद रूप से व्यवहार देखा जाता है, यथा -" अयं गौः" अयंशुक्लः" , यह गौ है, यह शुक्ल है, इन प्रयोगों में "गौ" शब्द और "गौ" वस्तु को पृथक् रूप से नहीं समझते । शब्द द्रव्य आदि से भिन्न है । इसी को प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट करते हुए पतंजलि कहते हैं कि "क्या शब्द सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर आदि से युक्त वस्तु है " नहीं, वह तो द्रव्य है ।" यदि शब्द और द्रव्य में अन्तर न होता तो शब्दानुशासन के स्थान पर द्रव्यानुशासन कहा जाता । "क्या इंगित चेष्टित आदि शब्द हैं " नहीं, वह क्रिया है ।

---

५. शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ । नानार्थार्णव - पृ०४४ ।

क्या शुक्ल, नील आदि शब्द है, नहीं वह गुण है । क्या भिन्न वस्तुओं में अभिन्न रूप से और छिन्नों में भी अछिन्न रूप से रहने वाली जाति शब्द है, नहीं वह जाति है । इन उत्तरों द्वारा पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द, द्राव्य, गुण क्रिया और जाति से भिन्न कोई पृथक् सत्ता है । वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं कि जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूंछ, कुकान, खुर, सींग वाले गौ व्यक्तियों का बोध कराता है, वह शब्द है ।[६]

पतंजलि (स्फोट के अतिरिक्त लोक-व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वह शब्द है । जैसा कि ध्वनि करते हुए एक बालक को उद्देश करके कहा जाता है --(और अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह बालक शब्दकारी (शोर करने वाला) है । अत: ध्वनि शब्द है । अथवा "प्रतीतपदार्थको लोकेध्वनि: शब्द इत्युच्यते । तस्माद् ध्वनि: शब्द:" । अर्थात् लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं ।

अइउण् सूत्र के प्रसंग में पतंजलि ने शब्द का एक लक्षण और दिया है -- शब्द कान से ग्राह्य बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुटित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है ।[७]

पतंजलि ने शब्द पर बहुत विस्तार से विचार किया है । जिसके निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में उच्चारित, श्रव्य, बुद्धिग्राह्य और अर्थ-बोधक ये चार विशेषण शब्द की विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं । दूसरे शब्दों में शब्द वह है जो उच्चारित श्रव्य, बुद्धिग्राह्य तथा अर्थबोधक हो ।

'शृंगार प्रकाश' में आता है कि जिसके बोलने से अर्थ की प्रतीति हो, वह (ध्वनि) शब्द है --येनोच्चारितेन अर्थ: प्रतीयते स शब्द: ।[८]

---

६. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्द: ।

व्या०महा०, पश्प० १, पृ० ४

७. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य: प्रयोगेणाभिज्वलित: आकाशदेश: शब्द: ।

महा०, भा० - २ ।

८. दे० डा० भोलानाथ तिवारी -- शब्दों का अध्ययन, पृ० ११ ।

शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में भी पर्याप्त मतभेद रहा है । अरस्तू ने अपने De Interpretation में जोर दिया है कि शब्द प्रधानत: मानसिक प्रभावों के संकेत हैं और गौणत: उन वस्तुओं के संकेत हैं जिनमें उनकी समानताएं हैं ।[९] कुछ कतिपय पश्चिमी विचारक शब्दों में 'अर्थ की एकता' देखना चाहते हैं, दूसरे व्लूम फील्ड जैसे चिंतक शब्द को 'कम से कम स्वच्छन्द रूप' अर्थात् भाषा की वह लघुतम इकाई घोषित करते हैं जो एक 'स्वत: पूर्णकथन' के रूप में कार्य करने की क्षमता रखती है । एल०आर०एम० पामर का यही मत है । तीसरे विद्वान वे हैं जिनमें जे०आर० फर्थ जैसे आलोचक आते हैं जो शब्दों को वैकल्पिक मुद्राएं या सिक्के मानते हैं ।[१०]

उल्मैन के शब्दों में -'भाषण या भाषा की सार्थक लघुतम इकाई ही शब्द है' - 'द स्मालेस्ट सिग्नीफिकेंट यूनिट आव् स्पीच ऐंड लैंग्वेज ।'
मैये के अनुसार -किसी निश्चित व्याकरणिक प्रयोग के लिए निश्चित ध्वनियों का संयोजन ही शब्द है, जिससे निश्चित अर्थ की प्राप्ति होती है -
'एवर्ड इज द रिजल्ट आव् द एसोसियेशन आव् ए गिविन मीनिंग विद ए गिविन काम्बीनेशन आव् साउंड्स, कैपेबिल आव् ए गिविन ग्रामेटिकलयूज ।'[११]
आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार -'एक ध्वनि या ध्वनियों का संयोजन ही शब्द है जिससे एक विचार या अनेक विचार व्यक्त होते हैं ।'

आचार्य कुमारिल ने महाभाष्यकार पतंजलि की परिभाषा में अति-व्याप्ति का दोष दिखाते हुए इसे त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया है । उदाहरणस्वरूप उठता हुआ धुआँ 'आग' अस्तित्व की सूचना देता है तथापि उसे कोई शब्द नहीं कहता । उनके अनुसार 'जो कर्णेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह शब्द है ।'

---

९. "(He(Aristotle) there(in de Interpretation) insists that words are signs primarily of mental affections and secondaril of the things of which these are likenesses."
-C.K.Agden and J.A. Richards, The Meaning of the Meaning p.35.

10. Stephen Ullmann. The words and their use. p.23.

११. दे० डा० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोश, पृ० ६३४-३५

हिन्दी शब्द सागर[१२] में शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गयी है —
"वह स्वतंत्र व्यक्ति और सार्थक ध्वनि जो एक या अधिक वर्णों के संयोग से कंठ और तालु आदि के द्वारा उत्पन्न हो और जिससे सुनने वाले को किसी पदार्थ, कार्य या भाव का बोध हो। जैसे — मैं, क्या, सोना, घोड़ा, मोटाई, काला।"
लगभग यही परिभाषा मानक हिन्दी कोष[१३] में दी गयी है।

आचार्य कुमारिल की परिभाषा के अनुसार ही कवि पुंगव चिन्तामणि ने भी एक स्थान पर कहा है — "जो सुनि परे सो शब्द है", समुझि परे सो अर्थ।"

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की परिभाषाएं अतिव्याप्ति दोष से दूषित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक उचित प्रतीत होती हैं। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने ध्वनि साम्य को ही ध्यान में रखा है क्योंकि ध्वनियों को बदलने, जमाकरने और हटाने से नए शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। स्मरणीय है कि शब्द अर्थ के ही स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई है, ध्वनि के स्तर पर नहीं क्योंकि सर्वत्र ध्वनि सार्थक नहीं होती। उदाहरणार्थ- 'आ' (= आ जा) सार्थक है, किन्तु 'क' नहीं। अतः उक्त 'शृंगार प्रकाश' का यह अर्थ कि जिसके बोलने से अर्थ की प्रतीति हो, वह (ध्वनि) शब्द है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। हिन्दी शब्दसागर की परिभाषा संगत है, किन्तु डा० भोलानाथ तिवारी की निम्नलिखित परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत लगती है। उनके अनुसार —

"अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई शब्द है।"[१४] व्यापकतम रूप में उपसर्ग, प्रत्यय, रूढ़ शब्द यौगिक शब्द, सार्थक शब्द, सभी शब्द माने जा सकते हैं।[१५] गोस्वामी जी ने 'शब्द' का प्रयोग न करके अपने साहित्य में वर्ण या 'आखर' का प्रयोग किया है। यथा - "आखर अरथ अलंकृति नाना।"[१६] केवल सूक्ष्म रूप को महत्तम स्थान प्रदान कर अक्षर ब्रह्म से परब्रह्म राम की लीला का समुचित

---

१२. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४६६१

१३. पं०भा०,पृ० १४४

१४. भाषाविज्ञान कोष, पृ० ६३४-३५।

१५. शब्दों का अध्ययन , पृ० ११।

१६. मानस १।९।६

आख्यान किया है । "अक्षर" शब्द का अर्थ होता है —

'अक्षरं न क्षरं विद्यात् । न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम् ।
अक्षर को न क्षर समझे । अथवा क्षीण नहीं होता अथवा जो अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं ।'[१७]

वेद का कथन है कि अक्षर तत्त्व ही अक्षरता, अक्षयता, अमरत्व का साधन है, उसी में समस्त तत्त्व, समस्त दिव्य विभूतियाँ समाश्रित हैं, वह अक्षरतत्त्व वेद के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है, वह ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है । जो उस अक्षरतत्त्व का ज्ञाता नहीं है उसके लिए समस्त वेद, ज्ञान और विज्ञान निरर्थक है । जो उसको जानता है वही उसका उपयोग और उपभोग करता है एवं अमरत्व को प्राप्त करता है ।[क]

यास्क ने निरुक्त में इसकी व्याख्या करते हुए यह प्रश्न किया है कि अक्षर कौन और क्या है ? इसके प्रत्युत्तर में आचार्य शाकपूणि का मत दिया है कि "ओम्" यह वाक्तत्त्व ही अक्षर तत्त्व है अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ,परमात्म-तत्त्व ही अक्षर तत्त्व है । कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि यही अक्षरतत्व है जो वेदत्रयी के प्रत्येक अक्षर में अनुस्यूत है ।[ख]

केनोपनिषद का कथन है कि मनुष्य इस संसार में इसी जीवन में यदि अक्षरतत्व का ठीक-ठीक ज्ञान कर लेता है तो उसके जीवन की सफलता है । यदि वह नहीं जान पाता और जानने का प्रयत्न भी नहीं करता तो महान अनर्थ है, जीवन की निरर्थकता है । जीवन का साफल्य आत्मतत्व-ज्ञान से ही संभव है । आत्म तत्व ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रत्येक भूतों में प्रत्येक पदार्थ में उसी एक तत्त्व का दर्शन करता है तथा मृत्योपरांत अमरत्व प्राप्त करता है ।[ग] डा० जगदीश गुप्त के शब्दों में —

१७, व्या०म०हा०भा० २, पृ० ११८ ।

क, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।। ऋ० १।१६४।३९

ख, ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः (निरुक्त० १३।१०)
एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रति । कौ०ब्रा०६।१२

ग, इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। केन० २।५

"मैंने तुलसी साहित्य का जो थोड़ा - बहुत अवलोकन किया है उसके आधार पर कह सकता हूँ कि शब्द ही नहीं, अक्षर-अक्षर और वर्ण-वर्ण के प्रति जितनी सजगता उसमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आई..... वर्णानामर्थसंघानां" तथा "कविहिं अरथ आखर बलु साँचा अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा" लिखे हुए शब्द से आगे बढ़कर "वर्ण और आखर" की जो सैद्धान्तिक महत्ता प्रदान की है, वह कुन्तक की "वर्णविन्यास वक्रता" द्वारा परिसीमित नहीं की जा सकती क्योंकि तुलसी ने उसे केवल वक्रोक्ति का ही अंग नहीं माना है।"[१७] अत: स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के "आखर" (अक्षर) में शब्द से अधिक सजगता है। शब्द के स्थान पर अक्षर (आखर) का ग्रहण उनकी काव्यात्मा की सूक्ष्म परख का प्रमाण है। इसी अक्षर ने उनके काव्य को उदात्त स्थान प्रदान किया है।

सामान्यत: शब्द के दो भेद माने गये हैं - ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। पतंजलि ने भी शब्द के दो स्वरूप माने हैं, स्फोट और ध्वनि। ध्वन्यात्मक का सम्बन्ध उच्चारण से और वर्णात्मक का सम्बन्ध लेखन से है। पशु-पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ग्रहण होता है, परन्तु मनुष्यों में शब्दवर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं।

शब्द की महत्ता -

शब्दों का एक अपना ही संसार है। शब्द भी उत्पन्न होते, विकसित होते और मरते हैं। मानव की तरह उनका भी जीवन एवं स्वरूप विविधात्मक होता है शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ और तात्पर्य समझना अपना और अपने देश तथा साहित्य को गौरवान्वित करना है। पर एतदर्थ विपुल साधना और तपस्या होनी चाहिए। शब्दों का श्रवण सभी करते हैं, किन्तु उनके मर्म को विरले ही समझ पाते हैं। अर्थ ही शब्द को ज्योति प्रदान करता है। शब्द यदि सरोज का पद्मनाल है तो अर्थ उसका अन्त: संचारी जीवन रस।

यास्क ने वेदों के शब्दों को समझा और उस महान शब्द मर्मज्ञ ने दूसरों को वेदों के शब्द समझाने के लिए निरुक्त तैयार किया, जिसमें वैदिक साहित्य में

---

१७. सं० डा० कैलाशप्रसाद सिंह - तुलसी संदर्भ और दृष्टि, डा० जगदीशगुप्त का लेख, पृ० ५० ।

आने वाले शब्दों की धातुओंको, उनकी व्युत्पत्ति तथा अर्थों को समझाया गया है। फिर पाणिनि पतंजलि, कैयट,नागेश, भर्तृहरि, अमरचन्द आदि विद्वानों ने संस्कृत शब्दों के सम्बन्ध में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में भी शब्दों के अध्ययन चिंतन और मनन पर अधिक बलदिया जाता था।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के महोपाध्याय प्रो० सईस ने साइन्स आव लैंग्वेज भाग १ पृष्ठ २ पर ऋग्वेद के एक सूक्त पर भाषा-विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। सईस का कथन है कि इन मंत्रों में वैदिक ऋषि का वाक् तत्व के विषय में जो वक्तव्य है वह बहुत ही गंभीर, विचार पूर्ण, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। ऋ० मंडल १० सूक्त १२५ मंत्र १ से ८ जिसका सईस ने उल्लेख किया है, वाक्तत्व का आत्म विवेचन है। इसका ऋषि "वाक् अम्भृणी" है और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय वाक् (वाक् तत्व) है। वाक् तत्व ने अपने स्वरूप को उत्तम पुरुष में आत्म विवेचन के रूप में प्रस्तुत किया है।[१८]

वाक्तत्व का कथन है कि -

वाक्तत्व समस्त तत्वों का धारक है - मैं रुद्रों (एकादशरुद्र), वसुओं (आठ वसुओं), आदित्यों (द्वादश आदित्य) तथा विश्वदेवों (समस्त देवों) के साथ विचरण करता हूं। मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करता हूं। मैं इन्द्र और अग्नि दोनों को धारण करता हूं।[१९]

सोमतत्व आदि का पोषक वाक्तत्व- मैं सोमतत्व का पालन और रक्षण करता हूं। मैं त्वष्टा (विवेचक एवं विश्लेषक तत्व), पूषन (पोषक-तत्त्व) तथा भग (रयितत्व, ऐश्वर्य का पालक हूं, मैं यशीय पुरुषों (वाक्तत्त्वज्ञों, अर्थ तत्त्वज्ञों) को ऐश्वर्य से समृद्ध करता हूं।[२०]

----

१८. डा० कपिलदेव द्विवेदी, अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २५।

१९. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥
ऋग्वेद० १०।१२५।१

२०. अहंसोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामिद्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ ऋग्वेद १०।१२५।२

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सुविख्यात सूक्त (१२५ सूक्त) इसी वाग् की प्रशस्त स्तुति का उन्मीलन करता है । वह कहता है कि जगत मेरी ही विभूतियों का प्रकाश है, मेरी लीला का ललित निकेतन है । जगत में शक्ति सम्पन्न देवताओं का मैं ही शक्ति हूँ । जिसके ऊपर मैं अनुग्रह करता हूँ उसे मैं शक्तियों से उग्र बना देता हूँ, उसे मैं तत्वों का साक्षात्कर्ता ऋषि बना देता हूँ, उसे नितान्त मेधावी बना देता हूँ ।[२१] वाक् की यह सारगर्भित उक्ति नितान्त तथ्यपूर्ण है ।

अक्षरतत्व की सिद्धि का फल बताते हुए उक्त ऋग्वेद में ही कहा गया है कि इन्द्र वाक्शक्ति से सहस्रों असंस्कृत वाणी बोलने वाले, अपशब्दों का प्रयोग करने वाले अपवित्र आत्माओं का संहार करता है । यही उसका पुरुषत्व, पुरुषार्थ है । अतएव उसकी उपासना की जाती है ।[२२]

एक स्थान पर कहा गया है कि परमपिता परमात्मा ने सृष्टि रूपी नौका को खेने के लिए शब्दरूपी पतवार का उच्चारण रूपी व्यवहार अनिवार्य जानकर , सृष्टि रचना की । इच्छा करते ही शब्दों का उस ही भाँति उच्चारण किया जिस भाँति नाव चलाने वाला, नाव चलाने की इच्छा करते ही पतवार चलाता है ।[२३] शब्दतत्त्व को हरि बताते हुए कहा गया है कि वह सहस्रों धाराओं वाला है और उन सहस्रों धाराओं (भाषा - उपभाषाओं) से वह सिक्त होता रहता है, अर्थात् समृद्ध किया जाता है । वह वाक्तत्व को पवित्र करता है ।[२४] इसीप्रकार श्रुति का कथन है कि वाक् शक्ति ही अर्थ को देखती है अर्थात् वाक्-तत्व ही जब बुद्धि रूप विवर्त को प्राप्त होता है तब अर्थ का ज्ञान करता है । वाक्शक्ति ही

---

२१. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभि: ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोम्मि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधताम् ।। ऋग्वेद० १०।१२५।५

२२. यो वाचा विवाचो मृध्रवाच: पुरु सहस्राशिवाजधान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसिपितेव यस्तविषीं वावृधेश्व: ।। ऋग्वेद १०।२३।५

२३. हरि: सृजान: पथ्यामृतस्ययर्ति वाचमरितेव नावम् ।
देवो देवानां गुह्यनि नामाविष्कृणोति बर्हिषिप्रवाचे ।। ऋग्वेद ६।६५।२

२४. सहस्रधार: परिषिच्यते हरि: पुनानो वाचं जनयन्नु पावसु: । —ऋग्वेद ६।८६।३३

शक्तिरूप से विद्यमान अर्थ को विस्तृत करती है।

यजुर्वेद में वाक्तत्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार वाक् तत्त्व समुद्र है, अर्थात् समुद्रवत् अक्षयभंडार, अगाध और दुर्बोध है। वह सर्वव्यापक है, वह अनादि और अक्षर है, वह एक तत्व है वह ऐन्द्र अर्थात् इन्द्र शक्ति से सम्पन्न है। वह सदस् आधार भूत है और उसके कारण मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है। वह देवयान मार्ग। राजयोग मार्ग एवं सन्मार्ग पर चलने वालों के मार्ग का रक्षक तथा विघ्न निवारक है।[२५] वह वाक्तत्त्व ही है, जिसके आश्रय से सारा संसार मनन करता है और जिसकी सत्ता से मनन शक्ति की सत्ता है।[२६] मीमांसककारों का कथन है कि जिस बात को कोई नहीं जानता वह बात उसे बता देने या समझा देने का काम शब्द करता है। छान्दोग्य उपनिषद का कहना है कि यदि सृष्टि में वाक्तत्व न होता तो न धर्म अधर्म की व्याख्या होती न सत्य-असत्य की न, साधु असाधु की न सहृदय - असहृदय की, न चिन्तज्ञ-अचिन्तज्ञ की ही और न उनका विवेचन होता।[२७] इसी में इसके पूर्व कहा गया है कि वाणी ही नाम से बड़ी है। वाणी ही ऋग्वेद को बतलाती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पांचवें इतिहास पुराण वेदों के वेद, पितृश्राद्ध, गणित, उत्पात, निधि अर्थ शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त ईश्वर प्राप्ति विज्ञान, प्राणीशास्त्र, धनुर्विद्या, ज्योतिष, विषैली जन्तुओं की विद्या, नृत्यगीत, वाद्यशास्त्र वाणी ही है। पुरुष का सार वाणी है। ऋग्वेद का कथन है कि जो वाक्तत्व के साथ सख्यभाव को प्राप्त होता है वह स्थिर आनंद को प्राप्त होता है। उसकी कोई भी बड़े से बड़े तत्वज्ञान के विषय में स्पर्धा नहीं कर सकता है, परन्तु जो इसके विपरीत वाक्तत्त्व की माया में ही लिप्त रहता

२५, समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजो स्येक पादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ। मा मा सन्ताप्तमध्वनाम ध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्। यजुर्वेद ५।३३

२६, वाग्वैमति:। वाचा हीदं सर्वं मनुते

२७, यद्वैवाङ्ना‌भविष्यन्न धर्मोनाधर्मो व्यज्ञापयिष्यान्न सत्यं नानृतं न साधुनासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति।
छान्दोग्योपनिषद् ७।२।१

है, वाक्तत्वके प्रतिरूप माया जाल में ही विचरण करता है। उसका समस्त अध्ययन और श्रवण निष्फल होता है। अर्थतत्व (प्रतिभा) वाक्तत्व का फल और फूल है अर्थात् उपादेय सारांश है। वह व्यक्ति जो अर्थज्ञान से वंचित है, समस्त ज्ञान के बाद भी निष्फलरहता है।[२८]

अर्थ तत्वों का विकास वाक्तत्व से ही होता है, वही अर्थों को प्रकाशित करता है।[२९] अर्थ तत्व के दर्शन से ऋषित्व की प्राप्ति होती है और आनन्द का लाभ होता है।[३०]

हमारे प्राचीन ऋषियों का मत है कि शब्द ही ब्रह्म है और यदि हम ब्रह्म-रूप में उसकी उपासना करें तो हमें अलौकिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस शब्द ब्रह्म की कृपा से आज तक संसार ने जो उन्नति की है वह हमारे सामने है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में (निरुक्त दै० १३।७) और महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य के प्रथम पान्हिक में 'महान देव' की व्याख्या की है। यास्क ने उसे 'यज्ञ' और पतंजलि ने 'शब्द' की संज्ञा से अभिहित किया है। इसी शब्दतत्व को ब्रह्म प्रतिभा एवं मेधा कहकर पुकारा गया है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद एवं निरुक्त में शब्द तत्व और अर्थतत्व के सूक्ष्म तत्वों का जो वर्णन मिलता है उसमें शब्द को ब्रह्म माना गया है। ऋग्वेद ने कहा है कि 'यावद् ब्रह्म तिष्ठितं तावती वाक्' अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाग्देवी भी व्यापक है। ऐतरेय, शतपथ जैमिनीय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ उसी वाक्शक्ति को साक्षात् ब्रह्म मानते हुए कहते हैं वाग्ब्रह्म, वाग्वैब्रह्म[३१] वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च,[३२] । कालचक्र के कर्ता विष्णु की

२८, उत त्वं सख्ये स्थिरपति माहुर्नैनंहिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलाम पुष्पाम् ।। ऋग्वेद० १०।७१।५

२९, वाक्पुन: प्रकाशयत्यर्थान् । निरुक्त ६।१६ ।

३०, अर्थेपंष्टार्थस्य प्रीतिभवत्याख्यानसंयुक्ता । वही १०।१०

३१, जैमिनीय उपनिषद २।६।६

३२, ऐतरेय ब्राह्मण ६।३ ।

भाँति शब्द भी अखंड शक्ति सम्पन्न है । इसी समता के कारण 'बृहदारण्यक उपनिषद' में भी शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है, 'वाग्वै सम्राट परमं ब्रह्म ।' वही जगत का परम अधिष्ठान रूप है । मांडूक श्रुति भी प्रतिपादित करती है कि ब्रह्म दो है । एक शब्द ब्रह्म तथा दूसरा परब्रह्म । शब्द ब्रह्म का निष्णात ही पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है । भर्तृहरि के ही शब्दों में शब्दों का संस्कार करना पर-मात्मा की प्राप्ति का उपाय है । शब्दों के तात्त्विक प्रवृत्ति तत्त्व को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है ।[33] शब्द ब्रह्म अनादि, अनन्त और अक्षर है वह अर्थ रूप में अवतरित होता है तथा उसी से दुनिया का काम चलता है ।[34] 'यह शब्द ब्रह्म' पद बतलाता है कि किसी समय हम भारतीय लोग शब्दों और उनके अर्थों को कितना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे । इसी शब्द ब्रह्म की उपासना से मानवता धन्य हुई है और महान भी । शब्द ब्रह्म की उपासना ही सरस्वती की सच्ची उपासना, सच्ची पूजा और सच्ची सेवा है । जायसी ने 'पद्मावत' में कहा है कि शब्द द्वारा ही सृष्टि का सृजन हुआ — 'बचन हुते उपजेउ संसारा ' गोस्वामी जी ने भी 'शब्द ब्रह्म'[35] का उल्लेख किया है, यद्यपि यहाँ इसका अर्थ —'वेद श्रुति है' ।

पतंजलि ने श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि एक शब्द का ही ठीक ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधि विधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है[36] अर्थात् समस्त अर्थतत्त्व की प्राप्ति होती है । यहाँ पर एक शब्द से अभिप्राय स्फोट रूप शब्द है उसी के ज्ञान और प्रयोग से अर्थज्ञान और अर्थसिद्धि होती है । 'स्फोट' शब्द का अर्थ होता है 'स्फुटत्यर्थः अस्मात् , इति स्फोटः' यह सिद्ध करती है कि जिससे (शब्द से) अर्थ स्फुरित हो, उसी का नाम स्फोट है ।

३३, तस्माद्यः शब्द संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्यप्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ।। वाक्य० १।१३२

३४, अनादिनिधनंब्रह्मशब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।' वाक्य० १।१

३५, शांतं निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्द ब्रह्मैक पर ब्रह्मज्ञानी । विनय० ५७ ।

३६, एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातःशास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।
महा० ६।१।८४

दुर्ग शब्द की अनंत स्थिति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि भाष्यकार और मैं दोनों ही तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं, किन्तु शब्दरूपी सागर के पार न पहुँच पाए, फिर औरों की क्या बात । इतना ही नहीं इन्द्रादि भी शब्दसागर का अन्त नहीं पाये --"इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्द वारिधेः ।" शब्द अनंत है इसका पार कोई नहीं पा सका । महाभाष्य में पतंजलि बताते हैं कि देवताओं के गुरु बृहस्पति ने एक हजार दिव्य वर्षों (मानुष वर्ष (-- ३६५ दिन) दिव्य (देवताओं) का एक दिन रात के बराबर है) तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे । बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला (आचार्य) हो और इन्द्र जैसा पढ़ने वाला शिष्य हो तिस पर भी एक हजार दिव्य वर्ष (लम्बा) पढ़ने का समय ,तो भी समाप्ति न हो सकी, आजकल तो कहना ही क्या । जो बहुत चिर तक जीता है वह सौ वर्ष तक जाता है ।[३७]

महाभाष्यकार के अनुसार संसार में कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो वाणी को (शब्दों) को देखते हुए भी नहीं देखते । कुछ ऐसे हैं जो सुनते हुए भी व्याकरण के ज्ञान के बिना नहीं सुनते अर्थात् नहीं समझ पाते । परन्तु कुछ व्याकरण के विद्वान ऐसे भी हैं कि जिनकी शुद्ध सुसंस्कृतवाणी पर लालायित होकर सरस्वती उनको उसी प्रकार आत्मसमर्पण कर देती है जिस प्रकार कि ऋतुस्नाता स्त्री अपने समग्र तन -मन को अपने पति को समर्पण कर दिया करती है । इसके विपरीत असंस्कृत शब्द असंस्कृत अर्थात् दूषित, कलुषित एवं अपवित्र संस्कारों को जन्म देते हैं, उनसे असंस्कृत भावनाओं की उत्पत्ति होती है जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थतत्व से वंचित रहकर अनर्थतत्व अर्थात् माया-प्रपंच में ही लिप्त रह जाता है । पतंजलि ने श्रुति वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि स्वर और वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता । वह

३७, "एवं हि श्रूयते । बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्ष सहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम । किं पुनरद्यत्वे । यः सर्वथा चिरं जीवति वर्ष शतं जीवति ।"

--व्या०महा०, भा० १, पृ० २०

वाणी रूप वज्र ही यजमान को मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वर दोष के कारण मारा गया।[३८] जो शब्दों के प्रयोग विशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक ठीक प्रयोग करता है वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है और अपशब्दों से पाप का भागी होता है।[३९]

पातंजलि ने शब्द को बैल की उपमा प्रदान की है। शब्द -बृषरूपी (व्याकरण-शास्त्र) जो वृषभ (बैल) है, उसके नाम आख्यान, उपसर्ग तथा निपात ये चार सींग है। भूत, भविष्यत तथा वर्तमान ये तीन काल इसके ३ पैर हैं। नित्य या कार्य ये दो इसके सिर हैं। इस व्याकरण रूपी बैल के सात हाथ अर्थात् सात विभक्तियां हैं। यह शब्द रूपी बैल, छाती, कंठ और सिर इन स्थानों पर बंधा रहता है, अर्थात् ये तीन स्थान इसकी तीन खूटियां हैं। इस शब्द को बैल की उपमा इसलिए दी गई है कि इसकी उपासना से अभीष्ट की वर्षा होती है। यह अन्तर्यामी महादेव (शब्द ब्रह्म) करणशील मनुष्यों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो

----

३८. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः[१] स्वरतो पराधात्। इति ।।व्या०महा०, प्र०आ०अनु० चारुदेव शास्त्री, पृ० ७-८।

(१) ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला। अब त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिए एक अभिचार याग करता है। उसमें वह "स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" ऐसा मंत्र पढ़ता है। यहां शत्रु क्रिया शब्द है। संज्ञा शब्द नहीं। शत्रु -शातयिता- नाशक। अब त्वष्टा यह कहना चाहता था कि हे अग्नि तू ऐसे बढ़ कि तेरी ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र का नाशक हो। यह अभिप्रेत अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह इन्द्र शत्रु शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अंत में उदात्त पढ़ता। पर उसने प्रमाद से पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे वह बहुव्रीहि समास हो गया, जो अन्यपदार्थ प्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा कि हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका। ऐसे रूपवाला होता हुआ बढ़। तिस पर वृत्र उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया। यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पंचम प्रपाठक में दी गई है।

३९. यस्तु प्रयुङ्क्ते। यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।

--व्या०महा०, भा०१, पृ० ८।

गया है ।[४०]

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द में ऐसी शक्ति है जो सारे विश्व को जकड़े हुए है । बिना वाणी के कुछ भी नहीं सोचा जा सकता । इस मानुषी शब्द का प्रतीक है अर्थ अथवा ज्ञान । यह भीतर रहता है । यही अपने रूप को व्यक्त करने के लिए शब्द में परिणत होता है । शब्द ही नेत्र है अर्थात् समस्त वस्तुओं का ज्ञापक है । समस्त अर्थ प्रतिभा रूप है शब्द ही वाच्य और वाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है । उसी एक शब्दशक्ति का विभाजन करके समस्त संसार का व्यवहार चलता है । भर्तृहरि शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते । समस्त संसार को शब्द का ही विवर्त या परिणाम मानते हैं । शब्द के ही द्वारा समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है । असमाख्येय और समाख्येय सब प्रकार के अर्थों के बोध का साधन शब्द ही है । शब्दों के द्वारा ही असमाख्येय षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का यथार्थ रूप से विवेचन किया जाता है और समाख्येय गो आदि का भी शब्दों से ही निरूपण किया जाता है । अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है ।[४१] संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दज्ञान के बिना हो । समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट सा प्रतीत होता है ।[४२] यदि ज्ञान में नित्य रूप से रहने वाली वाक् शक्ति निकल जाए, तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता । उस दशा में ज्ञान की स्थिति चैतन्यहीन आत्मा या तेजोहीन अग्नि जैसी होगी, क्योंकि वाक् शक्ति ही प्रकाशों की भी प्रकाशिका है ।[४३] संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है । अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि समस्त

---

४०. च त्वारि शृंगा:, त्रयोऽस्यपादा:, द्वेशीर्षे ।
सप्तहस्तासो , त्रिधा बध्दो वृषभोरोरवीति ,
महादेवो मर्त्यानाविवेश -- ।। इति ।। महा०

४१. षड्जादिभेद: शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यत: ।
तस्मादर्थ विधा: सर्वा: शब्दमात्रासुनिश्रिता: ।। वाक्य० १।११६

४२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। वाक्य० १।१२३

४३. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वाक्य० १।१२४

विद्याएं और समस्त शिल्पशास्त्र और समस्त कलाएं (६४ कलाएं गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य आदि) शब्द से सम्बद्ध हैं। शब्द की वह शक्ति है जिसके द्वारा उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है।[४४] जो कुछ भी लौकिक व्यवहार है वह वाक् द्वारा ही चल रहा है। वाक् ही प्राणियों को प्रत्येक कार्य में प्रेरित करती है। यदि वाक् न रहे तो यह समस्त संसार काष्ठ और भित्ति के तुल्य निश्चेतन ही दिखाई पड़ेगा।[४५] शब्द यदि न हो तो अर्थ प्रकाशित कैसे हो? व्यवहार के क्षेत्र में शब्द के बिना काम नहीं चलता।[४६] इसी प्रकार महान साहित्यशास्त्री आचार्य दंडी ने भी कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति इस संसार में प्रदीप्त न होती तो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक जगमयी अज्ञान रूपी अंधकार के गह्वर गर्त में विलीन रहती।[४७]

बाइबिल में कहा गया है कि आरम्भ में शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था और वह शब्द परमात्मा था। बाइबिल की ही प्रारम्भिक कहानियों में एक कहानी "बेबिल का मीनार" नाम से है। सृष्टि के आरम्भ में आदि मनुष्यों ने ईश्वर को चुनौती देने के लिए मानव शक्ति के प्रतीक रूप में एक इतना ऊँचा मीनार बनाने का निर्णय किया जो आकाश तक पहुँच सके। मीनार बनते समय ईश्वर ने उनकी भाषाओं को बदल दिया। फलत: मनुष्य विचार-विनिमय करने में असमर्थ हो गये। ईश्वर ने उनकी सामान्य (कामन) भाषा छीनकर यह सिद्ध कर दिया कि वह मानव से अधिक शक्तिशाली है। तदनन्तर मनुष्य अधूरे मीनार को पूरा करने के लिए एकत्र भी हुए परन्तु विचार-विमर्श न कर सकने के कारण असफल

---

४४. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी ।
तद् वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ।। वाक्य० १।१२५

४५. अर्थक्रियासु वाक् सर्वान समीहयति देहिन: ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ।। वाक्य० १।१२७

४६. आत्मरूपं यथाज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते ।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते । वाक्य० १।५०

४७. इदमन्धतम: कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। काव्यादर्श, १।४

रहे ।[४८] इस कथा की वास्तविकता में संदेह हो सकता है परन्तु इससे भाषा की जो उपयोगिता सिद्ध होती है, उसमें कोई अविश्वास नहीं कर सकता ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शब्द हाइड्रोजन बम से भी अधिक संहारक है । इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वरदोष के कारण मारा गया । शब्द के द्वारा ही चारों वेद, इतिहास पुराण, विज्ञानादि का ज्ञान संभव है । हमारा सारा ज्ञान, सारी विधाएं, कलाएं, सारी शिक्षाएं, सारी संस्कृति और सारी सभ्यता शब्दों पर ही आश्रित है । शब्द का ठीक ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधि-विधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है । दुर्ग और महा-भाष्यकार पतंजलि और यहां तक कि इन्द्र आदि देवता भी शब्द रूपी सागर के पार न पहुंच पाए । शब्द शक्ति है । शब्द ही मन के घाव पूर सकता है । शब्द तीर से अधिक मर्मवेधी है । किसी ने ठीक ही कहा है -"शब्द की चोट लगी मेरे मन में वेधि गयो तन सारा ।" यदि शब्द रूपी ज्योति समस्त संसार में न प्रदीप्त रहे तो तीनों लोकों में अंधकार ही अंधकार हो जाय । यदि शब्द न होते तो हमारा सारा जीवन पशुओं का सा होता । सारा संसार अंधकार में ही पड़ा रहता । शब्द की इसी अनंत महिमा और अपार शक्ति को ध्यान में रखकर हमारे महर्षियों ने इसे ब्रह्म कहा है । "शब्द मोहिनी है । शब्द ही फूट डालते हैं । शब्द अमृत से भी अधिक जीवनदायक हैं । कौन-सा रस है, जो शब्दों में नहीं है । जिसने शब्द को साध लिया उसने सब कुछ साध लिया । शब्द फूल हैं-जिनसे रंग-बिरंगी फूलमालाएं बनती हैं । शब्द मोती हैं -जिनसे कण्ठहार बनते हैं । शब्द रुपये हैं जिनसे कोश बनते हैं । शब्द ईंटें हैं, जिनसे भाषा-भवन तैयार होते हैं ।[४९]

४८, माल एबाउट लैंग्वेज, मारिओपेइ, अबाउट लैंग्वेज, पृ० ६

४९, भाईदयाल जैन - हिन्दी शब्दरचना, पृ० १-२ ।

शब्द-शक्ति

गोस्वामी जी की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली के अन्तर्गत तीनों शब्द-शक्तियों का यथेष्ट विकास दृष्टिगोचर होता है । यद्यपि यह कहना उचित नहीं है कि स्वयं गोस्वामी जी इस विषय में विशेष सचेत रहे हैं । संभावना इसी बात की है कि शब्द शक्तियाँ स्वयं ही उनकी सहज भाषा शक्ति एवं भाषा कौशल का बल पाकर प्रस्फुटित हो गई हैं । मात्र बरवै रामायण जैसे ग्रन्थों को छोड़कर कहीं भी उनमें शास्त्रीय कलापक्ष के प्रदर्शन की अभिरुचि बिल्कुल नहीं दृष्टिगोचर होती । वैसे `वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि` (मा०,मं०श्लो० - १) में प्रयुक्त `अर्थसंघानां` से यह स्पष्ट है कि `अर्थ` को उन्होंने केवल वाच्यार्थ के लिए ही प्रयुक्त नहीं किया है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ पर भी उनकी उतनी ही दृष्टि रही है । इसके अतिरिक्त भरत के बचन के लिए गोस्वामी जी कहते हैं -

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे । अरथु अमित अति आखर थोरे ।।
ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निज पानी । गहि न जाइ अस अदभुत बानी ।।[५०]

यहाँ `सुगम` अर्थ से वाच्यार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध अभिधा शब्द-शक्ति से है । `अगम` अर्थ से लक्ष्यार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध लक्षणा शक्ति से है ~~जिसमें मुख्य शब्दार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध लक्षणा शक्ति से है~~ जिसमें मुख्य शब्दार्थ बाधित होता है - इसी के द्वारा गूढार्थ प्रतीकार्थ आदि प्रकट होते हैं मृदु ,मंजु कठोर अर्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध व्यंजना से है । जिस प्रकार हमारे हाथ में दर्पण रहता है और दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित है, पर उस प्रतिबिम्बित मुख को पकड़ा नहीं जा सकता, उसी प्रकार काव्य की वाणी भी ऐसी होती है जिसकी समस्त अर्थ-व्यंजनाओं और भाव-तरंगों की पकड़ पूर्णतः निश्चल नहीं किया जा सकता । `साहित्यिक शैली में कहना चाहें तो यों कहेंगे कि इनका अभिधेयार्थ सुगम है मृदु और मंजु है, उसके लिए शब्द थोड़े प्रयुक्त किये गये हैं । अभिधेयार्थ के साथ लक्ष्यार्थ को भी समेट लेना चाहिए, क्योंकि लक्ष्यार्थ

---

५० मानस २/२९३/२-३ ।

भी परिमिति होता है ; वक्ता के द्वारा आरोपित होता है, किंतु व्यंग्यार्थ भी परिमित होता है । वक्ता के द्वारा आरोपित होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ अमित हो सकते हैं ; अनेक, असंख्य और यहाँ तक कि अनंत हो सकते हैं ।"[५१] प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी स्पष्ट नहीं तो दबे स्वर से लक्षणा और व्यंजना का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।

शब्दार्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए मम्मट ने काव्य-प्रकाश के द्वितीय उल्लास में बताया है कि वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द होते हैं और इन्हीं ३ प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है । इस प्रकार शब्द-शक्ति के ३ भेद होते हैं ।

१. अभिधा ।

२. लक्षणा ।

३. व्यंजना ।

इसके अतिरिक्त आचार्य कुमारिल भट्ट तात्पर्यार्थ का बोध कराने वाली 'तात्पर्या' नामक एक चौथी शक्ति को भी स्वीकार करते हैं ।[५२] कुछ शब्द तत्त्व किंवा अर्थ तत्त्व वेत्ता लोगों (जैसे कि अभिहितान्वयवादी भट्टमतानुयायी मीमांसकों) के अनुसार भी पदार्थ के अतिरिक्त एक अर्थ हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहना उचित है ।

अभिधा :-

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं ।[५३] अथवा मुख्य अर्थ के बोधक शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है ।[५४] शब्द के

---

५१. सरस्वती विशेषांक अगस्त,१९७४ , डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का लेख, पृ०१२३

५२. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् - काव्यादर्श २।७

५३. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते । काव्यप्रकाश २।८ ।

५४. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा । साहित्य-दर्पण २।४

कहे जाने पर बिना विलम्ब ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसी अर्थ को लोग मुख्य कहते हैं और जिस व्यापार द्वारा इसका ज्ञान होता है उसे अभिधा कहते हैं। जो साक्षात संकेतित अर्थ, कोशार्थ अथवा मुख्य अर्थ का बोधक हो, उसे वाचक शब्द कहते हैं। वाचक शब्द के अर्थ-बोध का व्यापार "अभिधा" शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। मुकुल भट्ट ने "अभिधावृत्ति मातृका" में लिखा है कि जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अर्थों से पहले इसी का बोध होता है। मुख की भाँति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीत अर्थों का मुख कहते हैं। वाच्यार्थ को जान लेने के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो गोस्वामी जी द्वारा अभिधा शक्ति का ही सबसे अधिक उपयोग किया गया है। अभिधा से बोध होने वाले रूढ़, यौगिक रूढ़ और योग रूढ़ तीनों के उदाहरण तुलसी-साहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

<u>लक्षणा</u> :-

विश्वनाथ के अनुसार मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शब्द शक्ति कहते हैं।[५५] मम्मट के अनुसार-मुख्य अर्थ का बाध होने पर और उस मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध (योग) होने पर प्रसिद्धि (रूढ़ि) से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह (शब्दमें) कल्पित आरोपित या व्यापार (क्रिया)लक्षणा है।[५६] तात्पर्य यह है कि जब किसी पद (शब्द) या पदसमूह का साक्षात् संकेतित अर्थ अभिधा नामक शब्द शक्ति के द्वारा नहीं खुल पाता है तो वहाँ एक दूसरा अर्थ भी होता है जो मुख्यार्थ से सम्बन्धित होता है। यह अभिप्रेत अर्थ रूढ़ि (रूढ़ मान्यता या प्रसिद्धि) या "प्रयोजन" (उद्देश्य-विशेष)

---

५५. "मुख्यार्थे बाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।। सा०द० २।६

५६. मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।। का०प्र० २।६

के कारण अन्तर्निहित होता है और जिस शब्द शक्ति के द्वारा यह लक्षित की जाता है, उसे ही लक्षणा कहते हैं। उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार विचार करने पर लक्षणा के लक्षण में तीन विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं —

(क) अभिधा से प्राप्य मुख्य अर्थ का बाधित होना,

(ख) मुख्य अर्थ एवं अभिप्रेत अर्थ का सम्बन्ध, एवं

(ग) उक्त सम्बन्ध का कारण किसी 'रूढ़ि' या 'प्रयोजन' का होना। लक्षणा के अनेक भेद हैं। यहाँ कतिपय प्रमुख भेदों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है —

रूढ़ि लक्षणा :— रूढ़ि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ के बाधित होने पर अमुख्य या अभिप्रेत अर्थ किसी 'रूढ़ि' के कारण लक्षित किया जाता है। गोस्वामी जी के साहित्य में इसके उदाहरण उन विविध मुहावरों एवं कहावतों के अन्तर्गत विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ —

आजु की कालि परों किनरौं जड़ जाहिंगे चाटि दीवारी को दीयो।[५७] यहाँ 'दीवाली का दिया चाटकर जाने' का अर्थ है 'विरोधी लोगों को समाप्त कर देना'।

इसीप्रकार प्रयोजनवती गौणी लक्षणा, प्रयोजनवती शुद्धालक्षणा, उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा आदि के भी अनेक उदाहरण तुलसी-साहित्य में विद्यमान हैं।

व्यंजना —

अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' नामक शब्द शक्तियों के विरत हो जाने पर जिस शब्द शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।[५८] अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा

---

५७. कवितां० ७।१७६।

५८. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजनानाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। साहित्य दर्पण २।१६

वाचकत्व (अभिधाशक्ति द्वारा बोध्य, सांकेतिक अर्थ) नियत हो जाता है, तब उस शब्द को किसी और अर्थ का, जो कि सांकेतिक नहीं है और फिर भी उसकी ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का (जो अभिधा से भिन्न है) नाम व्यंजन (व्यंजना) है ।[५९] घंटा बजाने के बाद जो आवाज सुनाई पड़ती है, वह अभिधेयार्थ है, जो अनुरणन सुनाई पड़ता है,वह लक्ष्यार्थ है एवं सबसे अंत में जो गूंज बाकी रहती है, वह व्यंग्यार्थ है ।[६०]

व्यंजना दो प्रकार की होती है :-

१, शाब्दी व्यंजना । इसके भी दो भेद अभिधा मूला और लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना ।

२, आर्थी व्यंजना ·

जो व्यंजना शब्दों पर आधारित होती है, उसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं । संयोगादि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्द के प्रस्तुत एक अर्थ के निश्चित हो जाने पर जो शक्ति अन्य (विशेष) अर्थ का बोध कराती है, उसी को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना माना गया है ।[६१] संयोगादि साधनों का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अर्थ विनिश्चय के साधनों के विवेचन में किया जायगा ।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना के अनेक उदाहरण तुलसी-साहित्य में देखे जा सकते हैं ।

ध्वनि तत्व और वक्रोक्ति के भी अनेक उदाहरण तुलसी साहित्य में विद्यमान हैं । कवि ने स्वयं इन काव्यांगों को स्वीकार किया है --

· धुनि अवरेब कवित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भांती ।।[६२]

यहां 'धुनि' से ध्वनि-तत्व और 'अवरेब' से वक्रोक्ति सूचित होता है ।

६०,५९, अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाधैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृति रञ्जनम् ।। काव्यप्रकाश २।१९

६०, काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १८

६१, साहित्य दर्पण २।२१

६२, मानस २।११४।१-२

अर्थ का लक्षण :-

शब्द की तरह अर्थ के भी कोश अर्थ और पर्याय मिलते हैं । अर्थ के प्रयोजन , आशय, अभिप्राय, अभिधेय, विषय, शब्द प्रतिपाद्य, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाष, तात्पर्य, प्रतिपाद्य आदि पर्याय हैं ।

भिन्न-भिन्न भाषाओं में अर्थ का प्रति शब्द इस प्रकार प्राप्त होता है-

संस्कृत-हिन्दी-अर्थ English - Meaning.

अरबी-उर्दू- मानी French - Sens

अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -अर्थ + घञ्- अर्थः । ऋ+थन्- अर्थः । अर्थ- याचने-अर्थयते । आत्मने पदी इस धातु को चुरादिगणीय माना जाता है । यह एक द्विकर्मक धातु है । स्वभावतः पाणिनि इसकी मूल धातु के अन्वेषण में असमर्थ रहे हैं तथापि उन्होंने इसकी मूलभावना खोज निकाली है । धातुपाठ में इसका अर्थ उपयाच्ञायाम् दिया गया है । अर्थात् 'अर्थ' धातु का प्रयोग मांगना या मांगने की प्रवृत्ति दिखाना के अर्थ में होता है । इसी से 'प्रार्थना' आदि शब्दों का निर्माण होता है । कह सकते हैं कि 'अर्थ' का मूल अर्थ 'उपयाच्ञा' रहा होगा। वस्तुतः इस अर्थ के कारण ही प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों ही के लिए 'शब्द' माध्यम बनता है । अर्थात् दोनों की शब्द तक पहुंच इसी अर्थ के द्वारा होती है । 'अर्थ' का मौलिक अर्थ है 'मांग' या 'उपस्तुति' वाङ्मयार्णव में 'अर्थ' के फल, धन, शास्त्र, वस्तुमात्र, प्रयोजन, द्रव्य, साधन, मोक्ष, कार्य, ऐश्वर्य,[क] निवृत्ति, वाच्य, हेतु, अभिप्राय, याचन और विषय- ये सोलह अर्थ किए गए हैं ।

शब्द रत्नाकर में भी इन्हीं अर्थों को दोहराया गया है ।[ख] अमरकोष में अर्थ के पांच अर्थ हैं -- अभिधेय, धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्ति ।[ग] इन सभी

क. अर्थः फले धने शास्त्रे वस्तुमात्रे प्रयोजने ।
द्रव्ये साधने मोक्षे कार्येश्वर्यं निवृत्तिषु ।
वाच्ये हेताभिप्राये याचने विषये तथा । वाङ्मयार्णव:महामहोपाध्यायरामावतारशर्मा३४५-४६

ख. अर्थो धने शब्दवाच्ये शास्त्रे हेतौ प्रयोजने ।
निवृत्तौ याचने मोक्षे विषय व्यवहारयो: ।। शब्दरत्नाकर(वामनभट्ट)३७२६-२७

ग. अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजन निवृत्तिषु । - अमरकोश ३।३।८६

अर्थों में दो अर्थ सर्वप्रमुख माने गये हैं, अर्थ (मीनिंग) अर्थ (वैल्थ) हितोपदेश में इस स्थापना की पुष्टि मिलती है -- "अर्थेन बलवान सर्व : अर्थात् भवति पण्डित:।"[६४] अर्थ का मानी (मीनिंग) के अभिप्राय में जो अर्थ है। उसमें भी अर्थान्तर है। यह अभिधेय, अभिप्राय और प्रयोजन जैसे शब्दों से प्रकट होता है। उक्त तीनों शब्द का प्रयोग अर्थ के पर्याय और अर्थ दोनों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें जो सूक्ष्म अर्थ भेद है वह अंग्रेजी प्रतिशब्दों से स्पष्ट है -- अभिधेय- (मीनिंग), अभिप्राय - (परपज़), प्रयोजन (मोटिव)। अर्थ के नानार्थत्व में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।[६५]

स्फोट सिद्धान्त के अनुसार "शब्दों का अर्थ जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णों से होता है और न इन वर्णों से बने हुए शब्दों से होता है, प्रत्युत इन वर्णों से बने हुए शब्दों में सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्ति को स्फोट की संज्ञा दी गयी है।

कात्यायन और पतंजलि अर्थ का लक्षण करते हुए कहते हैं कि समस्त शब्द अपने अपने अर्थ का बोध कराने के लिए होते हैं परन्तु जिस - जिस अर्थबोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उसका अर्थ होता है।[६६] कात्यायन ने अर्थ के लक्षण में "भाव" शब्द का ३ बार प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतंजलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का अर्थ है शब्द और दोनों का अर्थ है अर्थ। कैयट और नागेश उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए अर्थ का लक्षण करते हैं कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति निमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयोग को प्राप्त होते हैं, वही प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ (वाच्यअर्थ) उन शब्दों का अर्थ है।[६७] पतंजलि के अनुसार अर्थ के निमित्त ही शब्द का निर्माण

----

६४. हितोपदेश-८६।

६५. "अभिधेयाभिप्रायप्रयोजनद्रव्यवाचकोऽर्थः।" -- अभिधानरत्नमाला-हलायुधकोश५।८

६६. सर्वेभावा: स्वेनभवन्ति स तेषां भाव:। किमिमिस्मिन्नभिधानग्रहणं क्रियते? एकेन शब्द: प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थ:। यद्वा सर्वे शब्दा: स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थ:। महा० ५।१।११९।

६७. प्रदीप और उद्योत, महा० ५।१।११९

होता है ।[६८] एक स्थान पर वे कहते हैं कि शब्द के उच्चारण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।[६९] जयन्त के अनुसार कोई मानते हैं कि यह इस पद का अर्थ है, अर्थात् सांकेतिक अर्थ है, जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है वह उसका अर्थ है । दूसरा लक्षण यह है कि जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है ।[७०] कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में अर्थ का लक्षण करते हुए, लिखा है जो अर्थ - जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है, वही उसका अर्थ है अर्थात् शब्द का वह अर्थ होता है जो उसके साथ सदा विद्यमान रहता है, उस अर्थ को छोड़ता नहीं है ।[७१] प्राचीन आचार्यों ने शब्द के साथ साथ `वर्ण` को भी अर्थयुक्त सिद्ध करने की चेष्टा की है । (महा०·१।१।२) पतंजलि कूप, सूप और यूप शब्दों का उदाहरण देकर यह प्रतिपादित करते हैं कि वर्ण प्रत्यय के कारण भी अर्थों में परिवर्तन होते हैं । किन्तु आधुनिक आचार्य एवं भाषाशास्त्री केवल `शब्द` को ही अर्थ संपन्न मानते हैं, `वर्ण` को नहीं ।

जब हम किसी शब्द को बोलते हैं या सुनते हैं तो उसके द्वारा जो विचार या भाव हमारे मन में मस्तिष्क में जागृत होता है, वही उसका अर्थ है । भर्तृहरि ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है -- जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है ।[७२] यह विचार या भाव संस्कारजन्य है, और एक ही शब्द का अर्थ प्रत्येक मनुष्य के संस्कार के अनुसार अलग-अलग होता है । शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं होता अपितु उसका अर्थ केवल प्रती-

---

६८. युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थ स्यात्, नार्थनिमित्तकेन नाम्ना शब्देन भवितव्यम् । अर्थ निमित्तक एव शब्दः ।` - महा० १।४।५

६९. शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । वही १।१।६८ ।

७०. अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित्तु स तेन वा ।
यो ऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः ।। न्याय मंजरी, पृ०२६६

७१. तमर्थो ऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ । श्लोक वार्तिक १६० ।

७२. यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा यो ऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।। वाक्य० २।३३०

कात्मक या माना हुआ होता है । अर्थ की प्रतीति वाक्यपर निर्भर करती है ।[७३] प्रतीति दो प्रकार की होती है -- एक तो आत्म प्रत्यक्ष द्वारा और दूसरे, पर प्रत्यक्ष द्वारा । आत्मप्रत्यक्ष का तात्पर्य है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हम स्वयं करें । उदाहरण के लिए वृक्ष, नदी, रेल, पत्थर, ऊँट, घोड़ा, गाय आदि वस्तुओं के प्रत्यक्ष के लिए हमें दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, इनका प्रत्यक्ष हम स्वयं करते हैं । किंतु विश्व में प्रत्येक वस्तु का सदैव स्वयं प्रत्यक्षी-करण असंभव होता है । मनुष्य के ज्ञान, आयु आदि सीमित हैं । इसलिए अनेकानेक ज्ञान के लिए हमें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । उदाहरण के लिए आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर-विषयक ज्ञान के लिए हमें अपने ऋषियों का आश्रय लेना पड़ता है, जो इनका प्रत्यक्ष कर चुके हैं । इसी को परप्रत्यक्ष कहते हैं । आत्मप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अधिक स्पष्ट एवं स्थायी होती है । ~~परप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अधिक स्पष्ट एवं स्थायी होती है~~ । ~~पर प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अधिक स्पष्ट एवं स्थायी होती है~~ । पर प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अपेक्षाकृत अस्पष्ट होती है । इसीलिए कहा गया है कि "शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ" ।[७४] अर्थ के लक्षण को हमारे आधुनिक विद्वानों ने और अधिक स्पष्ट किया है --"क्रिया के वे रूप जिनसे कहने वाले के मानसिक भाव का बोध होता है, अर्थ कहलाते हैं । मनोवैज्ञानिक स्तर पर अर्थ वह बिंब है जो पाठक के मस्तिष्क में शब्द आदि पढ़कर या श्रोता के मस्तिष्क में शब्द आदि सुनकर बनता है ।"[७५] शब्दों के उच्चरित होने के पश्चात् शब्द शक्तियों के ज्ञान से जिस संकेतित लक्षित या व्यंग्यभूत "व्यक्ति" की उपस्थिति होती है, उसे ही "अर्थ" कहते हैं । हिन्दी शब्दसागर में अर्थ का अर्थ इस प्रकार बताया गया है -- "शब्द का अभिप्राय । मनुष्य के हृदय का आशय जो शब्द से प्रकट हो ।"[७६] मानक हिन्दी कोश के अनुसार -"वह अभिप्राय, भाव या

----

७३. वाक्य भावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः ।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः ।। शब्दशक्तिप्रकाशिका- १२ ।

७४. मानस १।३७।८ ।

७५. डा० भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान कोष, पृ० ३५

७६. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १६३ ।

वस्तु जिसका बोध पाठक या श्रोता को कोई शब्द या वाक्य पढ़ने या सुनने पर अथवा कोई भावभंगी या संकेत देखने पर होता है।"[७७] अधिक स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है किसी शब्द या वाक्य को सुनकर उससे कुछ समझ लिया जाय या पूरी पुस्तक पढ़कर या किसी की विस्तृत बात सुनकर कोई भावना, विचार या धारणा मन में बैठ जाय तो उस समझी हुई बात को ही अर्थ कहते हैं। चिंतामणि ने भी कहा है कि "समुझि परै सो अर्थ।"

पाश्चात्य में प्लेटो ने भी अर्थ पर नामकरण सम्बन्धी विचार क्रैटिलस में किए हैं। आधुनिक मनोविज्ञान से यह स्पष्ट है कि "बाह्य वस्तुएं ज्ञान संवाहिका (अफरेंट) नाड़ियों (स्नायुओं) के द्वारा अपनी ऊर्मियों को मन तक पहुंचाती हैं और मन अपने संचित ज्ञान में उस ऊर्मि को स्थान देता है। अंग्रेजी में "अर्थ" का पर्याय "मीनिंग" है जो सार्थक है क्योंकि "मनि" का अर्थ है "मध्य" अतएव जो निर्विकल्प (प्रत्यक्ष) अथवा संवेदन पूर्व संचित ज्ञान के मध्य उसी प्रकार स्थान प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार किसी सभा में अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सभासद। जो जिस प्रकार स्वागताध्यक्ष आगन्तुओं को उनके अनुरूप मंच पर अथवा आस-पास अथवा दूरी पर स्थान का निर्देश करता है, उसी प्रकार मन भी वस्तु की नवीनोद्भूतियों को यथावत् अपनाता है। कवि भी शब्द की अभिधा शक्ति के द्वारा अपने "अर्थ" को अर्थात् अपने विचार-भाव एवं रचनात्मक आह्लाद को सहृदय तक पहुंचा देता है।"[७८] डा० जे०एस० मूर का विचार है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ वस्तुतः संदर्भ या प्रकरण होता है। किन्तु तात्विक या तार्किक रूप में अर्थ को संदर्भ या प्रकरण की अपेक्षा कुछ और भी माना जा सकता है[७९] एक ही शब्द के अनेक अर्थ संभव हैं,

---

७७. मानक हिन्दी कोश, पृ० १८०

७८. डा० रामचंद्र भारद्वाज, काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १६।

७९. Psychologically meaning is context, but logically and metaphysically meaning is much more than psychological context, or to put in the other way round, whatever meaning may be psychology is concerned with is only so far as it can be represented in terms of contextual imagery."The form foundations of psychology p.103.

होते हैं, ज्ञान भी पड़ते हैं । कौन सा अर्थ वास्तविक है ? एक पाश्चिमी विचारक ए० गार्डिनर का मत है कि वाक्य का वही अर्थ है जिसको श्रोता को बोध कराने के लिए वक्ता ने अपने मन में रखा है ।[८०]

सी०के० औग्डेन और आई०ए० रिचार्ड्स ने 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुए कहा है कि 'जिन बहुत सी परिस्थितियों में किसी उक्ति या क्रिया का प्रयोग करने पर सदा समान लक्षण प्रकट हों और जिन परिस्थितियों में उस क्रिया या उक्ति का प्रयोग न हो उसमें वे लक्षण न दिखाई दें उन लक्षणों का योग ही 'अर्थ' कहलाता है । एक स्थल पर वे कहते हैं कि शब्द का अपना कोई अर्थ नहीं होता, इसका कोई अर्थ तब होता है जब कोई सुधी उसका प्रयोग (किसी वस्तु के लिए) करता है, अथवा ऐसे यों कहें जिसमें वह अर्थ ग्रहण करता है । इस प्रकार शब्द मात्र साधन है ।[८१] प्रस्तुत विवेचन शब्द प्रकाशकता से किंचित् साम्य रखता है । आग्डेन तथा रिचर्ड्स के मत से 'अर्थ' वह मानसिक तत्त्व है जो एक ओर घटनाओं तथा विषयों के बीच तथा दूसरी ओर उनके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले प्रतीकों तथा शब्दों के बीच का सम्बन्ध होता है ।

ओग्डेन और रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिंग आव मीनिंग' (अध्याय ६ पृ० १८५ से २०८) में आधुनिक विद्वानों के बताए हुए १६ अर्थ के लक्षणों का उल्लेख किया है तथा उनका विवेचन भी किया है ।

आधुनिक भाषा विशेषज्ञों द्वारा अर्थ के १६ लक्षण :

अर्थ के लक्षण -

क, (१) तात्त्विक भाग अर्थ है । (२) अन्य वस्तुओं के साथ एक अनुपम अनिर्वचनीय

---

८०. उद्धृत डा० बाबूराम सक्सेना, अर्थ विज्ञान, पृ० ९७ ।

८१. Words, as every one now knows 'mean' nothing by them selves---It is only when a thinker makes use of them that they stand for anytying, or in one sense, have 'meaning' They are instruments- C.K.Ogden and J.A.Richards,The meaning of meaning pp.-9-101.

सम्बन्ध अर्थ है ।

(ख) (३) शब्द कोश में एक शब्द के साथ जोड़े गये अन्य शब्द अर्थ हैं । (४) शब्द का लक्ष्य अर्थ है । (५) सारांश अर्थ है । (६) वस्तुओं में निरूपित क्रियात्मकता अर्थ है । (७) क, अभिमत लक्ष्य अर्थ है । (ख) संकल्प अर्थ है । (८) शास्त्रीय प्रक्रिया में निर्दिष्ट भाव अर्थ है । (९) हमारे भावी अनुभवों से सिद्ध किसी वस्तु के क्रियात्मक परिणाम अर्थ है । (१०) किसी वक्तव्य में वाच्य या लक्ष्य रूप से निश्चित विचारात्मक परिणाम अर्थ है । (११) किसी वस्तु के द्वारा उद्बोधित मनोभाव अर्थ हैं ।

(ग) (१२) किसी निर्धारित सम्बन्ध के द्वारा किसी संकेत से वस्तुत: सम्बद्ध पदार्थ अर्थ है । (१३) (क) किसी प्रेरणा के स्मरणोद्बोधक परिणाम अर्थ हैं । सम्प्राप्त सम्बन्ध अर्थ हैं । (ख) कोई अन्य घटना जिससे किसी अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम सम्बद्ध हैं, अर्थ हैं । (ग) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ है । (घ) जिस अर्थ को कोई शब्द अभिव्यक्त करती है, वह अर्थ है, (संकेतों के विषय में) (ङ) वह वस्तु, जिसको संकेत का प्रयोक्ता वस्तुत: संकेतित करता है, अर्थ है ।

(१४) संकेतों के प्रयोक्ता को जिसका निर्देश करना चाहिए, वह अर्थ है ।

(१५) संकेतों के प्रयोक्ता का जो स्वयं अभिमत भाव है, वह अर्थ है ।

(१६) (क) व्याख्याता संकेत के द्वारा जिस अर्थ को समझता है, वह अर्थ है ।

(ख) व्याख्याता संकेत के द्वारा जिस अर्थ की अपने हृदय में भावना करता है, वह अर्थ है ।

(ग) व्याख्याता संकेत के द्वारा जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत भाव समझता है, वह अर्थ है ।[८२]

अर्थ के इन १६ लक्षणों की तुलना उपर्युक्त अर्थ के लक्षणों से करने पर भारतीय वैयाकरणों के विवेचन-गाम्भीर्य एवं पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के

---

८२. उद्धृत, कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ९६-९७ ।

आश्चर्यजनक विवेचन-साम्य का परिचय मिलेगा । भारतीय विद्वान् प्रतीति को अर्थ कहते हैं और पाश्चात्य विद्वान् संदर्भ या प्रकरण एवं सम्बन्ध को अर्थ मानते हैं । भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के अर्थ विषयक लक्षणों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि अर्थ शब्द की ऐसी आन्तरिक शक्ति है, जो शब्द के उच्चारण करते ही उस वस्तु की प्रतीति कराया करती है जिसके संदर्भ या प्रकरण में कोई शब्द बोला या लिखा जाता है ।

अर्थ की महत्ता :-

लोक प्रवाह से विच्छिन्न होकर शब्दकोशों में उपेक्षित तथा विस्मृत पड़े प्राणहीन शब्दों पर जब प्रतिभाशाली कवि की सजीव दृष्टि पड़ती है तो वे पुनर्जीवित हो उठते हैं । उचित शब्द का उचित स्थल पर उसकी पूर्ण अर्थवत्ता के साथ प्रयोग प्रतिभाशाली कवियों का ही काम है । प्रतिभावान कवि ही अर्थतत्व का यथार्थतः ज्ञान प्राप्त कर सकता है । अर्थ की उर्मियों को सूक्ष्म दृष्टि ही पकड़ पाती है ।

अर्थ की महत्ता को स्पष्ट करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि अर्थ-ज्ञान से रहित शब्द ज्ञान प्रतिभा की व्युत्पत्ति का साधन नहीं है, जिस प्रकार अग्नि के अभाव में शुष्क ईंधन अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सकता है उसी प्रकार अर्थ तत्व की उपेक्षा करके समस्त शब्द तत्त्व का अध्ययन प्रतिभा को कभी भी प्रदीप्त नहीं कर सकता है ।[८२] जो मनुष्य समस्तवेद एवं समस्त ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् भी अर्थ - तत्त्व अर्थात् प्रतिभा की सिद्धि नहीं करता है, उसका समस्त अध्ययन उसी प्रकार निरर्थक है जैसे वेद शास्त्रों के भारको ढोने वाले गर्दभ का ।

---

८२. यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ,
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।
निरुक्त १।१८

इसी प्रकार विशेष द्रष्टव्य व्याक० महा० आ० १ , ऋ० भाष्य के प्रारम्भ एवं मंत्र ब्राह्मण की भूमिका में -- सायण ।

जो व्यक्ति अर्थ तत्त्व का ज्ञान कर लेता है, प्रतिभा की सिद्धि कर लेता है, वह समस्त सुखों का उपभोग करता है और ज्ञान-अग्नि के द्वारा समस्त ध्वनिदोषों, संस्कार दोषों और अज्ञान-जन्य दोषों का नाश करके परमतत्व परमार्थ और अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है ।[८४] ऋग्वेद में कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति वाक् तत्व, अर्थ तत्त्व को देखता हुआ भी नहीं देखता है । सुनता हुआ भी नहीं सुनता है । वह प्रतिभा का प्रतिक्षण दर्शन करते हुए भी दर्शन नहीं करता है, उसकी अनुभूति करते हुए भी साक्षात् अनुभूति नहीं करता है । उसके सर्वथा विपरीत ज्ञानी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रतिभा का साक्षात्कार करता है और उसकी अनुभूति करता है, अर्थतत्व का ज्ञान प्राप्त करता है । प्रतिभा पति स्त्री के तुल्य- जैसे पत्नी अपने पति के समक्ष अपने अंगों को उन्मुक्त आवरण रहित कर देती है, उस आत्म-तत्त्वज्ञ व्यक्ति को अपना स्वरूप प्रकट करती है ।[८५] नागेश ने इस मंत्र की व्याख्या की है --वाक्तत्व की सफलता यही है कि अर्थ-तत्व का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय । अर्थ तत्व वाक् का शरीर है, वाक्-तत्व आत्मा है ।[८६] आचार्य आनन्दवर्धन ने सहृदय श्लाघ्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है ।[८७] दुर्ग ने कहा है कि अर्थ प्रधान है और शब्द गौण । शब्द और अर्थ की एकात्मकता होने पर भी अर्थ अंश की ही प्रधानता होती है, क्योंकि उसका ही उपयोग होता है ।[८८] भर्तृहरि विषय-भेद से शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता स्वीकार करते हैं ।[८९] उनके विचारानुसार लोक में चूंकि शब्द-अर्थ-संयुक्त-होकर ही प्रयुक्त किया जाता

८४, स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।। निरुक्त १।१८

८५, उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम,
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा: ।। ऋग्०१०।७१।४

८६, अर्थपरिज्ञान फलाहि वाक् । सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य । अर्थो हि वाच: शरीरम्,उद्योत्,केनोपनिषद २,५ ।

८७, ध्वन्यालोक १।२

८८, शब्दार्थयोरेकात्मत्वे ह्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशात् । पुण्यराजवा०२।१३०

८९, वाक्य० २,१३१,१३१ । अर्थवाच: पुष्पफलमाह -यज्ञयागस्वरूप निरुक्त १।२०

है इसीलिए वही मुख्य रूप से प्रतीत होता है । अत: हम कहते हैं कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से अर्थ ही प्रमुख है । शास्त्रों में विवक्षा, प्रकरण और वक्ता की इच्छा के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों की ही प्रधानता सिद्ध की गयी है । निरुक्त के एक अंश पर विचार करते हुए यास्काचार्य ने अर्थ को ही प्रधान कहा है -

अर्थोऽपि प्रधानं तद्गुणाभूत: शब्द: । निरुक्तम् २-१

सच तो यह है कि भावों एवं विचारों का प्रादुर्भाव प्रथम होता है, भाषा तो पीछे बनती है । ये भाव एवं विचार ही वस्तुत: अर्थ है जिनके अभाव में शब्द की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । अभिप्राय यह है कि प्रथम अर्थ होता है और तत्पश्चात् शब्द । निरुक्त में अर्थ को वाणी (शब्द) का पुष्प और फल कहा गया है ।

जिस प्रकार सौगंधिक का तत्व सुगंध एवं बादल का जल है, उसी प्रकार शब्द की आत्मा अर्थ है और शब्द शरीर। गोस्वामी जी ने अर्थ को अपना रंजित और पराग तथा भाव एवं भाषा को मकरंद और सुगंध कहा है - अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।[60] शब्द के भीतर अर्थ होता है, वैसे ही पराग फूल की पंखुड़ी से मिला हुआ भीतर की ओर पहिले ही दिखाई देता है । मकरंद पराग के नीचे रहता है जो साधारणत: दिखायी नहीं देता, उसी तरह शब्दों के भीतर अर्थ के अभ्यन्तर सुन्दर भाव भरे होते हैं । किसी ने अर्थ की महत्ता को बताते हुए कहा है कि जो वक्ता या कथावाचक किसी ग्रन्थ के ठीक एवं सीधे अर्थ को छोड़कर अंड-बंड (ऊटपटांग) अर्थ करता है, वह तो नरक में जाता ही है और अपने साथ श्रोताओं को भी नरक में घसीट ले जाता है ।[61] इसीप्रकार संभवत: काष्ठजिह्वा स्वामी के निम्न शब्द कतिपय रामायणियों से सुने जाते हैं -

---

६०. मानस० १।३७।६

६१. य: साध्वर्थं परित्यज्य करोत्यर्थं विपर्ययं: ।
स वक्ता निरयं याति श्रोतृंश्चनिरयंनयेत् ।। उद्धृत,तुलसी परिशीलन, पृ०११६

ऐंचि तानि खैंचि-सांच श्रुति को न गींजिए ।
जामैंरस बनो रहै सोई अर्थ कीजिए ।।

पाश्चिमी विद्वानों में ब्लूमफील्ड ने भावना के स्थान पर अर्थ (मीनिंग) को महत्व दिया है ।[६२] आग्डेन ने कहा है कि गलतफहमी या शब्दों का ठीक अर्थ न समझना ही विश्वव्यापक युद्धों का कारण रहा है ।[६३] राजेट ने भी शब्दों का उचित भाव अर्थ प्रयोग व रूप न समझने का यही भयंकर दुष्परिणाम बताया है ।[६४]

संक्षेप में, जैसे अग्नि के बिना शुष्क ईंधन प्रज्वलित नहीं हो सकता, उसीप्रकार अर्थ के बिना शब्द का अध्ययन प्रतिभा को प्रदीप्त नहीं कर सकता । मूर्ख जो अर्थ ज्ञान नहीं रखता केवल कंठाग्र कर लेता है, वह वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता और सुनते हुए भी नहीं सुनता । अर्थग्राही के लिए वाणी अपने शरीर को उसी प्रकार खोलकर रख देती है कि जिसप्रकार सुंदर वस्त्रों से अलंकृत ऋतुस्नान के उपरांत पतिव्रता पत्नी । अर्थ बिना वेद का ज्ञान वेदादि के भार ढोने वाले गर्दभ के समान है । शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा । अर्थ प्रधान है और शब्द गौण । अर्थ पराग है और भाव मकरंद । असाधु अर्थ करने और सुनने वाले वक्ता श्रोता दोनों नरकगामी होते हैं । अर्थ के अज्ञान के कारण ही विश्वव्यापक युद्ध हुए हैं ।

अर्थ बोध के साधन --

अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है । शब्दार्थ ज्ञान के बिना वाणी के गूढार्थ का उद्घाटन नहीं होता । शब्द की संगतिजन्य अर्थच्छवियों को आत्मसात करने के लिए अभ्यस्त, शिक्षित एवं हृदय-संवेदनक्षम, प्रतिभाशाली कुशल पाठ की आवश्यकता होती है । भर्तृहरि ने अर्थ ज्ञान में प्रतिभा का स्थान सबसे उत्तम बताया है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्द का

६२, लैंग्वेज, पृ० १४४

६३, औग्डेन और रिचार्ड्स, द मीनिंग आव द मीनिंग, भूमिका ।

६४, डा० पी०एम० राजेट, पाकेट थेसारस, (१९५२ ई०) पृ० ६ ।

अर्थ समझता है और ग्रहण करता है ।[९५] बालक युवा और वृद्ध शिक्षित और अशिक्षित सभी अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं और तदनुसार ही प्रयोग करते हैं । नागेश ने वृत्तिज्ञान को अर्थज्ञान का मुख्य साधन बताया है ।[९६]

जगदीश जी ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में एक श्लोक उद्धृत किया है । उनके अनुसार अर्थबोध या शक्तिग्रह के आठ साधन हैं ।[९७]

१, लोकव्यवहार :-

पाणिनि का कथन है कि लोक व्यवहार से अर्थज्ञान होता है ।[९८] मनुष्य की प्रारंभिक शिक्षा व्यवहार के द्वारा ही सम्पन्न होती है । प्रारम्भ में माता पिता के संकेतों से बच्चा विविध प्रकार की वस्तुओं, प्राणियों आदि का ज्ञान प्राप्त करता है । शब्द से अर्थबोध का व्यापक और मुख्य साधन लोक व्यवहार है । लोक प्रचलित अर्थ पर ही ध्यान रखकर उसका प्रयोग वांछनीय है । उसकी व्युत्पत्ति पर दृष्टि रखकर उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करने से अनर्थ, अपअर्थ की प्राप्ति होगी ।

२, व्याकरण :-

अर्थबोध में व्याकरण का स्थान बहुत महत्व का है । मानलीजिए कोई 'उठना' या बैठना शब्द का अर्थ जानता है किन्तु उसे कहीं 'गाना' या 'रोना' शब्द मिल गया । कोश से इन शब्दों का अर्थज्ञान, असंभव है, क्योंकि कोश में प्रत्येक शब्द के प्रत्येक विभक्ति या काल के रूप नहीं लिखे होते, वहां शब्द के मूल रूप का

९५, अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः ।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थ प्रतिपादने ।। वाक्य० २।११९

९६, तत्रागृहीत वृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात् । मंजूषा, पृ० १२ ।

९७, शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लो० २०

९८, अष्टा० १।२।५६

अर्थ छिपा रहता है । मूल शब्द से बने हुए शब्दों का ज्ञान व्याकरण से ही संभव है । व्याकरण अन्वय व्यतिरेक की पद्धति का प्रयोग करके बताता है कि यह प्रकृति अर्थात् धातु या संज्ञा शब्द का अर्थ है और यह प्रत्यय का । व्याकरण शब्द के प्रयोग पक्ष को स्पष्ट करता है ।

३. उपमान :-

उपमान का अर्थ है सादृश्य । जिन शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं है उनके अर्थ का ज्ञान सादृश्य के द्वारा कराया जाता है । उदाहरणार्थ किसी ने 'गाय' देखा हो और वह यह सुन भी चुका हो कि 'गाय' और नील गाय में कुछ समानता है । वह वन में जाता है और एक जानवर जिसकी समता गाय से है, देखता है तो उसकी समझ में तुरंत आ जायगा कि 'नीलगाय' और 'गाय' में अधिक साम्य है । इस सादृश्यमूलक कथन से वह मान जायगा कि यह 'विशेष गाय' 'नीलगाय' ही है ।

४. कोष :-

कोष शब्द के अर्थ-पक्ष को स्पष्ट करता है । कोष शब्दों के पर्याय-वाची शब्द देकर उनके अर्थ स्पष्ट करते हैं । औग्डेन रिचार्ड्स के अनुसार कोष यह बताता है कि ऐसी ऐसी अवस्था में इस शब्द का इस शब्द के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है ।"[६६] वैसे कोष 'अर्थों' का संग्रह मात्र है । कौन अर्थ किस स्थान पर लिया जायगा इसका निर्णय लोक व्यवहार और प्रकरण आदि द्वारा होता है ।

५. आप्तवाक्य :-

आप्त का अर्थ है विश्वास योग्य व्यक्ति । आत्मा, मन, काल आदि का अर्थ आप्तों के उपदेश से ही ज्ञात हो सकता है । जो ऋषि लोक इन्द्रियों से भी अग्राह्य और सामान्य अनुभूति की भी पकड़ में न आ सकने वाले, भावों को

---

६६. दि मीनिंग आव द मीनिंग, पृ० २०७

अपनी पारदर्शी चक्षु से देख लेते हैं, उनके वचनों या उपदेशों को सामान्य अनुमान के द्वारा बाधित या असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है। आग्डेन रिचार्ड्स के अनुसार ऐसे शब्दों (पाप, आत्मा) के अर्थ जो भिन्न भिन्न शास्त्रों में जिस रूप में दिए गये हैं, वही समझे जाते हैं ।[१००]

६, वाक्यशेष (प्रकरण) :-

जहाँ शब्द अनेकार्थक होने के कारण संदिग्ध होता है, वहाँ पर वाक्य शेष अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान किया जाता है । हरि शब्द के विष्णु, सिंह, वानर, किरण, अश्व, सूर्य आदि अनेक अर्थ होते हैं वहाँ पर संदेह होता है कि कौन-सा अर्थ लिया जायगा । जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग है वहाँ का प्रकरण देखने से ज्ञात होता है कि कौन-सा अर्थ यहाँ होगा ।

७, विवरण :-

अधिकांश शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ एक शब्द से नहीं बताया जा सकता, उनके विवरण या व्याख्या करनी पड़ती है । उदाहरणार्थ 'रीति' शब्द के लिए इतनी व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है । 'विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं । इतने से भी यदि स्पष्ट नहीं होता तो 'विशिष्ट पद-रचना की व्याख्या करनी पड़ती है । इसी प्रकार अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, विवर्तवाद, परिणाम-वाद, अलंकारवाद और वक्रोक्तिवाद आदि शब्दों का अर्थ विवरण की सहायता से ही जाना जा सकता है ।

८, ज्ञातपद का साहचर्य :-

ज्ञात पद के साहचर्य से भी अर्थ का ज्ञान हो जाता है । कोई पुस्तक या पत्र-पत्रिकाएँ आदि पढ़ते समय बहुत बार ऐसा होता है कि कोई अज्ञात शब्द मिल जाता है । उसके अर्थ के ज्ञान के लिए पुन: पुन: कोश देखने की आवश्यकता नहीं होती, उसका अर्थ आगे पीछे के शब्दों की सहायता से समझ में आ जाता है । उदाहरणार्थ उद्यान में गुलाब, बेला, चमेली, जूही, गुलअब्बास, नरगिस आदि की

---

१००. द मीनिंग आव द मीनिंग, पृ० १६७ ।

छटा द्रष्टव्य है । इस वाक्य को देखने पर जिसे 'गुलशब्बो' या 'नरगिस' का अर्थ नहीं ज्ञात है वह भी गुलाब, बेला आदि के साहचर्य से सुगमता से समझ लेता है कि ये भी फूल हैं ।

इसके अतिरिक्त अनुवाद को अर्थ-बोध का एक साधन बताया जाता है । इसका प्रयोग अर्थबोधार्थ तब आवश्यक होता है जब ज्ञाता कम-से-कम एक भाषा ठीक से जानता हो और दूसरी जानना चाहता हो । 'गाय' का अर्थ किसी अंग्रेज को 'काऊ' कहकर सारूप्य से बताया जा सकता है ।

अर्थज्ञान में विघ्न :-

शब्द शक्ति का अज्ञान-- जब तक प्रचलित शब्द की शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, तब तक उन शब्दों का बहुधा श्रवण करने पर भी अर्थज्ञान नहीं होता । उदाहरणार्थ नारद ने विष्णु भगवान से कहा कि हे नाथ ! जिस प्रकार मेरा 'हित' हो वही आप करें । भगवान ने कहा जिस प्रकार आपका 'परमहित' होगा, वही करूंगा ।[क] यहाँ पर नारद भगवान की वाक्य विशिष्टता अर्थात् शब्द शक्ति पर ध्यान न देने के कारण 'परमहित' का अर्थ नहीं जान सके । अत: शब्दशक्ति का अज्ञान अर्थज्ञान में सबसे मुख्य विघ्न है ।

अतिप्रमाद -- चित्त के विषयान्तर में आसक्त होने से भी अर्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती ।[ख] इसके अतिरिक्त पतंजलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने अर्थ की अनुपलब्धि के कई कारण बताये हैं जिनका यहाँ विवेचन बहुत आवश्यक नहीं प्रतीत होता ।

क. मानस - १।१३२।७

ख. महा० ४।१।३ ।

शब्द और अर्थ का स्वरूप :-

शब्द के अस्तित्व से ही अर्थ का अस्तित्व है । शब्दार्थ ज्ञान से ही काव्यानन्द की प्राप्ति हो सकती है । पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि आदि शब्दार्थ-मर्मज्ञों ने शब्दार्थ स्वरूप का विवेचन जो सूत्र रूप में किया है, वह अर्थ-गांभीर्य के कारण अत्यन्त गम्भीर दुर्बोध और अज्ञेय है । अर्थ का विषय बाहर रहता है, किन्तु अर्थ रहता है भीतर । अतः यह कहना कि शब्दार्थ का कोई एक ही रूप है, नितांत असंभव है । भाषा और साहित्य का सारा स्वरूप शब्दों के आधार पर ही खड़ा होता है और शब्दों का आधार शब्दों के अर्थ होते हैं । अर्थ रहित शब्द या शब्द रहित अर्थ की कल्पना भी नहीं जा सकती । इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कहा है कि शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा । शरीर निरर्थक और निष्क्रिय है यदि आत्मा न हो, और यदि शरीर न हो तो आत्मा की अवस्थिति कहां हो । वेद में शब्द का प्राधान्य है, अर्थ गौण । पुराणेतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है, शब्द गौण रहता है । काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता है, यहां तक कि कवियों की शक्ति शब्द और अर्थ ही है - "कविहिं अ-रथ आखर बलु सांचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नांचा ।"[१०१] शब्द एक ओर जहां अर्थ का जनक है, वहीं दूसरी ओर वह भाव का जन्य भी । ऋग्वेद में अर्थ रहित वाणी को "अफलाम् पुष्पाम्" अर्थात् फल और पुष्प रहित कहा है । यास्क ने "अर्थ" को वाणी अथवा शब्द का पुष्प और फल कहा है ।[१०२] वस्तुतः शब्द का स्वरूप ही प्रथम प्रकाशित होता है । आचार्यों ने शब्द की तुलना दीपक से की है जिस प्रकार दीपक पहले स्वयं को प्रकाशित करता है तदनन्तर अन्य पदार्थों को भी प्रकाशमान करता है । ठीक उसी प्रकार "शब्द" भी ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों होते हैं । वे बोध्य और बोधक गुणों का समवेत रूप कहे जा सकते हैं ।[१०३]

१०१, मानस । २।२४०।४

१०२ - अर्थम् वाचः पुष्पम् फलमाह । निरुक्तम्, लक्षण स्वरूप १।२०

१०३, वाक्य० १।५५

अर्थ निराकार है । जिस प्रकार धर्म-अधर्म, देवता, स्वर्ग आदि शब्दों से आकारहीन अस्तित्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द आकारहीन अर्थ-तत्त्व का बोध कराता है । जो कि गौ आदि शब्दों के उच्चारण से आकार विशेष युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है, वह अविनाभाव (समवाय सम्बन्ध) के कारण होती है । स्थूल पदार्थों को अर्थ से पृथक् नहीं कर सकते, अतएव गौ आदि शब्द का निराकार अर्थ होते हुए भी तद्वस्तुविशेष से सम्बन्ध के कारण तदाकार अर्थ की आकार आदि से युक्त प्रतीति होने लगती है । अन्यथा यदि अर्थ साकार होते तो धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बुद्धि आदि शब्दों से भी साकार अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए ।[१०४]

पुण्यराज कहते हैं कि शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह समस्त विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध करावे । अतएव अर्थ को अपूर्ण और अनिश्चित कहा जाता है । प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी नियत वासना (संस्कार) के अनुसार ही अर्थ का स्वरूप होता है । वस्तुतः कोई भी निश्चित स्वरूप अर्थ का नहीं होता ।[१०५] भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थ का कोई रूप नहीं होता । वक्ता जिस प्रकार शब्द के अर्थ का निरूपण करता है वही उसका अर्थ हो जाता है । एक ही शब्द को एक वक्ता एक रूप से प्रयोग करके एक भाव को व्यक्त करता है और दूसरा वक्ता उसी शब्द को दूसरे रूप में प्रयोग करके दूसरा अर्थ अभिव्यक्त करता है ।[१०६] जिस प्रकार एक ही वस्तु को वासना या दृष्टि दोष के कारण इन्द्रिय नाना रूपों से युक्त प्रदर्शित करती है । उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी वासना के अनुसार शब्द का अर्थ विभिन्न रूप में ग्रहण करता है । अतएव शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है ।[१०७]

---

१०४. वाक्य० २।१२१ ।

१०५. वाक्य० २।१३६ ।

१०६. वाक्य० २।४४४ ।

१०७. वही २।१३६ ।

भर्तृहरि और हेलाराज का कथन है कि अर्थ की जो व्यवस्था की जाती है, वह वक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर रहती है या शब्द शक्ति भी उसमें कुछ कार्य करती है । इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि जहाँ तक अर्थज्ञान का सम्बन्ध है वह शब्द धर्म है । श्रोता वक्ता की विवक्षा का अपने अनुमान द्वारा अर्थ समझता है । श्रोता वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द को सुनकर यह अनुमान करता है कि वक्ता अमुक अर्थ का बोध कराना चाहता है । श्रोता अनुमान द्वारा स्वज्ञान के अनुरूप वक्ता का अर्थ ग्रहण करता है ।[१०८]

भर्तृहरि मानते हैं कि अर्थ भावना के द्योतन या प्रत्यायन में समर्थ हुए बिना शब्द के बाह्याकार का कोई महत्व ही नहीं रह जाता शब्द का जीवन ही है अर्थ की द्योतकता पर । जब तक शब्द उस अर्थ भावना से सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक वह सत्ताहीन सा ही रहता है । सुना अनसुना तब तक एक-सा ही रहता है ।[१०९] वक्ता अपनी बुद्धि के अनुरूप अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उस शब्द का विभिन्न अर्थ समझते हैं ।[११०]

अर्थ में पृथक् शक्ति नहीं है, अपितु वह शब्दों के अधीन है । शब्दों के द्वारा जिस प्रकार अर्थ का बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उनसे बोध होता है । वाच्य अर्थ कभी क्रिया रूप से कहा जाता है और कभी द्रव्य रूप से । इस प्रकार नियम से शब्दार्थों के रूप में क्रिया या द्रव्य का प्रतिपादन किया जाता है ।[१११] भर्तृहरि और हेलाराज ने यह भी कहा है कि शब्द से ही अर्थ का प्रसार और उसके अर्थ का ज्ञान होता है, यहाँ तक कि अक्षिनिकोचन (आँख मारने) से भी जो अर्थ बताया जाता है वह भी शब्द के आश्रय से ही बताया जाता है । भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि "अर्थ तो काल्पनिक होते हैं, इसलिए वे सत्य नहीं होते और इसीलिए शब्द का अर्थ असत्य होता है ।

---

१०८. वाक्य ३।५५०

१०९. वाक्य० १।५६

११०. वही २।१३७

१११. वही २।१३३

शिशुओं अथवा बालकों की भाषा पर अधिक ज़ोर देकर भाषा शास्त्र पर विचार करने वाले अंग्रेज विद्वान् जेस्पर्सन ने अर्थ के रूप के सम्बन्ध में जो विचार किया है, वह प्राचीन भारतीय भाषा-शास्त्रियों के विचारों से बहुत अधिक साम्य रखता है।[११२] यहां पर उक्त विद्वान् ने अर्थ का रूप शब्दाश्रित माना है। कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने अर्थ की विवेचना करते समय शब्द और वस्तु दोनों पर अधिक बल दिया है। औग्डन के अनुसार अर्थ अपनी शक्ति से हमारी इन्द्रियों को प्रेरित कर वस्तुबोध कराता है। औग्डन जैसे विद्वानों ने अर्थ को वस्तु आश्रित माना है, शब्दाश्रित नहीं।[११३] तार्किकों एवं दार्शनिकों के अनुसार पाश्चात्य शब्दार्थ विचार पूर्णतः सीमित और वैशिष्ट्य-परक हो गया है। उन्होंने वक्ता की उक्ति, बोध्य वस्तु या भाव के साथ ग्राहक की शक्ति को अर्थ रूपों में देकर समन्वयपूर्ण बना दिया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में उनकी विचारधारायें अस्पष्ट हैं। इनके विषय में भारतीय विद्वानों की धारणायें स्पष्ट होते हुए भी गम्भीरतापूर्ण हैं। श्री निशांत केतु के शब्दों में —समस्त सृष्टि वागर्थमय वाङ्मय है। शब्द शरीर और अर्थ प्राण है। शब्द-आधार और अर्थ आधेय है। शब्द प्रथित पृथ्वी है, ठोस और ससीम, अर्थ विस्तृत व्योम है, सूक्ष्म और असीम। शब्द दिक् और अर्थ अंबर है, इसीलिए शब्दार्थ दिगंबर है। दिगंबर अर्धनारीश्वर है। अर्ध-नारीश्वर-पार्वती - परमेश्वर है। वागर्थाविवसम्पृक्तौ.... पार्वती परमेश्वरौ। शब्द साकार ब्रह्म है, अर्थ निराकार ब्रह्म। शब्द में आकृति होती है, अर्थ में लावण्य। शब्द पौण्डितों के लिए अभिधीयमान होता है, अर्थ योगियों के द्वारा प्रतीयमान। शब्द की प्रवृत्ति बहिर्मुख होती है, अर्थ की अन्तर्मुख। शब्द-मूर्त है, अर्थ अमूर्त। शब्द वर्णों से प्रकट होता है, वर्ण रंग है, अर्थात् शब्द वर्णों से वर्णन अथवा रंगों की रंगीली है, अर्थ ध्यान से प्रकट होता है, ध्यान अध्यात्मक है, अर्थात् अर्थ-ध्यान-से ध्वन्यमान अथवा स्वबोध की संप्राप्ति है। शब्द निर्वचनीय है, अर्थ अनिर्वचनीय। शब्द वीणा है, अर्थ झंकृति। शब्द काष्ठ और अर्थ अग्नि है। शब्द अलंकार है, अर्थ कांति। शब्द पुष्प है और अर्थ सुरभि। शब्द दृश्य होता है, अर्थ

११२, आटोजेस पर्सन, लैंग्वेज, पृ० ११३।

११३, डब्लू०एम० अर्बन, लैंग्वेज एंड रियालिटी, पृ० १०५।

आलाप । शब्द प्रकृति है, अर्थ पुरुष । शब्द कर्मयोग है, अर्थ ज्ञान योग । शब्द सवाक् होता है, अर्थ संवेद्य । शब्द सभ्यता है, अर्थ संस्कृति । शब्द कलश है, अर्थ कलशामृत । शब्दार्थ पदार्थ है । पदार्थ जगत है । जगत गमनशील है । गति ही जीवन है । शब्द और अर्थ दोनों ही दिक्काल सापेक्षता में परिवर्तित- परिवर्तित होते गति-धर्मा हैं । सृष्टि की उत्पत्ति शब्द के लिए हुई है, शब्द में ही सृष्टि का प्रतिफलन होता है । अर्थ ईश्वर की तरह अदृश्य रूप से उपस्थित रहता है । शब्द भूगोल है, अर्थ इतिहास । सृष्टि का पदार्थ-विज्ञान वागर्थ है ।"[११४] इस प्रकार श्री निशांत केतु जी ने शब्दार्थ-स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । विश्व-भारती पत्रिका में शब्दार्थ की महत्ता इस प्रकार बतायी गयी है जिस अध्येता ने अर्थ-बोध नहीं किया उसे सोचनीय कहा गया है । यथा --

"शब्द वाक् है और अर्थ मन है । शब्द और अर्थ के बीच जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है, तभी जीवन में अर्थ के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं । शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है । अध्ययन का व्रत लेकर जिसने अर्थ को नहीं जाना, या जानने की इच्छा से कभी प्रयत्न नहीं किया, या करता हुआ भी जो अपने संकल्प को किनारे नहीं लगा सका, उस अधीती के लिए शोक है । अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है । हे मनीषियों ! मन से इस अर्थ को पूजो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो ।[११५] स्वर्गीय डा० वासुदेव शरण अग्रवाल शब्दों को महत्ता प्रदान करते हुए अर्थ को गौरवपूर्ण सिंहासन पर विराजमान किया है --

"शब्द कमल की भांति उमंगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का संचारी जीवन रस है । पद्मनाल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहाँ है, जहाँ इन्दीवर के गुह्य सप्त स्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है । शब्द का माधुर्य आनन्द होता है, पर काव्य में रस का मधुमय स्रोत तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय

११४, शब्दांतर, भूमिपीठ, पृ० २ ।

११५, विचारों का मधुमय उत्स- शब्द और अर्थ, विश्वभारती पत्रिका ।

करा देता है ।"[११६] वास्तव में शब्दार्थ का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, किन्तु विद्वानों ने उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अर्थ निराकार, अनिश्चित, अवर्णातीतमान, शब्दाश्रित, श्रोता की बुद्धि के अनुरूप, अनुमेय और संकेत से बोध्य है । शब्द शरीर और अर्थ प्राण है । शब्द स्थूल, ससीम है और अर्थ सूक्ष्म, असीम । शब्द सगुण ब्रह्म और अर्थ निर्गुण ब्रह्म है । शब्द वीणा है और अर्थ झंकृति । शब्द पुष्प है और अर्थ उसकी सुगंधि । शब्द कमल है और अर्थ उस कमलनाल के भीतर का संचारी जीवन रस । जिसने शब्दार्थ के इस स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त किया, उस अज्ञानी के लिए शोक है ।

<u>शब्द और अर्थ का सम्बन्ध</u> –

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कात्यायन, पतंजलि, व्याडि, व्यास प्रभृति भारतीय आचार्यों ने बहुत गूढ़ चिंतन किया है । पाणिनि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को सिद्ध माना है – सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते ।[११७] वार्तिककार कात्यायन ने सिद्धेशब्दार्थ सम्बन्धे[११८] स्पष्ट रूप से कहकर लोक व्यवहार को ही इसका मूल माना था, क्योंकि यह नित्य-सम्बन्ध लोक व्यवहार में ही सम्पुष्ट और परिलक्षित होता है । पतंजलि ने "सिद्धेशब्दार्थ सम्बन्धे" की व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि और कात्यायन शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को मानते हैं और यह सम्बन्ध नित्य है ।[११९] पतंजलि के अनुसार यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता । घट शब्द कहने पर यदि शब्द का वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता तो घड़ा वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता ।[१२०] महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि अर्थ शब्द की

११६, उद्धृत, डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', रामचरितमानस का वाग्वैभव, प्रारंभिकपृष्ठ

११७, अष्टा० १।१।१

११८, वा०१, महा० १।१।१

११९, सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः । महा०आ०१

१२०, अर्थ गम्यते सिद्धः ~~शब्दो~~ शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति लौकिकः । महा०आ० १

उसके मूल तत्व का नाश नहीं होता।[१२६] पतंजलि उसका उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण के विभिन्न आभूषण बनाये जाते हैं। आकृतियां भिन्न-भिन्न होती रहती हैं। परन्तु सुवर्ण तत्व सदा विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य ही कहेंगे। कैयट और नागेश ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अर्थ अनित्य है। शब्द नित्य है। अत: सम्बन्ध को भी नित्य कहा गया है।

नागेश नित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नित्य का अर्थ है जिसके नष्ट होने पर भी तद्गत धर्म नष्ट नहीं होता। यदि अर्थ अनित्य है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं कि इसको प्रवाह नित्यता समझना चाहिए। कैयट और नागेश दोनों ने अर्थ को प्रवाह -नित्य बार बार कहा है। शब्द का अर्थ अनादि काल से चला आ रहा है उसमें प्रवाह के कारण अर्थ परिवर्तन होने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, अत: नित्य ही कहा जाता है।[१२७] नागेश ने नैयायिक वैशेषिकों आदि के द्वारा शब्द और अर्थ मानने में जो आक्षेप किए हैं एक अध्यास द्वारा उनका समाधान करते हैं कि शब्द और अर्थ में यदि वास्तविक सम्बन्ध होता तो यह कहना उचित होता कि घट शब्द के उच्चारण मात्र से घट का काम चल जाता। इसीप्रकार मधु में मधुत्व और अग्नि उच्चारण से मुंह जल जाता।

कैयट का कथन है कि शब्द के अर्थ बोधन का व्यवहार अनादिकाल से वृद्ध व्यवहार परम्परा से चल रहा है। अत: शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को नित्य कहते हैं।[१२८] शब्द का शब्दार्थ के साथ, जैसे " गौ " शब्द का गाय अर्थ के साथ कब किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है अर्थात् गौ आदि शब्दों का यह अर्थ है, किस व्यक्ति ने सर्वप्रथम यह प्रयोग चलाया यह कोई नहीं बता सकता है। अतएव इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहार परम्परा के कारण अनादि मानकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है।

१२६, तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्वम्? तस्यभावस्तत्वम्।
मह०भा० १

१२७, उद्योत महा० भा० १।

१२८, कैयट, महा०भा० १।

भर्तृहरि और हेलाराज ने वाक्यपदीय में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनित्य अर्थ को भी नित्य इसलिए कहा गया है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य रहता है, इसप्रकार अर्थरूप से शब्दार्थ नित्यमानकर "नित्योकृप्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः" ऐसा पतंजलि ने कहा है। यहाँ पर नित्यता का अर्थ प्रवाह नित्यता है।[१२६] हेलाराज का कथन है कि यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित (सांकेतिक) नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ की बोधकता शक्ति का सम्बन्ध अनादिकाल से है। अतएव भर्तृहरि ने "सम्बन्धः समवस्थितः" कहा है अर्थात् यह सम्बन्ध स्वभाव सिद्ध है, किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित नहीं। हरि वृषभ ने भर्तृहरि के "शब्दानां यतशक्तित्वम्"[१३०] की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि शब्द में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि यह नियत अर्थ का बोध कराता है। इस स्वाभाविक सामर्थ्य से दोनों में सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

जैमिनि ने शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। जहाँ शब्द रहेगा वहाँ अर्थ अवश्य रहेगा और जहाँ अर्थ होगा वहाँ शब्द भी होगा। जब इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है तो इनका बोध्य-बोधक सम्बन्ध भी नित्य है। मीमांसा दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य कहा गया है।[१३१] शबर स्वामी ने औत्पत्तिक शब्द का अर्थ नित्य माना है। शब्द और अर्थ अश्विनीकुमारों की तरह जुड़े हुए हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने अर्थ की प्रतिपत्ति के वाक् (शब्द) और को सम्पृक्त माना है। शिव और पार्वती उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे शब्द और अर्थ।[१३२]

१२६, अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्। हेलाराज,वा० ३,पृ० ११३

१३०, वाक्य० १।६।

१३१, औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशो।
व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।।१।१।५
मीमांसा दर्शन, भाग १

१३२, वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।। रघुवंश १।१

वाराहपुराण में भी कहा गया है ,जैसे शब्द, अर्थ मिले हैं, वैसे ही उमा-शिव एक ही हैं ।[१३३] गोस्वामी जी ने भी वाणी और अर्थ को जल और उसकी लहर के समान भिन्नाभिन्न माना है । यथा –

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदौ सीता राम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न ।। [१३३]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं । आदिम जातियों की भाषा पर शोध करने वाले भाषा वैज्ञानिक ब्रोनिस्लाव मौलिनोव्स्की का कथन है कि न तो शब्द अपनी एकांतिक सत्ता रखता है और न अर्थ ही, क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं । ओग्डेन और रिचार्ड्स ने शब्द को अर्थ का प्रतीक माना है ।[१३४] मारियो पेइ लिखते हैं कि," अर्थविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है समाज द्वारा किसी अर्थ विशेष की स्वीकृति । समाज द्वारा स्वीकृत हुए बिना कोई शब्द किसी अर्थ विशेष का द्योतक नहीं बन सकता, क्योंकि भाषा के क्षेत्र में जैसे सब चीजें समझौते (- सामाजिक स्वीकृति) पर निर्भर करती हैं, वैसे ही अर्थ भी ।"[१३५] तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ का संबंध व्यक्ति एवं समाज सापेक्ष है ।

इसी प्रकार एक अन्य विद्वान के अनुसार शब्दों के साथ अर्थ को ऐच्छिक रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है ।[१३६] क्योंकि एक शब्द जिस वस्तु का अर्थ देता है, कोई दूसरा शब्द भी उस वस्तु का अर्थ दे सकता है । साथ ही कोई एक शब्द जो अर्थ देता है वही शब्द उससे भिन्न कोई इतर भी दे सकता है । अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं है । यह यादृच्छिक और सामाजिक स्वीकृति से उद्भूत सामाजिक सम्बन्ध है । डा० राजदेव सिंह ने कहा है कि आधुनिक अर्थविज्ञान की

१३३, मा०पी० वा०,खंड १, पृ० ६०१

१३३, मानस १।१८।०

१३४, सी०के० औग्डेन एंड आई०ए०रिचर्ड्स,मीनिंग आव द मीनिंग, पृ० ३०८-३०९

१३५, The essential part of sematics is acceptance of a given meaning like all else in the realm of language, is a matter of convention.". The story of language p.148

136. A language is a system of arbitrary "Vocal symbols by means of which a social group cooperates.
Bearnard block and George Pragon,Anoutline of lingustic analysis.

स्वीकृत मान्यता है कि शब्दों का अर्थ-शब्दों में न होकर हमारी अर्थात प्रतिक्रियाओं (सिमैंटिक रिऐक्शंस) में निहित होता है - वैसे ही जैसे सौ रुपये के नोट का मूल्य कागज के टुकड़े में न होकर उस सामाजिक अनुबंध में होता है जो कागज के उस टुकड़े का मूल्य सौ रुपये समझाकर तदनुकूल प्रतिक्रिया जगाता है । किसी शासन व्यवस्था के टूटने के साथ जब यह सामाजिक अनुबंध टूट जाता है, सौ, हजार या लाखों रुपयों के नोट कागज के रद्दी टुकड़े होकर रह जाते हैं । बहुत कुछ यही स्थिति शब्दों के साथ है ।"[137] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कुछ ध्वन्यात्मक आदि शब्दों को छोड़कर यादृच्छिक है (प्+उ+स्+त+क के मिश्रित रूप से "पुस्तक" (ध्वनि) का "पुस्तक" के अर्थ से नित्य सम्बन्ध नहीं है । यह सम्बन्ध केवल लोगों का माना हुआ है । यदि हम लोग सब यह निश्चित कर लें कि कल से "चटाई" का अर्थ पुस्तक होने लगेगा । उसी प्रकार यदि समाज स्वीकार कर ले, कि भविष्य में "पुस्तक" शब्द का अर्थ मोटर, साग या कुर्सी कुछ भी हो सकता है ।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की ही तरह हमारा वैशेषिक दर्शन भी शब्दार्थ सम्बन्ध को सामयिक मानता है -- सामयिक: (शब्दार्थ) प्रत्यय: ।[138] उपस्कार का मत है कि यह समय ईश्वरकृत संकेत है । भगवान ने जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत कर दिया, वह शब्द उसी अर्थ का प्रतिपादन करता है । नैयायिक संकेत अथवा शक्ति को ईश्वर की इच्छा मानते हैं और मानते हैं कि इसी के द्वारा गौ आदि शब्दों का अर्थ रूढ़ हो गया है । "ईश्वरेच्छा" में विज्ञान कोई आस्था नहीं रखता । वह इस सम्बन्ध में लोक व्यवहार को महत्व देता है । यथा उक्त "गौ" शब्द संस्कृत की "गम्" धातु से बना है जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है "गमनशील" वैसे "गमनशील" बहुत सारी चीजें हैं फिर भी उन्हें हम "गौ" नहीं कह सकते क्योंकि लोकव्यवहार में यह शब्द एक विशेष "जानवर" के अर्थ में रूढ़ हो गया है । नैयायिकों की अपेक्षा वात्स्यायन का यह मत अधिक तर्क संगत है । "क: पुनरयं समय: ? अस्य शब्दस्येदमर्थजातम भिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोग: ।"

१३७, शब्द और अर्थ : संत साहित्य के संदर्भ में, पृ० ६-७ ।

१३८, वैशेषिकदर्शनम् ७।२।२०

अर्थात् यह समय क्या है ? इस शब्द के यह अर्थ होते हैं, यह अभिधानाभिधेय नियम ही समय है ।

न्याय वैशेषिक दर्शन शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करता है — शब्दार्थावसम्बद्धौ ।[१३६]

उपर्युक्त विवेचन में लिखा गया है कि मीमांसक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं । परन्तु जब "मीमांसासूत्र" १।१।५ के सम्बन्ध में शबर-स्वामी भाष्य लिखने लगे तब उन्होंने कहा कि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नहीं ही है । शब्द और अर्थ स्वाभाव से ही असंबद्ध हैं ।[१४०] शबर स्वामी व्याख्या करते हैं कि स्वभाव से ही ये शब्द और अर्थ असम्बद्ध हैं (घट आदि) शब्द मुंह में मिलते हैं और (घड़ा आदि) अर्थ (पदार्थ) जमीन पर ।[१४५]

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के अनुसार भाषा का निर्माता मनुष्य है । जैसे मानव किसी सभ्यता या संस्कृति के साथ प्रवहमाण है, वैसे ही भाषा भी किसी न किसी सभ्यता - संस्कृति के साथ चलती है । सभ्यता या संस्कृति परि-वर्तनशील है तो भाषा भी परिवर्तनशील होनी चाहिए । वैशेषिक दर्शन ने "सामायिक" शब्द का योग देश,काल, प्रसंग, वक्ता तथा श्रोता को दृष्टि में रखकर किया है।देश काल भेद से भी शब्दों के अर्थ अलग-अलग होते हैं । हमारे यहां प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अनेक शब्दों के अर्थ कुछ और होते थे, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में उनके कुछ और अर्थहुए , और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में उन दोनों से भिन्न कुछ और ही अर्थों में उनका प्रयोग देखने में मिलता है । "शुश्रूषा" का अर्थ संस्कृत में "सुनने की इच्छा" था । आज इसका अर्थ "सेवा" लिया जाता है । यह काल का प्रभाव है , शब्द के अर्थ पर देश (स्थान) का भी प्रभाव पड़ता है । संस्कृत और हिन्दी में "राग" शब्द का अर्थ प्रेम है, किन्तु मराठी और

१३६, वैशेषिक दर्शन ७।२।१८

१४०, नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ..... स्वाभावतो ह्यसम्बन्धावेतौशब्दार्थौ ।
—मीमांसा दर्शनम्, प्रथमोभाग:

१४५, मीमांसा सूत्र १।१।५ ।

बंगला में 'राग' का अर्थ 'क्रोध' है। संस्कृत 'सपत्न' का अर्थ भाई से शत्रु बन गया। उस किनारे पर रहने वाले को प्रतिकूल कहा जाता था, अब 'शत्रु' का वाचक हो गया। हिन्दी में 'स्टूडेंट' 'गाउन' आदि शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी में।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थों से सिद्ध होता है कि शब्दों से उनके अर्थों का सम्बन्ध सामयिक है। संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। जैसा कि प्रकृति का नियम है। अतः भाषा भी बदलती रहती है।

कैयट, पतंजलि, भर्तृहरि, हेलाराज तथा मीमांसादर्शनकार आदि 'शब्द' के सामान्य अर्थ की बात कहते हैं। जब वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है तब उनके कथन का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता है। बिना अर्थ के 'शब्द' की संज्ञा ही नहीं। 'शब्द' है तो उसका अर्थ तीनों कालों में था, है और होगा। यही नित्य है। यही विचार डा० भोलानाथ तिवारी का है।[१४६] इसी बात को डा० बाबूराम सक्सेना भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार -"दोनों मतों का समाधान इस प्रकार हो सकता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध नित्यता का केवल यह मतलब है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ है, यह नित्यसिद्ध बात है। पर किसी विशेष शब्द का कौन विशेष अर्थ है यह बात सामयिक है, समय-समय पर शब्द का विशेष-विशेष अर्थ होता है। रही यह आपत्ति कि शब्द कहीं और अर्थ कहीं, शब्द मुंह में और चीज़ ज़मीन में अथवा शब्द मुंह में (आकाश पुष्प) और चीज़ कहीं नहीं, तो इसका उत्तर है कि अर्थ का मतलब भावात्मक है, वह तो मस्तिष्क में रहता है। घड़ा शब्द के उच्चारण के साथ-साथ उस शब्द से परिचय रखनेवाले जनों के मस्तिष्क में भौतिक पदार्थ घड़ा के आकार और गुणों की उपस्थिति हो जाती है। अथवा यह कहना चाहिए कि पूर्व उपस्थित यह भाव जागृत हो जाता है। यदि भौतिक वस्तु से सम्बन्ध होता, नित्य हो चाहे सामयिक तो आग शब्द का उच्चारण करते ही हम हिन्दी वालों के मुंह में आग पैदा हो जाती।"[१४७] यहां जिस मत की पुष्टि की गयी है, वह आधुनिक पाश्चात्य

१४६, शब्दों का अध्ययन, पृ० १२०

१४७, अर्थविज्ञान, पृ० १३।

सिद्धान्तों से भी साम्य रखती हैं । शब्दों और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अभी बहुत ही गंभीर और छान-बीन की आवश्यकता है । गंभीर अध्ययन के उपरांत प्राचीन भारतीय आचार्यों और आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में अत्यधिक मतवैभिन्न्य नहीं रहेगा ।

अर्थ-विनिश्चय :-

प्रस्तुत शीर्षक में विचार किया गया है कि अर्थ की नानार्थकता एवं संदिग्धार्थकता होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों द्वारा किस प्रकार अर्थ ज्ञात होता है । यास्क के निरुक्त में वैदिक मंत्रों के अर्थ के विवेचन की जो परम्परा दृष्टिगोचर होती है, वह अर्थतत्व के निर्धारण के मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती है । पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि मुनित्रय ने भाषा के मानक रूप का निर्धारण किया और वैदिक साहित्य से जो भेद हो गया था उसे स्पष्ट किया । भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाता है । शब्दों के अनेक अर्थ होने पर किसी विशेष प्रसंग में उनके अर्थों का विनिश्चय कैसे हो, इस विषय पर भी प्राचीन भारतीय वैयाकरणों, साहित्य शास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने विचार किया है । बृहद्देवता में कहा गया है कि वैदिक मंत्रों तथा साधारण वाक्यों में अर्थ का निश्चय प्रयोजन, प्रकरण, लिंग, औचित्य देश और काल की दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए ।[१४८] हेमचन्द्र- नागेश[१४९] आदि वैयाकरणों तथा मम्मट[१५०] विश्वनाथ[१५१] हेमचन्द्र[१५२] और जगन्नाथ पंडित[१५३] आदि साहित्य शास्त्रियों ने भी इनका विशद विवेचन

१४८, अर्थात्प्रकरणाल्लिंगादौचित्याद्देशकालतः ।

मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति च स्थितिः ।। बृहद्देवता २।११८

१४९, लघुमंजूषा, पृ० ११०

१५०, काव्य० उल्लास २।१९ ।

१५१, साहित्य० २।२४

१५२, काव्यानुशासन, पृ० ३९

१५३, रसगंगाधर, पृ० ११८-१२४ ।

किया है। मम्मट और विश्वनाथ प्रसाद ने अर्थ निश्चय के संयोगादि साधनों का उल्लेख अभिधामूलाशाब्दी व्यंजना के अन्तर्गत किया है। विश्वनाथ के अनुसार संयोगादि के द्वारा अनेक अर्थवाले शब्द के प्रस्तुत एक अर्थ के निश्चित हो जाने पर जो शक्ति अन्य (विशेष) अर्थ का बोध कराती है, उसी को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना माना गया है।

यद्यपि आचार्य कपिलदेव द्विवेदी का मत है कि भर्तृहरि शब्दशक्ति को मानते थे।[१५४] किन्तु डा० सत्यकाम वर्मा के शब्दों में — "........ जो भी आलोचक लक्षणा या व्यंजना के द्वारा किन्हीं अन्तर्निहित या अदृश्य शब्दों का आरोप किसी वाक्य पर स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि उसे उचित नहीं समझते। दूसरे शब्दों में, भर्तृहरि शब्द शक्तियों की किसी प्रकार की मान्यता के परम - विरोधी हैं।"[१५५] वास्तव में वे किसी भी अर्थ को गौण अथवा मुख्य अस्वीकार करते हैं। वाक्य, प्रकरण, अर्थ, साहचर्य आदि अर्थ-विनिश्चय के आधार पर मुख्यार्थ और गौणार्थ की प्रतीति होती है। अर्थ-विनिश्चय के साधनों की उप-स्थिति में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के भेदों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। शब्द कोशों के अर्थों या प्रकृति प्रत्ययादि विभाग द्वारा प्राप्त अर्थों से अर्थ-निश्चय नहीं हो सकता। अर्थ का निर्णय प्रतिभा, अभ्यास, विनियोग और लोक-प्रयोग (परंपरा) के द्वारा होता है। भर्तृहरि अभिधा को शक्ति नहीं, बल्कि उसे एक 'नियम' कहते हैं। 'लक्ष्य' या 'व्यंग्य' को शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि 'वृत्ति' की 'अंगिता' में ही है अर्थात् यदि लक्षणा एवं व्यंजना की सत्ता है तो वृत्ति की स्वाभाविकता में ही उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। जहां वे 'शब्द-शक्तयः' का प्रयोग करते हैं, वहां उनका तात्पर्य सामर्थ्य शक्ति से है। शब्द अपनी शक्ति (सामर्थ्य) से अपने अर्थों में विस्तार या ह्रासमान परिवर्तनादि कर सकता है। इसे ही 'अर्थस्य -

----

१५४, अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २३८-२६१

१५५, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, 'लेखक का वक्तव्य', पृ० २० ।

सर्वशक्तित्वात्[१५६] के द्वारा ये कहते हैं । 'शक्ति' का दूसरा प्रयोग शब्द की 'ग्राह्य' और ग्राहक शक्तियों के हेतु हुआ है ।[१५७] किन्तु इन दोनों शक्तियों का सम्बन्ध किसी भी रूप में शब्द शक्तियों से नहीं है । दूसरे शब्दों में भर्तृहरि शब्द-शक्ति को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते ।

वस्तुत: दार्शनिक होने के कारण ही भर्तृहरि 'शब्द-शक्ति' विरोधी थे । यहाँ पर भर्तृहरि का शब्द-शक्ति विरोधी मत इसलिए स्पष्ट कर दिया गया है, क्योंकि उनके द्वारा बताए हुए अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर 'तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान' का प्रयास किया जायगा । अन्य आचार्यों द्वारा बताए हुए शब्द-शक्तियों से अर्थ विनिश्चय का उपयोग भी भर्तृहरि के अर्थ-निर्णय के साधनों के अन्तर्गत हो जाता है ।

अर्थ-विनिश्चय के साधन :-

भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों ने अर्थ-विनिश्चय के लगभग २६ साधनों का उल्लेख किया है । वाक्यपदीयकार का कथन है कि नीचे लिखे अर्थ-निर्णय के साधन अर्थ का एक जगह नियंत्रण कर देते हैं जिससे उस समय के प्रयोग में दूसरे अर्थ नहीं उठते । भर्तृहरि ने अर्थ-निश्चय के निम्न साधनों का उल्लेख किया है --

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ: प्रकरणं लिंगं शब्दास्यान्यस्य सन्निधि: ।।
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो व्यक्ति: स्वरादय: ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतव: ।। [१५८]

१, संयोग :-

किसी वस्तु का किसी के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध होता है, उसके आधार पर अनेकार्थवाचक शब्द के अर्थ का संयोग निर्देश द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है,

---

१५६, वाक्य० २।४३७

१५७, वही १।५६

१५८, वाक्य० २, ३१७-१८, काव्यप्रकाश २।१६, साहित्यदर्पण २।२६ ।

यहाँ ससि शब्द का अर्थ चन्द्रमा और शस्य दोनों हो सकता है –

सस्सिसंपन्न सोहमहि कैसी । उपकारी के संपति जैसी ।।[१५६]

किन्तु 'महि' शब्द के संयोग से 'शस्य' ही अर्थ होगा ।

इसी प्रकार –

सोइ राम कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी-त्रासनिधि वहित्रं ।[१६०]

उक्त पंक्ति में प्रयुक्त 'राम' शब्द के परशुराम, बलराम, रामचन्द्र आदि कई अर्थ संभव होते पर भी 'कामारि प्रिय' तथा 'अवधपति' आदि विशेषणों के संयोग के कारण यहां पर दाशरथि राम का ही अर्थ होगा ।

२, विप्रयोग :–

प्रसिद्ध संयोग का वियोग निर्दिष्ट हो तो भी उसका ही बोध होगा ।

यथा –

यति अनन्य गति इंद्रीजीता । जाको हरि बिनु कतहुं न चीता ।।[१६१]

यहां पर 'हरि' शब्द के सिंह, वानर, किरण, अश्व, सूर्यादि अनेक अर्थ संभव होते हुए भगवान विष्णु अर्थ ही उपयुक्त है क्योंकि जितेन्द्रिय संतों के चित्त से वियोग होना इसी अर्थ को निश्चित करता है ।

३, साहचर्य –

नागेश के अनुसार यदि दो शब्द एकत्र हों तो जिनका साहचर्य देखा गया है उसका ही ग्रहण होगा ।[१६२] यथा –

हरि हरहि हरता विधिहिं विधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई ।[१६३]

१५९, मानस ४।१५।५

१६०, विनय० ५० ।

१६१, वै०सं० १४ ।

१६२, परिभाषा वृत्ति – ११२

१६३, विनयपीयूष १३५।३

गहि गिरीस कुस कन्या पानी । भवहि समरपीं जानि भवानी ।।[१६४]

उक्त उदाहरण में "हरि" शब्द के कई अर्थ होते हुए भी ब्रह्मा शिव और "श्री" के साहचर्य में विष्णु भगवान का ही अर्थ बोध होता है । "भव" का अर्थ शिव और संसार दोनों होता है, किन्तु शिव-पार्वती का साहचर्य प्रसिद्ध होने के कारण "शिव" अर्थ नियंत्रित हो गया है ।

४, विरोधिता :-

जिनका विरोध प्रसिद्ध है उनके विरोध का साथ में उल्लेख होने से अर्थ निश्चय होता है । उदाहरणार्थ -

"कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गजहरिकिसोर के ताकें ।।[१६५]

मद नागतम कुंभ बिदारी । ससि केसरी गगन बन चारी ।। १६६

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में "हरि" के कई अर्थ संभव होते हुए भी यहाँ "हरि" शब्द से सिंह अर्थ ग्रहण किया जायगा, न कि विष्णु, बंदर और सूर्य आदि का, क्योंकि गज और सिंह का स्वाभाविक विरोध है । इसीप्रकार द्वितीय उदाहरण में "नाग" शब्द का अर्थ सर्प और हाथी दोनों है । केसरी और हाथी का बैर प्रसिद्ध होने के कारण नाग का अर्थ "हाथी" ही होगा, न कि सर्प ।

५, अर्थ :-

अर्थ का अभिप्राय है "प्रयोजन" । पतंजलि ने अर्थ-निश्चय के साधनों में अर्थ और प्रकरण को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है । कैयट के अनुसार अर्थ से तात्पर्य है, जिस प्रयोजन के हेतु वाक्य बोला गया है, उसका ही ग्रहण होगा । यथा -

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई ।।[१६७]

१६४, मानस १।१०१।२

१६५, वही १।२६३।४

१६६, वही ६।१२।२

१६७, विनय० १३६ ।

यहाँ पर "द्विज" शब्द के दांत, पक्षी, चन्द्रमा तथा ब्राह्मण आदि कई अर्थ होते हैं। "हरि" शब्द के भी कई अर्थ होते हैं। किन्तु "संसार से पार पाने का प्रयोजन" होने के कारण इनके अर्थ क्रमशः "ब्राह्मण और विष्णु" ही होगा।

६, प्रकरण :-

प्रकरण का अर्थ है - प्रसंग-संदर्भ से युक्त वातावरण अर्थात् स्थिति स्वरूप। वक्ता और श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ होगा वही प्रकरण से नियंत्रित अर्थ कहलाता है। अनेकार्थक शब्दों में भी प्रकरण ही उन्हें एक अर्थ में सीमित करने में समर्थ होता है। व्यंजना के निरूपण में भी प्रकरण को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। वक्ता कौन है, किससे वार्ता हो रही है, किस स्थिति में, कौन वार्ता पर रहा है, जब सहृदय पाठक को प्रत्येक परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है तभी व्यंग्यार्थ का पूर्णरूपेण बोध होता है।

भर्तृहरि ने समस्त अर्थ-निर्णय के साधनों में प्रकरण को बहुत महत्त्व दिया है।

अर्थ और प्रकरण को अर्थ-निश्चय का प्रमुख साधन बताया है।[१६८] आचार्य पतंजलि[१६९] जगदीश,[१७०] नागेश[१७१] और यास्क आदि ने प्रकरण को अर्थनिश्चय का प्रमुख साधन माना है। सर्व प्रथम यास्क प्रकरण के महत्व को बताते हुए लिखा है कि वेद में मंत्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिए, पृथक-पृथक करके नहीं।[१७२] आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रकरण को ही अर्थ-निश्चय का मुख्य साधन स्वीकार किया है।[१७३] एम्सन ने भी अर्थ-ज्ञान के लिए परिस्थितियों के बोध को

१६८, वाक्य० २।३१५

१६९, महा० ६।१।८४

१७०, शब्दशक्ति प्रकाशिका, पृ० १७३

१७१, उद्योत महा० १।१५

१७२, निरुक्त १३।१२

१७३, आग्डेन रिचार्ड्स, मीनिंग, आव मीनिंग, अध्याय ३ और १०।

महत्वपूर्ण माना है । "इतना ही नहीं बल्कि जब हम कहते हैं कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं तो कुछ सीमा तक हम भ्रम में रहते हैं । एक शब्द के बहुत से अर्थों में प्रसंग द्वारा निर्धारित केवल एक ही अर्थ-बुद्धिसंगत होता है ।"[१७४] वान्द्रियेज के अनुसार- "शब्द की स्थिति ही हरबार क्षण-भर के लिए उसका अर्थ निश्चित करती है । चाहे शब्द के कितने भी अर्थ हों, संदर्भ ही उसको एक विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है, और संदर्भ ही, स्मृति में एकत्र अतीत प्रतिभाओं से शब्द को मुक्त कराकर उसके लिए एक सामयिक अर्थ की सृष्टि करता है । पर प्रयोग चाहे कुछ भी हो, बुद्धि में शब्द का अस्तित्व रहता है । साथ ही उसके निश्चित व वास्तविक अर्थ भी रहते हैं और ऐसे सदा तत्पर हैं कि आवश्यकता पड़ने पर वे परिस्थिति के अनुकूल प्रयुक्त हो सकें ।[१७५] ब्लूमफील्ड ने भी लगभग यही बात कही है ।[१७६] वास्तव में वक्ता और श्रोता की बुद्धि स्थिति को ही प्रकरण कहते हैं । नानार्थक स्थलों में प्रकरण के द्वारा ही स्पष्ट और निश्चित अर्थ का ज्ञान होता है । प्रसंग ही प्रकरण है । जब तक यह नहीं मालूम होता है कि कौन-सा शब्द या वाक्य किस प्रसंग में कहा या लिखा गया है, तब तक अर्थ संदिग्ध रहता है । उदाहरणार्थ 'सैंधवमानय', में सैंधव का अर्थ गमन के प्रसंग में 'अश्व' और भोजन के प्रसंग में 'नमक' होगा । इसी प्रकार - प्रसंग-प्रकरण अर्थात् वातावरण-परिस्थिति-यह है कि मंदोदरी रावण का चरण स्पर्श करते हुए, हनुमान जी के पराक्रम का बखान करके पति से कहती है -

कंत करष हरि सन परिहरहू । मोर कहा अति हित हिय धरहू ।।[१७७]

१७४, द्रष्टव्य Paulhan B. Leroy द्वारा उद्धृत LXXXVII पृ० ८७ ।
उद्धृत - भाषा: जो० वान्द्रियेज, पृ० २११

१७५, जो वान्द्रियेज, भाषा, पृ० २१६

१७६, "If we had an exect knowledge of every speaker's situation and of every hearer's response- we could simply register those two facts as the meaning of any given speechulterance." Quoted from Sahitya Sidhant. Dr. Ram Avadh Dwivedi P.481.

१७७, मानस ५।३६।४

'हरि' शब्द के विष्णु, बंदर, सिंह, राम, कृष्णादि अनेक अर्थ संभव होते हुए भी, प्रसंग और वातावरण से यहां 'हरि' का अर्थ श्री रामचन्द्र है। इसलिए 'यह लंकेस मंत्र लाग काना'[१७८] में लंकेस विभीषण का सूचक है, रावण का नहीं। क्योंकि यहां सुबेल पर्वत स्थित सपरिकर भगवान श्रीराम की फांकी का प्रसंग है। अतः स्पष्ट है कि प्रसंग के अनुकूल यथास्थानपर अर्थों की संगति हुआ करती है।

७. लिंग :-

'लिंग' का अर्थ है चिह्न, लक्षण। किसी वस्तु के किसी विशेष लक्षण अथवा चिह्न से भी अर्थ का निर्णय होता है। उदाहरणार्थ-'कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।'[१७९] 'बारिचरि केतू' से कामदेव का ही बोध होगा, क्योंकि 'मकर चिह्न' जिसकी ध्वजा में है, नकि समुद्र। यद्यपि 'बारिचर केतु' का अर्थ समुद्र और कामदेव दोनों है। यहां लिंग के आग्रह से कामदेव का ही अर्थ ठीक होगा।

८. अन्य शब्द का सान्निध्य :-

अन्य शब्द के सामीप्य के कारण अर्थ नियंत्रित हो जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार -"प्रत्येक शब्द अन्य शब्द के साथ सम्बन्ध होने पर विशेष वाचक हो जाता है।"[१८०]

उदाहरणार्थ -

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहै असोच बनै प्रभु पोसे ।। [१८१]

कीजै जो कोटि उपाइ त्रिविध ताप न जाइ,

कह्यो जो भुज उठाइ मुनिवर-कीर ।। [१८२]

सुनिय नाना-पुरान मिटत नाहिं अज्ञान

पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर ।[१८३]

---

१७८. मानस ६।११।६

१७९. वही १।८४।६

१८०. महा० २।१।५५

१८१. मानस ४।३।४

१८२. विनय० १२६

१८३. वही १२७

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में "पति" शब्द का अर्थ स्वामी और "पतिदेव" दोनों ही सकता है, किन्तु सेवक शब्द की सन्निधि से "पति" का अर्थ स्वामी ही होगा। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में "कीर" शब्द का अर्थ प्रसिद्ध रूप से सुग्गा संभव होते हुए भी, "मुनिवर" शब्द के सान्निध्य से "शुकदेव" अर्थ ही ग्रहण होगा। तृतीय उदाहरण में "ता" शब्द के सामीप्य के कारण "कीर" का अर्थ "सुग्गा" (तोता) ही होगा। उक्त उदाहरणों में "सेवक" और "कीर" शब्द का वास्तविक अर्थ अन्य शब्द के सान्निध्य के कारण ही स्पष्ट हो सका है।

६. सामर्थ्य :-

इसकी स्थिति वहाँ मानी जाती है जहाँ किसी कार्य के सम्पादन में किसी पदार्थ या भाव की सामर्थ्य होती है। आचार्य पुष्पराज ने अर्थ-निर्णय के प्रकरण में लिखा है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार अर्थ-निर्णय के समस्त साधार "सामर्थ्य" में ही अन्तर्भुक्त हो गए हैं। अतः सामर्थ्य ही अर्थ-निर्णय का साधन है। अर्थ प्रकरण संसर्ग आदि के द्वारा जो अर्थ-निश्चित किया जाता है, वह भी सामर्थ्य से ही प्रतीत होता है। उनके अनुसार सामर्थ्य का अर्थ है कौन सा अर्थ वाक्यार्थ को स्पष्ट करता है तथा प्राकरणिक और युक्तियुक्त है।[१८४] उदाहरणार्थ-

तनु महु प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जिमि दामिनि घनमाझ समाहीं।।

यहाँ पर "सर" शब्द का अर्थ "तालाब" न होकर "बाण" ही होगा, क्योंकि उसी में यह सामर्थ्य है कि शरीर से आर-पार हो सके। यहाँ "सर" का अर्थ तालाब ही युक्तिसंगत है।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने इसी सामर्थ्य को प्रकरण कहा है।[१८५] हर्मन पाउल ने इस विषय पर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है।

१, वक्ता और श्रोता का समान अवधारणा ।

२, वक्ता के पूर्वोक्त वाक्य

३, विशेष सामर्थ्य

४, अन्य शब्दों के जोड़ने से अर्थ की सीमा का निश्चय ।

५, अनिश्चित अर्थ वाले शब्द के सम्बन्धी शब्द के द्वारा ।

यहाँ हम देखते हैं कि 'हर्मन पाउल' द्वारा कथित अर्थ-निश्चय का अन्तर्भाव भर्तृहरि द्वारा कथित अर्थ निश्चय के साधनों में हो जाता है । हर्मन पाउल के तृतीय तथा पंचम उपाय क्रमशः भर्तृहरि के द्वारा कथित सामर्थ्य तथा संयोग से साम्य रखता है । ध्यातव्य है कि भारतीय आचार्यों का अर्थ-निर्णय सम्बन्धी विवेचन अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक है ।

१०, औचित्य :-

औचित्य का अर्थ है 'उपयुक्तता' । वाक्य में जो अर्थ उपयुक्त अथवा संगत होगा, उसी का ग्रहण होगा । पुण्यराज के अनुसार औचित्य का तात्पर्य है यदि वाक्य में कुछ शब्दों का प्रयोग न हुआ हो तो औचित्य के आधार पर वह अर्थ समझ लिया जाता है । अनेकार्थी शब्दों में जिस स्थान पर उसका प्रयोग उचित हो ,उसी को ग्रहण किया जायगा । यथा -पातु वो दयितामुखम् ।' में मुख का अर्थ साम्मुख्य लिया जायगा क्योंकि प्रेयसी का सामुख्य विरही की रक्षा करने में समर्थ है । इसी प्रकार -

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु ।[१८७]

यहाँ युद्ध -स्थल (समर) में कर्तृत्व के औचित्य से 'सूर' का तात्पर्य पराक्रमी, वीर ही होगा न कि 'नेत्र हीन,' सूर्य ।

११, देश :-

अनेकार्थक शब्दों के वाक्य में स्थान या देश का उल्लेख होने से अर्थ निश्चित हो जाता है । उदाहरणार्थ-अवधप्रान्त में जब 'मौसा ' शब्द कहा जायगा

१८७, मानस १।२७४।७

तो उसका अर्थ 'माँ की बहन का पति' मात्र होगा। किन्तु हरियाणा में भाई का ससुर भी मौसा है। इसी तरह —

आए ब्याहि रामघर जब तें। बसै अनंद अवध सब तब तें।।[१८८]

यहाँ पर अवध देश के उल्लेख के कारण, अथवा अयोध्या से सम्बन्धित होने से दाशरथि 'राम' का अर्थ होगा, न कि बलराम, परशुराम का।

१२, काल :—

वाक्य में काल या समय का उल्लेख होने से भी अर्थ-विनिश्चय होता है। यथा —

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।।[१८९]

सब ऋतु सुखप्रद सो पुरी पावस अति कमनीय।

x x x

बकराजि रजित गगन हरिधनु तड़ित दिसि दिसि सोहहीं।।[१९०]

उक्त प्रथम उदाहरण में मधु शब्द 'मास' के साथ आने के कारण उसका अर्थ 'चैत्रमास' ही गया है, यद्यपि 'मधु' का अर्थ वसंत, शहद आदि भी होता है। इसीप्रकार द्वितीय उदाहरण में पावस ऋतु के प्रसंग के कारण 'हरिधनु' का अर्थ 'इन्द्रधनुष' ही होगा, वैसे 'हरि' के विष्णु, बंदर, आदि कई अर्थ होते हैं।

१३, व्यक्ति :—

व्यक्ति से अभिप्राय पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग से है। एक ही शब्द विभिन्न लिंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ का संकेत करते हैं। यथा — 'मित्र' शब्द का पुल्लिंग में सूर्य और नपुंसक लिंग में सुहृद अर्थ देता है। इसीतरह —

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबैं।[१९१]

१८८, मानस १। ३६१। ५

१८९, वही १।१९१।१

१९०, गीता ७।१९

१९१ _ कवितावली ७ ।१७

बीर कीर । सिय राम लषन बिनु लागत जग अँधियारी ।।[१६२]

उपर्युक्त पंक्तियों में पुल्लिंग के कारण 'भाई' ही होगा, वैसे इसके अर्थ, सखी, मौसा आदि भी होते हैं ।

१४, स्वर :-

उदात्तादि स्वरों का विचार वेदों में ही किया जाता है, लौकिक काव्यों में नहीं । मम्मट के शब्दों में 'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेष प्रतीतिकृत ।' 'स्वरादय:' के आदि का तात्पर्य कतिपय आचार्य सत्व-षत्व-नत्व मानते हैं और कुछ अभिनय से सम्बद्ध करते हैं ।

१५, सत्व-षत्व :-

पुष्पराज ने इसे भी अर्थ-निश्चय का साधन स्वीकार किया है । यथा 'सुसिक्तम्' में अनुपसर्ग होने से मूर्धन्य 'ष' न होने से 'सु' का अर्थ पूजा होगा और 'सुषिक्तम' में मूर्धन्य 'ष' होने से, यह उपसर्ग है, ज्ञात होता है ।

१६, णत्व-नत्व :-

इसके अन्तर से भी अर्थ निश्चय होता है । यथा 'प्रणायक' का अर्थ है -- ग्रन्थ लेखक (प्रणयन कर्ता) किन्तु प्रनायक का अर्थ है --प्रगत है नायक जिसका (बहुव्रीहि समास) अर्थात् नायकहीन ।

१७ अभिनय :-

चेष्टाओं, भाव भंगिमाओं और मुद्राओं के द्वारा भी अर्थ-निर्णय किया जाता है । पं० रामदहिन मिश्र ने काव्यालोक में अभिनय का एक उदाहरण यह प्रस्तुत किया है --

इतनी सी वा नारि के, इतने से उर जात ।
इतने हैं लोचन बड़े, भूधर इतनो गात ।।

१६२, गीता० २।६६।१

यहाँ हस्त संकेत के द्वारा स्तनों की पृथुता ,नेत्रों की विशालता और शरीर के दौर्बल्य का स्पष्टीकरण किया गया है ।

भर्तृहरि ने एक अन्य श्लोक में अर्थनिर्णय के कतिपय इतर साधनों का भी उल्लेख किया है —

वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः । [१६३]

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।

प्रकरणादि साधनों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है —

१८, वाक्य :—

पुण्यराज के अनुसार वाक्यगत सम्बन्ध शब्द के अर्थ का निर्णय करता है । जब तक शब्दों का प्रयोग किसी सुव्यवस्थित वाक्य में न हो तब तक शब्दों का यथार्थ अर्थ ज्ञान नहीं होता । वाक्यगत शब्द के व्याकरणिक स्वरूपों के आधार पर ही शब्दार्थ का निश्चयीकरण संभव है ।

पुण्यराज ने कहा है कि उपर्युक्त साधन शब्दार्थ निर्णय के उपायों का दिग्दर्शन मात्र है । अन्य भी अर्थ निश्चय के साधनों का अनुसंधान करना चाहिए । अन्य साधन हैं

१९, वक्ता की भावना :—

पतंजलि और भर्तृहरि ने इसके भी अर्थ निश्चय का साधन माना है । नानार्थक शब्दों में वक्ता जिस अर्थ में उसका प्रयोग करता है, उस शब्द का वही अर्थ होगा ।[१६४] एक ही वाक्य को वक्ता जब समानरूप से बोलेगा तो उसका अर्थ एक होगा और व्यंग्य या काकु रूप में बोलने पर उसका अर्थ सर्वथा विपरीत होगा । उदाहरणार्थ —

करहिं कूटि नारदहिं सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ।।

रीझहिं राजकुँवरि छवि देखी । इन्हहि बरिहि हरिजान बिसेषी ।।[१६५]

१६३, वाक्य० २।३१६

१६४, महा० १।१।५५,वाक्य० २।४०६

यहाँ हरगणों के वाक्यों का अर्थ नारद समझ रहे हैं कि हरि (विष्णु) ने मुझे अपना स्वरूप प्रदान किया है। राजकुमारी उनको हरि (विष्णु) जानकर विशेषरूप से वरण करेगी। वक्ता की भावना के अनुरूप वक्रोक्ति से अर्थ होगा राजकुमारी नारद को विशेष प्रकार का वानर समझकर भड़क उठेगी।

२०, अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय --

जिसका जिसके साथ अर्थकृत आन्तर्य है, वह दूरस्थ होते हुए भी समीपस्थ होता है। प्राय: वाक्य में शब्द विपर्ययात्मक ढंग से रखे होते हैं। ऐसी स्थिति में अन्वय क्रम को ही अर्थ-निश्चय का साधन माना जायगा। पतंजलि के अनुसार वाक्य में विभिन्न स्थानों पर पड़े हुए शब्दों का भी यथायोग्य सम्बन्ध किया जाता है।[१६६] कैयट के अनुसार पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान होता है। अत: अर्थक्रम के अनुसार शब्दों का सम्बन्ध किया जाता है।[१६७]

२१, अन्वय व्यतिरेक :--

पतंजलि और भर्तृहरि अन्वय व्यतिरेक को भी अर्थज्ञान और अर्थ निश्चय का साधन मानते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ का निश्चय अन्वय व्यतिरेक से ही होता है।

२२, व्याख्यान :--

पतंजलि ने कहा है कि संदिग्ध स्थलों पर ही नियम की आवश्यकता होती है, जहाँ पर अर्थ असंदिग्ध है वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि कई प्रकरणों में ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जहाँ पर दोनों अर्थ लग सकते हैं। वहाँ पर या तो दोनों ही अर्थ नहीं लग सकते या दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं। ऐसे स्थलों के लिए पतंजलि ने कहा है कि उन्हें संदिग्ध मानकर अनिर्णीत अवस्था में छोड़ नहीं देना चाहिए। अपितु आचार्यों के व्याख्यान (विवरण) के आधार पर अर्थ लिया जायगा और वही अर्थ माना जायगा।

१६६, महा० १।१।५७

१६७, प्रदीप, महा० १।१।५७

यथा - "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" में "सिद्ध" शब्द का अर्थ संदिग्ध है । आचार्यों के व्याख्यान में "नित्य" अर्थ स्वीकार किया गया है ।[१९८]

२३, ज्ञान (बोध) प्रकरण :-

नागेश ने इसे भी अर्थ निश्चय का साधन स्वीकार किया है ।[१९९] मनुष्य के ज्ञान में पूर्व कही हुई बातें स्थित रहती हैं । पुन: उसी विषय की चर्चा होने पर पूर्वज्ञान की स्मृति से अर्थ-निश्चय हो जाता है । जिस व्यक्ति ने भागवत महापुराण का अध्ययन किया है, वह मानस के २।२२७ दोहे में "राजा वेन" का उल्लेख प्राप्त होने पर तुरंत समझ जाएगा कि यह "राजा वेन" भागवत का ही है ।

२४, सामान्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान -

पतंजलि ने बहुत से उदाहरणों के द्वारा बताया है कि मनुष्य को सामान्य ज्ञान होगा तो वह वाक्य का अर्थ निश्चय सरलता से कर लेगा । पाणिनि ने लोक-प्रसिद्धि और लोक व्यवहार को अर्थ-निर्णय का प्रमुख साधन माना है ।[२००] लोक-व्यवहार से भी अर्थ-निश्चय होता है । जिन्होंने व्याकरण का अध्ययन नहीं किया है, उनसे जब यह कहा जाता है कि "राजपुरुष को लिवालाओ" तब वे राज-विशिष्ट पुरुष लिवा लाते हैं, न कि राजा को लिवा लाते हैं और न पुरुष मात्र को । पश्चिमी विद्वान् मारिओ पाई ने भी कहा है कि अर्थ का सम्बन्ध परम्परा से है ।[२०१] अत: अर्थ निश्चय के लिए अर्थ का लोक में व्यवहार प्रधान आधार है ।

२५, शब्दाध्याहार :-

अपूर्ण वाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के अध्याहार (पूर्ति) से होता है । यथा - "प्रवेश करो" का अर्थ "भोजनालय में प्रवेश करो"

१९८, महा०भा० १ तथा परिभाषेन्दु शेखर परिभाषा ६ ।

१९९, - परिभाषेन्दु, परिभाषा ०६

२००, अष्टा० १।२, ५५ से ५६ तक ।

२०१, मारिओ पाइ, द स्टोरी आव लैंग्वेज, पृ० १४८

(चावल रोटी,दाल, सब्जी और आम, मलाई आदि) भोजन लाओ । कहने से ही निश्चित होता है । इस अर्थ और प्रकरण से ही इन शब्दों का अध्याहार कर लेते हैं ।[२०३] पाणिनि के अनुसार- पृषोदरादीनियथोपदिष्टम ।[२०४] पृषोदर प्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधुनि स्युः । अर्थात् पृषोदर प्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधुनि स्युः । अर्थात् पृषोदर आदि शब्द जैसे शिष्ट लोगों ने कहे हैं वैसे ही वे ठीक हैं । तात्पर्य कि जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है उससे वही अर्थ सिद्ध होगा । इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर पाणिनि के धातुसूत्र आदि यथा संभव काम में लाकर जहाँ न बनता हो वहाँ अपनी ओर से वर्ण-परिवर्तन, अन्य वर्ण-ग्रहण, लोप आदि जो आवश्यक हो, कर लें । यथा -"पृषत् उदर" - पृषोदर, वारिवाहक- बलाहक, हिंस धातु से सिंह इत्यादि ।

२६. युक्तिसंगतता :-

पतंजलि ने अर्थ निश्चय तथा इसी प्रकार के अन्य संदिग्ध अथवा विवादास्पद विषयों के हेतु एक बहुत ही उपादेय बात कही है । उनके अनुसार -

"यच्च नाम सहेतुकं तन्न्यायुयम्" ।[२०५]

जो भी अर्थ युक्तिसंगत एवं प्रासंगिक विदित हो, वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए । यह एक सामान्य नियम है जो सर्वत्र लागू होता है ।

इसके अतिरिक्त कतिपय पाश्चात्य विचारक साम्य (दीखने वाली रूप की समानता) और भेद (विपरीत वृत्ति) को भी अर्थ-निश्चय का साधन माना है, किन्तु भारतीय मनीषियों का अर्थ-निर्णय सम्बन्धी विवेचन पर्याप्त गंभीर है । अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है ।

---

२०३. महा० २।२।११

२०४. अष्टा० ६।३।१०९

२०५. महा० १।३।९

पाठ-चयन के सिद्धान्त :-

१. पाठानुसंगति तथा अर्थानुसंगति :-

पाठ की दृष्टि से मूल से साम्य रखने वाला पाठ अर्थ तथा प्रसंग की दृष्टि से भी उपयुक्त होना चाहिए । स्वीकृत पाठ विषयानुसंगी और लेखानुसंगति से सिद्ध होना चाहिए । विषयानुसंगति से तात्पर्य है कि स्वीकृत पाठ प्रसंग, अर्थ, कविप्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक बैठता हो । लेखानुसंगति वह है जो लेखन सामग्री, लिपि, आदि की दृष्टि से भी सिद्ध हो ।

२. कठिनतर पाठ की स्वीकृति :-

कामे के शब्दों को उद्धृत करते हुए श्री कन्हैयालाल सिंह ने कहा है कि जहाँ पर भिन्न-भिन्न शाखाओं में दो पाठ उपलब्ध हों, दोनों ही सार्थक एवं संगत प्रतीत हों और उनमें से एक कठिन पाठ हो और दूसरा सरल तो सामान्य तथा पाठालोचन का यह नियम है कि कठिन पाठ को सरल की अपेक्षा वरीयता देकर ग्रहण कर लेना चाहिए । आगे उन्होंने कहा है कि कभी-कभी भाषा पर प्राचीनता की कलई करने की चेष्टा प्रतिलिपिकारों द्वारा भी की जाती है । इस प्रकार कठिनतर पाठ होना मूल का प्रमाण नहीं है, प्रत्युत एक संभावना मात्र है जिसके अपवाद भी हो सकते हैं ।[२०६]

३. संक्षिप्त पाठ की स्वीकृति: -

कभी कभी यह दृष्टिगोचर होता है कि किसी रचना विशेष का विभिन्न शाखाओं में पाठ कम और अधिक मिलता है । ऐसी स्थिति में प्रायः यह संभावना व्यक्त की जाती है कि बृहद पाठ प्रक्षेपों से प्रभावित होने के कारण अधिक और संक्षिप्त पाठ मूल के निकट होने के कारण कम होता है ।

४. प्रतियों की संख्या का नहीं, उनके मूल्य का महत्व :-

कुछ विद्वान अधिक प्रतियों में मिलने वाले एक ही पाठ को प्रामाणिक और कम प्रतियों में मिलने वाले पाठ को अप्रामाणिक कहते हैं , किन्तु ये विचार

---

२०६. पाठ संपादन के सिद्धान्त, पृ० ६६

अधिक मान्य नहीं है क्योंकि यदि किसी रचना के दस प्रतियों में एक पाठ मिलता है और दो प्रतियों में दूसरा । यदि परीक्षा के उपरान्त यह निश्चित हो जाता है कि उक्त दस प्रतियां एक ही शाखा की हैं और शेष दो प्रतियां दो विभिन्न शाखाओं की, तो इन प्रतियों में प्राप्त पाठ अधिक मान्य होगा, अपेक्षाकृत प्रथम दस प्रतियों में मिलने वाले पाठ के । जिन प्रतियों में काट-छांट कम हुए हों तथा प्रक्षिप्त अंश भी न मिलता हो तो वे प्रतियां विश्वसनीय हो जाती हैं ।

पाठचयन के सामान्य सिद्धान्त -

ऐसे पाठ जो किसी रचना की समस्त शाखाओं में समान रूप से प्राप्त होते हैं, वे असंदिग्ध रूप से मूल पाठ से प्रवाहित हुए रहते हैं । अतएव इस प्रकार समान प्राप्त पाठों को मूल पाठ के रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए । यदि कोई पाठ निःसन्देह अशुद्ध हो किन्तु वह सभी शाखाओं की सभी प्रतियों में अबाध रूप से मिलता हो, तो ऐसी स्थिति में यह संभावना रहती है, कि वह लेखक की मूल प्रति की अशुद्धि है । ऐसी अशुद्धि के सुधार का अधिकार किसी को नहीं है । यदि यह अशुद्धि प्रमाणित हो जाए कि रचयिता के न चाहते हुए भी हो गयी है तो वह लेखक की भूल होने पर भी संशोधन के योग्य है ।

जो पाठ सभी शाखाओं में समानरूप से न प्राप्त होते हों, उनमें से ऐसे पाठ जो दो या दो से अधिक शाखाओं में एक रूप से मिलते हों, उन्हें मूलपाठके रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे पाठ मूल के निकट हो सकते हैं ।

पाठ-सुधार :-

अन्तर्साक्ष्य अंतरंग संभावनाएं अथवा विषयानुसंगति - पाठालोचक के द्वारा संशोधित पाठ अन्तर्साक्ष्य द्वारा सिद्ध होना चाहिए । अन्तर्साक्ष्य में ग्रन्थकार रचना और प्रयोग शैली से सम्बन्धित साक्ष्य आते हैं । ये साक्ष्य कवि की रचनाओं के गंभीर अध्ययन के द्वारा अतलस्पर्शी और मनीषिताओं से युक्त पाठालोचक ही प्राप्त कर सकते हैं । पाठालोचक को प्रस्तावित पाठ सुधार को निम्नलिखित कसौटी पर कसना चाहिए :-

१. प्रसंग - जहाँ निजी विशिष्ट विकृति के कारण समान पाठ विभिन्न प्रतियों में पृथक-पृथक प्राप्त हों और सभी पाठ प्रसंग के धारा प्रवाह में व्यवधान उपस्थित करें तो पाठालोचक उस पाठ के संशोधन के सम्बन्ध में विचार कर सकता है ।

२. सार्थकता -- प्रस्तावित पाठ सार्थक होना चाहिए । निरर्थक पाठ कभी प्रसंग से सम्बद्ध नहीं हो सकता । पाठ की सार्थकता के स्पष्टीकरण के साथ पाठालोचक को विशेषज्ञ और सर्वतोमुखी प्रतिभा से युक्त होना चाहिए ।

३. प्रस्तावित पाठ रचयिता के प्रवृत्तियों के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए । साम्प्रदायिक साहित्य के सम्बन्ध में इस पर अधिक गंभीरता से ध्यान देना चाहिए । प्रत्येक रचनाकार शब्दों को विशिष्ट ढंग से प्रयोग करता है । पाठालोचक को इस प्रयोग-वैशिष्ट्य पर ध्यान देना चाहिए । वह जिस पाठ का समर्थन कर रहा है, वह रचयिता के प्रयोग के अनुकूल होना चाहिए ।

४. प्रस्तावित पाठ रचयिता के काल में प्रचलित व्याकरण से सम्मत होना चाहिए । साथ ही वह रचयिता के छंद-योजना के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए । प्रस्तावित पाठ कवि की अपनी छन्दयोजना के ही अनुसार होना चाहिए ।

किया गया पाठ सुधार लेखानुसंगत और विषयानुसंगत अर्थात् बहिरंग और अंतरंग संभावना कर द्वारा प्रमाणित होना चाहिए ।

पाठ वही उपयुक्त है जो उचित अर्थ प्रदान करे, जो प्रसंगानुकूल हो, रचयिता के प्रवृत्तियों के अनुरूप हो, उसके प्रयोग और भाषा के अनुकूल हो, जिससे छंद भंग न हो, प्रवाह हो और पुनरुक्ति न हो जो पाठ उन सब बातों को पूरा करे उसे विषयानुसंगत कहते हैं ।

पाठालोचन के दो वर्ग हैं --

१. रूढ़िवादी वर्ग - रूढ़िवादी वर्ग सुधार नहीं चाहता । वह प्राचीनतम पाठको ही प्रस्तुत करना चाहता है ।

२. सुधारवादी वर्ग :--सुधारवादी वर्ग सुधार चाहता है । सुधार केवल पाठालोचन का एक अंग मानता है ।

आधुनिक पाठालोचकों के अनुसार सुधार होना चाहिए, किन्तु वह मनोनुकूल और अप्रामाणिक नहीं होना चाहिए। रुढ़िवादी वर्ग प्राचीनम प्रतियों के आधार पर भ्रष्ट पाठ का ही क्लिष्ट कल्पना करके अर्थ निकालने का प्रयास करता है। चाहे वह अर्थ उस पाठ में विद्यमान हो अथवा नहीं खींच-तानकर दूरकी कौड़ी लाने का प्रयास करता है। यह वर्ग अर्थसंगति बैठा देना ही पाठ-समस्या की इतिश्री समझ लेता है। यह वर्ग पाठालोचक कम, प्राचीन पाठ का रक्षक और सत्यता से युक्त होता है। सुधारवादी बिल्कुल सुधार के पक्ष में होता है। वस्तुत: दोनों वर्ग अतिवादी है। जहां तक हो सके पाठ-सुधार नहीं पाठ चयन ही करना चाहिए। जहां किसी पाठका निर्णय पाठ-चयन के अन्तर्गत न हो तो वहां पर बहिरंग तथा अंतरंग संभावनाओं के आधार पर पाठ-सुधार प्रस्तुत किया जा सकता है।

अध्याय — २

तुलसी साहित्य में तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास :—

भर्तृहरि ने वास्तविक अर्थज्ञान के लिए तर्क को परमावश्यक माना है । वेदको कुछ भी जो लोग नहीं समझ पाते, उनके लिए वेद वाक्यों का अर्थ केवल ध्वनिरूप या उच्चरित रूप मात्र से ही ग्रहण करना संभव नहीं हो पाता । यह बात सामान्य वाक्प्रयोग पर भी लागू होती है । ऐसे समय अर्थ-ज्ञान के लिए तर्क का आश्रय लेना पड़ता है । किसी भी प्रसंग में यह तर्क मूल ग्रन्थ की, या मूल प्रसंग की, अन्तर्निहित और स्वसूत्र भावना से विपरीत नहीं पड़ना चाहिए । अत: वेदवाक्यों के अर्थ प्रसंग में भी यह तर्क अपनी भावना और परम्परा के अनुकूल हो, तभी ठीक रहेगा । तभी अर्थ स्पष्ट हो सकेगा ।[१]

किसी विद्यमान तत्त्व की अविवक्षा, परार्थ की उपलब्धि और संकेत या लक्षणों से अर्थ की उपलब्धि आदि ऐसी बातें हैं, जिनके लिए हमें तर्क का आश्रय लेना ही पड़ता है ।[२] पुरुष में आश्रित तर्क शब्द पर ही आश्रित होता है, या उसकी ही शक्ति के रूप में स्थित रहता है । अर्थात् शब्द के लिंग, प्रकरण, वाक्य, काल आदि पर आश्रित रह कर किया गया तर्क ही हमें सही अर्थ का परिज्ञान करा सकता है । इन सबका बिना आश्रय लिए चलने वाला तर्क निराधार एवं शुष्क होता है । क्योंकि ये सब शक्तियाँ या उपादान शब्द के ही हैं । इनके द्वारा ही शब्द का अभिधेय पता चलता है । सामान्य पुरुष तो वेदादि के ज्ञान से भी रहित होते हैं । उनका अनागम तर्क तो शुष्क या कोरा रहित कहलाएगा ही, क्योंकि वे उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हुए बिना केवल

१, वेद शास्त्र विरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् ।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थ: केवलान्नावतिष्ठते ।। वाक्य० १।१३६ ।

२, वही १।१३७ ।

श्रुतिमात्र से ही अर्थोपलब्धि संभव मान कर प्रवृत्त होते हैं ।[३] ऐसा अर्थ जो तर्क-वितर्क के उपरान्त ठीक और सर्वमान्य निष्कर्ष के रूप में निकलता हो, तर्कसंगत अर्थ पुराने और भ्रामक अर्थों को त्यागने के लिए विवश करता है । इसमें कोश काल्पनिक अथवा भावुकतापूर्ण अर्थों का पूर्णान्वेषण खंडन और परिहार होता है । तर्कसंगत अर्थ न्याय, बुद्धि और अर्थविनिश्चय के साधनों के आधार पर विनिश्चित होने के कारण अधिकांश साहित्याभिरुचि-सम्पन्न व्यक्तियों को संतोष प्रदान करता है । तर्कपूर्ण अर्थ करने में कौन व्यक्ति किस स्तर से बोल रहा है, किससे बोल रहा है, कब बोल रहा है और किस प्रसंग में बोल रहा है आदि महत्वपूर्ण बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है । तर्क संगत अर्थ आप्तवाक्यों एवं मान्य ग्रन्थों के उद्धरणों से पुष्ट होता है ।

शब्दों का कण्टक तोड़ कर, रचना-शैली की कुटिलता दूर कर, आख्यार्थ तक पहुंचना और उसके सहारे भावों को ढूंढना या उसके अभिप्राय को ज्ञात करना एक बहुत ही श्रमसाध्य कार्य है । यह भी एक कला है । चौंसठ कलाओं में एक कला दुर्वाचकयोग है, जिसका अर्थ है - कठिन शब्दों का अर्थ लगाना । एक-एक शब्दों के सही अर्थ निर्धारण के लिए कितनी ही रातें जगकर व्यतीत करनी पड़ती हैं । डा० हरिहरनाथ टुक्कू ने ठीक ही कहा है कि -"पाठक का धर्म है कि वह केवल लेखक के शब्दों से लेखक का अर्थ जानने का प्रयास करे । रस्किन ने[४] अपने सुविख्यात शब्दों में कहा है कि हमको कवि का अर्थ ढूंढना चाहिए और उसी को ग्रहण करने के लिए परिश्रम करना चाहिए । हमें अपने अर्थ को कवि का अर्थ मान कर या कवि के अर्थ को हटाकर उसकी जगह अपना अर्थ स्थापित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए । यही बात इस शताब्दि के प्रमुख अंग्रेजी उपन्यासकार बेनेट ने कही है । वे कहते हैं कि लेखक का सच्चा अर्थ ढूंढना पाठक का धर्म है । उसको एक कृति को बार-बार पढ़ना चाहिए और अगर वह समझ में नहीं आये तो उसे फिर बार-बार पढ़ना चाहिए जब तक कि लेखक का सही अर्थ ग्रहण न हो जाय । जो क्लासिक है, जो प्रतिष्ठित कृति है जिसको पीढ़ियों से पाठकों के द्वारा श्रेष्ठता की स्वीकृति मिल चुकी है, उसको यदि हमारी व्यक्तिगत साहित्यिक रुचि

३, वही।१३८

४, रस्किन : सीसेम एंड लिलीज

स्वीकार नहीं करती तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह कृति सदोष है, बल्कि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी अपनी साहित्यिक रुचि (लिटरेरी टेस्ट) यथेष्ट सुसंस्कृत नहीं हुई है। अत: यदि किसी प्रतिष्ठित कृति का - जैसे रामचरित मानस है - हमें जल्दी में ठीक अर्थ खोज ने के परिश्रम से भिभकना नहीं चाहिए।[५] कविवर गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों का अर्थ लगाने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि शब्द विशेष तुलसी-साहित्य में किस-किस स्थानपर किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और यहां इसका कौन-सा अर्थ उपयुक्त होगा। गोस्वामी जी के शब्दों का कभी-कभी एक इतिहास होता है। वहां संगत अर्थ की भाषा दुर्बोध नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य कठिन को सहज या दुर्बोध को सुबोध करना होता है।

टीकाकारों द्वारा :-

टीका की महानता टीकाकार की तटस्थवृत्ति में सन्निहित होती है। ऐसी टीका जो किसी प्रकार के पूर्वाग्रह, परंपरा या सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर नहीं लिखी जाती वही श्रेष्ठतम टीका है। श्रीधर स्वामी और मल्लिनाथ की टीकाएं इसी कोटि में हैं। निर्गुणवादी, अद्वैती श्रीधर स्वामी ने सगुणचरित सम्पन्न भागवत की एक उत्कृष्टतम टीका लिखी है। मल्लिनाथ ने भी ऐसी ही टीकायें लिखी हैं। ये दोनों टीकाकार किसीप्रकार की साम्प्रदायिकता, मतवादिता और पूर्वाग्रह से प्रभावित नहीं थे। मूल से संगति, आदर्श टीका की प्रमुख एवं अत्यपेक्षित विशेषता है। उनमें प्रासंगिक एवं संगत अर्थ-योजना अत्यन्तावश्यक है। टीकाकार को किंचित भी अर्थ विस्तार एवं मूल से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। संस्कृत-साहित्य के प्रतिनिधि टीकाकार मल्लिनाथ ने ठीक ही कहा है -

'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते।।'

---

५. श्रीरामचरितमानस की काव्य-कला, पृ० ३५२-५३

अर्थात् यहाँ अन्वय मुख से ही सब कुछ व्याख्यान किया जा सकता है। न तो 'अमूल' लिखा जाता है, न कुछ अनावश्यक कहा जाता है।

अर्थ — प्रकाशन की प्रत्यक्ष प्रणाली में पहली मौखिक प्रणाली से आजकल के संत-महात्मा, पंडित-व्यासादि तुलसी-साहित्य का प्रवचन करते हैं। इससे भी तुलसी-साहित्य की विशद व्याख्या होती है। दूसरी लिखित प्रणाली ही विशुद्ध रूप से साहित्यिक अर्थप्रणाली है। अर्थ-प्रकाशन की लिखित प्रणाली का ही आजकल विशेषत: हो सकता है। टीका, भाष्यादि इसी लिखित प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं।

यह परम हर्ष की बात है कि तुलसी-साहित्य पर सर्वाधिक टीकाएं, आलोचना ग्रन्थ एवं शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। अर्थ की दृष्टि से आज का सुशिक्षित और परिष्कृतरुचि सम्पन्न पाठक तुलसी साहित्य की ऐसी विशुद्ध साहित्यिक टीका चाहता है, जिसमें विस्तृत एवं सुगम रीति से कवि के भावों की वास्तविक व्याख्या की गयी हो। तुलसी-साहित्य की शताधिक टीकाएं उपलब्ध होती हैं। यहाँ पर मात्र उन्हीं टीकाओं पर विचार किया जायगा, जिसमें तर्क-संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास हुआ है या जिनके द्वारा तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय में सहयोग प्राप्त हुआ है।

तुलसीसाहित्य की मानसेतर अधिकांश टीकाएं अक्षरार्थ-मूलक हैं। विशेषत: व्याख्यात्मक टीकाओं में ही तर्क संगत अर्थ विनिश्चय का प्रयास हुआ है। टीकाओं की दृष्टि से मानस का तुलसी-साहित्य में सर्वोपरि स्थान है। मानस की लगभग सवा-सौ टीकाएं प्राप्त होती हैं।

श्रीकाष्ठजिह्वा जी :-

वेदान्त न्यायादि के महान पंडित काशीनिवासी श्री काष्ठजिह्वा स्वामी ने 'रामचरित मानस' की एक संक्षिप्त टीका 'मानस परिचर्या' नाम से लिखी थी। यह टीका 'रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' नामक टीका में संगृहित है। टीका आज की दृष्टि से चाहे उत्कृष्ट न हो, किन्तु प्रारंभिक टीका होने के कारण वह बहुत ही श्लाघनीय है। काष्ठजिह्वा स्वामी जी ने तर्कसंगत अर्थ के विषय में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है —

मन की ठकुराई भई कौन सुने कौन माने कलि के अंधेरे में न दाद फरियाद है
जाको जो भावत है, से ते सोई, भावत है श्रुति को प्रमान गयो हठ को प्रसाद है।

प्रकरन औ दे सकाल भाव देखि कहे बात की बढ़ कहे अर्थाप कामधेनु नाद है ।
अक्षरन ते साफ निकसे सौहैं अर्थ कविता को सुधी कजाय कहौंआकी बकवाद है[4]।

श्री बैजनाथ जी —

आप गोस्वामी जी पर इतने प्रभावित थे कि उनके नाम के जो भी ग्रन्थ आपको मालूम हुए सभी पर टीका लिख डाली, चाहे वे मानसकार के हों या न हों । आपके टीकाओं की भाषा ब्रज गया है । अवधी का प्रभाव भी लक्षित होता है। साहित्यिक दृष्टि से आपकी टीकाओं का विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि आप भक्तिपरक दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित थे । यत्र-तत्र काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी तुलसी-साहित्य के व्याख्येयस्थलों का विश्लेषण किया है । अलंकार, रस छंद और पदों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन करने के कारण आपकी टीका का प्रभाव आधुनिक टीकाओं पर विशेष लक्षित होता है । टीकाकार की प्रमुख विशेषता विशदता, सरलता और चमत्कारिकता है । कहीं-कहीं तो बहुत ही अनावश्यक विस्तार दृष्टिगोचर होता है । पंडिताऊपन और पुनरुक्तियां स्थान-स्थान पर मिलती हैं । अलंकारों के लक्षणादि देने से उनकी टीकाओं का साहित्यिक महत्व अविस्मरणीय है । आपकी टीकाओं पर रामानंदीय दर्शन विशिष्टाद्वैत का भी प्रभाव है । विनय पत्रिका के २१४ वें पद में प्रतिपादित श्रीकृष्ण-भाव को गौण मानकर श्रीरामभाव को ही प्रधानता प्रदान की है । अत: आपकी टीकाओं में साम्प्रदायिक पक्षपात भी दृष्टिगोचर होता है । प्राचीन टीकाकारों में तुलसी-साहित्य के समस्त ग्रन्थों के श्रीबैजनाथ जी ही उल्लेखनीय टीकाकार थे ।

श्रीविनायक राव :—

राव जी की मानस की टीका 'विनायकी टीका' के नाम से प्रसिद्ध है । यह साहित्यिक एवं भक्ति परक दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय है । व्याख्या-पद्धति के आधार पर इसमें मानस की व्याख्या की गयी है । प्रत्येक कांड के अंत में पुरौनी (परिशिष्ट) के अन्तर्गत काव्य लक्षण, गणविचार पिंगलविचार, भाव,भेद,रसभेद कथाभाग आदि का विश्लेषण मानस के आधार पर हुआ है । शंका समाधान में तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है ।

बाबूश्यामसुन्दरदास की मानस की टीका व्याख्यात्मक टीकाओं के

अन्तर्गत आती है। एक साहित्यकार के द्वारा लिखित होने के कारण यह भी मानस की साहित्यिक टीका है।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य वीरकवि -

आपने रामचरित मानस, विनय पत्रिका और हनुमानबाहुक की टीका लिखी है। आपकी टीकाओं में अलंकारों आदि का भी यथास्थान उल्लेख मिलता है। यत्र-तत्र आध्यात्मिक-चमत्कार का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। आपके निम्न शब्दों से स्पष्ट है कि आपने साहित्यिक अर्थ करने का प्रयास किया है --"सैकड़ों तरह के अर्थ अटकलपच्चू लोग किया करते हैं, जिन अर्थों का अनुमान ग्रंथनिर्माण के समय गोस्वामी जी को भी नहीं हुआ होगा। इस टीका को लिखने में हमने कवि उद्देश्यानुसार ही अर्थ करने की चेष्टा की है जिसमें प्रेमीपाठकों का अमूल्य समय व्यर्थ के वितण्डावाद में नष्ट न हो।[७] शंका समाधान में तर्क संगत अर्थ करने का आभास होता है।

साहित्यवाचस्पति महात्मा अंजनीनंदनशरण :-

महात्मा जी ने ७ खण्डों में मानस की 'मानस-पीयूष' ५ खंडों में विनयपत्रिका की 'विनयपीयूष' और हनुमानबाहुक की 'पीयूषवर्षिणी' नामक टीकाओं का सम्पादन किया है।

मानसपीयूष' रामचरितमानस' पर लिखित बृहत्तम विश्वकोशात्मक टीका है। 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' के उद्देश्य से मानसपीयूषकार ने इसका निर्माण किया है। पीयूषकार के अनुसार' मानस पीयूष का उद्देश्य रहा है कि आजतक जितनी टीकाएं, टिप्पणियां, तिलक, शंकावलियां आदि छप चुकी हैं, उन सबका संग्रह एक ही जगह हो जाय। जहां जिस किसी में कोई नवीन भाव मिले उनका संग्रह इसमें रहे, जिसमें एक ही पुस्तक वाटिका में सब प्रकार के फलों के रस और सुगन्ध का आस्वादन मिल जाय।"[८] इसमें प्राचीन-अर्वाचीन प्रायः अधिकांश टीकाओं, प्रसिद्ध

७, वीरजी कृत मानस की टीका, भूमिका।

८, श्री अंजनीनंदनशरण, मा०पी०अ०' पीयूष परिचय', पृ० ४२,

रामायणियों, मानस-मर्मज्ञों के टिप्पणियों, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत मतानुयायियों के भाव इत्यादि का आलोचनात्मक संकलन किया गया है। काव्य-शास्त्रीय तत्वों का भी पर्याप्त उल्लेख है। साथ ही पौराणिक संदर्भों का विपुल मंथन प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक-एक शब्दपर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जिस प्रकार एक धुनियाँ रुई के रेशे को धुन-धुनकर पृथक कर देता है,उसी प्रकार सम्पादक ने प्रत्येक शब्दों की व्याख्या पूर्ववर्ती टीकाकारों के मतानुसार ऐसा स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शब्द अपना अर्थ स्वयं देने लगा है।

मानस-पीयूष एक ज्ञान-बीन और खोजपूर्ण टीका है। गूढ़ार्थों को टिप्पणि आदि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। मानस-पीयूष की भाषा के परिमार्जित न होने का कारण हिन्दी-ज्ञान का अभाव ही था। महात्मा जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसे फारसी और अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान था। उन्होंने किसी का खंडन-मंडन न करके अपने तर्क को सविनय प्रस्तुत कर दिया है जैसे कि 'दास का यह मत है' आदि। अत्यन्त परिश्रम के उपरान्त उन्होंने लगभग सात-आठ वर्षों में इस टीका का निर्माण किया है। मानस और मानस-पीयूष का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय का हो गया। जिस मानस पाठक ने मानस-पीयूष का अध्ययन नहीं किया, उसने मानस के विषय में कुछ नहीं अध्ययन किया।

मानस मर्मज्ञों के विचार काल-क्रम से न देने के कारण टीकाकारों के मौलिक विचारों को ज्ञात करने में बड़ी कठिनाई होती है, इसे सम्पादक जी ने स्वयं स्वीकार किया है। साथ ही उद्धरित उद्धरणों के संदर्भों के पृष्ठादि का अंकन न होने के कारण अनुसंधित्सुओं को अधिक कठिनाई का अनुभव होता है। संकलनात्मक शैली का विशेष अवलंब लेने के कारण संपादक के मौलिक विचारों का सूत्र ढूंढने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा। पादटिप्पणियों में दिये गये पाठान्तर बड़े ही उपयोगी हैं।

विनय-पीयूष --

'मानस-पीयूष' की तरह ही 'विनय-पीयूष' भी 'विनय-पत्रिका' की वृहत्तम टीका है। यद्यपि इसमें मानस पीयूष की व्यापकता और महत्ता नहीं है।

इसमें भी प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध टीकाकारों के विशद भावान्तरों का विवेचन और संग्रह किया गया है। पदटिप्पणियों में दिये गये अर्थान्तर से तर्क संगत अर्थ विनिश्चय में बड़ी ही सहायता मिली है। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतिलिपियों से सहायता लेकर संगत पाठ निश्चित करने का भी प्रयास किया गया है। पाठांतरों के उल्लेख से पाठ से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान में सहायता प्राप्त हुई है। शब्दों की व्युत्पत्ति, अन्तर्कथाएं, कवि की दार्शनिक विचारधारा, काव्य-शास्त्रीय तत्वों आदि का साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही महत्व है। 'विनय-पीयूष' के अतिरिक्त विनय-पत्रिका की ऐसी सर्वसिद्धान्त समन्वित एवं मर्मोद्घाटिनी विशद-टीका एवं व्याख्या नहीं प्राप्त होती। अन्य टीकाओं की अपेक्षा यह विनय की एक सर्वांगपूर्ण टीका है। मानस-पीयूष और विनय-~~पत्रिका~~ -पीयूष को एक प्रकार का महाभाष्य कहा जा सकता है।

हनुमान नाटक की 'पीयूष-वर्षिणी' टीका भी नाटक की टीकाओं में प्रथम स्थान रखती है। इसकी व्याख्या पद्धति संक्षिप्त एवं उक्त टीकाओं की भांति ही है। अर्थान्तर और पाठान्तर से नाटक के अर्थगत समस्याओं का निदान किया जा सकता है।

रामनरेश त्रिपाठी जी की मानस की टीका भी एक साहित्यिक टीका है। टीकाकार ने मानस की संगति रखने वाली मानस की अक्षरार्थमूलक टीका लिखी है। स्वामी अवध बिहारीदास जी ने भी 'मानस' की एक टीका लिखी है। स्वामीजी उत्तेजित विचार के थे। खंडन के समय उनकी उत्तेजना का आभास मिलता है। सही अर्थ की खोज में उन्होंने तर्क पद्धति का अवलंब लिया है। उनका अर्थ कहीं-कहीं बहुत ही तर्कसंगत प्रतीत हुआ है। वे व्यासीय शैली से प्रभावित थे।

श्रीलाला भगवान दीन :-

दीन जी ने मानस, विनयपत्रिका, कवितावली की टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त 'तुलसी पंचरत्न' नामक पुस्तक में नहछू, मंगलादि गोस्वामी जी के लघुग्रन्थों की टीकायें लिखी हैं। मानस-पीयूष में भी दीन जी के अर्थों का उल्लेख मिलता है। दीन जी के अर्थ तर्कसंगत, और साहित्यिक हैं। काव्यशास्त्रीय तत्वों

का भी यथास्थान उल्लेख किया है । आपके विस्तारपूर्ण अर्थों की शैली की छाया तुलसी-साहित्य के आधुनिक टीकाकारों पर देखी जा सकती है । दीन जी ने अर्थानुसंगति पर सर्वदा ध्यान रखा है ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी —

त्रिपाठी जी ने मानस की टीका 'विजयाटीका' नाम से तीन भागों में लिखी है । इनकी टीकाओं में साहित्यिक एवं व्यास दोनों प्रणालियां दृष्टिगोचर होती हैं । व्यासीय-प्रणाली के आधार पर होते हुए भी इसमें अतिरंजना और चमत्कारिक प्रवृत्ति का पूर्णरूपेण अभाव है । जैसा कि टीकाकार ने स्वयं कहा है — 'पाठक इसमें किसी चमत्कारिक अर्थ, अद्भुत भाव या विभिन्न कथानकों की आशा न करें । इसमें विशेषता इतनी ही है कि ग्रन्थ से ग्रन्थ लगाने की चेष्टा की गयी है । जहाँ आवश्यकता पड़ी है वहाँ अन्य ग्रन्थों से भी प्रमाण उद्धृत किये गये हैं । जहाँ तक हो सका है, पूज्य पाद ग्रन्थकार के अनुसरण का भी प्रयत्न किया गया है । अर्थ करने में वाक्यों की संगति का विशेष ध्यान रखा गया है ।'[६]

संगत अर्थ के लिए शंका-समाधान भी किया गया है । अनावश्यक भागदौड़ एवं खींचतान से बचकर टीकाकार ने साहित्यिक अर्थ करने का प्रयास किया है । प्राकृत एवं संस्कृत का ज्ञान होने के कारण यत्र-तत्र प्राकृत के व्याकरणों के आधार पर भी शंकाओं की निवृत्ति की है । अन्ततः यह एक साम्प्रदायिक टीका है । टीकाकार में मानस की व्याख्या शांकरवेदान्त के आधार पर किया है ।

पं० श्रीकान्तशरण जी —

बैजनाथ जी के उपरान्त पं० श्रीकान्तशरण जी ही एक ऐसे टीकाकार हैं, जिन्होंने गोस्वामी जी के समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं । पंडितजी की टीकाएं 'सिद्धान्त-तिलक' के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

मानस की टीका 'सिद्धान्त-तिलक' में मानस-पीयूष का विशेष अनुकरण लक्षित होता है । यत्र-तत्र मानस-पीयूष के भाव ज्यों के त्यों उद्धृत हैं । मानसेतर ग्रन्थों की टीकाओं पर भी पूर्ववर्ती टीकाकारों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

---

६. विजयाटीका, प्रस्तावना ।

व्याख्या की दृष्टि से सिद्धान्त-तिलक विशेष महत्वपूर्ण है। 'विशेष' में अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए तुलनात्मक विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। यत्र-तत्र पाठों पर भी विचार किया गया है। साथ ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी विवेचन मिलता है। विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्या होने के कारण तुलसी साहित्य की 'सिद्धान्त तिलक' नामक टीकाएं साम्प्रदायिक ही कही जायेंगी। किंतु अपवादों को छोड़कर तुलसी-साहित्य का संगत अर्थ-विनिश्चय किया गया है।

श्री वियोगी हरि –

वियोगी हरि जी की 'हरितोषिणी' नामक विनय-पत्रिका टीका बहुत प्रसिद्ध है। पद के भीतर आए हुए प्रसंगों की विशेष व्याख्या टिप्पणियों में ही की है। अन्य टीकाकारों के मतभेद के कारण भी टिप्पणियों में ही हैं। ~~अन्य~~ टीकाकारों के त्रुटियों को स्पष्ट करते हुए संगत अर्थ निश्चित करने का प्रयास किया है। तर्क-पद्धति के सहारे से कहीं-कहीं अर्थ बहुत ही सटीक किया है। विनय-पत्रिका की टीकाओं में इसका साहित्यिक महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्री देवनारायण द्विवेदी –

द्विवेदी जी ने 'देवदीपिका' नाम की मानस और विनय-पत्रिका की टीका और कवितावली बाहुक की टीकाएं लिखी हैं। अपने पूर्ववर्ती टीकाकार वियोगी हरि जी की विनय-पत्रिका की टीका का सतर्क खंडन करते हुए आपने तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। साहित्यिक दृष्टि से भी आपकी टीका का महत्व उल्लेखनीय है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी :–

अवस्थी जी ने 'तुलसी के चार दल' नामक दूसरी-पुस्तक में नहछू, बरवै, पार्वती और जानकी मंगल पर टीका लिखी है। साथ ही आलोचनात्मक टिप्पणियां देकर काव्यात्मक सौंदर्य का तुलनात्मक विशद विश्लेषण किया है। अर्थ की दृष्टि से आपने गोस्वामी जी के उक्त लघु ग्रन्थों के संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। यत्र-तत्र अलंकार आदि काव्यशास्त्रीयतत्त्वों का भी निर्देश किया है।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक टीकाकार हैं, जिन्होंने तुलसी-साहित्य की व्याख्या की है। यद्यपि वे धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उनमें यत्र-तत्र काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी विवेचन हुआ है। गीताप्रेस की टीकायें मूलानुगामिनी ही हैं, किन्तु अर्थ-साहित्यिक दृष्टि से अधिकांशतः संगत ही हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे भावार्थ एवं चरित संदर्भों की उचित अभिव्यक्ति का प्रयास कहीं कतिपय टीकाकारों के द्वारा हुआ है।

तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय के सम्बन्ध में कोई स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया है। मात्र 'तुलसी के भक्त्यात्मक गीत' नामक शोधप्रबंध में डा० वचनदेव कुमार ने तुलसी के गीत ग्रन्थों-विनयपत्रिका, गीतावली और श्रीकृष्ण गीतावली के कतिपय टीकाकारों के अर्थों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करके संक्षेप में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि तुलसी के गीत ग्रन्थों के टीकाकारों ने कहीं शब्द, कहीं पूरे चरण और कहीं पूरे पद के अशुद्ध अर्थ उपस्थित कर पाठकों के काव्यास्वाद में विघ्न उपस्थित किया है।[१०] इसमें उनकी कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रायः लेखक ने असंगतियां बताते हुए किसी टीकाकार के अर्थ को स्वीकार कर लिया है। इससे अर्थ समस्याओं का निदान नहीं, अपितु सूचना मिलती है।

समीक्षकों द्वारा --

श्रीरामदास गौड़ ने 'रामचरितमानस की भूमिका' नामक ग्रन्थ में मानस के कतिपय विवादास्पद स्थलों पर अर्थ की दृष्टि से विचार किया है। गौड़ जी के अनेकानेक भाव मानस-पीयूष में भी मिलते हैं। उन्होंने समग्रतः वैज्ञानिक अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। उनके तर्कसंगत अर्थ-निश्चय को उक्त दोनों ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

श्रीरामनरेश त्रिपाठी जी ने 'तुलसीदास और उनकी कविता' के दूसरे भाग में मानस के कतिपय क्लिष्ट और कौतूहल में डालने वाले शब्दों के संगत अर्थ देने का प्रयास किया है। वे शब्द हैं भरनी, हत्बंधु, पतंग, सोना, कूट, भूमिनाग, बाकी, धुनी, और किन आदि।[११]

---

१०. डा० वचनदेवकुमार, तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ० ११८-१४८

११. श्रीरामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास और उनकी कविता, दूसरा भाग, पृ० ३४२-४३

धुनी, और जिन आदि ।[११]

डा० शिवनाथ ने हिन्दी भाषा का अर्थ-तात्विक विकास नामक पुस्तक में गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त कतिपय शब्दों का इतिहास प्रस्तुत किया है । यद्यपि उनकी दृष्टि भाषाविज्ञान के अर्थ विज्ञान पर थी, किन्तु इससे शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ भी स्पष्ट हुए हैं ।

डा० अम्बाप्रसाद सुमन ने रामचरितमानस : वाग्वैभव नामक पुस्तक में मानस के कतिपय कूट और कूटोन्मुखी शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके तर्कसंगत अर्थ निश्चय का प्रयास किया है ।

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र :-

आचार्य मिश्र एक वरिष्ठ,महत्वपूर्ण समीक्षक और मानस के अर्थ-विशेषज्ञ हैं जो केवल समीक्षा और अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में ही नहीं वरन सम्पादन एवं पाठभेद के संशोधन के गहनतम कार्य में भी कुशल हैं । आचार्य मिश्र ने गोसाईं तुलसीदास नामक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा है । इसमें उन्होंने मानस बिंदु नामक शीर्षक में मानस के कतिपय प्रमुख भ्रामक पाठ और अर्थ-समस्याओं को प्रस्तुत करके उसे स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है । आपके द्वारा निश्चित किया हुआ अर्थ साहित्यिक और तर्कसंगत है । यत्र-तत्र बुद्धियोग अधिक होने के कारण अर्थ असंगतभी हो गये हैं । जैसे मासदिवस[१२]आदि का अर्थ । मिश्र जी के तर्क संगत अर्थ-विनिश्चय का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है -

अनुचित नाथ न मानब मोरा । भरत हमहिं उपचरा न थोरा ।

-मानस २।२२८।७

इस अर्धाली के उपचरा शब्द को टीकाकारों ने उपचार मानकर उसका अर्थ उपाय किया है अर्थात् भरत ने हमारे साथ कम उपाय नहीं किया (मारने का) ।

११,श्री रामनरेश त्रिपाठी,तुलसीदास और उनकी कविता, दूसरा भाग, पृ० ४८२-८३

१२, दे० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १५२-५३

पर उसका यह अर्थ यहाँ नहीं बैठता । यदि यही अर्थ लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि उस चरण में न्यूनपदत्व दोष है । उस चरण में कोई क्रिया नहीं है जो 'उपचार' के साथ लगाई जाय । भरत ने हमको (हमारे लिए) थोड़ा उपाय न किया, यह शाब्दिक अर्थ हो गया, पर पता नहीं लगता कि क्या उपाय थोड़ा नहीं किया अतएव यह अर्थ यहाँ है ही नहीं । उक्त चरण में 'उपचरा' होना उचित है । टीकाकारों ने 'उपचरा' को न समझकर तुरंत उसका 'उपचार' कर लिया । समझना होगा कि भ्रम से 'चा' का आकार 'र' में लग गया है । 'उपचरा' शब्द संस्कृत उपचरण से बना है और इसका अर्थ है कुव्यवहार किया । उपचरा वैसे ही है जैसे -आनंदेना ।

तब मयना हिमवंतु अनन्दे । पुनि-पुनि पारबती पद बंदे ।

१।९९।१

अतः उक्त चरण का अर्थ होगा भरत ने हमारे साथ कम कुव्यवहार नहीं किया ।'[13]

स्पष्ट है कि कुशल पाठ-संपादक होने के कारण मिश्र जी ने पाठ और अर्थ दोनों तर्कपूर्ण प्रणाली से निश्चित किये हैं । सर्वत्र आपके अर्थ-विनिश्चय पर स्वर्गीय लाला भगवान दीन जी की शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है ।

इसके अतिरिक्त 'उत्तर-प्रदेश' और 'सरस्वती' नामक पत्रिकाओं में भी आपके मानस के अर्थगत समस्याओं के निदान विषयक लेख पढ़ने को मिले हैं । 'वीणा' में भी मिश्र जी के लेख धारावाहिक रूप से निकलते रहते हैं । कल्याण के मानसांक में जयरामदास दीन और श्री हरिहरनाथ हुक्कू जी के लेख भी अर्थ की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । हुक्कू जी ने मानस के अर्थ मानस के शब्दों से निकालने का निर्देश श्री रामचरितमानस की कथ्यकला नामक पुस्तक में किया है, यह भी अर्थ विषयक दृष्टि से महत्वपूर्ण है । तुलसीसाहित्य के अपूर्व साधक मानस तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमार दास जी ने तर्कपूर्ण पद्धति में मानसमणि आदि पत्रिकाओं एवं अपने लघु पुस्तकों में तुलसी साहित्य के तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का सफल प्रयास किया है । मानस पीयूष में भी आपके अर्थ साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । इसके अतिरिक्त छिटपुट एतद्विषयक अनेक प्रयास अन्य लोगों ने भी किये हैं, किन्तु वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं प्रतीत होते ।

१३, वही, पृ० १७९-८०

अधीत पूर्ववर्ती कार्य की अपर्याप्तता और प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध की आवश्यकता --

उपर्युक्त पूर्ववर्ती प्रयास से परिचित हो जाने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्यायें और उनका निदान शीर्षक से कोई भी कृति नहीं लिखी गई है। तुलसी साहित्य के टीकाकारों द्वारा किया गया प्रयास भी पर्याप्त नहीं है। तुलसी-साहित्य के समस्यापूर्ण स्थलों पर टीकाकारों ने भावार्थ करकर या शब्दों को ज्यों का त्यों रखकर छोड़ दिया है। उनकी तर्क संगत व्युत्पत्ति आदि खोजने का प्रयत्न नहीं किया है। टीकाओं में मतवैभिन्य भी बहुत है। शब्दों के मनोनुकूल अनेक अर्थ किये गये हैं। जहां अर्थ-बोध में कठिनता प्रतीत हुई वहां पाठ में परिवर्तन कर दिया है। कोशों में शब्दों का अर्थ कुछ दिया है तो टीकाकारों ने कुछ अन्य ही किया है।

कुछ टीकायें साम्प्रदायिकता के भार से दबी हुई हैं। प्राचीन टीकाकार बैजनाथ जी ने रामानन्दीय दर्शन विशिष्टाद्वैत के आधार पर तुलसी-साहित्य की व्याख्या की है। "सिद्धान्त-तिलक" श्रीकांतशरण जी ने भी विशिष्टाद्वैत के आधार पर लिखा है। "विजयाटीका" विजयानंद त्रिपाठी जी ने शांकर वेदांत से प्रभावित होकर लिखी है। तात्पर्य यह है कि तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास जिन कतिपय टीकाओं में हुआ है, उसमें साम्प्रदायिक पक्षपात की भी मोहर लगी है। किसी किसी में तो केवल अलंकारों की ही छटा दिखाई पड़ती है। प्राचीन टीकाकारों की भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ है कि मूल भले समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन है।

मानस-पीयूष, विनय-पीयूष टीकायें अच्छी हैं, किन्तु संत-हृदय होने के कारण इन टीकाओं के सम्पादक ने खंडन-मंडन आदि तार्किक प्रणाली का आश्रय नहीं लिया है। अतः इनमें तर्क संगत अर्थ निश्चय करने की सामग्री ही उपलब्ध होती है। तर्कसंगत अर्थ पूर्णरूपेण निश्चित नहीं किया गया है। प्रायः अधिकांश टीकायें पूर्ववर्ती टीकाओं से पूर्णरीत्या प्रभावित हैं। "रामचरित मानस" और कुछ सीमा तक विनय पत्रिका के अतिरिक्त तुलसी-साहित्य के अन्य ग्रन्थों की व्याख्यायें नहीं हुई हैं। जो प्राप्त होती हैं वे अधिकांशतः अक्षरार्थमूलक हैं। तुलसी-साहित्य के विभिन्न पदों के अनेक अर्थ, उन्हें तोड़-मरोड़ कर या क्लिष्ट कल्पना के सहारे

सर्वथा वैज्ञानिक एवं साधु रीति से किया गया है। तुलसी-साहित्य की एक भी ऐसी टीका नहीं है जिसमें साहित्य के केन्द्र-बिन्दु से तर्क-संगत अर्थ-निर्धारण का प्रयास किया गया हो।

टीकाकारों के अतिरिक्त समीक्षकों के द्वारा लिखी गयी कोई भी ऐसी कृति नहीं मिलती जिसमें गोस्वामी जी के साहित्य के अज्ञात समस्याओं पर पूर्ण-रूप से विचार प्रस्तुत किया गया हो। कतिपय ग्रन्थ जो प्राप्त हुए हैं, उनमें आनुषंगिक रूप से ही विचार किया गया है क्योंकि उन ग्रन्थों का प्रमुख विवेच्य विषय कुछ अन्य ही रहा है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का एक ग्रन्थ गोसाईं तुलसीदास प्राप्त हुआ है जिसमें मात्र मानस के कतिपय प्रमुख अर्थ समस्याओं के विवेचन का प्रयास वैज्ञानिक एवं साहित्यिक प्रणाली से किया गया है। कष्ट-साध्य किन्तु स्थलों को लेकर श्लेष अर्थ तर्कसंगत ही निर्धारित किये गये हैं। यद्यपि इनमें भारतीय आचार्यों के अर्थ-निश्चय के साधनों का आश्रय नहीं लिया गया है, किन्तु वे अर्थ उन सिद्धान्तों के आधार पर ही हैं।

अस्तु, इन्हीं सब त्रुटियों से पूर्ववर्ती प्रयास की अपर्याप्तता के फलस्वरूप तुलसी-साहित्य के जटिल-समस्याओं के निदान पर स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान विषय पर तुलसी की समस्त प्रामाणिक कृतियों को ध्यान में रखकर तुलसी-साहित्य के तर्कसंगत अर्थ अन्वेषण का प्रयास किया गया है।

तुलसी-साहित्य की अर्थ समस्याएँ और उनका वर्गीकरण —

'समस्या' शब्द 'सम्+अस्+क्यप्+टाप्' से बना है और संस्कृत में इसका अर्थ है — पूर्ण करने के लिए दिया जाने वाला छंद का चरण, कविता का वह भाग जो पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जाय।[क] डा० कैलाशचन्द्र/राम पाल लिखते हैं कि — 'समस्या' शब्द का मौलिक अर्थ है - मिलाने की क्रिया।' ...... समस्या शब्द का 'कठिन विषय या प्रसंग' अर्थ इस शब्द के किसी श्लोक या छन्द का वह अन्तिम पद या

क, दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १०७५

उद्भावना करते हैं । श्री बाबूराम शुक्ल ऐसे ही टीकाकार हैं, जिन्होंने मानस की एक अर्धाली के पदों के अनेक अर्थ एवं मूल वाक्य का बहुविध अन्वय करके शताश: अर्थों का सृजन किया है । टीकाकार ने अपनी प्रतिभा का विनियोग कल्पनाओं से युक्त कौतूहलोत्पादक अर्थ-रचना में भी किया है । ऐसे अर्थों को आरोपित अर्थ कहा जा सकता है । तुलसी-साहित्य में यत्र-तत्र कूटोन्मुखी एवं कूट शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । ऐसे शब्दों के अर्थ करने में टीकाकारों ने क्लिष्ट कल्पना द्वारा अर्थ करने की प्रक्रिया का खूब सहारा लिया है । पूर्वापर प्रसंग पर ध्यान न देने के कारण तुलसी साहित्य के टीकाकारों ने कहीं-कहीं असंगत अन्वय करके अर्थ समस्यायें उत्पन्न कर दी हैं । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठकको बड़ी उलझन में डाल दिया है । अत: गूढ़ार्थ की अस्पष्टता के कारण भी अर्थ-समस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं । गद्यगत शब्द व्यवस्था की तरह छन्द में शब्द व्यवस्था नहीं रहती, क्योंकि इसमें गेयता की प्रधानता होती है । संगीतात्मकता के फलस्वरूप कहीं-कहीं मात्राओं को घटाना-बढ़ाना पड़ता है । ~~[struck out]~~ छंदानुरोध के फलस्वरूप भी अर्थ-समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं । कहीं-कहीं शब्दों का भी निर्माण करना पड़ता है । इस रहस्य को न समझने के कारण अनेक समीक्षकों में गोस्वामी जी पर दोषारोपण किया है ।

उपर्युक्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्याओं को निम्नलिखित ९ भागों में वर्गीकृत कर दिया गया है । --

१. अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अर्थ समस्यायें और उनका निदान ।
२. पाठ भेद से उत्पन्न अर्थ समस्यायें और उनका निदान ।
३. अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
४. अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
५. मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
६. आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
७. कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट प्रयोगों से उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
८. अन्वय-भेद से उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।
९. छंदानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान ।

इन अर्थ-समस्याओं का निदान क्रमश: प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के ३,४,५,६,७,८,

६, १० और ११ विभिन्न अध्यायों में किया गया है ।

भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य का अर्थ-विनिश्चय :-

भारतीय वैयाकरणों और मीमांसकों ने जितनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ अर्थ का जितना परीक्षण किया है उतना अभी पश्चिमी साहित्य में नहीं हो पाया । फिर भारतीय महाकवियों के साहित्य का अर्थ-विनिश्चय भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के कसौटी के आधार पर ही करना न्याय-संगत है । हर्मन पाउल, आदि पश्चिमी आचार्यों द्वारा कथित अर्थ-निश्चय के साधनों का अन्तर्भाव भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों द्वारा कथित अर्थ निश्चय के साधनों में हो जाता है । अत: भारतीय साहित्य शास्त्रियों के सिद्धान्तों का व्यापक और पाश्चात्य शास्त्रियों का किंचित् उपयोग किया गया है । पाठ भेद से उत्पन्न अर्थ समस्याओं के निदान का प्रयास भी कन्हैयालाल सिंह की पुस्तक 'पाठ संपादन के सिद्धान्त' में दिये हुए प्रमुख पाठचयन के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है ।

भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों ने अर्थ निश्चय के लगभग २६ साधनों का उल्लेख किया है । वे हैं -

१. संयोग २. विप्रयोग, ३. साहचर्य, ४. विरोधिता , ५. अर्थ , ६. प्रकरण, ७. लिंग, ८. अन्य शब्द का सान्निध्य , ९. सामर्थ्य , १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति , १४. स्वर , १५. सत्व-असत्व, १६. तात्पर्य-नत्व (१७) अभिनय (१८) वाक्य (१९) वक्ता की भावना (२०) अर्थमूल आन्तर्य या अन्वय (२१. अन्वय व्यतिरेक २२. व्याख्यान , २३. ज्ञान क्रम (बोधक्रम) प्रकरण , २४. सामान्यज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान , २५. शब्दाध्याहार , २६. युक्तिसंगतता ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन्हीं अर्थ-निश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य की अर्थसमस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है । संदिग्ध स्थलों पर ही इन साधनों का उपयोग किया गया है, पतंजलि ने भी कहा है कि संदिग्ध स्थलों

पर ही नियम की आवश्यकता होती है, जहाँ पर अर्थ असंदिग्ध है, वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी ।[१९] उदाहरणार्थ गीतावली की एक पंक्ति प्रस्तुत है -

पुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यौं तब किय हरजाने जाने सेष-सयन । [२०]

बैजनाथ जी ने 'शेष' का अर्थ 'बाकी' और 'सयन' का अर्थ संकेत किया है ।[२१] किन्तु 'साहचर्य' अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ 'शेष-सयन' का अर्थ 'शेषशायी' भगवान विष्णु होगा । क्योंकि शेषनाग और भगवानविष्णु का साहचर्य देखा गया है । श्रीमन्नारायण को शेषशायी कहा भी जाता है । ऐसे ही अन्य साधनों के आधार पर भी अर्थ- विनिश्चय किये गये हैं ।

---

१९. डा० कपिलदेव द्विवेदी, अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० १५७

२०. गीता०/गीताप्रेस संस्करण ।

२१. दे० गीता० , पृ० ११८-१९ ।

अध्याय -- ३

अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अर्थ समस्याएं और उनका निदान

प्रस्तुत अध्याय में ऐसे शब्दों के अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है जो सम्प्रति प्रयोग या व्यवहार में नहीं आते हैं। चलनसार न होने के कारण ऐसे शब्दों को अप्रचलित (अनकरेंट) शब्द कहा गया है। ऐसे अप्रचलित शब्द मुख्य ठेठ, तद्भव और विदेशी रूपों में प्राप्त हुए हैं। नितान्त असाहित्यिक-साधारण बोल चाल के शब्द जिसमें दूसरी भाषा का मिश्रण न हो, ठेठ शब्द हैं। उदाहरणार्थ-माजा, ऊक, पटेरे, धुकि और धेया आदि। संस्कृत या अन्य किसी भाषा का वह शब्द जिसका स्वरूप परवर्ती या अन्य किसी भाषा में कुछ परिवर्तित हो गया है, तद्भव शब्द हैं। यथा - नाठी, सोंधाई, निबेरी, धारि और उबेने आदि।

दूसरे देश के अरबी-फारसी के शब्द विदेशी शब्द हैं। यथा- फराक, खिलंद, कागर और रवा आदि। अप्रचलित होने के कारण ऐसे शब्दों के अर्थ टीकाकारों ने खूब तोड़ मरोड़ कर क्लिष्ट कल्पना करके मनोनुकूल किये हैं। ठेठ और तद्भव शब्द मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, बाहुक, श्रीकृष्ण गीतावली, नहछू, पार्वतीमंगल और जानकी मंगल में मुख्यतया प्राप्त हुए हैं। विदेशी शब्द, मानस, विनयपत्रिका, कवितावली, बाहुक, दोहावली, वैराग्य-संदीपनी और नहछू में प्रमुख रूप से प्राप्त हुए हैं। इस अध्याय में उक्त ग्रन्थों के क्रम से ही ठेठ और तद्भव शब्द एवं विदेशी शब्दों पर विचार किया गया है। सूची में मानसादि ग्रन्थों के आगे जो शब्द निर्दिष्ट किए गये हैं, वे इतर ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थ-विशेष के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए इतर ग्रन्थों के प्रयोग का भी आवश्यकतानुसार संदर्भ दे दिया गया है।

ठेठ और तद्भव शब्द

'अवरेब'

धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ।[१]

उक्त अर्धाली के 'अवरेब' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतवैभिन्न्य है । प्राचीन टीकाकार श्री रामचरणदास के अनुसार - "अवरेब जाको कही जो प्रकार उलटि के अर्थ सिद्ध होय ।[२] श्री हरिहरप्रसाद के अनुसार - कछु मिलाये से बात बनै नाहीं तो न बनै सो अवरेब ।[३] श्री बैजनाथ जी लिखते हैं कि 'अवरेब' वह है जहाँ दूषण भी किसी कारण से भूषण हो जाता है । .... शब्द अवरेब वह है जिसमें आदि-अन्त के शब्द मिलाकर अर्थ करना होता है ।[४] प्राचीन टीकाकारों की ही भाँति अर्थ करते हुए श्री कांतशरण जी लिखते हैं कि - "अवरेब" तिरछी या टेढ़ी चाल" अर्थात् जिसमें शब्दों का उलट-फेर (अन्वय करने पर ठीक अर्थ निकले । यथा- "रामकथा कलिपन्नग भरनी " (दो० ३०) इसमें 'भरनी' को उलट कर राम कथा के साथ लगाना पड़ता है । एवं - "राम कथा कलि विटप कुठारी" (दो० ३०) तथा "हहाँ हरी निसिचर बैदेही । विप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥" (कि०दो० १), इसमें 'हहाँ' को 'खोजत' के साथ लगाना चाहिए ।[५] एफ०एस० ग्राउस महोदय इसका अर्थ इनवलशन्स (Involutions) (उलझन, जटिलता) करते हैं ।[६] श्री सूर्यप्रसाद मिश्र के मतानुसार 'अवरेब' (अवर+इव) का अर्थ है -- अधम काव्य के समान ।[७]

---

१. मानस १।३७।८

२. रामा०, पृ० १०६

३. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० ४४

४. दे०मा०पी०, प्र०भा०, बाल० पृ० ५५५

५. मानस सि०ति०, पृ० २०८

६. द रामायन आफ़ तुलसीदास, पृ० २४

७. दे०मा०पी०, प्र०भा०, बाल०, पृ० ५५५-५६

श्री सुधाकर द्विवेदी के अनुसार - यह फारसी शब्द है, जिसका अर्थ 'टेढ़ा' या फेर-फार है।[८] श्री विजयानंद त्रिपाठी जी के अनुसार - 'अवर+इव = अवरेब'। अवर के ऐसा होना अर्थात् उत्तम न होना। जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्तम नहीं होता, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं, उसे ही यहाँ अवरेब कहा है। काव्य के दो भेद होते हैं — (१) ध्वनि (२) गुणीभूत व्यंग्य। अतः अवरेब से यहाँ गुणीभूत व्यंग्य अभिप्रेत है।[९] कुछ लोग 'अवरेब' का अर्थ पर्यायोक्ति अलंकार करते हैं, तो कतिपय विद्वान लक्षणा-वृत्ति।[१०] श्री जानकीशरण ने इसका अर्थ व्यंजना[११] और श्री सुखदेवलाल ने पुण्यार्थ और व्यंग्यार्थ किया है।[१२] तुलसी ग्रन्थावली प्रथम खण्ड के सम्पादक[१३] श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार[१४] और श्री रामनरेश त्रिपाठी[१५] आदि आधुनिक विद्वानों ने 'अवरेब' का अर्थ वक्रोक्ति किया है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभी तक विद्वानों ने 'अवरेब' के लगभग ९ अर्थ किए हैं -- संदेहान्वय, उलझन या जटिलता, अधम काव्य के समान, टेढ़ा या फेरफार, गुणीभूत व्यंग्य, पर्यायोक्ति अलंकार, लक्षणावृत्ति, व्यंजना और वक्रोक्ति। श्रीरामचरणदास, श्रीहरिहरप्रसाद, श्री बैजनाथ और श्रीकांत-शरण जी द्वारा 'अवरेब' को संदेहान्वय मानना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यहाँ पर गोस्वामी जी अर्थ-निश्चय के साधन का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। यहाँ वे काव्य-भेदों की चर्चा कर रहे हैं। 'उलझन' या जटिलता के अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र किया है। यहाँ काव्यभेदों की चर्चा में इसका अर्थ 'उलझन' युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः ग्राउस महोदय का अर्थ भी उचित नहीं है। श्रीरूपनारा-

---

८. दे० मा० पी०, प्र० भा०, पृ० ५५६ ~~(वि० टी०)~~

९. वि० टी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ६७।

१०. दे० मा० पी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ५५६ - ५७

११. मानस भा० ~~टी०~~, पृ० सं०, २७२

१२. रामा०, पृ० ३१

१३. अ० भा० वि० प० रि० काशी, पृ० ५४

१४. मानस, पृ० ६६

१५. रामचरित०, पृ० ५२ ।

यथा मिश्र जी के अनुसार - श्री सूर्यप्रसाद मिश्र जी ने ध्वनि से उत्तम काव्य और 'अवरेब' से 'अवर एव' ऐसा पदच्छेद करके 'अवर (अधमकाव्य) के सदृश' अर्थ किया है । परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर 'अवर + एव' से अवरेब शब्द बन नहीं सकता । क्योंकि 'एवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से समास होने पर 'अवर' शब्द के आगे आयी हुई विभक्ति का लोप नहीं हो सकता और विभक्ति के रहते हुए सन्धि नहीं हो सकती तथा केवल प्रातिपदिक असाधु है और शास्त्र साधु शब्दों में ही प्रवृत्त होते हैं ।[16] दूसरे विवेच्य अर्धाली में 'मनोहर' शब्द के प्रयोग द्वारा गोस्वामी जी ने उच्चकोटि के काव्य सिद्धान्तों की ओर ही संकेत किया है । 'अवरेब' का अर्थ गुणीभूतव्यंग्य हो सकता है । 'धुनि' के उपरांत 'अवरेब' का प्रयोग कवि की काव्यशास्त्रीयता का परिचायक है । ध्वनिकार के मतानुसार भी ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से विभूषित वाणी कवि-प्रतिभा के आनन्त्य का हेतु होती है ।[17] अभिनव गुप्त ने गुणीभूतव्यंग्य को वक्रोक्ति का प्रतिरूप माना है ।[18] स्मरणीय है कि जिस प्रकार ध्वनिकार ने समस्त अलंकारों में गुणीभूत व्यंग्यता सिद्ध की है उसीप्रकार कुन्तक[19] और भामह[20] ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल स्वीकार किया है । अभिनव गुप्त प्रभृति आचार्यों के मन्तव्यों पर दृष्टिपात करने पर गुणीभूत व्यंग्य और वक्रोक्ति की अभिन्नता की पुष्टि हो जाती है । सुधाकर द्विवेदी द्वारा 'अवरेब' (फा० औरेब) को फारसी शब्द मानना वस्तुतः उपयुक्त है । भारतीय काव्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के प्रसंग में फारसी के शब्द का प्रयोग असाधारण माना जायगा परन्तु वक्रतापरक अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है ।

---

१६. पा०पी०, प्र०भा०, मा०ल० , पृ० ५५६

१७. ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ।। ध्वन्यालोक ४।१, पृ० ३३६

१८. दे० ध्वन्यालोक, ३।३७ की वृत्ति, पृ० २६०-६२ ।

१९. वक्रोक्ति जीवितम् १।६-१०, पृ० ३८, ५१ ।

२०. काव्यालंकार, २।८५, पृ० ६२ ।

'अवरेब' का अर्थ पर्यायोक्ति - अलंकार मानना उचित नहीं है क्योंकि 'उपमा बीचि विलास मनोरम' अर्धाली में 'उपमा' शब्द से अलंकारों की चर्चा पूर्व हो चुकी है। वामन ने वक्रोक्ति के लक्षण 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति'[21] में कहा है कि सादृश्य निमित्तक लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं। व्यापक अर्थ में सादृश्य लक्षणा (गौणीलक्षणा) वह है जिसमें यथार्थ कथन से हटकर जब चमत्कारपूर्ण ढंग से कोई बात कही जाती है। इसे ही वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। इस प्रकार लक्षणावृत्ति, गुणीभूतव्यंग्य एवं वक्रोक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। श्री जानकीशरण और श्री शुकदेव ने 'अवरेब' को व्यंजना कहा है, किन्तु 'धुनि' शब्द में व्यंजना भी समाविष्ट है। अतः 'अवरेब' को व्यंजना कहना उचित नहीं प्रतीत होता ।

हिन्दी शब्दसागर में 'अवरेब' के छः अर्थ दिये गये हैं - 'अवरेब' संज्ञा पुं० (सं० अव- विरुद्ध+रेव-गति) (१)वक्रगति। तिरछी चाल (२) कपड़े की तिरछी काट। (३) पेंच। उलझन। (४) बिगाड़। खराबी (५) झगड़ा। विवाद। खींचातानी (६) वक्रोक्ति, काकूक्ति।[22] इस प्रकार 'अवरेब' अनेकार्थी शब्द है। स्वयं गोस्वामीजी ने इसका प्रयोग विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थों में किया है। डा० अम्बाप्रसाद जी के अनुसार- 'वक्रता या टेढ़ के लिए फारसी में - 'उरेब' शब्द है। इसी से 'अवरेब' शब्द विकसित है। वक्रता मिटेगी अर्थात् उलझन दूर होगी। पान्यामा पाय जामें की एक प्रकार की तिरछी सिलाई 'ओरेबी' कहाती है। इसे 'अवरेबी' भी कहते हैं। संज्ञा 'अवरेब' से विशेषण 'अवरेबी' है जो ब्रज के लोक-जीवन में 'ओरेबी' के रूप में आज भी प्रचलित है।'[23] डा० अम्बाप्रसाद के उक्त अर्थ के रूप में गोस्वामी जी ने 'ओरेबें' शब्द का प्रयोग किया है। यथा - 'कमहुँ कछुक लखी ही तबकी ओरेबें नंदलला की।'[24] यहाँ

----

२१. काव्यालंकार सूत्र ४।३।८, पृ० २३५ ।

२२. वही पृ० २७८ ।

२३. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ११ ।

२४. श्रीकृ० ४३ ।

'अवरेबैं' का अर्थ है टेढ़ी चालें, चाल की बातें। उक्त श्री सुधाकर द्विवेदी का भी अर्थ यहाँ उचित बैठता है। ग्राउस महोदय के अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग भी गोस्वामीजी ने किया है -- 'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेब ।।[२५] बिगाड़ या खराबी के अर्थ में इसका प्रयोग गीतावली और मानस में किया है।[२६]

स्मरणीय है कि उपर्युक्त कतिपय विद्वानों ने 'प्रकरण' पर ध्यान न देने के कारण ही अनर्थ कर दिये हैं। उक्त अर्धाली में गोस्वामी जी काव्य भेदों की चर्चा कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत उलझन, टेढ़ा, फेरफार आदि अर्थ नितांत असंगत हैं। ध्वनि के बाद काव्य का कोई इतर भेद मानना चाहिए। गुणीभूत व्यंग्य और लक्षणावृत्ति को कोई स्वतंत्र साम्प्रदायिक महत्ता नहीं प्राप्त हुई है। गुणीभूत व्यंग्य व्यंजना की भांति ध्वनि के कलेवर में ही समाविष्ट हो जाता है। लक्षणावृत्ति वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाती है। वक्रोक्ति को पृथक रूप से सम्प्रदायता प्राप्त हो चुकी है। तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक, श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार श्रीरामनरेश त्रिपाठी और हिन्दी शब्दसागर आदि ने 'अवरेब' का अर्थ 'वक्रोक्ति' ही स्वीकार किया है। अर्थ निश्चय के 'प्रकरण' नामक साधन से भी इसका अर्थ वक्रोक्ति ही निश्चित होता है। अत: यहाँ पर 'अवरेब' का अर्थ 'वक्रोक्ति' ही संभव है।

'<u>अवहेरि</u>' --

पंच कहें सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही ।।[२७]

उक्त अर्धाली के 'अवहेरि' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। हरिहर प्रसाद जी ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि 'ढोंग से मराइन्ह शरीर त्याग कराइन्ह'

---

२५. मानस २।२६८ । ०

२६. सचिव नृपनीत ठगौरी सी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेबनि सकल सुधारी। गीता० २।८८।१, रामकृपा अवरेब सुधारी। मानस २।२१६।

२७. मानस १।७६।८

२८. रा०परि० परिशिष्ट पृ०, पृ० ६६ ।

इसी प्रकार श्री करुणासिंह पंजाबी,[२९] श्री ज्वालाप्रसाद,[30] श्री अवधविहारीदास,[३१] श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार[३२] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[३३] एवं ग्राउस महोदय[३४] आदि विद्वान इसका अर्थ करते हैं कि 'त्यागकर' मरवा डाला। श्रीशुकदेवलाल ने मूल शब्द की किंचित परिवर्तन के साथ लिखकर अर्थ किया है कि 'उसको एक अवढेरा लगाकर मरवा दिया।[३५] बैजनाथ जी के अनुसार — 'अवढेरि कहे चारों तरफ से औंढेरा लगाय पेंच गांठि डारि बली को मराय डारिनि।[३६] लगभग इसी प्रकार का अर्थ श्री श्रीकांत शरण, वीरकवि और विनायक राव का है। श्रीकांतशरण जी के अनुसार — 'अवढेर - फेर (चक्कर) में डालकर[३७]। वीरकवि के अनुसार - पेंच में डाल कर[३८] और विनायक राव के अनुसार - 'उलझन में डालकर मरवा डाला।[३९] श्री श्यामसुन्दरदास के अनुसार — धोखा देकर।[४०] श्री विद्यानंद त्रिपाठी के अनुसार — फिर उसे दुख देकर' मरवा ही डाला।[४१] मानसपीयूषकार के अनुसार - 'सुना जाता है कि पहलवानों में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। कोई दांव या पेंच करके जोड़ी को फंसाया जाता है जिसे अवढेरा कहते हैं। पुनः अर्थ करते हुए लिखते हैं कि — फेर में डालकर या त्यागकर उनको मरवा डाला।[४२] उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अवढेरि' शब्द के लगभग ५ अर्थ- लोगों ने किये हैं — त्यागकर, पेंच, फेर (चक्कर), उलझन, में डालकर, धोखा देकर और दुःख देकर।

'अवढेर' शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। यह पुरानी हिन्दी का काव्य प्रयोग है। साथ ही स्थानिक प्रयोग और सकर्मक क्रिया है। संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर

---

२९. मा०भा०, प्र०भा०, पृ० १५० ।

३०. सं०टी०, पृ० १३६

३१. मानस० पृ० ६६

३२. मानस, पृ० १०२

३३. प्र०सं०, ना०प्रा०वि०प्रि० काशी, पृ० ६३

३४. एंड सुन अवेउन्स हर एंड लेफ्ट हर टू डाइ, द रामायन आव तुलसीदास, पृ० ४३

३५. रामा०, पृ० ५५

३६. रामा० बाल०, पृ० २६७

३७. मानसांक, सि०,प्र०सं०, पृ० ३१४

३८. मानस, पृ० १०५

३९. मानस, पृ० २१२

४०. मानस, पृ० ८३

४१. वि०टी०,प्र०भा०,बा०,पृ० १६३

४२. मा०पी०बा०खं०- २, पृ० २५६-५७

में इसकी व्युत्पत्ति सं० अवधीरणा से मानी गई है और अर्थ इस प्रकार दिया है - फेर या झंझट में फंसाना । भ्रम में डालना ।[४३] मानक हिन्दी कोष में इसकी व्युत्पत्ति हिं० अव+हेरा से की गयी है ।[४४] तुलसी शब्द सागर और हिन्दी शब्द सागर में इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ क्रमश: इस प्रकार है --(सं० अव+राट), धोखा देकर चक्कर में डालकर[४५] और सं०पु० (हिं० अव+ररर या राह), चक्कर में डालना, फेर में डालना ।[४६]

ध्यातव्य है कि यहाँ दु:ख, धोखा, और त्याग शब्द से पार्वती जी की अनासक्ति शंकर जी के प्रति उतनी संभव नहीं है जितनी कि पेंच, फेर या उलझन जैसे शब्दों से । सप्तर्षि यहाँ पार्वती जी को उन परिस्थितियों का स्मरण दिलाना चाहते हैं जिनको सती जी दण्डकारण्य में श्रीराम जी की परीक्षा लेने में और पिता दक्ष के यज्ञ में शिव जी के भाग को न देखकर भोग चुकी थीं । अत: अवडेरि शब्द का अर्थ यहाँ धोखा देकर दु:ख देकर या त्यागकर नहीं हो सकता । प्रकरण अर्थ-निश्चय के साधन से इसका अर्थ चक्र (फेर) में डालकर ही हो सकता है । अधिकांश कोशों का मत भी इसी पक्ष में है । पहलवानों में इस शब्द का प्रयोग दाँव-पेंच के अर्थ में होता है । इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - लोगों के कहने (प्रेरणा) से (प्रथम तो) शिव जी ने सती जी से विवाह किया, फिर चक्र (फेर) में डालकर उनको मरवा डाला ।

इसीप्रकार विनय पत्रिका की एक पंक्ति है -

जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे ।[४७]

जिसमें अवडेरे शब्द का विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है । बैजनाथ जी के मतानुसार अवडेरे कहीं बडेरे नहीं हा मुझे विधि सृज्यो ब्रह्मा ने जब रचा तब

---

४३. दे०पु० ६५

४४. प्र०सं०, पृ० १९७

४५. पृ० ३०

४६. उद्धृत, मा०पी०बा०सं० २, पृ० २५६

४७. विनय० २२७ ।

मेरे मन में एक भी रेखा बड़ाई की नहीं लिखी सब रेखा निचाई की लिखी है अर्थात् जन्मपत्री में कर्महीन देख माता-पिता ने त्यागा।[४८] गयाप्रसाद जी के अनुसार विधाता ने मुझे निरादर से बनाया।[४९] सूर्यदीन शुक्ल जी के अनुसार - दैव ने भी उत्पन्न कर मुझे फंदे में डाला।[५०] रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार- अभागा पैदा किया था।[५१] श्रीकान्तशरण जी भी 'अबहेरे' पाठ मानकर लिखते हैं कि बहेरे नहीं, एक भी रेखा बड़प्पन की नहीं।[५२] बाबू शिवप्रकाश ने तिरस्कारपूर्वक अर्थात् अभागा अर्थ किया है और पं० रामकुमार ने 'त्याग दिया' अर्थ लिखा है।[५३] श्री देवनारायण द्विवेदी,[५४] दीन जी,[५५] वियोगी जी[५६] और पोद्दार जी[५७] ने 'बेढ़ब (जिसको पास रखने से भी हानि हो और त्यागने से भी हानि हो, ऊट-पटांग, भाग्यहीन अभागा और बेढ़ब सा' - ये अर्थ किये हैं। इस प्रकार 'अबहेरे' के लगभग ७ अर्थ किये गये हैं -- बड़ाई की रेखा से हीन, निरादर से, फंदे में डाला, अभागा, तिरस्कार पूर्वक, त्यागदिया, बेढ़ब सा- ऊटपटांग। विनय-पीयूषकार ने बैजनाथ जी और दीन जी आदि के अर्थों को अपना लिया है।[५८]

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में इसका बेढ़ब कुढंगा[६१] तुलसी शब्द सागर में - चक्करदार, बेढ़ब,[६२] एवं बृहत् हिन्दी शब्दकोश में फंफटवाला, चक्करदार, भद्दा अर्थ किया गया है।[६३] कतिपय टीकाकारों ने 'अबहेरे' पाठ मानकर बड़ाई की रेखाओं से रहित अर्थ किया है जो कि उचित नहीं है, क्योंकि अधिकांश टीकाकारों का पाठ 'अबहेरे' है जो कि 'अबहेर संज्ञा पु० शब्द का विशेषण रूप है। गोस्वामी जी ने

----

४८. विनय०, पृ० ४३३ ४९. वही, पृ० ३२१
५०. वही, पृ० २५३ ५१. वही, पृ० ३१२
५२. विनय शि०टि०, पृ० १३७६ ५३. वि०पी०खं० ५, पृ० ६९२
५४. विनय०, पृ० ३७८ ५५-वही, पृ० १६४
५६. वही, पृ० ५१७-१८ ५७. वही, पृ० ३६३
५८. वि०पी०,खं० ५, पृ० ६९३ ५९. मा०हि०को०पृ०खं०पृ० १६७
६०. तु०शब्द०, पृ० ३० ६१. सं०हि०श०, पृ० ६५
६२. दे०पृ० ३० ६३. दे०पृ० १०३

अवडेरे , अवडेरिए, अवडेरे शब्दों का प्रयोग मानस, बाहुक और विनयपत्रिका में किया है। अतः 'बड़ाई की रेखाओं से हीन' वाला अर्थ 'अवडेरे' पाठ से असंगत है। इसका 'निरादर से और तिरस्कारपूर्वक' वाला अर्थ किसी कोष में नहीं प्राप्त होता है। अतः यह भी प्रामाणिक नहीं है। 'त्याग दिया' अर्थ तो बिल्कुल अनुपयुक्त है, क्योंकि इसी पंक्ति में (जननी जनक) 'तज्यो' शब्द आ गया है। अतः इस अर्थ को स्वीकार करने से पुनरुक्ति दोष हो जायगा। 'डालने और निकालने' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बाहुक में हुआ है — 'भोरानाथ भोरे ही, सरोष होत थोरे दोष, पोषि तोषि थापि आपनो न अवडेरिए'।[64] 'फंदे में डाला गया' अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि मृत्युलोक में जन्म लेना ही 'फंदे में पड़ना' है जो कि जीवमात्र के लिए लागू होता है। शास्त्रकारों ने इससे मुक्त होने के अनेकानेक उपाय बताये हैं। अतः फंदे में डालकर विधाता ने कोई अनुचित बड़ा काम नहीं किया।

'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निर्धारक के आधार पर इसका अर्थ चक्करदार (बेढब) प्रकारांतर से अभागा ही हो सकता है। प्रायः सभी टीकाओं में इसका यही अर्थ दिया गया है। वीरकवि जी[65] श्री देवनारायण द्विवेदी, दीन जी, वियोगी जी और पोद्दार जी ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। स्वयं गोस्वामी जी ने भी लिखा है— 'बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई,[66] लिखी न बिरंचि हू भलाई भूलि भाल हूँ।'[67]

इस प्रकार उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — ब्रह्मा ने भी मुझे चक्करदार (बेढब या) प्रकारांतर से भाग्यहीन बनाया।

बाँकी

चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।।[68]

---

६४. बाहुक, ३४

६५. विनय०, पृ० २६१

६६. कविता० ६ ७।५७

६७. वही, ७।६५

६८. मानस १।२१६।८

उक्त अर्धाली का समस्यापूर्ण शब्द 'चाँकी' है जिसके अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। श्रीरामचरणदास[६९], बैजनाथ जी,[७०] पंजाबी जी,[७१] ग्राउस महोदय,[७२] पोद्दार जी[७३] श्रीकान्तशरण जी[७४], तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[७५] और मानस पीयूषकार[७६] आदि अनेक टीकाकारों के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ है -- 'मानो शोभा पर छाप या मुहर लगा दी गयी है।' हरिहरप्रसाद जी ने ये अर्थ किये हैं -- 'ललाटी पर अति अनूप रेखा सो चाँकी। कौतुक या भाँति सो कहत हूँ.. तिलक की रेखा जो सो शोभा रूपी राशी को चाँकी कहे छापा लगाया है। .... चाँकी कहे चकित कर दिया है वा.... चाँकी कहे दबाय लिया है।[७७] विनायकरावजी के अनुसार- तिलक की रेखा ने मानो शोभा की सीमा बाँध दी।[७८] लगभग इसीप्रकार का अर्थ अवधविहारी दास ने भी किया है -- माथे पर तिलक की रेखा की शोभा ऐसी है मानो शोभा को घेरे में कर लिया है।' [८०] गौड़ जी के मतानुसार - चाँकी का अर्थ है - 'चाँकना की मुहर लगा दी। जब मालगुजारी खेत की पैदावार के ही रूप में दी जाती थी तब राजा का भाग अन्न के ढेरों में 'चाँक दिया' कर दिया जाता था।[८१] ज्वालाप्रसाद जी के अनुसार - 'और तिलक की रेखा ने सो मानो शोभा की राशि को ही घेर लिया है जिससे (टोना) न लगे। दूसरा अर्थ चाँकी का चकपक हो जाता है, भाव यह कि तिलक की रेखा ऐसी है मानो आप आकर चकपक हो खड़ी हुई है।[८२] श्री गुरुसहाय लाल जी के अनुसार - 'यहाँ चौंक मागधी बोली है। इसका अर्थ है सावधान करना या होना'। बोल-चाल में कहा जाता है कि 'मुँह सो उसी के बात करने पर चौंकपड़ गया अर्थात् सावधानता आ गयी।' तिलक रेख..... चाँकी' अर्थात् तिलक की उर्ध्व रेखाओं ने मानो सर्वांग की शोभा को 'सावधान' (सजग)

----

६९. रामा०, पृ० ३४२ | ७०. वही, पृ० ५४५
७१. मा०भा०,पृ०भा०, पृ० ३०२ | ७१
७२.... दैह द स्टार आन द फोरहेड वेट सीम्स फिगटीज ओन स्टेम्प०द रामा० आव तुलसीदास, पृ० ११० | ७३. मानस, पृ० २१५
७४. सि०ति०,प्र०सं०, पृ० ६१२ | ७५. प्र०सं०,ग्र०भा०वि०परि० २२३, ~~२२२~~
७६. मा०पी०,बाल० खं०-३, पृ० २११ | ७७. रा०परि०परिशिष्ट,प०,पृ० १५३।
७८. वही, पृ० १५३ | ७९. सिद्ध टी०,१ बाल०, पृ० ७१
८०. मानस, पृ० २३६ | ८१. मा०पी०बा०सं०३,पृ० २११
८२. सं०टी०, पृ० २७०

कर दिया है। भाव यह कि यह विदेह नगर है, इसमें भावात्मक होकर वेष पहना। अथवा टेढ़ी बाँकी भृकुटी त्रिशूलाकार तिलकरेख द्वारा शोभा को मानो सावधान कर रही है। भाव यह कि यहाँ भी लाड़ली जी की शोभा का मण्डल है, ऐसा न हो कि छल करके तुम फन्दे में पड़ जाओ जिससे मुँह क्षोभ पावे। अतः आगे अद्भुत शोभा से सखियाना की दृष्टि में बड़ा बाँध आ गया।[83] एक महात्मा ने 'शोभा' का अर्थ 'श्री' मानकर यूं लिखा है कि 'तिलक की रेखाएँ दोनों रंग की हैं, बीच की श्रीलालरंग की है। 'श्री' का अर्थ शोभा भी होता है, शोभा का श्री रंगलाल है। अतः बीच की 'श्री' शोभा हुई, यह बगल की दोनों रेखाओं से घिरी है। यही चाँकना है।'[84]

पं० रामकुमार जी के अनुसार — तिलक की रेखाओं ने मानो शोभा को रोक लिया है। अर्थात् दो रेखाओं का तिलक है। दोनों के बीच में शोभा रुक गयी। अथवा तिलक रेख की शोभा कैसी है मानो बिजली है। अथवा तिलकरेख क्या है मानो शोभा है जो मुख की शोभा को देखकर चकित हो गयी है।[85] श्री श्यामसुन्दर दास जी के अनुसार - 'उनके तिलक की रेखा भी बिजली की सी शोभित हो गयी है व अथवा तिलक की रेखा क्या है मानो शोभा की हद बाँधी हुई है।[85क] वीरकवि जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और रामनरेश त्रिपाठी जी के मतानुसार- माथे पर तिलक की रेखा की शोभा बिजली की तरह थी।[86] हिन्दी शब्दसागर में चाँकी का अर्थ इस प्रकार दिया गया है - 'चाँकना-क्रिया सकर्मक (हि०चाँक) (१) खलिहान में अनाज की राशि पर मिट्टी, राख या ठप्पे से छापा लगाना जिससे यदि अनाज निकाला जाय तो

---

८३. मा०पी०,बाल० खं०, ३, पृ० २१२

८४. वही, पृ० २१२

८५. वही, पृ० २१२

८५ क. दे० मानस, व्याख्येय अर्धाली

८६. मानस टी०वीरकवि, पृ० २५७, वि०टी० पृ० भा०बाल०पृ० ३७७, मानस टीका० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २४६

मालूम हो जाय । (२) सीमा बाँधने के लिए किसी वस्तु को रेखा या चिह्न खींच-कर चारों ओर से घेरना । हद खींचना । हद बाँधना । (३) पकवान के लिए किसी वस्तु पर चिह्न डालना ।[८७] मानक हिन्दी कोश में 'रेखा खींचकर सीमा निर्धारित करना' यह अर्थ दिया है ।[८८] तुलसी शब्दसागर में हिन्दी शब्दसागर का ही अर्थ दिया गया है ।[८९]

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न विद्वानों ने चाँकी के लगभग ९ अर्थ दिये हैं -- छाप या मुहर लगा दी गयी है, खींची हुई कनक की रेखा, चकित कर दिया है, दबा दिया है, सीमा बाँध दी, चक्रांकित की, सजग कर दिया है, शोभा को रोक दिया है और बिजली ।

'चाँकी' का 'चकित कर दिया, दबा दिया और सजग किया' अर्थ किसी भी कोश आदि ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होता । अतः यह अनुमानित और अप्रामाणिक अर्थ है । इसका 'सीमा बाँधने के अर्थ में प्रयोग अवध प्रान्त में भी होता है । खलिहानों में स्वच्छ की हुई अनाज की राशि के चारों ओर गोबर से एक वृत्त रेख हेतु खींच दिया जाता है जिससे कि अनाज कोई निकाल न सके । वृत्त खींची हुई राशि से अनाज निकालने पर तुरंत पता चल जाता है । इसी बात का समर्थन हिन्दी शब्दसागर जैसे कोशों से भी हो जाता है । चक्रांकन, छाप या मुहर आदि भी अनाज की ढेर पर राख या मिट्टी से लगाया जाता था जिससे कि अनाज निकालने पर मालूम हो जाय । इसी आधार पर लोगों ने 'चाँकी' का अर्थ 'छाप', मुहर या चक्रांकित की' किया है । अब विचारणीय है कि क्या कवि शोभा के सुरक्षण हेतु ऐसी उत्प्रेक्षा की है ? नहीं, वह शोभा की सुरक्षा नहीं बल्कि उसे लुटाना चाहता है । बालकवृंद उस शोभा को लूटने के लिए राम और लक्ष्मण के साथ लग गये - बालक बृंद देखि अति सोभा । लगे संग लोचन मनु लोभा ।।[९०] 'शोभा रोक दी रेखा' अर्थ भी इसी तर्क से कट जाता

---

८७. दे०पु० ९९३-९४

८८. हि०को०, पृ० २२४

८९. तु०शब्द०, पृ० १४५

९०. मानस १।२१९।२

जाता है। अतः यहाँ पर इसका अर्थ सीमाबाँध दी, छाप, मुहर या चक्रांकित की युक्तिसंगत नहीं है। सीमा बाँधने के अर्थ में इसका प्रयोग कवितावली में कवि ने किया है -- तुलसी त्रिलोक की समृद्धि सौंज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि, जांगर जहान भो।[६१] इसी भी गुरुसहाय लाल जी का अर्थ बिल्कुल पंडिताऊ और अविचारणीय है। 'श्री' (तिलक) का अर्थ शोभा नहीं होता। यदि 'शोभा' का अर्थ 'श्री' (तिलक) मान भी लिया जाय तो 'अनु' शब्द व्यर्थ हो जाता है। अतः यह अर्थ भी असंगत है। 'चाँकी' का अर्थ किसी हुई चमक की रेखा से 'बिजली' करना अधिक सटीक है क्योंकि ..... बिजली में अपेक्षाकृत अधिक चमक-दमक है।

अवधी कोष में 'चाकी' का अर्थ इस प्रकार दिया है -- सं०स्त्री० - बिजली, चकी परै, बिजली गिरै, चाकी मारै-शाप देने के शब्द, बलिया[६२]। श्रीरामनरेश-त्रिपाठी के अनुसार चाकी फारसी के चाक शब्द से निकला है जिसका अर्थ है, फाड़ देना, देहात में इसे चिरीं भी कहते हैं। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। पर संभवतः यह संस्कृत 'चक्र' (विष्णु के आयुध) से विकसित है। अवधप्रान्त में महिलाएँ शाप देने के अर्थ में 'चकी परै' ऐसा प्रयोग करती हैं।

स्वयं गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में तिलक की छवि की उत्प्रेक्षा बिजली से करते हुए कहा है कि ललाट पर के तिलक को समझाकर कहता हूँ। वह ऐसा मालूम होता है मानो बिजली की दो छोटी-छोटी पतली रेखाएँ अपनी चपलता छोड़ कर (मुख) चन्द्र में (आकर स्थिर होकर) रह गयी हैं --

कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।।[६३]

पं० रामकुमार जी ने 'चाँकी' शब्द के ३ अर्थ दिये हैं। उनमें से एक अर्थ 'बिजली' भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार श्री श्यामसुन्दर दास जी भी दो अर्थों में एक अर्थ

----

६१. कविता० ५।३२

६२. दे० अवधी-कोष, पृ० ८६

६३. विनय० ६२।

बिजली करते हैं। वीरकवि जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और रामनरेश त्रिपाठी जी ने निःसंदेह 'चाँकी' शब्द का अर्थ बिजली किया है। अर्थनिश्चय में 'प्रकरण' नामक साधन से भी इसका अर्थ 'बिजली' ही निश्चित होता है, क्योंकि 'प्रसंग' राम-लक्ष्मण के शोभा के वर्णन का है। उनके नेत्र लाल कमल के समान हैं। कानों में कनक फूल शोभा दे रहे हैं। उनकी दृष्टि मोहिनी है और भौंहें बंक और टेढ़ी-तिरछी हैं। ऐसी स्थिति में यह उत्प्रेक्षा करना कि -

'मस्तक पर तिलक की रेखा की छवि बिजली की भाँति है'

कवि की कल्पना में चार-चाँद लग जाता है। इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा मस्तक पर तिलक की रेखा की छवि बिजली की भाँति है।

<u>नाठी</u> :-

मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ।।[९४]

उक्त पंक्ति के 'नाठी' शब्द का अर्थ करते हुए रामनरेश त्रिपाठी जी लिखते हैं कि - 'मोह ने उनकी (नारद की) बुद्धि को जकड़ लिया था।[९५] ग्राउस महोदय के अनुसार 'उनकी बुद्धि बिल्कुल चली गई थी।[९६] रामायण परिचर्याकार, रामायण परिचर्या परिशिष्टकार, रामायणपरिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार[९७] शुकदेवलाल जी[९८], पोद्दार जी[९९] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[१००] श्री अवधबिहारीदास[१०१], बैजनाथ जी[१०२]

---

९४. मानस० १।१३५।५   ९५. मानस, पृ० १५६

९६. हज़ विज़ हज़ कंट्रूलर्नाविज़ रीजन वाज़ क्वाइट गान।

— द रामा० आफ् तुलसीदास, पृ० ६८।

९७. रा०परि०परिशिष्ट, पृ०, टीका० हरिहरप्रसाद,पृ० १०३

९८. रामा० पृ० ८५   ९९. मानस, पृ० १४८

१००. पृ०सं०, ना०प्रा०सि० परिषद, काशी, पृ० १४६

१०१. मानस० पृ० १५८.

१०२. रामा० बाल०, पृ० ३६२

और मानस पीयूषकार[१०३] आदि टीकाकारों के मतानुसार-'मोह ने मुनि की बुद्धि को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला' ऐसा अर्थ किया है। तुलसी शब्दसागर के अनुसार इसका अर्थ है --'नष्ट हो गयी'।[१०४] हिन्दी शब्दसागर में 'नाठना' क्रिया का अर्थ नष्ट करना ध्वस्त करना किया है।[१०५]

'नाठी' का 'चक्र फिया था' अर्थ किसी कोशादि में नहीं प्राप्त होता। अतः त्रिपाठी जी का यह अर्थ अप्रामाणिक है। ग्राउस महोदय ने 'हटना' अर्थ किया है। यह भी यहाँ संगत नहीं है। हटने के अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने कवितावली में किया है -- आपनि बूझि कहौं, पिय। बूझिए, बूझिबे जोग न ठाहरु नाठे॥[१०६] यद्यपि 'नाठे' शब्द का अर्थ यहाँ पर भी तुलसी-शब्दसागर में 'नष्ट हो गए' किया गया है,[१०७] किन्तु यह अप्रासंगिक है।

रामायण परिचर्या परिशिष्टकार 'नाठी' की व्युत्पत्ति नाठी तिरहुत प्रांत की भाषा से मानते हैं।[१०८] किन्तु यह पुरानी हिन्दी का काव्य प्रयोग है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है सं० नष्ट, प्रा० नट्ठ हि० नाठ। संस्कृत 'ष्ट' का हिन्दी में 'ठ' हो जाता है। यथा - काष्ठ काठ, नष्ट नठ मुष्टिका मुट्ठिका, मिष्ट - मिठ आदि। 'नाठना' का नष्ट होना या ध्वस्त होना और हि०नाटना- भागना या हटना, दो अर्थ होते हैं। हटना के अर्थ में इसका प्रयोग सूरदास ने भी किया है।[१०९] प्रकरण से इसका अर्थ करना चाहिए। 'प्रकरण' अर्थ निश्चय के साधन से उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है -- 'मोह ने मुनि की बुद्धि को नष्ट कर डाला, इससे मुनि अत्यंत व्याकुल हो गए, मानो गाँठ से मणि छूटकर गिर गयी है।

-----

१०३. मा०पी०, खण्ड २, पृ० ५१२ १०४ वे० पृ० २५८

१०५. वे० पृ० २५८ १०६. कविता० ६।२८

१०७. तु० शब्द०, पृ० २५८

१०८. रा० परि० परिशिष्ट, पृ० हरिहरप्र०, पृ० १०३

१०९. दे०हि०शब्द०, पृ० ५२६

अधिकांश टीकाकारों का मत भी इसी पक्ष में है। "छूटजाना" अर्थ यहाँ इसलिए संगत नहीं है कि अति विकलता में मात्र छूट जाना पर्याप्त नहीं है, नष्ट हो जाना ही उचित है।

विघुरति :-

जानि कठिन सिव चाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति ॥[११०]

"बिसूरति" के कई अर्थ लोगों ने किये हैं। रामायणपरिचर्याकार के अनुसार- बिसूरति बावरी। रामायण परिचर्यापरिशिष्टकार के अनुसार-बिसूरति विगत भई है सूरत भाव बैकल है। रामायण-परिचर्यापरिशिष्टप्रकाशकार के अनुसार - कोऊ अस कहत.. बिसुरत कहै भयावन।.... या बिसूरति कहै देहाध्यासबिसारे चली.... बिसूरति कहें विगति सुरति करैंगे अर्थात् तोहि हारैंगे अस जानि मूरति हिय मैं राखि चली।[१११] रामनरेश त्रिपाठी जी के अनुसार-शिवजी के धनुष को कठोर जानकर वह पछताती थीं।[११२] वीरकवि के अनुसार-कठोर शिव धनुष को टूटा हुआ समझकर हृदय में स्यामल मूर्ति रखकर चली।[११३] श्री रामवल्लभ पाण्डेय के अनुसार-धनुष को कठिन जानते हुए भी रामचन्द्र जी की साँवली मूर्ति को हृदय में रखने से धर्म की सामान्यता पायी जाती है। अर्थात् सतीत्व धर्म के विरुद्ध होता है। इसलिए "बिसूरति" का दूसरा अर्थ विगत सुरति या टूटा हुआ ही अधिक संगत जान पड़ता है। इस तरह अर्थ यह होगा कि "शिव जी के कठिन धनुष को टूटा हुआ जाना।" अथवा, यह अर्थ किया जाय कि रघुनाथ जी की वीरता के आगे चाप को बिसूरते (टूटा हुआ) पाया, तो उनको अपना जान उनकी स्यामल मूर्ति अपने हृदय में रख ली ॥[११४] किंतु कवि ने[क] उसके

---

११०. मानस १।२३५।१

१११. रा०परि०परिशिष्ट,प्र०, पृ० १६५

११२. मानस, पृ० २६१

११३. मानस, पृ० २७६

११४. मा०पी०, खंड, १, पृ० ३२६,

क. मानस १।२३२। ७ ।

यहां पर भी 'बिसूरति' के कई अर्थ लोगों ने किये हैं। दीन जी ने चिन्ता करती हुई (बिगड़ी हुई सूरत जिसकी)[१२९] अर्थ किया है। सद्गुरुशरण अवस्थी जी लिखते हैं कि इसका अर्थ विलाप करती हुई है। बुंदेलखंड में यह शोक और गहरी चिंता करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[१३०] डा० माताप्रसाद गुप्त ने शोक करते हुए, चिंतित[१३१] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक ने कलपती[१३२] अर्थ किया है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि टीकाकारों ने बिसूरति के लगभग १३ अर्थ किए हैं। ये हैं- बावली, बेचैन - होकर, भयावन, दीर्घश्वास निसारे हुए, पछताती, टूटा हुआ जानकर, वि --दोनों (ओर की)+ सूरति - सुरति (स्मरण करती हुई), दुखित होती हुई, मसोसने लगी, विलाप करती हुई, चिन्ता में अकुलाती हुई, चिन्ताकरती हुई, विचार करती हुई, और कलपती आदि। इसके अतिरिक्त भी लोगों ने अनेक अर्थ दिए हैं। क्लिष्ट कल्पनायुक्त होने के कारण उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया है।

हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ इस प्रकार है -

बिसूरना[१] - क्रि० अ० (सं० विसूरण (-शोक) सोचकरना। चिंता करना। खेद करना। मन में दु:ख मानना।

बिसूरना[२] - संज्ञा स्त्री० चिंता। फिक्र। सोच। उदा० - लालची लबार बिललात द्वार द्वार, दीन बदन मलीन मन मिटै ना बिसूरना। - तुलसी [१३३]

तुलसी शब्दसागर में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है -

बिसूरति- (सं० विसूरण) दुखित होती हुई, विलाप करती हुई। चिंता करती है।[१३४]

---

१२९. तुलसी पंचरत्न, पा०मं०, पृ० ३

१३०. दूसरी पुस्तक, पृ० ६४

१३१. पा०मं०पृ०मा०प्र० गुप्त, पृ० २१

१३२. टि०सं०, ना०प्रा०स०प्रि०काशी, पृ० २४

१३३. हि०शब्द०, पृ० ३५१६

१३४. वही पृ० ३५२।

गोस्वामी जी कहीं-कहीं शब्द-विशेष का अर्थ स्वयं लिख देते हैं। उदाहरणस्वरूप --

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू ।।[१३५]

उक्त अर्धाली में छोहू शब्द का अर्थ वे कृपा करते हैं। यथा --

करहु कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ।।[१३६]

इसी प्रकार जानकी मंगल में वे एक स्थान पर बिसूरति शब्द का प्रयोग करते हैं --

कहि प्रिय बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति।

कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति ।।

जौं बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं।

तौ कोउ नृपहि न देत दोसु परिनामहिं ।।

अब असमंजस भयउ न कछु कहि आवै।

यहाँ रानी का बिसूरना कहकर फिर उसी का अर्थ आगे ससोच शब्द देकर किया है--

रानिहि जानि ससोच सखी समुझावै ।।[१३७]

इसी प्रकार एक स्थान पर वे कहते हैं --

पुलक सिथिल तन बारि बिलोचन।

महि नख लिखन लगीं सब सोचन ।। [१३८]

आगे वे इसी की उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो करुणा ही बहुत से वेष धारण करके सोच कर रही है --

सब सिय राम प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति ।।

स्पष्ट है कि यहाँ उक्त सोचन शब्द के लिए ही बिसूरति शब्द प्रयुक्त हुआ है।

---

१३५. मानस ५।१७।३

१३६. वही, ५।१७।४

१३७. जा०मं० ८२ - ८४

१३८. मानस २।२८०।७

'बिसुरति' शब्द का अर्थ विलाप करती हुई नहीं हो सकता, क्योंकि गोस्वामी जी 'जनक' जैसे ब्रह्मज्ञानी के लिए 'बिसुरन' शब्द का प्रयोग करते हैं -

> प सील बय बंस राम परिपूरन । समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन।।
> लागे बिसुरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै ।। [139]

इसी प्रकार -

> कौसल्या दिन राति बिसूरति बैठि मन मौन ।
> तुलसी उचित न होइ रोइबो प्रान गए संग मौन ।। [140]

और-

> 'आरत' बचन कहति बैदेही ।
> बिलपति भूरि 'बिसूरि' 'दूरि' गए मृग संग परम सनेही ।। [141]

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'बिसूरति' का अर्थ विलाप करती हुई नहीं हो सकता, क्योंकि 'बिसूरति' शब्द के प्रयोग के बाद 'रोइबो' शब्द का प्रयोग है। यदि उसका अर्थ विलाप करती हुई होता, तो 'रोइबो' शब्द का प्रयोग कवि कदापि न करता। इसी तरह द्वितीय उदाहरण में 'आरत' और 'बिलपति' शब्द के बाद 'बिसूरि' शब्द का प्रयोग है। अत: इसका अर्थ दुखित होती हुई भी नहीं हो सकता। 'सोचना' के ही अर्थ में गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग एक अन्य स्थान पर भी किया है -

> कहौं सो बिपिन है धौं केतिक दूरि ।
> जहाँ-गवन कियो कुंवर कोसलपति, बूझति सिय पिय-पतिहि बिसूरि ।। [142]

बावली, बैठी होकर, भयावन, देवारण्य बिसारे हुए, टूटा हुआ जानकर और 'द्वि' दोनों (आँखें) -+सुरति- सुरति (स्मरण करती हुई), आदि अर्थ बिल्कुल

---

१३९. जा०मं०, ५३-५४

१४०. गीता० २।८३

१४१. गीता० ३।७

१४२. वही २।१३

काल्पनिक और खींचातान अर्थ है। 'कलपती' अर्थ भी संगत नहीं है। 'चिन्ताकरती हुई' और 'विचार करती हुई' दोनों का अर्थ लगभग एक ही है। पुनः जब कवि स्वयं 'बिसूरति' का अर्थ सोच करती हुई' करता है तो 'पछोसना' आदि अर्थ भी उपयुक्त नहीं है। हिन्दी शब्द सागर और तुलसी शब्द सागर में इसके अनेक अर्थों में एक अर्थ 'सोचती, विचारती चिन्ता करती' भी दिया है -। उपर्युक्त अधिकांश विद्वानों का मत भी इसी का समर्थन करता है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ निश्चय के साधन से 'सोच करती हुई' अर्थ ही युक्तिसंगत एवं प्रासंगिक विदित होता है। अतः मानस की उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - 'शिव जी के धनुष को कठिन जानकर हृदय में सांवली मूर्ति रख कर सोच करती हुई चली।' इसी तरह पार्वती मंगल के उक्त अंश का अर्थ होगा - 'काम देव की स्त्री रति को पति हीन, दुखी और सोचती हुई (चिंतित) देखकर (कोमल स्वभाव वाले, कृपा की मूर्ति, आशुतोष भगवान् नीलकंठ ने उसे सन्तुष्ट करते हुए वर दे दिया)।

'सर्त' और 'पाइक'

घंट घंटि धुनि बरनि न जाहीं। सरु करहिं पाइक फहराहीं ॥[143]

प्रस्तुत अर्धाली के उत्तरार्ध का अर्थ टीकाकारों ने निश्चित रूप से नहीं लिखा। प्राचीन टीकाकारों ने इसके अर्थ की बड़ी छीछालेदर की है। कतिपय टीकाकारों ने तो इतनी उड़ान से काम लिया है, जिसकी कल्पना स्वयं गोस्वामी जी भी नहीं कर सकते थे।

इसके पाठ पर ठीक से विचार न करने के कारण भी अर्थ का अनर्थ कुछ कम नहीं हुआ है। कतिपय प्रतियों में 'सर्त' पाठ है तो कहीं 'सरौ'। इसी प्रकार कुछ प्रतियों में 'पाइक' और कुछ में 'पायक' पाठ प्राप्त होता है। सं० १७०४, १७२१ और १७६२ की प्रतियों में 'सरौ' पाठ है।[144] छक्कन लाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, कोदवराम की प्रति, बालकांड में भागवत कुंज की प्रति और अयोध्याकांड में

---

१४३. मानस १।३०२।७

१४४. दे०मां०पी०बा०खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ६८० ।

राजापुर की प्रति में 'सह' पाठ है। छक्कन०, बाल० भागवत, अयो०राजा०, सं० १७२१ और सं० १७६२ की प्रतियों में 'पाइक' पाठ है। रघु०, बंदनपाठक, सं० १७०४ काशी-राज वाली प्रति, भागवत और राजापुर की प्रतियों में पायक पाठ है। 'पाउक' फुटकर प्रतियों का पाठ है जो अप्रामाणिक है।[१४५] भागवतदास के प्र० सं० (सं० १९४२) और काशिराज संस्करण में सह करहिं पाइक फहराहीं पाठ स्वीकार किया गया है, जो कि उचित प्रतीत होता है। 'सहीं' और 'सह' के अन्तर को न समझने के कारण अधिकांश टीकाकारों ने 'ध्वनि' या 'ध्वनि करके' अर्थ लगाया है।

वीरकवि के मत से --फरिहयां फहराती हैं उनमें लगे घुंघरू बोल रहे हैं।[१४६] इसी तरह ज्वालाप्रसाद जी के मतानुसार - शब्द करती हुई फरिहयां पायकों (सेवकों) के हाथ में फहरा रही है।[१४७] रामनरेश त्रिपाठी और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक के अनुसार क्रमशः 'नौकर लोग शब्द करते हुए हाथों में फरिहयां फहरा रहे थे'[१४८] और पैदल चलने वाले सेवक (पटेबाज) चिल्ला-चिल्लाकर (अनेक प्रकार की कला दिखाते और पटा-बनेठी घुमाते हुए) फहराते चले जा रहे थे।[१४९]

श्रीरामचरणदास इसका अर्थ करते हैं --' अरु मल्लसरौ करते हैं ताल देते हैं, कूदते हैं फहराते हैं किन्तु मल्लसरौ करते हैं कूदते हैं अरु पायक नभ विषे कूदते हैं फहराते हैं[१५०] किन्तु पं० रामचरण मिश्र के मत से - 'सह पटेबाजी करत फरी गदा बहुभाँति। पायक प्यादे को कहत चले जात फहरात।।' इत्यादि। (रामायणी रामबालकदास जी भी 'सह' का अर्थ पटेबाजी इत्यादि करते हैं और कहते हैं कि पूरब में इसी पटे

---

१४५. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० ७७।

१४६. मानस, पृ० ३५५ (सं०टी०)

१४७ सं०टी०, पृ० ३४१

१४८. मानस, पृ० ३२८

१४९. पृ०सं०, ना०प्र०स०पत्रि०,काशी, पृ० २६५।

१५०. रामा०, पृ० ४३०

बाजी इत्यादि को कहते है, जैसा प्राय: जलूसों, राजाओं-रईसों की सवारियों, बारातों इत्यादि में देखने में आता है)।[१५१] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार पायक कहे सेवक अर्थात् नट जे सेवक है ते फहराहीं कहे कूदत हैं सब कहे दण्ड करते हैं वा सरों करत है जे पायक अर्थात् दण्डधारसेवक ते फहराहिं कहे पटा बाना आदि खेलत हैं (पं० रामकुमार जी ने भी यही अर्थ लिखा है) वा (जो हाथियों पर निशान लिये है) जब सरों रीति खड़ा करत हैं तब हवा से पायक जो उनका पताका फहरात है : वा हाथिन के घंटा घंटी की धुनि बरनि नहीं जाती तिन हाथिन के जब पायक है पीलवान जब रब साँकर करत हैं अर्थात् जोर से चलावत है तब फहराहीं कहे सुण्ड उठाय के बकारा लेत है अर्थात् फुफकार छोड़त हैं।[१५२] पंजाबी जी ने ऐसा अर्थ किया है --सरों करि-- सन्मुख नृप के ध्वजा ले के पायक फहराते हैं किंवा सरों नाम सहस्रों का सहस्रों के आकार मोरपंख के बनाए कर भी पायक हाथ में राखते हैं विवाह के समै आगे चलते है अथवा सरोंकरण नाम कूदने फांदने का है पायक कूदते जाते है अरु ध्वजा तिन के हाथों में फहराति भी है।[१५३] बैजनाथ जी इसका अर्थ लिखते है --"ऐसा सघन शब्द होत अरु पायक जे सेवक जन तिनके करे कहे हाथन विषे सरों छड़ी लिये जिनमें झंडी फहराय रहीं ते आगे चले जात अरु मल्लन को कूदिबो अथवा ताल आदि में फहरात नहीं बनि परत।[१५४] ग्राउस महोदय अर्थ करते है कि "पैदल सिपाही ऐसे कूदते और नाचते थे मानों कि ललकारते हुए आक्रमण करते हों"।[१५५] शुकदेवलाल जी के अनुसार-सरों करें अर्थात् मल्लों के से व्यायाम कहे दण्ड करते लहराते

----

१५१. मा०पी०बा०खं० ३, पृ० ६८१

१५२. रा०च०रा०परिशिष्ट,पृ०, पृ० २०५

१५३. मा०भा०,पृ०भा०,पृ० ३८६

१५४. रामा० बाल०, पृ० ६७६

१५५. दि आर्चर्स एन इन डेथ ग्राउण्डस्ट्स क्लैमर आव् बेल्स, व्हाइ ग्रैट ऐण्ड स्माल द फुट सोल्जर्स लीप्ड एण्ड डान्स्ड एज इफ चैलेंजिंग एटैक - दि रामायन आव् तुलसीदास, पृ० १४६ ।

हुए झंडे फहराते जाते हैं।[१५६] बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार — कलाबाज अनेक प्रकार की कसरत करते और हाथों में झंडियाँ फहराते चले जाते थे।[१५७] श्री विजयानंद जी त्रिपाठी के मत से — 'घण्टे और घण्टियों की ध्वनि कुछ कही नहीं जाती। कसरत करते हैं पायक लोग दौड़ धूप करते हैं। इसके अतिरिक्त पादटिप्पणी में 'पाइक' पाठ से असहमति व्यक्त करते हुए 'पायक' पाठ की संभावना व्यक्त करते हैं और उसे 'पावक' का अपभ्रंश मानते हैं। 'सरौं' को 'श्रव' का अपभ्रंश मानते हुए अर्थ करते हैं कि फहराकर पावक श्रव करता है (यथा - पावकमय ससि स्रवत न आगी) भाव यह कि आतशबाजी छूट रही है।[१५८] त्रिपाठी जी की बुद्धि ने व्यायाम तो खूब किया किंतु 'पायक' तो फुटकर प्रतियों का पाठ है जो नितांत अप्रामाणिक है। प्रोफेसर लाला भगवानदीन जी कहते हैं कि पूरब गोरखपुर आदि देशों में सरौं करना 'परिश्रम' कसरत या मेहनत करने के अर्थ में बोला जाता है। यह 'श्रम' का अपभ्रंश है। गदा का घुमाना, पटेबाजी आदि अनेक कसरतें जैसी नट पहलवान आदिक करते हैं। यह सब इस शब्द में सूचित कर दिये हैं। उनकी राय में 'जाइं' और 'फहराइं' पाठ ठीक है। 'फहराइं' का अर्थ है फरहरे हाथ, फुर्ती के साथ। अर्थात् पैदल चलनेवाले सिपाही फुर्ती के साथ पैंतरे से पैंतरा मिलाकर चलते हैं और चलने में थोड़ी-थोड़ी दूर पर रुककर कसरत दिखाते हैं।[१५९] किन्तु 'जाहिं' और 'फहराहिं' पाठ प्रायः सभी प्राचीन प्रतियों का है। ना०प्र० सभा और वंदन पाठक जी की प्रतियों में यही पाठ है। संत सिंह जी पंजाबी, करुणासिंधु जी और बैजनाथ जी के संस्करणों में 'जाइं' और 'फहराइं' पाठ अवश्य मिलता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसका अर्थ किया है पैदल सेना या सेवक लोग - प्रफुल्लचित्त से कसरत करते हैं।[१६०] विनायक-

----

१५६. रामा०, पृ० १७८

१५७. मानस, पृ० २८६

१५८. वि०टी०, प्र०भा०बाल०, पृ० ५०१

१५९. मा०पी०बा० खं० ३, पृ० ६८१

१६०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, पृ० १२७

राजजी के अनुसार- सेवकों के हाथों में सीधी झंडियाँ फहरा रही थीं ।[१६१] श्री ज्वालाविहारी के मत से - पैदल चलने वाले सेवकगण कलापट्टेबाज कसरत के खेल कर रहे हैं और फहरा रहे हैं ।[१६२] श्रीकांतशरण जी अर्थ करते हैं कि पायक (पैदल सिपाही) लोग तरह तरह के सरौं (श्रम या कसरत के खेल) दिखाते जाते हैं, उनके हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं ।[१६३] पोद्दार जी के अनुसार पैदल चलने वाले सेवकगण पटेबाज कसरत के खेल कर रहे हैं और फहरा रहे हैं (आकाश में ऊँचे उछलते जा रहे हैं) ।[१६४] बाबा हरिदास के अनुसार - सरौं करहिं-दण्ड करैं, खेल दिखाते वा कूदते हैं । पायक- कसरती कूदने वाले । फहराहीं- उड़ते हैं ।[१६५] रामेश्वर भट्ट के अनुसार- सेवक झंडियां फहराते हुए कूदते फांदते चले जाते हैं ।[१६६] गौड़ जी के मतानुसार- यहाँ दीप देहरी न्याय से इस प्रकार अन्वय करना चाहिए - "सरौं करहिं पायक, करहिं पायक फहराहीं" - पायक सरौं करहिं, करहिं पायक फहराहीं -पैदल सिपाही लोग तरह तरह के कसरत खेल दिखाते चलते हैं । हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं । सरौं का अर्थ कसरत खेल दिखाते चलते हैं । हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं । सरौं का अर्थ खेल है । इसका मूल रूप श्रम है परन्तु आजकल सरवरिया बोली में सरौं करना केवल दण्ड करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । बैठक आदि उसमें शामिल नहीं है । पायक- (१) पैदल चलनेवाला हरकारा या सिपाही । (२) पताका या फरहरा ।[१६७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि सरौं के लगभग ६ अर्थ और पायक फहराहीं के लगभग ११ अर्थ किये गये हैं —सरौं के ये अर्थ हैं —झंडियों में

----

१६१. रा०बाल०, पृ० २१८

१६२. वि०टी०, पृ० ३१८

१६३. मानस , सि०ति०, प्र०सं० , पृ० ७६२ ।

१६४. मानस, पृ० २८०

१६५. मा०पी०, बा०सं०,३, पृ० ६८१

१६६. मानस, पृ० ३०६

१६७. मा०पी०, बा० सं०, ३, पृ० ६८१ ,

पुं० (सं०) भुजपरि सर्प का एक प्रकार ।[१७४]

पूर्व प्रसंग को ध्यान में न रखने के कारण अनेक टीकाकारों ने अव्यवस्थित अर्थ किये हैं । जब कवि पूर्वकोलाहल का वर्णन कर चुका है और ऐसा कोलाहल जो मनुष्यों के शब्दों से सौगुना अधिक है - भयें कुलाहल हय गय गाजें - तो पुन: मनुष्यों के कोलाहल का वर्णन क्यों करेगा ? अत: यहाँ पर 'सब' का शब्द करता हुआ (शब्दायमान) अर्थ असंगत है । 'घंटि घंटि धुनि बरनि न जाहीं ।' अक्कर पुन: 'फणियों में लगे घुँघुरू बोलते हैं' यह अर्थ भी पुनरुक्ति दोषयुक्त एवं अनुपयुक्त है । 'सरोरीति' तो बाबा शंकरप्रसाद ही जानें । 'सब' का 'छड़ी' और 'सरुवों' के आकार मोरपंख बनाकर' अर्थ किसी कोश में नहीं मिलता । अत: यह भी काल्पनिक है । इसी प्रकार पायक फहराहीं के 'पायक' का अर्थ स्वयं गोस्वामी जी ने 'सेवक' किया है -- 'जाके अनुमान से पायक'[१७५] हिन्दी शब्दसागर आदि कोश 'पाइक' और 'पायक' सं० 'पादातिक' से व्युत्पन्न मानते हैं । अत: 'पाइक' का अर्थ 'पताका' नहीं हो सकता । एक तो 'पायक' का अर्थ पीलवान कहीं नहीं मिलता, दूसरे जब कवि 'भयेउ कुलाहल हय गय गाजें' कह चुका है तो पुन: 'हाथियों सूँडउठाकर चकारा लेते हैं अर्थात् फुत्कार छोड़ते हैं' क्यों कहेगा ? अत: यह भी अटकलपच्चू अर्थ है । वैसे 'दीन' जी ने 'फहराहे' पाठ माना है, जबकि प्राचीन और उनके प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का भी पाठ 'फहराहीं' है । गौड़ जी का 'पायिक लोगों के हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं' और दीन जी का 'पैदल चलने वाले सिपाही फरहरे हाथ अर्थात् फुर्ती के साथ-पैंतरे से पैंतरा मिलाकर चलते हैं' वाला अर्थ भी 'फहराहीं' से झोंक में उड़ा जा रहा है । इसके साथ विजयानंद त्रिपाठी का 'घोड़ धुंध' वाला अर्थ भी उड़ने की ही झोंक में है । आचार्य शुक्ल जी ने तो कदाचित हिन्दी शब्दसागर के निर्माण के पश्चात् 'फहराहीं' का अर्थ 'प्रफुल्लचित्त' सोचा ।

---

१७४. दे० पृ० ८८०

१७५. मानस ६।६३।३

दीन जी 'सर्व' को 'श्रम' का अपभ्रंश मानते हैं। किन्तु पाइअ सद्दमहण्णावो के अनुसार यह 'सर्व' से विकसित है। मल्लकारी, पटेबाजी, दंड, व्यायाम और कसरत में परस्पर अधिक अन्तर नहीं है किन्तु दौड़ने का अर्थ 'व्यायाम या कसरत' कदापि नहीं हो सकता। किसी कोश में 'सर्व' का अर्थ दौड़ना नहीं है। अतः यह भी अप्रामाणिक है। शुकदेव लाल जी, गौड़ जी और दीन जी आदि टीकाकारों ने 'सर्व' का अर्थ व्यायाम या कसरत किया है। तुलसी शब्दसागर भी इसी का समर्थन करता है। पाइअ सद्दमहण्णावो के अनुसार इसका अर्थ भुजपरिसर्प का एक प्रकार है जो अत्यधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। अर्थ निश्चय के प्रकरण साधन से 'सर्व करहि' का अर्थ होगा 'भुजाओं को घुमा (परिसर्पण कर) रहे हैं' भुजाओं के घुमाने में ही दण्ड, व्यायाम या कसरत का भी भाव आ जाता है।

कोशों में 'पाइक' का अर्थ 'पैदल चलने वाले सिपाही' दिया है। अधिकांश टीकाकारों ने भी 'पैदल चलने वाले सेवक गण' अर्थ किया है। अतः यहां पर पाइक का अर्थ 'पैदल चलने वाले सेवक गण' अर्थ किया है। अतः इसके आगे 'फहराहीं' शब्द है। संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में 'फहराना' का अर्थ है - 'कोई चीज इस प्रकार खुली छोड़ देना जिसमें वह हवा में हिलने और उड़ने लगे।'[१७६] अतः 'पाइक फहराहीं' का अर्थ होगा 'पैदल चलने वाले सेवकगण फहरा रहे हैं। गौड़ जी ने 'दीप देहरीन्याय' से अन्वय करके जो अर्थ किया है, वह संगत नहीं प्रतीत होता। अब प्रश्न है कि 'पैदल चलने वाले सेवकगण क्या फहरा रहे हैं? भारतीय आचार्यों ने अपूर्ण वाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के 'अध्याहार' (पूर्ति) से बताया है। अतः यहां 'पाइक फहराहीं' का अर्थ 'शब्दाध्याहार' अर्थ-विनिश्चय के साधन से होगा 'पैदल चलने वाले सेवक गण पताका फहरा रहे हैं। 'झंडा फहराना' अर्थ अधिकांश लोगों ने किया भी है। उक्त अर्धाली के उत्तरार्ध का अर्थ होगा -'पैदल चलने वाले सेवक गण भुजाओं को घुमा रहे हैं और पताका फहरा रहे हैं।'

---

१७६. सं० पृ० ६७४

'बगमेल'

हरषि परस्पर मिलन हित कछुक चले बगमेल ।
जनु आनन्द समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल ।।[१७७]

'बगमेल' के अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं । बीरकवि ने इसका अर्थ कुछ चले और नगिचा गये किया है ।[१७८] रामचरणदास के अनुसार -" तब हर्ष के नगारे दे परस्पर मिलन हेतु बगमेल कही हाथी घोड़े रथन की बागें दोउ दिशा ते छूटती भई ।[१७९] पंजाबीजी 'बगमेल करिके वाहन चलाय के आगे भये' अर्थ किया है ।[१८०] विनायकराव के अनुसार भेंट करने हेतु आगे बढ़े ।[१८१] हरिहरप्रसाद जी ने बागमिलाय चले[१८२] अयोध्याकारी-दास जी ने बाग ढीली कर छोड़ना, मिलाये हुए चले,[१८३] दीन जी ने बाग मिला-कर चाल मिलाये हुए धीरे-धीरे दोनों चले[१८४] और रामबक्स पाण्डेय ने बगमेल अर्थात् घोड़े की बाग ढीली कर छोड़ा',[१८५] ज्वालाप्रसाद जी[१८६] एवं श्रीकांतशरणजी ने[१८७] बागें ढीली करके उन्हें मिलाये हुए चल कर आ मिले अर्थ किया है । ग्राउस महोदय[१८८] गौड़ जी [१८९] तुलसीग्रन्थावली के संपादक [१९०] और बाबूश्यामसुन्दरदास जी ने [१९१] 'दोनों ओर से पाँतबांधे हुए सवार चले' अर्थ किया है । श्रीविजयानंद त्रिपाठी

---

१७७. मानस १।३०५   १७८ मानस, पृ० ३५८

१७९. रामा०, पृ० ४३२   १८०. मा०भा०,प्र०भा०, पृ० ३८९

१८१. वि०टी०, पृ० २२३   १८२. रा०परि०परिशिष्ट , पृ० पृ० २०७

१८३. मानस, पृ० ३२१   १८४. मा०पी०,बाल०खं० ३, पृ० ६६४

१८५. वही, पृ० ६६४   १८६. सं०टी०, पृ० ३४३

१८७. सि०ति०, प्र०खं०, पृ० ७९ ।

१८८. फार ए लिटिल दे ज्वाइन्ड बिअर रेंक्स ऐंड मार्च्ड अन दि आर ज्वाय एज वन बाडी फार द सेक आव् कम्पनी, लाइक टू ओसेन्स आव् ब्लिस दैट हैव बर्स्ट दि आर बान्ड्स ऐंड कम टू गेदर ० ।

रामायन आव तुलसीदास, पृ० १४७

१८९. मा०पी०बा०खं० ३, पृ० ६६४   १९०. प्र०खं०,अ०भा०वि०प०वि०, पृ० २९८

१९१. राम०, पृ० २९२

ने भी दीन जी की तरह बाग मिलाये हुये मिलने के लिए आगे बढ़े अर्थ किया है।[१६२] बैजनाथ जी ने बागें मिलाए जानि अथवा वेग ते चलें अर्थ किया है।[१६३] पोद्दार जी[१६४] श्री स्वामी प्रज्ञानंद सरस्वती[१६५] और रामनरेश त्रिपाठी[१६६] जी ने वेग से दौड़कर (बेतहाशा) अर्थ किया है। मानसपीयूषकार ने बागों को ढीली किये और मिलाये हुए दौड़कर चलें अर्थ किया है।[१६७]

इस प्रकार 'बगमेल' के अत्यन्त निकट, हाथी घोड़े की बागें दोनों ओर छूटीं, वाहन चलाकर, बाग मिलाकर, बाग ढीली कर या छोड़कर पंक्ति बांधे हुए सवार और वेग से लगभग ७ अर्थ टीकाकारों ने किये हैं।

हिन्दी शब्द सागर में बगमेल का अर्थ इस प्रकार किया गया है —
बगमेल १ - संज्ञापुं० (हि०बाग + मेल) दूसरे घोड़े के साथ बाग मिलाकर चलना। पंक्ति बंधकर चलना। बराबर - बराबर चलना। उदा० - जो गज मेलि हौंद संग लागे। तो बगमेल करहु संग लागे। जायसी। २. बराबरी समानता। तुलना। उदा० भूधर भनत ताकी बास पाय सोर करि कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेल में। भूधर।
बगमेल[२] - क्रि०वि० पंक्ति बद्ध। बाग मिलाये हुए। साथ-साथ। उदाहरणस्वरूप उक्त दोहे को ही प्रस्तुत किया गया है।[१६८]

तुलसी-शब्दसागर में इसका अर्थ है -- (सं० वल्गा + मेल) १. बाग मिलाकर या घोड़े की बाग ढीली करके। २. एक पंक्ति बनाकर ३. एक साथ धावा करना।[१६६]

'बगमेल' अनेकार्थी शब्द है। इसका अर्थ प्रकरण से करना चाहिए। 'हाथी घोड़े की बागें दोनों ओर से छूटीं' इस अर्थ में हाथी के बागों का प्रमाण कहीं नहीं

---

१६२. वि०टी०, पृ० भा० बाल०, पृ० ५०६ ।
१६३. रामा०,बा०, पृ० ६५०
१६४. मानस०, पृ० २८२
१६५. मानस, पृ० २८२
१६६. मानस, पृ० ३३१
१६७. मा०पी०बा० खंड ३, पृष्ठ ६६३ दे०पृ० ३३४७ (१६८)
१६६. दे० पृ० ३२२
२००. मानस ३।१८।०

मिलता । इसी प्रकार 'बाहन बलाकर' अर्थ भी किसी कोशादि में नहीं प्राप्त होता । अतः उक्त दोनों अर्थ अप्रामाणिक हैं । गोस्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है -

> आइ गए 'बगमेल' धरहु धरहु धावत सुभट ।
> जथा बिलोकि अकेल बाल रबिहि घेरत दनुज ।।[200]

पं० महावीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि' जी का 'नगिचा' (अत्यंत निकट, बिल्कुल समीप) वाला अर्थ यहाँ उपयुक्त बैठता है । क्योंकि सोरठे के दूसरे पंक्ति में उत्प्रेक्षा की गई कि जैसे बाल सूर्य को अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं अर्थात् चारों ओर से समीप में आ जाते हैं ।

अन्यत्र इसका प्रयोग है -

> बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल ।
> सहित बिपिन मधुकर खग मदनकीन्ह 'बगमेल' ।।[201]

यहाँ 'मदन कीन्ह बगमेल' में लगाम छोड़कर बेतहाशा दौड़ते हुए ले जाने वाले अर्थ संगति है अतः बैजनाथ जी, पोद्दार जी और रामनरेश त्रिपाठी जी के 'बेतहाशा' (वेग से) अर्थ का औचित्य यहाँ पर है । तुलसीशब्द सागर का 'एक साथ धावा करने के अर्थ की भी यहाँ संगति है । 'बगमेल' का 'बागछोड़ने' का अर्थ वहाँ पर होगा जहाँ इसका प्रयोग चढ़ाई या दौड़ने के साथ हुआ हो ।

कवितावली में भी इसका प्रयोग है -

> भूर कैकोल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं ।[202]

ग्राउस महोदय, गौड़ जी और बाबू श्यामसुन्दरदास जी आदि टीकाकारों की पंक्ति बाँधे हुए अर्थ की संगति यहाँ पर है । कोशों में भी बगमेल का एक अर्थ 'पंक्ति बनाकर'

---

२००. मा० ३।१८।०

२०१. मानस ३।३७

२०२ कविता० ६।३३ ।

दिया है ।

'बगमेल' का शाब्दिक अर्थ बाग मिलाए हुए है । उपर्युक्त व्याख्येय दोहे के 'बगमेल' शब्द का अर्थ न तो निकटता सूचक है और न धावा करने एवं वेगधारा (वेग से) के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यहां चढ़ाई या आक्रमण का प्रसंग नहीं है । 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहां 'बगमेल' शब्द का अर्थ है 'बागों को मिलाए हुये ।' पीयूषकार ने 'बागों को ढीली किये और 'मिलाए हुए दोनों अर्थ किये हैं । तुलसी शब्दसागर में दोनों अर्थों को एक ही माना है । अत: या तो 'बागों को ढीली किये अर्थ होगा या बागों को मिलाए हुए । 'बागों को मिलाये हुए ही यहां युक्तिसंगत लगता है । हिन्दी शब्दसागर में भी यही अर्थ दिया हुआ है । इस प्रकार उक्त दोहे का अर्थ होगा - ' प्रसन्न होकर परस्पर मिलने के हेतु दोनों ओर से कुछ कुछ लोग बागों को मिलाये हुए दौड़कर ऐसे चले मानों आनंद के दो समुद्र मर्यादा छोड़कर मिल रहे हों ।'

'<u>मांजहि</u>' (मांजा)

नयन सजल तन थर थर कांपी । मांजहि खाइ मीन जनु मांपी ।।[203]

इस अर्धाली के 'मांजहि' का अर्थ अनेक प्रकार से करते हैं । श्री शंकर प्रसाद जी के अनुसार 'नवीन पावस के जल परे ते कहूं कहूं माजा नाम एक रोग होत है वा सेहुड़ आदि डारे ते जल में जो फेन उत्पन्न होत है ताको माजा कहत है ।'[204] पंजाबी जी के मत से - 'माजा नाम गुड़ी (वंसी जिसमें चारा गुथ कर जल में गिराते हैं) है मापी नाम तड़फने का है अथवा माजा नाम पावस के नवीन जल का भी है अथवा थोहर को काटकर जल मों पाय देते हैं उस कर भी मीन तड़फते हैं उसका नाम भी माजा है ।'[205] ज्वालाप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि - 'वर्षा के नवीन जल से जो फेन होता है उसका मांजा कहते है अथवा मछली पकड़ने के कांटे को भी

---

२०३. मानस २।५४।४

२०४ रा०परि०परिशिष्ट, पृ०, पृ० ३३

२०५. मा०भा०, पृ०भा०कं सिंह, पृ० ६७

फेना कहते हैं ।[२०६] श्वधविहारीदास जी कहते हैं कि - जब पहाड़ों का सड़ा हुआ जल (माजा) नदियों में आता है और उसे मछलियाँ खा लेती हैं तो व्याकुल हो जाती हैं ।[२०७] बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार- "मांजा एक तरह का रोग है जो अक्सर बरसात के प्रारम्भ में मछलियों को होता है । उससे मछलियाँ तड़पती और मर जाती हैं ।[२०८] विजयानन्द त्रिपाठी के शब्दों में -"पहले पानी बरसने से जो गाज नदी में उत्पन्न होता है, उसे खाकर मछली बड़ी विकल हो जाती है ।[२०९] एक वैद्यराज जी मांजा को एक औषधि बताते हैं -" एक मांफ नाम की औषधि होती है । इसे कुचलकर पानी में डाल दीजिए पानी काला हो जायगा । मछलियाँ और जल के छोटे जंतु मरकर ऊपर उतरा जाएँगे । इसके बाद दो चार दिन में जल निर्दोष और स्वच्छ हो जायगा जैसा कि परमेंगनेट आव पोटाश डालने से होता है ।"[२१०] श्रीरामचरणदास[२११] शुकदेवलाल जी,[२१२] श्रीकांतशरणजी[२१३] और पोद्दार जी[२१४] आदि टीकाकारों ने प्रथम वर्षा के जल के फेन को मांजा कहा है ।

इस प्रकार टीकाकारों के अनुसार "मांजहि" के लगभग ८ अर्थ हैं :-
माजा नामक रोग जो बरसात के प्रारंभ में मछलियों को होता है, एक मांफ नाम की औषधि, पानी में सेहुँड़ आदि के रहने से निकला हुआ फेन, बंसी जिसमें चारा गुँथ कर जल में गिराते हैं, सिंदुर आदि के डालने से जल में जो फेन होता है, पहाड़ों का सड़ा हुआ जल, पहले पानी बरसने से जो गाज नदी में उत्पन्न होता है

----

२०६. सं०टी०, ज्वालाप्र०पृ० ६६
२०७. मानस, पृ० ४३४
२०८ वही, पृ० ४००
२०९. वि०टी०, श्री०, पृ० ८३
२१०. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७१-७२ ।
२११. रामा०, पृ० ५५१
२१२. रामा०, पृ० २६
२१३. सि०ति०, पृ० १०१३
२१४. मानस, पृ० ३७८

और प्रथम वर्षा के जल का फेन ।

हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ इसप्रकार है - संज्ञा पु०, पहली वर्षा का फेन जो मछलियों के लिए मादक होता है ।[२१५] तुलसी शब्दसागर के अनुसार यह एक प्रकार का रोग है जो जलचरों को बरसाती पानी पीने से होता है ।[२१६]

'मांजा' देशज शब्द है । तुलसी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित बतायी गयी है । पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मांजा' शब्द के [illegible] का अनुमान 'मज्ज' से करते हैं ।[२१७] बाबू श्यामसुन्दरदास जी [illegible] शंकरप्रसाद के अर्थ को ग्रहण कर 'मांजा' को रोग कहते हैं, किंतु रोग कहीं आया नहीं जाता । व्याख्येय शब्द है 'मांजहि खाई' । अत: यह अर्थ अनुपयुक्त है । 'मांजा' शब्द का अर्थ [illegible] रोग लिया जा सकता है तो उसको दूर करने के लिए औषधि भी चाहिए । अत: एक वैद्यराज जी इसको एक औषधि कहते हैं । एतदर्थ समस्त नदियों, तालाबों आदि के तट पर मात्र मांफ औषधि ही होनी चाहिए क्योंकि इसके बहुतायत से ही मछलियों का स्वास्थ्य [illegible] हो सकता है । किंतु जहाँ पर यह नहीं होती वहाँ के छोटे जल जंतु क्या मर जाते हैं । अत: यह अर्थ भी उचित नहीं है । इसीप्रकार केंचुए आदि के सड़ने से निकला हुआ फेन और सिंदूर आदि के डालने से जल में जो फेन होता है ये अर्थ भी काल्पनिक और आश्चर्यजनक हैं । 'मांजा' का तात्पर्य पहाड़ों का सड़ा हुआ जल' भी असंभव है, क्योंकि तालाबों में वे जल कैसे पहुँच जाते हैं वहाँ पर भी तो जल जंतु व्याकुल और मृत देखे गये हैं ।

इसका अर्थ 'बंसी' भी नहीं हो सकता क्योंकि मछलियों के मुख में उसके फंसने से वे मतवाली नहीं होती । उक्त अर्धाली में 'मापी' शब्द आया है ऐसा अर्थ करने पर वह निरर्थक हो जाता है ।

विजयानन्द त्रिपाठी जी का 'पहिले पानी बरसने से उत्पन्न गाज' का तात्पर्य संभवत: मछलियों के ध्वंस होने से है । यदि ऐसा नहीं है तो यह अर्थ भी असंगत है क्योंकि गाज शब्द का अर्थ वज्रपात ध्वनि, बिजली, और वज्र आदि से है । नदी में 'गाज' (वज्रपात ध्वनि, वज्र) उत्पन्न होता है, यह संदिग्ध अर्थ है । यहाँ

---

२१५. दे०पृ० ३८७०

२१६. दे०पृ० ३८४

२१७. पादटिप्पणी, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७१-७२ ।

पर 'माँजा' का अर्थ होगा 'प्रथम वर्षा के जल का फेन'। हिन्दी शब्दसागर में यही अर्थ दिया हुआ है। अधिकांश टीकाकारों ने भी यही अर्थ किया है। 'युक्ति-संगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक एवं तर्कसंगत है। स्वयं गोस्वामी जी ने उक्त अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है —

ब्याकुल बिकल मोह मन मापा। 'माँजा' मनहुँ मीन कहुँ व्यापा ।।[218]

संकर-सहर सर, नरनारि बारिचर,

बिकल सकल महामारी माँजा भई है। [219]

उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है —

'नेत्रों में आँसू भर आया है, देह पर थर थर काँपने लगी। मानो मछली प्रथम वर्षा के जल के फेन को खाकर मादकता को प्राप्त हो गयी है।'

'<u>ऐक</u>'

इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोगु बनावै लागा ।।
कीन्ह बहुत श्रम 'ऐक' न आए। तेहि इरिषा बन आनि दुराए ।।[220]

प्रस्तुत चौपाई का विवादास्पद शब्द 'ऐक' है। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार - 'एक कहे अंदाजा में न आए तेहि ईर्षा ते बन में आनि दुराय वा एक कहे एकता अर्थात् तादृश एक भी न आए वा यहाँ एक के अर्थ में है अर्थात् जोड़ी के सम बनने को कहे एक भी न बने वा समस्त शरीर सम बनने को कहे एक अंग भी न बनो वा जेतने बनाए तिनमें एक भी समता लायक न बना।'[221] श्रीरामचरण दास ने पाठ-परिवर्तन करके अर्थ किया है - 'तहाँ एक कही अनेक उपाय करि हार्यो नहीं बन्यो तब त्यहि ईर्षा ते बन को पठावत भयो है।'[222] श्री अवधविहारीदास ने अपने

---

२१८. मानस २।५२।६

२१९. कविता० ७।१७६

२२०. मानस २।११९।५-६

२२१. रा०परि०परिशिष्ट प्र०, पृ० ७०-७१

२२२. करि अनुमान एक नहिं आवा। त्यहिकारण बन आनि दुरावा ।।
रामा०, पृ० ६०६।

अर्थ में उक्त शब्द को ही नहीं आने दिया - "बहुत परिश्रम किया पर नहीं बन पाया।"[२२३] तुलसीग्रन्थावली के सं० ने एक पाठ मानकर अर्थ किया है -- पर बहुत परिश्रम करने पर भी जब वह एक भी ऐसा न बना पाया, तो इसी डाह के मारे उसने इन्हें वन में ला छिपाया।[२२४] शुकदेव लाल ने 'एक' पाठ मानकर अर्थ किया है - अपना सा बहुतेरा श्रम किया एक भी न बना।[२२५] श्री रामेश्वर भट्ट के अनुसार -" पर जब बहुत मेहनत करने पर भी इनका सा न बना होगा।[२२६] विनायकराव के मत से अब एक भी ऐसा न बना सका।"[२२७] ग्राउस महोदय ने अर्थ किया है कि कोई बस नहीं आयी।"[२२८] रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'समता' अर्थ करते हुए लिखा है कि जब बहुत सा परिश्रम करने पर भी समता न आई।[२२९] दीन जी के अनुसार -"ऐक नहीं आए" - ढाँचा न बन सका, साका न खिंचा।[२३०] बाबूश्यामसुन्दरदास ने भी 'समता न आई' - अर्थ किया है।[२३१] श्रीकान्तशरण जी ने ऐक्य-समानता, सादृश, या अन्दाजा' अर्थ किया है।[२३२] मानस पीयूषकार ने 'अक' पाठ मानकर अर्थ किया है कि बहुत परिश्रम किया पर अटकल ही में न आया कि कैसे बनावें।[२३३] विजयानंद त्रिपाठी जी ने भी 'कोई अन्दाजा नहीं लगा' अर्थ किया है।[२३४] पोद्दार जी ने पाठ 'ऐक' माना है और अर्थ किया है कि कोई उसकी अटकल में नहीं आये, पूरे नहीं उतरे।[२३५] वीरकवि जी ने 'अक न आये' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है 'अटकल' नहीं आया।[२३६] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसका

----

२२३. मानस, पृ० ४६७

२२४. प्र०सं०, आ०भा०वि०परि०काशी, पृ०४६४

२२५. रा०ना०, पृ० ६४

२२६. मानस, पृ० ४८८

२२७. वि०टी०, पृ० ७७

२२८. ह्वेन ही सा देम, गाड वाज सो प्लीज्ड दैट ही एसेड टू मेक दिअर मेच, बट आफ्टर मच लेबर, नो थिन्ग केम आव् इट, एंड दस इन स्पाइट ही केम सेंट एंड बरीड देम इन द वुड्स' रामायन, आव तुलसीदास, पृ० २३५

२२९. मानस, पृ० ५२०

२३० मा०अयो० , पृ० ४६२

२३१. मानस , पृ० ४५८

२३२. मानस०सि०ति०, द्वि०सं०, पृ० ११३६।

२३३. मा०पी०, अयो०, पृ० ४६२

२३४. वि०टी०, अयो०, पृ० १७४

२३५. मानस, पृ० ४२६-३०

२३६. वही, पृ० ५७६

अर्थ अंदाजन लगाया किया है।[२३७]

उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अब तक टीकाकारों ने 'अक-ऐक' के लगभग ५ अर्थ किये हैं - समानता या सादृश्य, अनेकोंउपाय करके हार गया, एक भी ऐसा न बन पाया, ढाँचा न बन सका, खाका न खिंचा और अटकल या अन्दाजा ।

'अक-ऐक' शब्द का अर्थ उमें अवधी आदि किसी कोश में नहीं प्राप्त हुआ । श्रीरामचरणदास ने करि अनुमान एक नाहिं आवा । क्योंकि कारण बन आनि दुरावा' पाठ स्वीकार किया है । किन्तु लगभग सभी प्राचीन प्रतियों एवं अब तक के प्रकाशित सभी संस्करणों में 'आए एवं दुराए' तुकांत युक्त पाठ ही दृष्टिगोचर हुए हैं । श्रीरामचरणदास का पाठ मान लेने पर भी 'एक' की समस्या का निदान नहीं हो पाता । फिर 'एक' का 'अनेक उपाय करके हारना' अर्थ भी हास्यास्पद है । 'एक' का 'एक भी ऐसा न बन पाया' अर्थ स्वीकार करने पर 'कीन्ह बहुल श्रम एक न आवा' पाठ होना चाहिए ,क्योंकि 'एक' एक वचन है इसलिए 'आए' बहुवचन क्रिया उसके साथ असंगत है । 'आवा' पाठ भी असंभव है क्योंकि 'दुराए' का तुक 'आवा' नहीं हो सकता । 'आवा' के लिए 'दुरावा' भी नहीं होसकता ,क्योंकि वह क्रिया बहुवचन कर्म से संबद्ध है । अत: 'एक' का यह अर्थ अनुपयुक्त है । 'ऐक' पाठ मानकर उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने 'साम्य' अर्थ किया है । उनके विचार से 'ऐक' 'ऐक्य' का अपभ्रंश है । 'ऐक्य' से 'ऐक' की व्युत्पत्ति मुझे कहीं प्राप्त नहीं हुई । फिर 'ऐक्य' एक वचन के साथ 'आए' बहुवचन की क्रिया कैसे लग सकती है । 'दीन जी का' ढाँचा न बन सका, खाका न खिंचा' वाला अर्थ अटकल या अंदाज में ही समाविष्ट हो जाता है । यहाँ पर 'एक' पाठ स्वीकार करके साधु अर्थ नहीं लग सकता । वीरकवि जी ने 'अक' और मानस पीयूषकार तथा काशिराज संस्करण के सम्पादक ने 'अक' पाठ माने हैं जो 'ऐक' या अवधी प्रकृति के अनुसार 'अक' या 'अक' ठेठ प्रयोग हैं । पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'अक' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अंकन' से है, ऐसा अनुमान करते हैं ।[२३८] उनके अनुसार 'इस अंगूठी की कीमत 'आंकों' ऐसा कहा जाता है । यहाँ युक्ति संगतता' नामक अर्थ निश्चय के

२३७गोसाईं तुलसीदास,पृ० १७५

२३८, गोसाईं तुलसीदास, पाठटिप्पणी, पृ० १७३-७५

~~अक~~ साधन से 'अक' का अर्थ अंदाज, अटकल या थाह लगाना है। मानसपीयूषकार पं० विजयानन्दप्रसाद मिश्र, विजयानन्द त्रिपाठी जी, पोद्दार जी और बीर कविजी आदि विद्वानों ने उक्त अर्थ को ही स्वीकार किया है। बाबा हरिहरप्रसाद ने भी अनेक अर्थों में 'अंदाज' भी एक अर्थ स्वीकार किया है। दीन जी के अनुसार कहाँ कितना पानी है, किधर से नाव ले जाना चाहिए, इस प्रकार के अंदाज लगाने की चेष्टा केवट लोग 'अकना' कहते हैं।[239] गोस्वामी जी ने इसी अकना का प्रयोग एक स्थान पर और किया है —

'केवट बुध विद्या नहि नावा। सकहि न सेद अक नहि पावा।।[240]

इस 'अक' के स्थान पर भी टीकाकारों ने 'एक' रखकर ऊटपटांग अनेक अर्थ किये हैं। राजापुर की प्रति में 'अक' पाठ है।[241] पाठान्तर — 'टेक' भी मिलता है। यहाँ पर भी 'अक' का अर्थ है — अंदाज न लगाते बना। राम-लक्ष्मण और सीता की तरह का ढाँचा न बन सका। उक्त व्याख्या के शब्द सहित पूरी चौपाई का अर्थ इस प्रकार होगा —

'इन्हें देखकर (इनके सौंदर्य को देखकर) ब्रह्मा का मन आकृष्ट हुआ। तब इनकी समता के योग्य (इनके सदृश) बनाने लगा। ब्रह्मा ने बहुत परिश्रम किया पर अंदाज (अटकल) ही में न आया कि कैसे बनावें। अर्थात् राम लक्ष्मण और सीता की समता के योग्य बनाना तो दूर रहा, अंदाज ही न लगा सके। इसी ईर्ष्या के फलस्वरूप इनको वन में लाकर छिपा दिया।'

खेलवार :—

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार।।[242]

उक्त दोहे के 'खेलवार' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। श्रीरामचरणदास के अनुसार 'खेलवार' कहो पक्षिन को अभ्यावने वाला।[243] ग्राउस

---

239. मा०पी०। अयो०, पृ० ६७१

240. मानस, २।२७५।४

241 मा०पी०, अयो०, पृ० ६७१

~~२४२. गोसाईं तुलसीदास, मातादि०, पृ० २७३-७५~~ 243. रामा०, पृ० ६६६

242 - मानस 2।214

महोदय[२४४] रामनरेश त्रिपाठी जी[२४५] रामेश्वर भट्ट[२४६] विनायकराव,[२४७] ज्वालाप्रसाद जी[२४८] और बाबू श्यामसुन्दरदास[२४९] आदि टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'बहेलिया' किया है। हरिहरप्रसाद जी,[२५०] पंजाबी जी[२५१] शुकदेव लाल जी और श्रीकांतशरण जी[२५३] आदि टीकाकारों ने 'खेलाड़ी' अर्थ किया है। पोद्दार जी[२५४], विजयानंद त्रिपाठी जी[२५५] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[२५६] मानस पीयूषकार[२५७] और श्री अधिकारीदास[२५८] आदि टीकाकारों ने 'खेलवाड़' अर्थ किया है। वीर कवि जी ने दोनों अर्थों को मिलाकर अर्थ किया है कि मुनि की आज्ञा खेलवाड़ करने वाला बहेलिया है।[२५९]

इस प्रकार 'खेलवार' के टीकाकारों ने दो अर्थ किये हैं - 'बहेलिया' और खेलवाड़। मानक हिन्दी कोश[२६०] और तुलसी शब्दसागर[२६१] में उक्त दोनों अर्थ दिए हुए हैं।

'खेलवार' प्रासंगिक शब्द है। यहाँ 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से इसका अर्थ 'बहेलिया' है। प्रकरण है 'सम्पत्ति' रूपी चकवी और भरत रूपी चकवा को आश्रम रूपी पिंजड़े में बंद करने का। प्रायः बहेलिया (शिकारी) ही पक्षियों को पकड़ कर पिंजड़े में बंद करके अपना व्यवसाय करता है। इसीलिए कवि ने मुनि की

---

२४४. ऐ फुलुअन्स, लाइक द चकवी, एंड भरत एज हर मेट, बाइ कम्पलशन आव द सेंट्स आर्डर, विअर प्रिंजड टुगेदर दैट नाइट, एज बाई ए 'फाउलर', इन द केज आव द हर्मिटेज टिल डाउन ब्रोक - द रामायन आव् तुलसीदास, पृ० २७७

२४५. मानस, पृ० ६१४

२४६. मानस, पृ० ५७७

२४७. वि०टी०, पृ० ३२०

२४८. सं०टी०, पृ० ५६१

२४९. मानस, पृ० ५४१

२५०. रामा०, परि०परिशिष्ट, प्र०, पृ० १२२

२५१. मा०भा०, प्र०भा०, पृ० २४८

२५२ रामा०, पृ० ११३

२५३. मानस सि०ति०, द्वि०सं०, पृ० १३०२

२५४. मानस, पृ० ५०४

२५५. वि०टी०अयो०, पृ० ३१०

२५६. प्र०सं०, अ०भा०वि०परि०काशी, पृ०५४५

२५७. मा०पी०अयो०, पृ० ७७१

२५८. मानस०पृ० ५८३

२५९. वही, पृ० ६८१

२६०. दे०पृ० ४४

२६१. दे०पृ० ११२

आज्ञा (निमंत्रण) को बहेलिया कहा है। यहाँ 'बहेलिया' अर्थ लेने से ही सम-अभेद रूपक की पुष्टि भी होती है। स्वयं गोस्वामी जी ने भी उक्त शब्द का प्रयोग 'बहेलिया' के अर्थ में किया है --

मानो रैलवार' सोली सीसताज ताज की।[२५२] ग्राउस महोदय, रामनरेश त्रिपाठी और बाबू श्यामसुंदरदास आदि अनेक विद्वानों ने भी इसका अर्थ बहेलिया ही किया है। अत: उक्त दोहे का इस प्रकार अर्थ करना चाहिए --

'सम्पत्ति चकवी है। भरत जी चकवा हैं। मुनि की आज्ञा (निमंत्रण) बहेलिया है जिसने उस रात को आश्रम रूपी पिंजड़े में दोनों को बंदकर रखा। उसी स्थिति में प्रात:काल हो गया।'

ओड़िअहिं --

ओड़िअहिं कुठायँ सुबंधु सहायें। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें।।[२६३]

प्रस्तुत शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में कुछ भी मतभेद नहीं है। प्राय: सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ- 'वज्र की चोट (वार) हाथ ही अपने ऊपर लेता है या पसारा जाता है अथवा वज्र के आघात भी हाथ से ही रोके जाते हैं' किया है। किन्तु आधुनिक शिक्षाप्राप्त पाठकों की पैठ उक्त शब्द में सब: नहीं हो सकती। 'ओड़ना' लोकभाषा का शब्द है। गोस्वामी जी ने लोक शब्दों का प्रयोग अपने साहित्य में विपुल मात्रा में किया है। यही कारण है कि आज उनका साहित्य इतना लोकप्रिय हो गया है। इस शब्द का प्रयोग केवल काव्यों में प्राप्त होता है। यह प्रान्तिक शब्द है। हिन्दी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति सं० ओणन से बतायी गयी है।[२६४] ओड़ धातु रोकना के अर्थ में प्रचलित है। इससे ओड़न भाववाचक

---

२६२. कविता० ६।३०

२६३. मानस० २।३०५।८

२६४. हि०श० ३६७

क्रियार्थक संज्ञा बनाई गयी है। कर्मवाच्य की तिङ्० बहुवचनीय क्रिया 'ओड़िआहि' का अर्थ है - रोके जाते हैं। 'ओड़न' शब्द का अर्थ है रोकने वाला साधन अर्थात् वह साधन जिससे तलवार का वार रोका जाता है - ढाल फरी। इस अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र किया है -

एक कुसल अति ओड़न खाँड़े।[२६५] जायसी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है -' सरजै धरि ओड़न पर लीन्हा ॥'[२६६]

ओड़िअत और ओड़िये शब्द का प्रयोग भी गोस्वामी जी ने किया है -

पलक पानि पर 'ओड़िअत' समुझि कुघाइ सुघाइ ॥[२६७]

यहाँ पर इसका अर्थ है ओढ़ते हैं, रोकते हैं। ओड़िये-फैलाइये, पसारिए का प्रयोग कवितावली में किया है -

तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िये ? ॥[२६८]

उक्त 'ओड़िआहिं' शब्द में जितनी अर्थाभिव्यंजना है, वह 'रोके जाते हैं' 'पसारे जाते हैं' आदि समानार्थी शब्दों में नहीं है। गोस्वामी जी ने तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ साथ विशिष्ट विशिष्ट स्थलों पर लोक भाषा के सजीव शब्दों को नगीने की भाँति जड़ दिया है, जिसमें अभिमत अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य तो है ही, साथ ही उनके स्थान पर समानार्थी शब्दों के रख देने से वैसी भाव संवहन की शक्ति नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ- मानस के पंचम सोपान के ३१ वें दोहे की ७ वीं और ८वीं अर्धाली है -

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहि सरीरा ॥

नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी ॥

यहाँ पर शब्दों के प्रयोग की कला का सौंदर्य दर्शनीय है। यहाँ तनु, शरीर और देह तीनों का अर्थ एक होते हुए भी धात्वर्थ भिन्न-भिन्न हैं। तूलकीकोमलता के लिये

----

२६५. मानस २।१९०।६

२६६. पद्मावत ३३६।७

२६७. दोहा० ३२५

२६८. कविता० ७।२५

तनु (तन+उ) शब्द का प्रयोग करते हैं है क्योंकि वह सुकुमारता का बोधक है। क्षण के लिए प्रतिक्षण क्षय होने वाले 'शरीर' (शृ+ईरन) और जल से सींचे जाते रहने के कारण उत्पन्न हुई स्थूलता और पुष्टता के लिए 'देह' (दिह+घञ्) शब्द का प्रयोग है। शब्दों के किंचित परिवर्तन से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

डा० छोटेलाल दीक्षित के शब्दों में --

'ओहिअहिं' - क्रिया पद का अर्थ सहना या अपने ऊपर ले लेना है। अर्थ साधारण है पर संदर्भ के अनुरूप सटीक प्रयोग होने से इसमें अपूर्व चमत्कार और अर्थगर्भिता आ गई है। इस क्रिया पद में भाव-संवहन और चित्रांकन दोनों की क्षमता है। 'ओहिअहिं' पद से एक ओर बाणों का मर्म वेधक हो रहा है तो दूसरी ओर किसी भी प्रकार के प्रहारक अस्त्र शस्त्र के सामने शरीर के अन्य अंगों के रक्षार्थ स्वयं पसर जाने का व्यापार मूर्त बन रहा है।"[२६९]

कुराईं

"कुस कंटक काकरीं कुराईं।"[२७०]

उक्त अर्धाली के 'कुराईं' शब्द के अर्थ में मतभेद है। शुकदेव लाल जी इसका अर्थ विलकट्[२७१] विनायकराव जी कट सरैया,[२७२] रामनरेश त्रिपाठी जी कुरैया[२७३] ज्वालाप्रसादजी कांदार[२७४] श्रीकांत शरण जी गढ़े आदि से कुराह[२७५] और वीरकवि जी कुराह[२७६]

----

२६९. तुलसी का सौंदर्य बोध, पृ० १४० ।

२७०. मानस २।३१०।५

२७१. रामा०, पृ० १६१

२७२. वि० टी०, अयो०, पृ० ४५६

२७३. मानस, पृ० ७११

२७४. सं० टी०, पृ० ६६

२७५. मानस, सि०ति०, द्वि०खं०, पृ० १४८०

२७६. मानस, पृ० ७८९ ।

अर्थ करते हैं। श्री विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार रास्ते के छोटे गड्ढे जिसके चारों ओर घास पास जम जाते हैं, उसे कुराई कहते हैं।[२७७] श्री हरिहरप्रसाद[२७८] रामचरणदास[२७९] और मानसपीयूषकार[२८०] आदि टीकाकारों ने गड्ढे अर्थ किया है। पोद्दार जी ने दरारें अर्थ किया है।[२८१]

इस शब्द का प्रयोग केवल काव्य में हुआ है। 'विकट्ठ' शब्द का प्रयोग मुझे कहीं नहीं मिला। कोशों से भी इसका अर्थ ज्ञात न हो सका। 'कटसरैया' अड़ूसे की तरह का एक काँटेदार पौधा होता है।[२८२] किंतु कटसरैया से 'कुराई' शब्द का बनना असंभव सा लगता है। कुरैया (सं० कुटज) सुन्दर फूलों वाला जंगली पेड़ है जिसके बीज 'इन्द्रजौ' कहलाते हैं।[२८३] कुरैया से 'कुराई' बनना बहुत असंभव नहीं है किन्तु कवि मार्ग के छोटे-छोटे कष्टदायक अवरोधों का वर्णन कर रहा है। जैसे कुस, काँटा और कंकड़िया आदि। अतः यहाँ कुटज के अर्थ में 'कुराई' संगत नहीं लगता तब तक जबतक कि वह भी मार्गावरोधक सिद्ध न हो जाय। इसकी व्युत्पत्ति सं० कु० और फा० 'राह' से हुई है। नदी के किनारे की मटियार भूमि में जो धूप से फट जाती है और पशुओं आदि के खुरों से जो गड्ढे हो जाते हैं उन्हें 'कुराई' कहते हैं। ऐसे स्थलों पर चलना बहुत ही कष्टदायक होता है। पोद्दार जी ने भी कुराई का अर्थ दरारें किया है। ज्वालाप्रसाद जी के 'खोरदार' का भी भाव इसमें आ जाता है। उपर्युक्त अनेक टीकाकारों ने भी इसका अर्थ गड्ढे किया है। हिन्दी शब्दसागर में भी यही अर्थ दिया हुआ है।[२८४] गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका

---

२७७. वि०टी०, वि०भाग, पृ० ४५१

२७८. रा०च०रि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० १७९

२७९. रा०, पृ० ७९२

२८०. मा०पी०, अयो०, पृ० १०८२

२८१. मानस, पृ० ५८१

२८२. सं०हि० शब्द, पृ० १५६

२८३. वही, पृ० २१२

२८४. दे०पृ० ५९९

में भी इसका प्रयोग किया है किन्तु वहाँ शुद्ध घास का ही रूप प्रतीत होता है। क्योंकि इसके साथ आये हुए अन्य शब्द वैसा ही अर्थ देते हैं। इसप्रकार कुराई का अर्थ सर्वथा निश्चित नहीं कहा जा सकता। यदि दोनों स्थलों को एकसाथ देखा जाय तो घास वाला अर्थ अधिक संभाव्य दिखाई देता है।

काटिकुराय लपेटन लोटन ठावहिं.... ।

यहाँ पर भी लोगों ने 'कुराय' का अर्थ 'कुराई' आदि कई तरह से किये हैं। किन्तु 'कुराय' या 'कुराई' का अर्थ मात्र 'कुराई' करना उचित नहीं है।

'धारि'

रामकृपा अवरेब सुधारी ।
बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी ।।[२८५]

'धारि' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किया है। पंजाबी जी के अनुसार 'धारि' कहये तस्करों का पुंज। [२८६] श्री रामचरणदास[२८७] श्री विनायकराव,[२८८] श्री अवधबिहारीदास [२८९] और पं० ज्वालाप्रसाद [२९०]आदि टीकाकारों ने 'धारि' का अर्थ 'माया' किया है। ज्वालाप्रसाद जी का पाठ 'धार' है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'चाल' अर्थ किया है।[२९१] वीरकवि जी ने पूरे वाक्य के अर्थ में गड़बड़ी कर दी है - देवताओं का किया हुआ समूह बिगाड़ रामचन्द्र जी की कृपा से सुधर कर गुणदायक गोहारि (सहायता) हो गई।[२९२] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक धारि शब्द को ही अपने किये हुए अर्थ से बाहर कर दिया है -' राम की कृपा ने

----

२८५. मानस २।३१६।३

२८६. मा०भा०,पु०भा०, पृ० ३७४

२८७. रामा०, पृ० ७६७

२८८. वि०टी०,अयो०,पृ० ४६५

२८९. मानस०, पृ० ६८१

२९०. सं०टी०,पृ० ६६७

२९१. मानस, पृ० ७१६

२९२. वही, पृ० ७६५

देवताओं के सहे लिए संकट को इस प्रकार उपकार करने वाला बना दिया जैसे रक्षा के लिए की हुई पुकार लाभकर होती है।[२९३] रामेश्वर भट्ट ने भी इसका ऊटपटांग अर्थ किया है -- देवताओं के समूह की प्रार्थना भी लाभदायक हो गयी।[२९४] लाला हरिहरप्रसाद,[२९५] विनायानंद त्रिपाठी जी,[२९६] श्रीकांतशरणजी,[२९७] पोद्दार जी[२९८] और मानसपीयूषकार[२९९] आदि अनेक टीकाकारों ने 'धारि' का अर्थ 'सेना' किया है।

इस प्रकार टीकाकारों ने इसके लगभग ४ अर्थ किये हैं -- तस्करों का पुंज, माया, चाल और सेना।

हिन्दी शब्दसागर में 'धारि' का अर्थ समूह, झुंड दिया हुआ है।[३००] तुलसी शब्दसागर में फ़ौज, सेना, डाकुओं का समूह और झुंड समूह दिया हुआ है।[३०१] वृहत् हिन्दी कोश में यही अर्थ दिया हुआ है।[३०२]

'धारि' संस्कृत शब्द 'धारा' से विकसित है। यह जैसा कि कोशों से स्पष्ट है अनेकार्थी शब्द है। प्रकरण से इसका अर्थकरना चाहिए। 'धारि' का अर्थ 'माया' और 'चाल' किसी कोश में नहीं मिलता। अतः यह कल्पित और अग्राह्य अर्थ है। तस्करों का पुंज (डाकुओं का समूह) अर्थ में इसका प्रयोग कवितावली में हुआ है --

धाई धारि फिरिकै गोहारि हितकारी होति।[३०३]

---

२९३. तु०ग्र०प्र०सं०,क०भा०वि० परि०,काशी, पृ० ६२७।

२९४. मानस, पृ० ६७९।

२९५. रा०परि० परिशिष्ट, पृ०, पृ० १८२

२९६. वि०टी०, अयो०, पृ० ५४८

२९७. सि०ती०,ति०सं०, पृ० १४६०

२९८. रामा०, पृ० ५८६

२९९. मा०पी०, अयो०, पृ० ११०१

३००. दे० पृ० २४७

३०१. दे०, पृ० ६४१

३०२. ~~कवित्ता० ७।७५~~ वे० हि० को० ६४१

३०३. कवित्ता० ७।७५

कवितावली में भी इसका प्रयोग 'सेना' के अर्थ में है -

बाटिका उजारि, अछ-धारि मारि, जारि गढ़,

भानुकुल भानु को प्रताप भानु भानु सो।[३०४]

'समूह' अर्थ में इसका प्रयोग मानस में अन्यत्र हुआ है -

कलिरघुबीरहिं सुर धारी ।।[क]

उक्त विवेच्य अर्धाली के 'धारि' शब्द का अर्थ भी यहाँ 'समूह' है। इसका अर्थ यहाँ 'सेना' नहीं हो सकता क्योंकि युद्ध का प्रसंग नहीं है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-विनिश्चय के साधन से इसका अर्थ 'समूह' ही प्रासंगिक और युक्तिसंगत है। इसी का समर्थन हिन्दी शब्दसागर भी करता है। पं० रामेश्वर भट्ट का अर्थ यहाँ असंगत है क्योंकि देवसमुदाय कोई प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। वे तो कुचाल चल रहे हैं कि किसी प्रकार अवध समाज चला जाय और रामजी निशाचरों का विनाश करें। इसी प्रकार तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय और श्रीरामबिजी का अर्थ भी असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - 'श्रीराम की कृपा ने उलझन को सुधार दिया। देव समुदाय गुणदायक रक्षक बना।'

<u>सौंधाई</u> :-

एक कहहिं भलिउ सौंधाई । सठहु सुम्हार दरिद्र न जाई ।।[३०५]

प्राय: समस्त टीकाकारों ने 'सौंधाई' का अर्थ अधिकता, बहुतायत या सस्ती किया है। ग्रायस महोदय ने भी इसका अर्थ पर्याप्ति (प्लेंटी) किया है।[३०६] केवल श्रीरामचरणदास ने संभवत: अर्थ न समझने के कारण पाठ परिवर्तन कर दिया है।[३०७]

---

३०४. ब कविता० ५।२८

क. मानस ६।६२।७

३०५. मानस ६।८८।३

३०६. सेज धन' एट सुच ए टाइम आव् प्लेंटी : यु रेब, इज योर हंगर स्टिल अन-सेटिस फाइड- द रामायन आव् तुलसीदास, पृ० ४६८

३०७. एक कहहिं ऐसेहु 'समुदाई' .... । रामा०, पृ० १०८६

श्रीहरप्रसाद जी उक्त शब्द को 'संघ' से बना हुआ मानते हैं[308] तो गौड़ जी समर्घता का प्राकृत रूप कहते हैं।[309] किंतु 'सोंधाई' संस्कृत स्वानर्घ्य से विकसित है। सं० अर्घ (अर्घ+घञ्) का अर्थ है -- मूल्य। जिसका मूल्य न हो उसे अनर्घ कहते हैं। 'अनर्घ' से भाववाचक संज्ञा शब्द 'आनर्घ्य' बना। 'आनर्घ्य' में 'सु' उपसर्ग लगकर शब्द स्वानर्घ्य (सु+ आनर्घ्य) बना। 'स्वानर्घ्य' (सु- अधिक, आनर्घ्य- निर्मूल्यता) का अर्थ हुआ 'अत्यन्त निर्मूल्यता' अर्थात् सस्तापन। स्वानर्घ्य सोंधाई का अर्थ हुआ 'अत्यंत सस्तापन'। दोहावली में भी इसी अर्थ में 'सोंधे' शब्द का प्रयोग हुआ है --

तुलसी जानें सुनि समुझि कृपासिंधु रघुराज।
महँगे मनि कंचन किए, सोंधे जगु जल नाज ।।[310]

अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ हुआ - (परस्पर छीना-झपटी पर) एककहते हैं कि इस प्रकार के अत्यंत सस्तेपन पर भी है मूर्खों! तुम्हारा दारिद्र्य नहीं जाता।'

<u>निबेही :--</u>

गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।[311]

श्रीरामश्याम में 'निबेही' शब्द का अर्थ न समझने के कारण पाठ ही बदल दिया है।[312] पंजाबी जी के अनुसार - 'निबाही निबेही यह अतिसार के नाम है सो मान मद रूपी अतिसार ने किसको छोड़यो है।[313] श्रीरामचरणदास[314] विनायकराव जी[315]

---

308. रा०परिपरिशिष्ट, प्र०पृ० ७२
309. मा०पी०, लंका०, पृ० ४५६
310. दोहा० १४६
311. मानस ७।७१।१
312 कोउ न मान मद व्यापेउ जेही ।। रामा०, पृ० ५५
313. मा०भा०,उत्तर०, पृ० ७६
314. रामा०, पृ० १२७१
315. वि०टी०, पृ० १५३

शुकदेव लाल जी[३१६] और श्रद्धेय भिखारीदास जी ने इसका अर्थ निर्वाह किया है। रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार-ऐसा कोई नहीं है जो मान और मद का त्याग करके संसार से मुक्त हो गया हो।[३१७] ज्वालाप्रसाद जी के मत से - मान-मद छोड़कर कौन निभ गया है कौन एक रस रहा।[३१८] वीरकवि जी अर्थ करते हैं कि "अभिमान और मद को त्याग कर कोई पार नहीं गया।"[३१९] बाबू श्यामसुन्दरदास जी "चुनकर" अर्थ करते हैं।[३२०] पोद्दार जी के अनुसार ऐसा कोई नहीं है जिसे मान और मद ने अछूता छोड़ा हो।[३२१] पोद्दार जी के अर्थ का अनुसरण करते हुए तुलसी-ग्रन्थावली के संपादक महोदय अर्थ करते हैं कि मान और मद ने किसे अछूता छोड़ा।[३२२] उक्त टीकाकारों की भाँति ग्राउस महोदय भी यद्यपि "निबेही" शब्द के मूल को नहीं पकड़ पाये हैं तथापि अपेक्षाकृत भावानुवाद सटीक ही है। उनके अनुसार "मान और मद किसे सफलता पूर्वक छोड़ा है।"[३२३] श्री रामनरेश त्रिपाठी[३२४] श्रीकांतशरण जी[३२५] विश्वानंद त्रिपाठी जी[३२६] और मानसपीयूषकार[३२७] ने बिना कुछ डाले (निबाहे) अर्थ किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि टीकाकारों ने "निबेही" के लगभग ८ अर्थ किये हैं - अतिसार, निर्वाह, मुक्त हो गया हो, पार नहीं गया, चुनकर, अछूता, सफलता पूर्वक और बिना कुछ डाले।

---

३१६. रामा०, पृ० ४५

३१७. मानस०, पृ० ११२५

३१८. सं०टी०, पृ० ११७७

३१९. मानस, पृ० १२७७

३२०. वही, पृ० १०४४

३२१. वही, पृ० ९३४

३२२. प्र०सं० अ०भा० वि० परि०, काशी, पृ० ९७२

३२३. टू हूम हर्फेक्टली डिसकार्डेड वेनिटी एंड प्राइड - द रामायन आव तुलसीदास, पृ० ५३२

३२४. मानस ११५५पृ०

३२५. वही सि०ति०, तृ०सं०, पृ० २५९५

३२६. वि०टी०तृ०भा०,उ०र०, पृ० १२३ ३२७. मा०पी०उ०र०, पृ० ३६१

मानस हिन्दी कोश में इसका अर्थ जिसका वेध न किया जा सके। वेध रहित, छल - कपट आदि से रहित। किया गया है।[३२८] तुलसी शब्दसागर में - अछूता मुक्त, उन्मुक्त अर्थ किया है।[३२९]

'निबेड़ी' का 'अतिसार' अर्थ टीकाकार के अज्ञान का सूचक है। निर्वाह से विकसित निबेड़ी मानने के भ्रम से कतिपय टीकाकारों ने इसका अर्थ निर्वाह किया है। अतएव यह भी अग्राह्य अर्थ है। 'मुक्त हो गया, पार नहीं गया, अछूता और सफलतापूर्वक' अर्थ निबेड़ी का भावानुवाद भले ही मान लिया जाय, किन्तु यह भी असंगत और शब्द के मूल से भिन्न अर्थ है। 'चुनकर' अर्थ बाबू श्यामसुन्दर दास ने शब्दसागर के आधार पर किया है, किन्तु वह भी यहाँ तर्क संगत नहीं लगता। 'निबेड़ी' की यह व्युत्पत्ति - निर्व्यर्ण - निर्+व्य्+र - निर्व्य। घ= ड। निर्व्य+घ = निर्व्य +ड - पीड़ा रहित (निर्व्यथी) जबर्दस्ती की है।[३३०] लगता है कि तुलसी शब्द-सागर के संपादक महोदय ने मानस के टीकाकारों के ही आधार पर अर्थ किया है। अतः उक्त टीकाकारों की भाँति तुलसी शब्दसागर का अर्थ भी अशुद्धरहित लगता नहीं दिखता।

'निबेड़ी' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत निर्वेध से हुई है। निर्वेध निबेड। र् का लोप हो गया है और ध का ड। तुकांत के कारण 'निबेड' को 'निबेड़ी' के रूप में प्रयोग किया गया है। गोस्वामी जी ने 'बेड (बेढ़)' शब्द को 'छेद' के अर्थ में प्रयोग किया है - बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू[३३१]।। अतः 'निबेड़ी' शब्द का अर्थ हुआ - 'बिना छेद डाले'। प्रश्न है कि क्या 'मान' और मत कोई कोबड़ी मोटी सूई है जो छेद करेगी? नहीं, यहाँ तात्कर्म्य से सम्बन्धित शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ द्वारा उसमें

---

३२८. दे० ती०वि०, पृ० २७३।

३२९. दे०, पृ० २६४।

३३०. मा०पी०, उत्तर०, पृ० ३६१

३३१. मानस २।२६१।६

'नष्ट करने' का भाव है। गोस्वामी जी ने नष्ट करने के अर्थ में 'छेदन' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है -

भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे।[332]

सहसबाहु भुज छेदनिहारा।[333]

अतएव 'निबेही' शब्द का अर्थ हुआ - बिना छेद वाले। लक्षणा से बिना नष्ट किये। रामनरेश त्रिपाठी जी, श्रीकांतशरण जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और मानसपीयूषकार आदि टीकाकारों ने उसका अभिधेयार्थ 'बिना छेद वाले' किया है। 'वक्ता की भावना' नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी उसका अर्थ बिना नष्ट किये ही निश्चित होता है। अतः उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - 'रजादि गुणों का किया हुआ सन्निपात किसे न हुआ? ऐसा कोई नहीं है जिसे मान और मद ने बिना नष्ट किये छोड़ा हो।'

<u>भटभेरे</u> :-

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे॥[334]

'भटभेरे' शब्द के अर्थ टीकाकारों ने अनेक प्रकार से किये हैं। श्रीरामचरण दास जी लिखते हैं कि - 'भटभेरे कही जब कोन्यों सुयोग से सत्संग भजन के साहित प्राप्त भई तब अभाग्य ते कोई विघ्न प्राप्त भयो तासों घट भेरे कही।[335] रामायण-परिचर्याकार के अनुसार भटभेरे अर्थ आड़। कोई कोई कहते हैं कि वस्तु की प्राप्ति होने पर उसको न पहिचानना 'भटभेरा' है। यथा - गली अँधेरी साँकरी भौ भट-भेरो आनि'।[336] पंजाबी जी के मत से - भटभेरे देते कहे भीतों सों माथे को फोड़ते फिरते हैं अर्थ यह सत्संग नहीं करते अरु तीर्थाटनादिक कष्ट करते हैं।[337] विनायक-

----

332. मानस ७।१३। छंद ८

333. वही १।२७२।८

334. मानस ७।१२०।१२

335. रामा०, पृ० १३५३

336. रा०परि०परिशिष्ट पृ०, पृ० १२०

337. मा०भा०, उत्तर०, पृ० १३६

राय 'टालमटोल' अर्थ करते हैं।[३३८] दीनकवि जी के अनुसार पीछा दे देते हैं।[३३९] विश्वनाथ त्रिपाठी जी कहते हैं 'पर अभागे मनुष्य उसमें रुकावट पैदा करते हैं।[३४०] पोद्दार जी[३४१] श्रीकांतशरण जी[३४२] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[३४३] श्री रामनरेश त्रिपाठी[३४४] और मानस पीयूषकार[३४५] 'ठुकरा देते हैं' अर्थ किया है।

इस प्रकार टीकाकारों ने 'भटभेरे' के लगभग ५ अर्थ किये हैं — १. विघ्न प्राप्त होना, बाढ़, रुकावट, २. न पहचानना, ३. दीवालों से माथा फोड़ना ४. टालमटोल, ५. पीछा देते हैं, ठुकरा देते हैं।

हिन्दी शब्दसागर में इसके ३ अर्थ हैं — १. योद्धाओं का सामना, मुकाबला। २. धक्का, टक्कर, ठोकर। ३. आकस्मिक मिलन।[३४६] तुलसी शब्दसागर में ठोकर धक्का अर्थ दिया है।[३४७]

'भटभेरे' का 'नपहचानना' अर्थ असंगत है। हरिहरप्रसाद जी ने इसी अर्थ को लिया है, प्रमाणस्वरूप उन्होंने बिहारी के दोहे की एक पंक्ति दी है। किन्तु उस दोहे में आए हुए 'भटभेरों' का अर्थ 'न पहचानना' नहीं, बल्कि आकस्मिक मिलन है।[३४८] जो यहाँ संगत सिद्ध नहीं होता। दीवालों से (भीतों से) माथा फोड़ने वाला अर्थ तभी संगत माना जा सकता है जब कष्ट पाने के सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाय। विघ्न प्राप्त होना, बाढ़-रुकावट, और टाल मटोल अर्थ इसमें किसी कोश में नहीं प्राप्त हुए अतः यह भी अप्रामाणिक है। सम्मुख भिड़न्त को 'मुठभेड़' और पीछे से धक्का देने को 'भटभेरे' कहते हैं। 'भटभेरे' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। पुरानी हिन्दी के काव्यों में भी इसका प्रयोग हुआ है। यह हिन्दी 'भट+भिड़ना' से बना है। दो वीरों का सामना और ठोकर (धक्का) इसके दोनों अर्थ होते हैं। प्रसंग से इसका अर्थ करना चाहिए। युद्धादि के प्रसंग में इसका अर्थ मुकाबला होगा। किन्तु यहाँ

---

३३८. वि०टी०, पृ० २६२ — ३३९. मानस, पृ० १३४६

३४०. वि०टी०, पू पू० भा०, पृ० २२५ — ३४१. मानस, पृ० ९८२

३४२. वहीसि०, ति०,तु०सं०, पृ० २७७८ — ३४३. पृ०सं०, का०भा०[illegible]०वाराणसी, पृ०१०१८

३४४. मानस पृ० १२२३ — ३४५. मा०पी०,ख० , पृ० ६५२

३४६. दे०पृ०, ३६१० । — ३४७. दे०पृ० ३६४

३४८. दे० हि०शब्द०, पृ० ३६१०

से 'आढ़' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पं० सूर्यदीन शुक्ल ने भ्रम से इसे सं० आढ़क से बना हुआ मान कर अर्थ 'सेरों मलिन हुए' लिया है, क्योंकि 'आढ़क' चार प्रस्थ अर्थात् चार सेर की एक तौल को कहते हैं। किन्तु यह अर्थ यहाँ असंगत है। हिन्दी शब्दसागर ने इसका अर्थ ओट, पनाह, सहारा, ठिकाना लिया है।[३५६] यही अर्थ यहाँ तर्क-संगत लगता है। प्राय: सभी टीकाकारों ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'जैसे जैसे मलभटमैला होता है, वैसे वैसे यमदूतों के मुँह मलिन होते हैं। उनको कहीं शरण नहीं मिलती।'

<u>सीठे</u> :-

> जो मोहिं राम लागते मीठे।
> तौ नवरस, षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥'[३५७]

बैजनाथ जी के अनुसार - 'नवरस षटरस जो सरस मानने से मीठे लगते हैं वे नीरस मानकर सीठे अर्थात् कड़वे हो जाते हैं।[३५८] इनके अतिरिक्त प्राय: सभी टीकाकारों 'सीठे' का अर्थ फीके' लिखा है।

'सीठा' विशेषण शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है —संस्कृत शिष्ट प्राकृत सिट्ठ हिन्दी सीठा। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ - 'नीरस, फीका, बिना स्वाद का' दिया हुआ है।[३५९] 'सीठे' का फीके अर्थ ही तर्कसंगत है। बैजनाथ जी का 'कड़ुवे' अर्थ मनगढ़न्त है। गोस्वामी जी ने अपने साहित्य में इसका प्रयोग कई स्थलों पर इसी अर्थ में किया है -

> 'तुलसी' जौ लौं विषय की, मुधा माधुरी मीठि।
> तौ-लौं सुधा सहस्र सम, राम-भगति सुठि सीठि'॥[३६०]

---

३५६. दे०पु० २३६

३५७. विनय० १६९

३५८. वि०पी०सं० ४, पादटिप्पणी, पृ० २६८

३५९. दे०पु० ३५५९

३६०. दोहा० ८३ ।

पय पावनि, बन-भूमि भलि, सैल सुहावन पीठ ।

रागिहि 'सीठ' बिसेष थल, बिषय-बिरागिहि मीठ ॥[३६१]

उपर्युक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा —

'यदि मुझे राम जी प्रिय लगते, तो शृंगारादि साहित्य के नवों रस मधुर अम्लादि भोज्य पदार्थों के छः रस आदि सभी रस नीरस और फीके पड़ जाते ।

<u>चाह</u> :—

सुनत सुहावनि चाह अवध घर घर आनँद बधाई ।[३६२]

'चाह' शब्द अनेकार्थी है । हिन्दी शब्द सागर में इसके कई अर्थ दिये हुए हैं —
(१) इच्छा, अभिलाषा (२) प्रेम । अनुराग । प्रीति (३) पूछ । आदर । कदर (४) माँग (जरूरत । आवश्यकता ।

खबर । समाचार । गुप्त । भेद , मर्म ।[३६३]

इसका अर्थ 'प्रकरण' नामक अर्थ निर्णय के साधन से जहाँ पर जो अर्थ प्रासंगिक हो , वही करना चाहिए । उक्त पंक्ति में 'चाह' शब्द का अर्थ यहाँ 'समाचार' है । यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है । संक्षिप्त शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति हिन्दी चाल - प्राकृत से मानी गयी है ।[३६३क] और तुलसी शब्दसागर में संस्कृत 'चार' से ।[३६४] गोस्वामी जी ने 'समाचार' अर्थ में इसका प्रयोग कुछ कई स्थलों पर किया है —

लखन सपन यह नीक न होई । कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥[३६५]

----

३६१. रामाज्ञा० २।६।१

३६२. गीता० १।१००।७

३६३. दे० पृ० ९८१

३६३ क. दे० पृ० ३११

३६४. दे० पृ० १४७

३६५. मानस २।२२५।७

पुर नर घर आनंद महा सुनि चाह सुहाई । सुनी औ, सखि ! मंगल चाह सुहा[366]
जायसी ने भी इसी अर्थ में 'चाह' शब्द का प्रयोग किया है —

राव रंक जहँ लग सब जाती । सब की चाह लेइ दिन राती ।।[367]

गीतावली के सभी टीकाकारों ने यहाँ पर इसका अर्थ 'समाचार' ही किया है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा —

'यह सुंदर समाचार' सुनते ही अयोध्या के प्रत्येक घर में आनन्द युक्त बधाइयाँ बज उठीं ।'

निफन :—

जीतै बिनु, घर बिनु 'निफन' निराए बिनु,
सुकृत-सुखेत सुख-सालि फूलि फरिगे ।[368]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद्य या पुरानी हिन्दी में हुआ है । हरिहरप्रसाद जी और बैजनाथ जी ने 'निफल' पाठ माना है । हरिहरप्रसाद जी के अनुसार 'निफल कहे अंकुर निराए बिना ।'[369] बैजनाथ जी के अनुसार —' निफल भाव कहे प्रेम का आनन्द बढ़ आया ।[370]

उक्त दोनों टीकाकारों ने 'निफन' शब्द के अर्थ की अज्ञानता के कारण ही पाठ परिवर्तन करके इसके असंगत और अप्रामाणिक अर्थ किये हैं । हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ पूर्णरूप से अच्छी तरह । दिया हुआ है ।[371] यहाँ पर इसका यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है । 'निफन' शब्द क्रिया विशेषण है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - संस्कृत निष्पन्न प्रा० निप्फण्ण हिन्दी निफन, जिसका

---

३६६. गीता० १।१०१।५, वही २।८६।१

३६७. हि०शब्द०, पृ० १८८१

३६८. गीता० २।३२।२

३६९. गीता०, सटीक, पृ० २०

३७०. गीता०, सटीक, पृ० २५३

३७१. दे० पृ०२६२६

अर्थ है - अच्छी तरह । प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - उनके (मार्गकारी लोगों के) पुण्य रूपी खेत में सुख रूपी धान्य बिना अच्छी प्रकार जोते, बोये और निराये ही पुष्पित और फल-युक्त हो गये अर्थात् पुण्य उदय हो गए ।'

<u>चाँचरि</u> :

तुलसीदास चाँचरि मिस कहे राम गुनग्राम ।[३७२]

'चाँचरि' शब्द को टीकाकारों ने अस्पष्ट रखा है । मुनिलाल जी के अनुसार - 'होली के गान के मिस से ही'[३७३] बैजनाथ जी ने 'मिस चाँचर के बहाने' अर्थ किया है ।[३७४] हरिप्रसाद जी के अनुसार - 'चाँचरि मिसु कहे होरी में जो गायो जात है तेहि के बहाना से ।[३७५] श्रीकांतशरण जी ने होली वर्णन के व्याज से' अर्थ किया है ।[३७६] इसका 'चाँचर' रूप प्रचलित है । चाँचरि पारिभाषिक शब्द है । अतः इसको स्पष्ट करने की आवश्यकता है । हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ इस प्रकार है - संज्ञा स्त्रीलिंग (संस्कृत चर्चरी) वसंत ऋतु में गाया जाने वाला एक राग । चर्चरी राग जिसके अन्तर्गत होली, फाग, लेद इत्यादि माने जाते हैं ।[३७७]

जैसा कि कोशों से स्पष्ट है 'चाँचरि' शब्द संस्कृत 'चर्चरी' से विकसित है । जैन कवियों में विशेषकर जिनदत्त सूरि ने अपनी रचनाओं में 'चर्चरी' राग के रूप में इसका प्रयोग किया है । कबीर ने अपने बीजक में भी इसका प्रयोग किया है । 'चाँचरि' एक प्रकार का लोकगीत है । उत्तरप्रदेश में वसंत या होली के अवसर पर इस राग को गाया जाता है । यह शृंगार-विषय प्रधान होता है किन्तु संतों और भक्त कवियों ने इसे भक्ति और आध्यात्मिक विषय प्रधान बना दिया है । वास्तव

---

३७२. गीता० २।४७।२२

३७३. गीता० सटीक, पृ० २१६

३७४. ,, ,, पृ० २८३

३७५. ,, ,, पृ० ३२

३७६. ,, ,, पृ० ४६२

३७७. दे० पृ० ६६४

में जिस प्रकार सांसारिक लोग जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि मनाते हैं, उसी प्रकार भक्त लोग भी मनाते हैं। अन्तर मात्र इतना होता है कि वे अपने पुत्र पुत्रियों का जन्मोत्सव, विवाहोत्सव मनाते हैं किन्तु भक्त और साधु लोग राम-कृष्णादि अवतारी पुरुषोत्तमों का। उनके कृत्य संसारी होते हैं और भक्तों के ईश्वरोन्मुख। जो शृंगारिक प्रवृत्तियाँ संसार का संयोग होने के कारण दूषित होती हैं, वही उन अवतारी पुरुषोत्तमों के संयोग के कारण पावन हो जाती हैं। इसीप्रकार सांसारिक लोग जिस "चाँचरि" को अपशब्दों से गंधिल करके गाते हैं, उसी को भक्त लोग शृंगार - विषय प्रधान रहते हुए भी ईश्वरोन्मुख कर देते हैं। आजकल वैरागी संत लोग भी इस राग को "होली" के रूप में गाते हैं। माघ मेले में वसंत पंचमी के दिन इसी राग के साथ वे भगवान राम की प्रतिमाओं पर रंग-गुलाल आदि छोड़ते हैं, साथ ही परस्पर भी "रंग" खेलते हैं। इसी को गोस्वामी जी ने भी परम्परा के रूप में प्रयुक्त किया है।

चित्रकूट में श्रीराम के निवास के कारण वसंत ऋतु का भी आगमन बताया गया है। उस मनोहारी वसंत ऋतु के अवसर पर कवि ने कितना सामयिक और सटीक होली का रूपक प्रस्तुत किया है। यहाँ पर कवि का चाँचर (चाँचरि) पूर्णरूपेण रामोन्मुख है। गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी किया है -

चाँचरि भूमक कहैं सरस राग ।[३७८]

उक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा - "तुलसीदास ने भी चाँचर (होली का गीत लिखने) के बहाने राम के कतिपय गुण कह सुनाए हैं।"

<u>गारी</u> :

गए ते प्रभुहि पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुन गारी ।।[३७९]

यहाँ "गारी" शब्द के अर्थ में बड़ा मतभेद है। बैजनाथ जी के अनुसार - "निंदा करते फिर लौट आये।"[३८०] हरिहर प्रसाद जी ने भी "करतब की निंदा करत पुनि

---

३७८. गीता० ७।२२

३७९. वही २।६६।५

३८०. गीता० सटीक, पृ० ३०४

फिरे ।'[३८१] मुनिलाल जी[३८२] और ठाकुर किशोरीलाल जी[३८३] ने भी निंदा करना ही अर्थ किया है । तुलसी ग्रन्थावली ,द्वितीय खण्ड के संपादक ने 'करम करते हुए लौट गए' अर्थ किया है ।[३८४] श्रीकान्तशरण जी ने इसका अर्थ गौरव किया है ।[३८५] हिन्दी शब्द सागर में गारो का अर्थ गर्व, घमंड, अहंकार, अभिमान किया है ।[३८६] लेकिन तुलसी शब्द सागर में 'गारो ' को संस्कृत के तीन शब्दों गर्व, गालन और गालि से व्युत्पन्न मानकर ३ अर्थ किया है । गर्व से व्युत्पन्न मानकर घमंड, अहंकार, मान, गौरव, गुरु, बड़ा, गालन से व्युत्पन्न मानकर गलाया, गार किया, निचोड़ा और गालि से व्युत्पन्न मानकर निंदा, बुराई, गाली देना ।'[३८७]

उपर्युक्त 'गारो' शब्द संस्कृत 'गौरव' से व्युत्पन्न हुआ है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है । संस्कृत गौरव पालि प्राकृत गारव हिन्दी गारो । 'गारो' का अर्थ है - गौरव , बड़प्पन । यहाँ पर इसका निंदा करते हुए अर्थ तर्कसंगत नहीं है । क्योंकि मंदमति वाले कर्म की निंदा करते हैं --

'सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ।।[३८८]

गोस्वामी जी ने कर्म की प्रधानता (गौरव) के सम्बन्ध में कई स्थानों पर लिखा है --

सिय रघुबीर कि कानन जोगू । करमु प्रधान सत्य कह लोगू ।।[३८८क]

---

३८१. गीता० सटीक, पृ० ७०४३
३८२. ,, ,, पृ० २३६
३८३. ,, ,, पृ० १८३
३८४. दे० ना०प्र०स०का०ना०प्र०काशी,पृ० ४३६
३८५. गीता ० सि० ति०, पृ० ५४७
३८६. गीता०, पृ० ७६८
३८७. दे० गीता०, पृ० १२४
३८८. मानस० ७।४३
३८८क. मानस २।६१।८

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।।[ख]

संभवतः तुलसी शब्दसागर के संपादक ने भी बैजनाथ जी और हरिहर प्रसाद के अर्थों के आधार पर ही अपना अर्थ दिया है । अतः यहाँ पर निंदा करते हुए का अग्राह्य है । श्रीकांतशरण जी ने "गारी" का अर्थ गौरव किया है । यहाँ पर "गौरव" अर्थ की युक्तिसंगतता नामक अर्थ निश्चय के आधार पर प्रासंगिक प्रतीत होता है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- "जो लोग साथ में गए थे वे भी राम को कुछ दूर पहुँचाकर कर्म के गुणों का गौरव (प्रधानता) प्रमाणित कर रहे हैं अर्थात् अपने जीवन को कर्म के अधीन मान रहे हैं अन्यथा हम लोग विरह में मर जाते ।"

धुकि

तुलसीदास रघुनाथ -नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो ।[ग]

बैजनाथ जी[घ] ठाकुर बिहारी लाल जी,[ङ०] मुनिलाल जी,[च] और तुलसी ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड के संपादक[छ] ने "धुकि" शब्द का अर्थ क्रोध करके" अर्थ किया है । हरिहरप्रसाद जी[३८६] और श्रीकांतशरण जी[३६०] ने "वेग से" अर्थ किया है । हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ वेग से टूटना, झपटना किया है ।[३६१] तुलसीशब्दसागर में भी झपटकर, जल्दी से अर्थ किया है ।[३६२]

---

३८८ ख. मानस २।२१८।४

ग. गीता० ३।७

घ. गीता० सटीक, पृ० ३३६

ङ०. ,, ,, पृ० २०६

च. ,, ,, पृ० २६७

छ. का०ना०प्र०स०काशी, पृ० ४५२

३८६. गीता० सटीक, पृ० ५

३६०. गीता० सि०ति०, पृ० ६१६-१७

३६१. वै० पृ० २४६६

३६२. वै०, पृ० २५८

इस शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी और पद्य में प्राप्त होता है। साथ ही इसका प्रयोग प्रांतिक है। तुलसी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति अनुकरणात्मक धुक से की गई है। यहाँ 'धुकि' का अर्थ क्रोध करके कहीं भी प्राप्त नहीं होता। कोशों में इसका अर्थ वेग से या झपट कर किया हुआ है। स्वयं गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है --

मानौं प्रबल परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।[३६३]

बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धेनु धुकि धाई।[३६४]

'युक्तिसंगतता' अर्थ निश्चय के साधन से 'धुकि' का अर्थ 'वेग से' ही तर्क संगत है।

अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा --तुलसीदास जी कहते हैं कि राम के नाम की ध्वनि सुनकर गृध्रराज जटायु वेग से दौड़ा। यही अर्थ हरिहरप्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी ने भी किया है।

<u>झँकोर</u> :-

पिछुरित सिरसिज मकरन्द सुंदर सिख सुमन-सुख,
मनि जुत सिसु-फनि-अनीक ससि समीप आई।
जनु सभीत दै झँकोर राखे जुग अंचर मोर
कुंडल - छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई।।[३६७]

बैजनाथ जी, ठाकुर बिहारीलाल जी और हरिहरप्रसाद जी ने 'झँकोर' शब्द को ज्यों का त्यों लिख दिया है। मुन्नीलाल जी[३६८] और तुलसी ग्रन्थावली द्वितीय खंड[३६९] के संपादक ने इसका अर्थ 'फुफकार' किया है। श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ भेंट

----

३६३. कवित्ता० ६।५४

३६४. श्रीकृष्णा० १९

३६७. गीता० ७।३

३६८. गीता० सटीक, पृ० ३८३

३६९. ना०प्रा०वि०परि० काशी, पृ० ५१६

और घूस दिया है।[400]

हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ भेंट, नज़र, घूस रिश्वत दिया है।[401] तुलसी शब्दसागर[402] और कुछ हिन्दी कोश में इसका भी यही अर्थ दिया है।[403] तुलसी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति सं० अंकपाल से दी है। अवधी कोश में सं० उत्कोच से मानकर संदिग्धात्मक प्रश्नचिह्न लगा दिया गया है।[404] वैसे उत्कोच का अर्थ 'घूस या रिश्वत' होता है। 'अँकोर' का 'फुसलाकर' अर्थ किसी भी ग्रन्थ और कोशादि में नहीं प्राप्त होता है। अतएव यह अप्रामाणिक अर्थ है। रिश्वत या घूस अर्थ सभी कोश ग्रन्थों में दिया है। श्रीकांतशरण जी ने भी यही अर्थ किया है। अतः यहाँ 'अँकोर' का 'घूस' अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उक्त पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा - उनके (राम के) घुंघराले बिखरे हुए बालों के बीच-बीच में पुष्पों के गुच्छे गुंथे हुए ऐसे जान पड़ते हैं कि मानो मणियों के साथ काल सर्पों की सेना चन्द्रमा के सन्निकट (अमृत चुराने के लिए) आई हो और उन्हें (सर्पों को) देखकर भयभीत हो चन्द्रमा ने 'घूस' (रिश्वत) देकर उस से बचने के लिए दो सुन्दर मोरों को रखा हो। और उन (मोर रूप) कुण्डलों की छवि देखकर वे (सर्परूप) चोर अत्यंत संकोच करते हैं।' यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।'

तुलसी ग्रन्थावली द्वितीय खंड के संपादक का अर्थ तो बिल्कुल असंगत है - उन्हें (सर्पों को) देखकर चन्द्रमा से भयभीत होकर उनसे बचने के लिए उसने दो सुन्दर मोर (कुंडल) फुसलाकर ला पाले हों।[405] यहाँ चन्द्रमा स्वयं भयभीत है न कि चन्द्रमा से भयभीत होकर यहाँ संपादक महोदय ने मुनिलाल जी के अर्थ का अनुकरण किया है। अँकोरा शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। जायसी ने भी इसका प्रयोग

----

४००. गीता० सि०सि०, पृ० ८७६

४०१. दे० पृ० ३

४०२ दे० पृ० १

४०३ दे० पृ० २

४०४ दे० पृ० १

४०५. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३

किया है --

टका लाख दस कीन्ह कैकौरा । बिनती कीन्ह पाँय गहि गौरा ।।

सूर ने भी लिखा है --सूरदास प्रभु के जो मिलन को कुल अमिफल सों करति कैकौरा[४०५] ।

गँस --

मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गँस न गहीं ।।[४०६]

'गँस' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत ग्रन्थ से हुई है। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ गाँठ, बैर, बैर दिया हुआ है।[४०७] तुलसी शब्द सागर[४०८] और वृहत हिन्दी कोश[४०९] में भी यही अर्थ दिया है। अतएव यहाँ पर 'गँस' का अर्थ 'बैर' होगा। प्राय: सभी टीकाकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। अत: उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'किन्तु राम ने उन्हें (कैकयी को) अपनी माता से भी बढ़कर माना और माता कौशल्या ने भी कैकयी से किसी प्रकार का बैर नहीं रखा।'

यहाँ गँस शब्द के अर्थ सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं है, किन्तु आजकल के पाठकों के लिए कुछ अबूझ है।

पँवारो :--

बीर बड़ो बिरुदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो ।[४१०]

इसका प्रयोग पुरानी हिन्दी और पद्य में प्राप्त होता है। पंवारो शब्द का अर्थ हिन्दी शब्द सागर में कीर्तिगाथा ,वीरता का आख्यान ' दिया हुआ है।[४११] तुलसी शब्दसागर में 'पवारो' शब्द के लिए लिखा है - देखिए पँवारा और पंवारा

---

४०५. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३

४०६ , गीता० ७।३७

४०७. दे० पृ० ७४२

४०८. दे० पृ० ११५

४०९. दे० पृ० ३६२

४१०. कवित्ता० ६।३८

४११. दे० पृ० २०४७

शब्द का अर्थ पंवाड़ा, लंबी चौंड़ी कथा या बात जिसे सुनते सुनते जी ऊब जाय किया है।[४१२]

संस्कृत 'प्रवाद' में 'ड' प्रत्यय लगाने से 'पंवारो' का रूप इस प्रकार मिल सकता है --संस्कृत प्रवादड प्राकृत प्रवाअड, पवाड हिन्दी पवाड़, पवार पंवार, पंवारो।[४१३] इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत प्रवाद से पंवारो शब्द बना है। यहां पर 'पंवारो' शब्द का अर्थ पंवाड़ा, लंबी चौंड़ी कथा या बात जिसे सुनते सुनते जी ऊब जाय।' नहीं हो सकता। क्योंकि प्रसंग रावण की महत्ता का है। अत: तुलसी शब्दसागर का उक्त अर्थ असंगत है। 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से इसका अर्थ - 'कीर्तिगाथा' ही हो सकता है। प्राय: सभी टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है। अतएव उद्धृत अंश का अर्थ होगा - 'जो महा बलशाली और यशस्वी था तथा जिसकी कीर्ति-कथा आज भी जगत में प्रसिद्ध है।'

बौंड़िये :-

देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िये।[४१४क]

'बौंड़िए' का अर्थ डा० माताप्रसाद 'बंवर' करते हैं। उनके अनुसार अक्सर बबूल और रेंड़ के पेड़ों पर बंवरें फली रहती हैं, जो बेकार होती हैं।[४१४] दीन जी, श्रीकांत-शरण जी, देवनारायण त्रिवेदी जी, बैजनाथ जी और इन्द्रदेव नारायण जी आदि अधिकांश टीकाकारों ने इसका अर्थ दमड़ी (कौंड़ी) किया है। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार--'बौंड़िए कहे दमड़ी कौंड़ीये देहैं पंजाब में बौड़ी दमड़ी को कहत हैं।'[४१५] कुछ लोगों के अनुसार बिहार में कौंड़ी के बिसवें भाग को बौंड़ी कहते हैं। संभवत:

---

४१२. दे० पृ० २७६

४१३. डा० शिवनाथ, हिन्दी भाषा का अर्थ तात्त्विक, विकास, पृ० २०४

४१४. कवितावा०, पृ० ११४ ४१४क - कविता० ६।२५

४१५. कवित्त०, पृ० १२५

इसी कौड़ी से कौड़िए करके कवि ने प्रयोग किया है। 'कौड़िए' का अर्थ मुझे किसी किसी कोश में नहीं प्राप्त हुआ। केवल तुलसी शब्द सागर में 'कौड़ी' की व्युत्पत्ति संदिग्ध मानकर-कौड़ी, दमड़ी अर्थ किया गया है।[४१६] डा० माताप्रसाद गुप्त का 'बवँडर' अर्थ मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। यहाँ 'कौड़िए' का अर्थ 'दमड़ी' ही होगा। लोग कहते हैं कि और की क्या बात। एक दमड़ी भी नहीं दे सकते। यहाँ कौड़िए से तात्पर्य कौड़ी (दमड़ी) अर्थात् नगण्य- बहुत थोड़ा -सा। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — यदि सहर्ष कुछ देंगे भी तो बहुत हुआ एक दमड़ी अर्थात् बहुत थोड़ा-सा (नगण्य) दे देंगे।' डा० गुप्त के बवँर का लक्षणार्थ भी लगभग यही है। गोस्वामी जी ने भी दोहावली के १०८ वें दोहे में कहा है कि जिनको एक कौड़ी तक किसी से नहीं मिलती थी - लहै न फूटी कौड़िहू को चाहै केहिकाज..... ।'

'उबेने'

तबलौं उबेने पायँ फिरत पेटै खलाय,
बाये मुँह सहत पराभौ देसदेस को ।।[४१७]

बैजनाथ जी के मत से - उबेने कहे निरादर पाये।[४१८] डा० माताप्रसाद गुप्त, दीनजी, श्रीकांतशरण जी, देवनारायण त्रिवेदी जी और चन्द्रशेखर जी आदि टीकाकारों ने इसका अर्थ - नंगे पांव किया है।

यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है। साथ ही इसका प्रयोग प्रांतिक है हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ नंगे पैर, बिना जूते का ' दिया है।[४१९] तुलसी शब्दसागर में भी यही अर्थ है।[४२०] इसकी व्युत्पत्ति हि०उ० - नहीं + उपानह- जूता से हो सकती है।

---

४१६. दे० पृ० ३५६

४१७. कविता० ७।१२५

४१८. कविता०, पृ० २६६

४१९. दे०पृ० ३५५

४२०. दे०पृ० ५६

अकरे : (अकरा)

अकरे किये खोटेउ, छोटेउ बाढ़े ।[४२१]

'अकरे' का अर्थ बैजनाथ जी[४२२] चन्द्रशेखर जी[४२३] और देवनारायण त्रिवेदी जी[४२४] ने खरे अर्थ किया है । श्रीकांतशरण जी[४२५] और इन्द्रदेवनारायण जी[४२६] ने बहुमूल्य (महँगे) अर्थ किया है ।

'अकरा' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है । संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में इसके दो अर्थ हैं --(१) न मोल लेने योग्य । महँगा । अधिक दाम का, कीमती । (२) खरा, श्रेष्ठ, उत्तम ।[४२७] हिन्दी शब्द सागर में 'अकरा' का अर्थ दूसरा वाला ही स्वीकार किया गया है । यहाँ पर दोनों अर्थ ही युक्तिसंगत हैं । वैसे गोस्वामीजी ने अपने लिए 'महँगो' शब्द का प्रयोग किया है -

लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै,केहि काज ?
सो तुलसी 'महँगो' कियो राम गरीब निवाज ।[४२८]

'अकरे शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अक्रय्य' (न क्रय करने योग्य) से हुई है । अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - उसने (नाम के प्रताप से) न न जाने कितने दुराचारी को भी महँगा (प्रतिष्ठित) और छोटों को बड़ा बना दिया ।'

'कुक्त' -

कासी-कामधेनु कलि कुक्त कसाई है ।[४२९]

'बैजनाथ ने 'कुक्त' का अर्थ कतरत है' किया है । शेष समस्त टीकाकारों ने इसका

---

४२१. कविता० ७।१२७
४२२. कविता०, पृ० २६८
४२३. वही, सटीक, पृ ० १६६
४२४. कविता०, पृ ० २२५
४२५. कविता० सि०ति०, पृ० ४६४
४२६. कविता० सटीक, पृ० १८७
४२७. सं०पृ० १३
४२८. दोहा० १०८
४२९. कविता० ७।१८१

अर्थ 'मार डालता है' किया है। हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ - 'मारना। बुरी तरह से मारना' किया गया है।[430] कुहन का अर्थ यहाँ 'कहरना' असंगत है। तात्कालिक व्याकरण तो नहीं है जो 'कहरता' हो। इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। यह संस्कृत 'कु + हनन' से बना है जिसका अर्थ है 'बुरी तरह से मारना।' दोहावली में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है --

आपु व्याध को रूप धरि, कुहौ कुरंगहि राग।
तुलसी जो मृगमन मुरे परे प्रेम पट दाग ।।[431]

इसमें 'कुहौ' का अर्थ चाहे मार डालें है।

फलँगु :

फलँगु फलाँगहु तें घटि नभ तल भो।[432]

'फलँगु' शब्द का अर्थ बैजनाथ जी 'बीच' करते हैं। शेष कतिपय टीकाकारों ने इसके अर्थ को ही छोड़ दिया है। श्रीकांतशरण जी,[433] परमेश्वरीदयाल जी[434] और अंजनीनंदन शरण जी[435] ने 'स्वल्प' अर्थ किया है। तुलसी ग्रन्थावली के संपादक ने तो 'फलँगु' का अर्थ स्वल्प किया है, किन्तु 'घटि नभ तल भो' का अर्थ छोड़ दिया है।[436] 'फलँगु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'फल्गु' से हुई है। संस्कृत 'फल्गु' का अर्थ 'अल्प' भी है।[437] लगता है फलाँग के तौल से गोस्वामी जी ने 'फलँगु' शब्द का निर्माण कर लिया है। 'फलाँग' के प्रभाव से ही 'फलगु' (फल्गु) में चन्द्रबिन्दु लगाया गया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'आकाश तल उनके हनुमान जी के एक अल्प छलाँग (कुदान) से भी कम हुआ। अतः यहाँ पर 'फलँगु' का अर्थ 'बीच' अग्राह्य है।

----

४३०. दे० पृ० ६११

४३१. दे० दोहा ३१४

४३२. बाकु० ५।

४३३. बाकु०, सि०ति०, पृ० २९

४३४. बाकु०-सटीक, पृ० ८

४३५. पीयूष वर्षिणी टीका, पृ० २५

४३६. हि०सं०, श०भा०वि०परि०, काशी, पृ० २९८. ४३७. सं०हि०को०, वामनशि०, पृ०७०७

जमकातरि :-

तोरि जमकातरि मंदोदरी कढ़ोरि आनी,[४३८]

पं० महावीरप्रसाद मालवीय जी 'जमकातरि' का अर्थ यमराज का खड्ग करते हैं — यमराज का खड्ग अर्थात् परदा फाड़कर...... मंदोदरी को राजमहल से बाहर निकाल लाये।[४३९] श्रीकांतशरण जी के अनुसार - 'आप यमराज की तलवार के समान विकट शस्त्रास्त्रधारी सेना को तोड़कर रावण के घर से मंदोदरी को घसीट लाये।[४४०] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक ने ज्यों का त्यों यही अर्थ लिख दिया है।[४४१] देवनारायण द्विवेदी जी ने भी मालवीय जी के अर्थ 'परदा फाड़कर' किया है।[४४२]

हरिहरप्रसाद जी के अनुसार - 'जमकातरि कहै के वारी तोरि के। केवारी को जमकातरि वैद्यनाथ जी के देश में कहत हैं वा जमकातरि एक पटे का ठाट है ताको गोहारि का ठाट भी कहत हैं ताको किये रावण के अन्त:पुर के द्वार पर अनेक वीर खड़े रहे तेहि ठाट को हनुमान जी तोरि के भीतरि धुंसि मंदोदरि को कढ़ोरि कहे खींचि के आनी।[४४३] वैजनाथ जी[४४४] परमेश्वरीदयाल जी[४४५] और अंजनीनंदन - शरण जी[४४६] ने 'पुष्ट कपाट को तोड़ना' अर्थ किया है। हिन्दी शब्दसागर में सं० यम+कर्तरी - 'यम का छुरा खांडा' अर्थ दिया है।[४४७] यहाँ पर 'यमराज की तलवार के समान विकट शस्त्रास्त्र धारी सेना या परदा' अर्थ किसी भी प्रकार से प्रसंगानुकूल नहीं लगता। वैद्यनाथ धाम के आस-पास में 'जमकातरि' कपाट को कहते हैं, ऐसा हरिहरप्रसाद जी का मत है। यहाँ प्रसंगानुसार 'जमकातरि' से तात्पर्य अन्त:पुर के कपाटों से ही है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है — आप

---

४३८. बाहुक २७

४३९. बाहुक सटीक, पृ० २६

४४०. बाहुक सि०ति०, पृ० १२२

४४१. दि०सं०, ना०प्र०स० काशी, पृ० ३०५

४४२. बाहुक,सटीक, पृ० २४

४४३. कवित्र०, पृ० २६१-६२

४४४. बाहुक सटीक, पृ० ३६ ४४५. बाहुक सटीक, पृ० ४०

४४६. पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० १२२ ४४७. दे०पृ० १११५

रावण के अन्त:पुर के दृढ़ द्वार को तोड़ कर मंदोदरी को अन्त:पुर से बाहर निकाल लाये।"

धेया :--

मणि मिल पियो नारि वारिक में भूख न जाति अघाति न धेया ।।[४४८]
रामायन सरन जी ने "धेया" शब्द का अर्थ मट्ठा दूध लिया है - दूध मट्ठा मिल जो हो तो धेया कहावतु है।"[४४९] श्रीकांतशरण जी के अनुसार-"थन से छूटती हुई धार, जो मुंह रोप कर पी जाय।[४५०] वामदेव जी के अनुसार"पर उससे भूख नहीं मिटती है न तृप्ति होती है।"[४५१] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि बरवा जी की भूख न तो बार-बार दूध दुहकर पीने से मिट पा रही थी न वे दूध का फेन पीकर ही अघा पा रहे थे।"[४५२]

इस प्रकार-धेया शब्द के ४ अर्थ लोगों ने लिये हैं --दूध-मट्ठा, थन से छूटती हुई धार तृप्ति नहीं होती, दूध का फेन।

हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ गाै के थन से निकली हुई दूध की धार जो मुंह लगाकर पीई जाय" दिया है।"[४५३]

तुलसी शब्दसागर में "धेया" शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध मानकर ३ अर्थ दिया गया है --१. कोख, पेट, उदर , २. थन से निकली हुई दूध की धार, ३. ओट तरफ, दिशा।

रामायन सरन जी का तो दूध-मट्ठा अर्थ बिल्कुल काल्पनिक है। किसी भी कोश में यह अर्थ नहीं प्राप्त होता। दूध का फेन अर्थ भी कहीं नहीं मिलता। हिन्दी शब्द सागर में "धेया" का एक अर्थ और दिया है - ताजे और बिन मथे हुए दूध के ऊपर उतराते हुए मक्खन को काढ़कर इकट्ठा करने की क्रिया।[४५५] भ्रम से

---

४४८. श्रीकृष्ण०१८

४४९. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० १८

४५०. ,, सि०ति०, पृ० ३६ ४५१. श्रीकृष्ण ० सटीक, पृ० २३

४५२. हि०सं०, अ०भा०वि०परि०,काशी,पृ० ५६१

४५३. दे० पृ०, ४६७ ४५४. दे० पृ० १३७-३८

४५५. दे० पृ० ८६७

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने 'दूध का फेन' अर्थ समझ लिया । 'थन से निकली हुई दूध की धार' अर्थ भी यहाँ तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उद्धृत अंश में पूर्व कवि स्वयं कह रहा है कि नरवाहों ने 'बार-बार दूध दुहकर पिया' । जब दूध पिया गया तो पुनः यह कहना कि थन से निकली हुई दूध की धार मुँह लगाकर पिया, पुनरुक्ति दोष हो जायगा । इस अर्थ में 'धेवा' शब्द का प्रयोग अन्यत्र गीतावली में हुआ है --

तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घेवा ।[४५६]

'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ 'धेवा' का अर्थ तुलसी शब्द-सागर द्वारा समर्थित - 'पेट या उदर' होगा । वामदेव जी ने भी लगभग यही अर्थ किया है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'चरवाहों की बार-बार दूध दुहकर पीने से न भूख मिटती है और न पेट ही भरता है (तृप्ति ही होती है) ।

<u>बररीहे</u> :

यह लतकही चपल बैरी की निपट बररीहै रही है ।[४५७]

'बररी' शब्द का अर्थ रामायन सरन जी ने चालाकी-चतुराई माना है ।[४५८] गीता-प्रेस की टीका[४५९] में तथा श्रीकांतशरण जी[४६०] ने इसका अर्थ कठोर, कड़ी खुरदरी या कर्कश किया है । हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ कड़ा और खुरदुरा , कर्कश, रुख किया है ।[४६१] 'बररी' अनुकरणात्मक है । 'बरबर' से 'बररा' शब्द बना है । ईकारान्त होने से 'बररी' स्त्रीलिंग शब्द है । यहाँ पर 'बररीहे' का अर्थ होगा 'कर्कश' ही । रामायन सरन जी का चालाकी-चतुराई अर्थ सर्वथा अनुमानित है ।

---

४५६. गीता० १।१७

४५७. श्रीकृष्णा० ४२

४५८. ,, सटीक, पृ० ४३

४५९. वे०पृ० ५०

४६०. श्रीकृष्णा०,सि०ति०,पृ० १०२

४६१. वे०पृ० ६५३

आज भी इलाहाबाद जनपद में इस शब्द का प्रयोग 'कर्कश' अर्थ में होता है। सब्जी-विक्रेता प्रायः कहते हैं कि यह मूली या लौकी 'बरेरी' नहीं है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - ये बातें चंचला कुब्जा की हैं जो बरायर (एकदम) कर्कश ही है।

आलहि :-

आलहि बाँस के मांडव मनिगन पूरन हो।[४६२]

'आल शब्द' की व्युत्पत्ति हिन्दी शब्दसागर में सं० आर्द्र से की गई है[४६३] और तुलसी शब्द सागर में संस्कृत 'आल' से। दोनों कोशों में इसका अर्थ-गीला, हरा और कच्चा किया है। यहाँ पर इसका अर्थ हरी (कच्चा) है - 'रत्नों से जड़े हुए हरे-हरे बांसों के मण्डप बने हुए हैं।' सभी टीकाकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। बिहारी ने भी इसका प्रयोग किया है - आहे दे आले बसन जाड़े हू की राति[क]।

बरायन

बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।[४६४]

यहाँ 'बरायन' शब्द के अर्थ में मतभेद है। 'दीन' जी के अनुसार-बरायन शब्द संस्कृत वारण से बना है। लोहे का एक छल्ला जो विवाह के समय वर को पहनाया जाता है। इसमें रत्नों की जगह घुंघरू लगे रहते हैं। लोगों का विश्वास है कि इससे वर को नज़र नहीं लगती। यह छल्ला लोहारिनि लाती है और पहनाते समय अपना नेग लेती है।[४६५] लगभग यही अर्थ श्रीकांतशरण जी ने भी किया है।[४६६] सद्गुरु शरण अवस्थी जी ने इसका अर्थ 'कंकण' किया है।[४६७] तुलसीग्रन्थावली द्वितीयखंड के संपादक ने भी इसका अर्थ 'लोहे का छल्ला' किया है।[४६८] माधुरी के एक लेख में के०पी० दीक्षित कुसुमाकर ने लिखा है कि - 'बरायन का अर्थ कंकन' नहीं होता।

----

४६२. नहछू ३

४६३. दे०,पृ० २६३

क. बिहारी रत्नाकर,दोहा- ३८३

४६४. नहछू, ५

४६५ तुलसी पंच रत्न, नहछू, पृ० २

४६६. नहछू सि०ति०,पृ०७-८

४६७. तुलसी के चार दल-दूसरी पुस्तक, पृ०५

४६८. क०भा०वि०परि० काशी, पृ० २

विवाह के अवसर पर एक घड़ा आता है, जिसमें दूल्हे का नहाया हुआ पानी भर लिया जाता है और इसी से दुलहिन नहलाई जाती है। यह घड़ा बरात के साथ लड़के के घर से लड़की के घर जाता है। अवध में यह प्रथा अब भी भली भाँति प्रचलित है। 'बिहसत आउ लोहारिन हाथ बरायन हो' के स्थान पर 'बिहसत आउ कुम्हारिन हाथ बरायन हो' होगा। विवाह के समय लोहारिन का काम उतना गल जनक नहीं जान पड़ता जितना कुम्हारिन का। हम इसे विवाह का 'नहछू' मानते हैं।"[469] पं० रामकुमार दास जी ने इसका अर्थ मुझे 'क्वारांटा' बताया।

इस प्रकार 'बरायन' के ४ अर्थ लोगों ने किये हैं - लोहे का छल्ला, कंकण, वर के यहाँ से आया हुआ (जल) और क्वारांटा।

हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ इस तरह है - "वह लोहे का छल्ला जो व्याह के समय दूल्हे के हाथ में पहनाया जाता है। इसमें रत्नों के स्थान में गुंजा लगे रहते हैं।[470]

डा०पी०दीक्षित का अर्थ क्लिष्ट कल्पनायुक्त है। उन्होंने पाठान्तर भी कर दिया है जब कि सभी प्रतियों में 'लोहारिनि' ही पाठ मिलता है न कि कुम्हारिन। वर के यहाँ से जो जल कन्या के यहाँ जाता है उसे कुम्हारिन नहीं, बल्कि नाई ले जाता है। मैंने स्वयं कई लोगों से इस शब्द के सम्बन्ध में चर्चा की। पुरोहित पंडितों से भी बात की। सभी ने 'बरायन' का एक दूसरा अर्थ बताया है। उनके अनुसार - नहछू के समय लोहारिनि एक विशेष आकार की लोहे की बनी हुई वस्तु लाती है जो दूल्हे के जामे में बाँध दिया जाता है। गोल लोहे की पट्टी में चारों ओर छेद करके छोटी-छोटी लोहे की पत्तियों की झालर लटकाई जाती है। कहीं-कहीं घुंघची भी लटकाते हैं। उसे ही 'बरायन' कहते हैं।

गोण्डा जिले में उक्त आकार विशेष की लोहे की बनी हुई वस्तु को 'कंकण' कहते हैं, जो लोहार या लोहारिन लाती है।

'व्यावहारिक ज्ञान' नामक अर्थ निश्चय के साधन से इसका 'कंकण' अर्थ ही निश्चित होता है। यहाँ 'क्वारांटा' अर्थ उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह तो कन्या के

---

४६९. माधुरी वर्ष ८, खंड २, सं० ५, पृ० ६२८ ज्येष्ठ ३०६ तु०सं०

४७०. वै० पृ० ३३६६।

यहाँ लोकरीति प्रदान करती है।

गोस्वामी जी ने कंकण छोड़ने का उल्लेख मानस-प्रथम सोपान के ३६० वें दोहे के पहली अर्धाली में किया है - सुदिन सोधि कल कंकन छोरे।

<u>सौंतुख</u> :-

देखौं सपन कि सौंतुख ससि सेखर,सहि।[४७१]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद में हुआ है। हिन्दी शब्द सागर में इसकी व्युत्पत्ति सम्मुख से मानी गयी है जो विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती और अर्थ प्रत्यक्ष, सम्मुख किया गया है।[४७२] दीन जी प्रा० सुंतु+अक्ष से मानते हुए आँख से देखी हुई वस्तु (प्रत्यक्ष) अर्थ किया है।[४७३] सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ प्रत्यक्ष, साक्षात् किया है। अतः सौंतुख का अर्थ प्रत्यक्ष निर्विवाद है। आजकल की दृष्टि से यह दुरूह शब्द है।

<u>घरबात</u> :-

घरबात घरनि समेत कन्या आनि सब आगे धरी।।[४७४]

अयोध्यानाथ शर्मा और रामबहोरी जी ने घरबात का अर्थ-घर की बातें, घर सम्बन्धी बातें किया है।[४७५] अच्युतानन्द दत्त जी ने लगभग यही अर्थ किया है - घर की सभी बातें - यहाँ तक कि स्त्री और पुत्री तक मुनियों के आगे लाकर रख दी अर्थात् उनके प्रति हिमालय ने निश्छल भाव प्रकट किया।[४७६] शेष लगभग सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ घर की सामग्री, घर की सम्पत्ति किया है। हिन्दी शब्दसागर में भी इसका अर्थ-घर की सामग्री, घर की सम्पत्ति किया है।[४७७] यहाँ पर घरबात

---

४७१. पा०मं० ७७

४७२. हे०पु० ३६६५

४७३. तुलसीपंचरत्न, पृ० ७

४७४. पा०मं० ६२

४७५. पा०मं०,सटीक, पृ० २८

४७६. ,, ,, पृ० २६

४७७. हे० पृ० ८८१

का अर्थ घर की बातें बिल्कुल काल्पनिक हैं। स्वयं गोस्वामी जी ने घर की सामग्री (सम्पत्ति) अर्थ में इसका प्रयोग कई स्थानों पर किया है –

कृपगात ललात जो रोटिन को, घरबात धरे खुरपा खरिया।[४७८]

निज घर की घरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।।[४७९]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद्य में हुआ है साथ ही इसका प्रयोग प्रांतिक है। हिन्दी घर+बात प्रत्यय से 'घरबात' शब्द बना है, जिसका अर्थ है – घर की सामग्री'।

हरदि-बेदन

प्रथम हरदि बेदन करि मंगल गावहिं।[४८०]

हरदि बेदन-सं० हरिद्रा से बना है। विवाह में हल्दी लगाने की एक प्रक्रिया को हरिदिबेदन कहते हैं। हल्दी वर और वधू दोनों को अपने-अपने जन्म भूमि पर लगायी जाती है। यहाँ पर कवि ने कन्या (सीता जी) के हल्दी लगाने की रीति का उल्लेख किया है। प्राय: टीकाकारों ने हरदि-बेदन शब्द ही रखकर अर्थ को अस्पष्ट रखा है।

विदेशी शब्द :–

फराक :

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा।।[४८१]

पोद्दार जी 'फराक' का अर्थ लिखते हैं कि – अलग कुछ दूरी पर वह सुंदर घाट है।[४८२] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक के मत से थोड़ी ही दूर ऐसा दूसरा सुन्दर घाट बना हुआ था।[४८३] श्री अवधबिहारी दास ने भी ऐसा ही अर्थ किया है – यहाँ से कुछ

---

४७८. कवि० ७।४६

४७९. विनय० ५

४८०. जा०मं० १२६

४८१. मानस ७।२९।१

४८२. मानस०,पृ० ८६६

४८३. तु०ग्रं०,ना०प्र०स०,काशी, पृ० ६४०

दूरी पर[४८४] विनायक राव ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है - 'कुछ दूर अन्तर से'।[४८५] शेष समस्त टीकाकारों ने इसका लम्बा-चौड़ा, विस्तृत अर्थ किया है। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ-लंबा-चौड़ा, विस्तृत, आयत दिया हुआ है।[४८६]

'फराक' शब्द फारसी 'फ़राख' से विकसित है। फारसी ख का क हो गया है। फारसी में फराख को विशाल कहते हैं। उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने भ्रम से फारसी फर्क से फ़राक शब्द का विकास मानने के कारण ही इसका अर्थ 'अलग कुछ' किया है। तुलसी शब्द सागर के सम्पादक महोदय ने भी इसी भ्रम के कारण इसका अर्थ-अलग, हटकर किया है[४८७] किन्तु यह शब्द फर्क से नहीं फ़राख से विकसित है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - दूर पर बड़े विशाल (विस्तृत) मनोहर घाट जहाँ घोड़ों और हाथियों के समूह जल पीते हैं।

सही :

अधिक आपु तें आपनो सुनि मान सही है।[४८८]

इस पंक्ति के 'सहीहै' शब्द पर विवाद है। देवनारायण द्विवेदी के मत से - 'तू अपने से अधिक अपने सेवक की सुनता है और उसका मान रखने वाला है।[४८९] बाबू शिवप्रकाश के अनुसार 'सहते हो अर्थात् स्वीकार करते हो'।[४९०] इसी प्रकार रामेश्वर भट्ट जी[४९१] और गीता प्रेस[४९२] की टीका में 'सहता था' अर्थ किया है। वियोगीहरि जी ने अपनी टीका में 'सहीहै' शब्द का अर्थ नहीं किया है - तू अपने सेवक की सुनता और मानता था।[४९३] वीरकवि जी के अनुसार- 'आप सेवक को

---

४८४. मानस, पृ० १०४६।
४८५. वि०टी०, पृ० ७७
४८६. दे०पृ० ३२७२
४८७. दे०पृ० ३१८
४८८. विनय० ३२
४८९. ,, सटीक, पृ० ५८
४९०. ,, ,, पृ० ४८-४९
४९१. पृ० ,, ,, पृ० ४७
४९२. ,, ,, पृ० ५८
४९३ ,, ,, पृ० १२६

अपने से अधिक मानते हैं, उनका दुःख सुनकर मन चंचल हो जाता है।"[४९४] श्रीकांत-शरण जी[४९५] पं० सूर्यदीन शुक्ल जी,[४९६] पं० रामकुमार जी, दीन जी[४९७] और विनय पीयूषकार[४९८] ने 'सहिले' का अर्थ -सही (सत्य) मान लो किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त टीकाकारों ने 'सही' के ३ अर्थ किये हैं --सहना, चंचल होना और ठीक,सत्य।

यहाँ पर वीर कवि जी का - चंचल होना तो बिल्कुल अटपटांग अर्थ है। वास्तव में 'सही' शब्द के दो अर्थ होते हैं - सहना और ठीक, सत्य, उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने संस्कृत 'सहन' से विकसित मानने के कारण इसका अर्थ 'सहना' किया है। 'सहना' अर्थ में 'सही' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने श्रीकृष्णगीतावली में किया है --

तुलसी परमेश्वर न सहेगो, हम अबलनि सब सही है।[४९९]
उक्त वास्थातथ्य 'सही' शब्द फारसी 'सहीह' से विकसित है, जिसका अर्थ है - ठीक, सत्य, गोस्वामी जी ने इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है -

'सिय- रघुबर-सेवा सुचि ह्वैहौ तो जानिहौं सही सुत मोरे।[५००] यहाँ 'सही सुत' का अर्थ है -'सच्चे पुत्र'। 'प्रकरण' अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ 'सही' का अर्थ - ठीक, सत्य है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -

'अपने से अपना (सेवक, आश्रित) अधिक होता है, यह (बात) सुनकर सत्य (ठीक) मान लो।' दीन जी, सूर्यदीन शुक्ल जी और विनयपीयूषकार आदि टीका-कारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

---

४९४. विनय० सटीक, पृ० १२६

४९५. ,, सि०ति०, पृ० १५६

४९६. ,, सटीक, पृ० ३२

४९७. वि०पी०,खं० १, पृ० ११३

४९८. वही, पृ० ११२-१३

४९९. श्रीकृष्णा०, ४२।

५०० गीता० २।११।३

<u>निलंद :</u>

मंद निलंद अंगेरा दलकन पाइय दुख फकफोरा रे ।

'निलंद' शब्द फ़ारसी 'बुलंद' से विकसित है, जिसका अर्थ है - ऊँचा, उच्च, केशव ने भी 'निलंद' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है -

प्रबल निलंद दर वारनि के दंतनि त्यों बैरनि के धाके नाके दुरग बिदारे हैं ।[५०२]

उक्त पंक्ति का भावार्थ - (मार्ग) नीचा-ऊँचा कण्टक से पूर्ण है, उसमें डोला को झटका लगने से दुःख प्राप्त होता है । 'वक्ता की भावना' अर्थ निश्चय के साधन से लक्षणार्थ होगा - सांसारिक जीवन मार्ग में कभी तो जीव के मन में तामस प्रवृत्तियों से वासनाओं की लहरें उठती हैं । उदाहरणार्थ दोष दृष्टि, पर हानि आदि नीचे कर्मों की वासनाएँ । इसी को कवि मंद मार्ग कहता है । कभी उच्च रजोगुण से किया हुआ धर्मकार्य । जैसे सफलता के लोभ से किसी देवता की पूजा आराधना अथवा विजय कीर्ति की कामना से धर्मानुष्ठान करना आदि निलंद(उच्च) मार्ग है ।

<u>कागर :-</u>

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन,उप्पम अंगनि पाई ।[५०३]

बैजनाथ जी के अनुसार कीर को कागर अर्थात् केंचुलि यथा कीरा कोवेड निर्मल देखात अथवा कीर सुवा को पिंजरा से अंग की शोभा ढकी अरु बंधन ते मन उदासीन जब वसन उतारि डारे तब अंग की शोभा प्रसिद्ध देख परी ।'[५०४] शंकरप्रसाद जी इसका अर्थ करते हैं -'भाव जैसे पिंजड़ा तजे सुआ खुशी होत तैसें वस्त्रादि तजे भये वा कीर के कच्चा ने ज्यों कांता तज्यौ त्यौं रामने नृपचीर भूषन ताकी ने नाईं अंगनि उपमा उपाई ।।[५०५] शेष समस्त आधुनिक टीकाकारों ने 'कागर' का अर्थ पंख किया है ।

----

५०१. विनय० १८६

५०२. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३५०६

५०३. कविता० २।१

५०४. कविता०, पृ० ३५

५०५. कवित्त०, पृ० १७

हिन्दी शब्दसागर में इसके दो अर्थ दिये हैं -- १. कागज, २. पंख, पर । बैजनाथ जी ने 'कीर' का अर्थ सर्प करके 'कागर' का अर्थ केंचुल किया है। किन्तु कीर का अर्थ 'तोता' ही होता है। कीड़ा (कीरा) का अर्थ सर्प होता है न कि 'कीर' का। गोस्वामी जी ने 'कीर' शब्द का प्रयोग 'तोता' के अर्थ में गीतावली में किया है --

मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीर।[506]

अतः केंचुल अर्थ यहाँ अग्राह्य है। 'कागर' का 'पिंजड़ा' अर्थ में प्रयोग मुझे कहीं देखने में नहीं आया। अतः बैजनाथ जी और शंकरप्रसाद जी का अर्थ मनमाना है। कागर, कागज फारसी 'कागज' के विकसित रूप हैं हिन्दी में इसका एक विकसित रूप 'कागद' भी मिलता है। 'कागज़' का विकास इस रूप में माना जा सकता है: 'कागज़ कागद कागड़ कागल कागर'।[507] उक्त विवेच्य 'कागर' का प्रयोग तोते के पंख (पर) के लिए हुआ है। पंख या पर कागज की तरह पतला होता है। अतः कागज के आधार पर पंख (पर) अर्थ प्रस्फुटित हुआ। इस तरह यहाँ अर्थ स्फोट का तत्व मिलता है। 'पंख' के अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने उपर्युक्त पंक्ति के दूसरे सवैये में किया है --

कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई ।।[508]

उपर्युक्त व्याख्यातव्य पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा - 'श्रीराम के अंगों ने राजोचित वस्त्रों और आभूषणों को त्यागकर वही शोभा प्राप्त की जो तोता अपने पंखों को त्यागकर पाता है।'

डा० भानुकुमार जैन यहाँ शब्द दोषों में न्यूनपदत्व दोष का आरोप करते हुए लिखते हैं कि - 'यहाँ कवि अभिलाषित अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ है, क्योंकि उसने इसे 'त्याग' शब्द के लिए बिना कुछ लाए ही लिख दिया है। .... त्याग शब्द

----

506. गीता० ६।१५

507. दे०, डा० शिवनाथ शर्मा, हिन्दी भाषा का अर्थतात्विक विकास, पृ० १२०

508. कविता० २।२

के बिना यहाँ अर्थ लगाना असंभव हो जाता है।'[५०९] किन्तु आचार्यों ने अर्थनिश्चय के साधनों में एक साधन 'शब्दाध्याहार' माना है। इसके अनुसार अपूर्णवाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के अध्याहार (पूर्ति) से होता है। अतः यहाँ 'त्याग' शब्द का अध्याहार करके अर्थ करना चाहिए।

हलक :-

माहिष्मती को नाथ साहसी सहसबाहु
समर समर्थ, नाथ! हेरिए हलक में।।[५१०]

तुलसी शब्द सागर में इसका अर्थ गला, कंठ, किया हुआ है।

'हलक' शब्द अरबी 'हल्क' का विकसित रूप है। अरबी 'हल्क' के ये अर्थ प्राप्त हैं -- (सिर) मुंडन। किसी को गले से घायल करना। गला वायु नलिका, स्वर नलिका (स्टाइन गास)।[५११] हिन्दी 'हलक' का अर्थ - गले की नली, कंठ है।[५१२] यहाँ पर इसका अर्थ 'हृदय' है। यद्यपि अरबी में इसका अर्थ 'हृदय' नहीं है। लगता है अनुप्रास के अनुरोध से 'हृदय' के अर्थ का आरोप 'हलक' पर किया गया है। आधुनिक हिन्दी में इसका अर्थ जैसा कि शब्दसागर से स्पष्ट है 'हृदय' नहीं है। अतः यहाँ भी संकोच का तत्त्व मिलता है। कवितावली के सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'हृदय' ही किया है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा --

'हे नाथ! किंचित् हृदय में सोचकर देखिये, माहिष्मती पुरी का राजा साहसी सहस्रबाहु रण में कैसा पराक्रमी था।' तुलसी शब्दसागर का गला, कंठ अर्थ बिल्कुल असंगत है।

रवा

राम को किंकर सो तुलसी समुझेहि भलो कहिबो न रवा है।[५१४]

----

५०९. तुलसीकृत कवितावली का अनुशीलन, पृ० १३७

५१०. कवित्त० ६।२५

५११. वे० पृ० ४७६

५१२. डा० शिवनाथ, हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास, पृ० ४५४

५१३. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३७२०

५१४. कवित्त०, ~~सटीक, पृ० २०२~~ 6/56

बैजनाथ जी के अनुसार रवा नहीं है शास्त्र रीति नहीं है बल्कि दूषण है।[५१५] शेष समस्त आधुनिक टीकाकारों ने यहाँ तक कि प्राचीन टीकाकार हरिहरप्रसाद जी ने भी इसका अर्थ उचित किया है।

'रवा' फारसी शब्द है, जिसका अर्थ- हिन्दी शब्दसागर में १. उचित, ठीक, २. प्रचलित, चलनसार किया है।[५१६] यहाँ प्रथम अर्थ ही अनुकूल है। अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'परन्तु आज वही तुलसी श्रीराम का किंकर हो गया। इस बात को समझना ही अच्छा है, कहना उचित नहीं है। बैजनाथ जी का अर्थ बिल्कुल असंगत है।

<u>तमाहि</u> :--

> लोक परलोक को बिसोक सो तिलोक ताहि,
>
> तुलसी तमाइ ताहि काहु बीर आन की ? [५१७]

कतिपय प्राचीन प्रतियों एवं संस्करणों में 'तमाइ' पाठ भी मिलता है।[५१८] श्रीबैजनाथजी और हरिहरप्रसाद जी[५१९] 'तमाहि' का अर्थ 'क्रोध' करते हैं। शेष समस्त टीकाकारों ने इसका अर्थ लोभ, लालच, या लालसा किया है। इस शब्द का प्रयोग पद्य और पुरानी हिन्दी में हुआ है। अरबी 'तमअ' से तमाइ (तमाह) शब्द विकसित है। इसका अर्थ हिन्दी शब्दसागर में १. लालच, लोभ, हिर्स, २. चाह, इच्छा, ख्वाहिश किया है।[५२०] यहाँ पर 'क्रोध'-अर्थ की संगति किसी प्रकार नहीं है। यहाँ पर इसका अर्थ लालसा ही यथार्थ है। लोभ या लालच के अर्थ में इसका प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है --

> जाप की न, तप खप कियो न तमाइ जोग,
>
> जागन, बिराग त्याग तीरथ न तन को।[५२१]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - वह अपने लोक और परलोक की ओर से निश्चिंत है। कहिये (तो) तुलसीदास! उसे त्रैलोक्य में किसी अन्य वीर की लालसा ही क्या ?

---

५१५. कवितासटीक, पृ० २०२ | ५१६. हि०श० ४१२७
५१७. बाहुक, १३। | ५१८. बाहुक सटीक, पृ० २२
५१९. कवित्त० ,, पृ० २६० | ५२०. हि० श० २०१८
५२१. कविता० ७।७७

<u>कानिगर</u>

> तुलसी के माथे पर हाथ फेरौ कीस-नाथ ,
> देखिए न दास दुखी तोसे कानिगर के ।[522]

'कानिगर' का अर्थ परमेश्वरीदीनलाल ने इसप्रकार किया है - आपके समान 'रौब-युक्त' प्रभु के दास को कष्ट में रखना उचित नहीं ।[523] शेष समस्त टीकाकारों ने इसका अर्थ मर्यादा की लाज रखने वाला, अपनी कीर्ति की रक्षा का ध्यान रखने वाला, या नाम की लाज रखने वाला किया है । हिन्दी शब्दसागर में यही अर्थ दिया हुआ है ।[524] यहाँ 'कानिगर' का अर्थ रौबयुक्त [illegible] है । यह शब्द पूर्ण रूप से विदेशी नहीं है, बल्कि दो देशों से मिला हुआ है । हिन्दी 'कानि' और फारसी 'गर' से इस शब्द का निर्माण हुआ है जिसका अर्थ है - अपनी मर्यादा का ध्यान रखने वाला' । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - हे कीशनाथ ! तुलसी के मस्तक पर हाथ फेरिये । आप-जैसे अपनी मर्यादा का ध्यान रखने वाले के दास का दुखित रहना उचित नहीं ।'

<u>इताति</u> :-

> तुलसी दिन भल साहु कहँ , भली चोर कहँ राति
> निसिबासर ताकहँ भलौ, मानै राम इताति ॥[525]

'इताति' शब्द अरबी 'इताअत' से विकसित है । इसका अर्थ हिन्दी शब्दसागर में - आज्ञापालन ,ताबेदारी किया है ।[526] प्राय: सभी टीकाकारों ने निर्विवाद रूप से इसका अर्थ 'आज्ञापालन' ही किया है । इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी कवि ने किया है --

----

५२२. बाहुक ३३

५२३. बाहुक सटीक, पृ० ४८

५२४. हिं०पृ० ४४६-४७

५२५. दोहा० १४८

५२६. दे० पृ० २८७

गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग बैर (द्वेष) अर्थ में कवितावली में किया है -- "कै मान ऐसा कीबे को आपु आहि को ?"[५३३] उक्त व्याख्यातव्य शब्द का अर्थ यहाँ "अंजना" होगा --

"इसी समय भाट लोग सबको अंजित करते हुए विरुदावली कहने लगे।"

सांख्दानु :-

"मैं तैं मिट्यो मोह तम, ऊगौ आतम-भानु ।
संतराज सो जानिए, तुलसी या सांख्दानु ।।[५३४]

इस "सांख्दान" शब्द का प्रयोग पद्य में हुआ है। साथ ही यह प्रांतिक प्रयोग है। हिन्दी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति "सैंहस" से मानी गयी है और अर्थ चिह्न पहचान निशान किया गया है।"[५३५] कुछ लोग "सांख्दान" शब्द अरबी शब्द मानते हैं। सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ लक्षण, पहचान, चिह्न किया है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग उक्त ग्रन्थ में भी हुआ है --तुलसी यहै सांत सांख्दानी।"[५३६] अतएव उक्त व्याख्येय शब्द का अर्थ यहाँ लक्षण (पहचान) है --

तुलसी दास कहते हैं कि संत को इस लक्षण से जानना चाहिए कि उसके मन में मैं और तू का अज्ञान मिट चुका हो और उसके हृदय में आत्मज्ञान का सूर्य उदय हो चुका है। उसी को संतों में सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए।" उक्त शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। अप्रचलित होने के कारण दुरूह भी है।

सुमौज

तापर करहिं सुमौज बहुत दुख खोवहिं हो।[५३७]

"सुमौज" विशुद्ध विदेशी शब्द नहीं है। "सु" भारतीय है तो "मौज" अरबी। "मौज"

----

५३३. कविता० ७।१००

५३४. वै०सं० ३३

५३५. हि०श० ३४६२

५३६. वै०सं०, ५१।

५३७. नह्छू० १७ ।

अरबी संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। 'मौज' का अर्थ आनंद, सुख है।[५३८] 'सु' एक संस्कृत उपसर्ग है जो संज्ञा शब्दों के पूर्व जोड़ा जाता है, विशेषण और क्रियाविशेषणों में भी जुड़ता है। इसका अर्थ सुन्दर, अच्छा और अधिक, अत्यधिक, बहुत अधिक आदि है। यहाँ पर 'सु' का अर्थ अत्यधिक है। इस प्रकार सुमौज का अर्थ होगा - अत्यधिक आनंद। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - वे उस दिन से अत्यधिक आनंद करते हैं और अपने समस्त दुःख मिटाए डाल रहे हैं। सद्गुरुशरण अवस्थी जी इसे 'गंगा-जमुनी' समास कहते हैं।[५३९]

---

५३८. दे०सं०हि० शब्द पृ० ६८८ और संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ११०६

५३९. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १७

अध्याय — ४

पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान :—

तुलसी साहित्य के विभिन्न संस्करणों में वर्तनी भेद और शैली की विभिन्नता के अतिरिक्त ऐसे भी अनेकों पाठभेद हैं, जिनसे अर्थ में महत्वपूर्ण अन्तर पड़ जाता है। ऐसे पाठभेदों के सम्बन्ध में प्राय: कहा जाता है कि प्रतिलिपिकारों ने अथवा व्यासीय शैली के टीकाकारों और संशोधकों ने अर्थ न समझकर मनोनुकूल पाठ-परिवर्तन कर दिये हैं। यह बात नि:संदेह सत्य है। कतिपय पाठान्तर ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जो अर्थ की दृष्टि से बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। उदाहरणार्थ - 'पायस' पाठ अर्थ की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है किन्तु प्रतिलिपिकारों ने 'बायस' कर दिया है। इसी प्रकार 'अमय सोह न ऊसमय' को 'अगव सोह ऊस जिमि' कर दिया है। कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो कवि-प्रयोग और अर्थ की दृष्टि से असंगत हैं। कहीं-कहीं अर्थानुसंगति के आधार पर भी पाठ-भेद कर दिये गये हैं। यत्र-तत्र कोरी वैज्ञानिकता के आधार पर पाठभेद कर दिया गया है। पाठ-चयन के सिद्धान्त के आधार पर जो पाठ खरा नहीं उतरा है उसे अस्वीकार कर दिया गया है। किन्तु वैज्ञानिक प्रक्रिया पर ध्यान रखते हुए भी साहित्यिक सरणि का परित्याग नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है तो साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर बल देते हुए भी अर्थ को प्रमुख स्थान प्रदान करती है। अत: पाठ-चयन की वैज्ञानिक एकवादिता का निदान साहित्यिक सरणि अर्थात् अर्थानुसंगति के आधार पर किया गया है। कतिपय टीकाकारों ने प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर भ्रष्ट पाठ को ही क्लिष्ट कल्पना करके अर्थ निकालने के अनेकानेक प्रयास किये हैं। चाहे वह अर्थ उस पाठ में विद्यमान हो अथवा नहीं खींचतान करके दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। ऐसे टीकाकारों ने अर्थानुसंगति बैठा देना ही पाठ-समस्या का निदान समझ लिया है। अत: प्रस्तुत अध्याय में पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं का निदान प्रसंग, अर्थ, कविप्रयोग और कवि के प्रवृत्तियों आदि पर ध्यान देते हुए किया गया है। आवश्यकतानुसार विषयानुसंगति, लेखानुसंगति और कठिनतर पाठ की स्वीकृति आदि पाठ-चयन के सिद्धान्तों का भी

उपयोग किया गया है। प्राय: संपादकों ने अपूर्ण प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर ध्यान नहीं दिया है। विनय पत्रिका के संदर्भ में उन्होंने अपेक्षाकृत पूर्ण प्रतियों को ही महत्व दिया है। किन्तु गोस्वामी जी मुक्तकों एवं स्फुट पदों की रचना समय-समय पर आजीवन करते रहे। अतएव पूर्ण हस्तलिखित प्रति ही प्रामाणिक है यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए यहाँ पूर्ण हस्तलिखित प्रति पर विचार करते हुए अपूर्ण प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति पर विशेष दृष्टि रखी गयी है।

<u>कायस-पायस</u>

पायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।[1]

उक्त अर्धाली में कहीं 'पायस' पाठ है तो कहीं 'कायस'। महुआ (पटना) की सं० १६४१ की परम्परा की प्रति (लिपिकाल सं० १८७१) में 'कायसु' पाठ है।[2] श्रीरामचरणदास,[3] रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार,[4] रामनरेश त्रिपाठी जी,[5] गीताप्रेस,[6] अवध विहारीदास जी,[7] ग्राउस महोदय,[8] श्रीकांतशरण जी[9] और जानकी शरण जी मानस पीयूषकार[10] आदि टीकाकारों ने 'कायस' पाठ माना है और पुनरुक्ति दोष के परिहार के लिए 'कायस और काग' दोनों के साथ क्रियाएं हैं, अत: पुनरुक्ति नहीं है, ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया है। शंभुनारायण चौबे जी, विश्वनाथ त्रिपाठी जी और डा० मातापसाद गुप्त ने भी अपने संस्करणों में 'कायस' पाठ को ही स्वीकार किया है।[11] शंभुनारायण चौबे जी के संस्करण के 'प्रस्तावना' में कहा गया है कि 'भावाभिव्यक्ति की तीव्रता एक ही शब्द या उसके पर्याय के बार-बार उच्चारण का कारण बनती है। यह गुण है क्योंकि अर्थ के साथ भावतीव्रता का बोध काव्य की श्रीसंपदा का आभासक होता है। वैसे अनुराग कभी भी प्रियपात्र के प्रति विरसक नहीं होता और पुनरुक्तिवदाभास अनुप्रास कम सुंदर अलंकार भी नहीं होता।'[12]

---

१. मानस १।५।२

२. मानस,काशिराज संस्क०,पृ० ४६३

३. रामा०,पृ० १८

४. रामा०परि०परिशिष्ट प्र०पृ० १२

५. मानस,पृ० ६

६. वही, पृ० ३६

७. वही, पृ० १०

८. द रामा० आव तुलसीदास, पृ० ४

९. मानस, सि०ति०प्र०सं० पृ० ५२

१०. श्रीमानस मार्तण्ड टीका,प्र०सं०,पृ० १४१

११. काशिराज संस्करण, आत्म निवेदन, पृ० २४,२५

१२. वे० प्रस्तावना, पृ० ३२-३४।

उदयपुर (राजस्थान) के सरस्वती भंडार की प्रति (लपि सं० १७७१) और नरोत्तम सिंह (लिपि- सं० १७८५) की प्रति में पायस पाठ है।[१३] श्रावण कुंज अयोध्या की प्रति (लिपि० सं० १६६१), रघुलिवारी (लिपि सं० १७०४) जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा की प्रति (लिपि० -सं० १७८७) और रघुनाथ सिंह (लिप सं० १७८३) के हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम पंक्ति (संशोधन के पूर्व का) पाठ पायस है।[१४] विनायक राव[१५] संतसिंह पंजाबी, मुंशीरोशन लाल[१६] और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र[१७] आदि टीकाकारों ने भी पायस पाठ माना है। शुकदेव लाल ने पाठ बायस माना है किन्तु अर्थ पायस का किया है - जैसे जो अति सौरभ स्वादिष्ट पायस कहै खीर करि के बड़े प्रेम ग्नित पाले जावैं तौ क्या कव्वे कभी निरामिष होते हैं।[१८] बैजनाथ जी के अनुसार - यह जो बायस पाठ सो अशुद्ध है एक तो पुनरुक्ति दूसरे काकाक को कुछ भोजन नहीं होत तासे पायस चाहिए यथा पायस जो खीर सो परम पावन है ताको भोजन दे अत्यंत अनुराग ते पालिये अर्थात् मधुर बचन बोलिये भाव उत्तम भोजन दीजे उत्तम वचन सिखाइये तथापि काककबहुँ कि निरामिष होय।[१९]

'बायस' या 'पायस' पाठ से कोई विशेष अर्थ-समस्या नहीं उत्पन्न होती। किन्तु यदि प्राचीन और प्रामाणिक पाठ 'पायस' प्राप्त हो जाता है तो अर्थ में उत्कृष्टता के साथ ही सुसंगतता आ जाती है। पुनरुक्ति परिहार और 'पायस' का प्रतिद्वंदी शब्द 'निरामिष' उपयुक्त हो जाता है। वैसे पुनरुक्ति भय से मनोनुकूल पाठ नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यदि प्राचीनतम पाठ 'पायस' है तो भावाभिव्यक्ति की तीव्रता' और 'पुनरुक्तिवदाभास' अनुप्रास के प्रलोभन से 'बायस' पाठ स्वीकार करना कवि के भावों का हनन करना है। उपर्युक्त अधिकांश संस्करणों और हस्तलिखित प्रतियों में 'बायस' और 'पायस' दोनों पाठ प्राप्त होते हैं। पर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने मानस पाठ-शोध के सम्बन्ध में विवेचनापूर्ण ढंग से इसका 'पायस' पाठ

---

१३. काशिराज संस्करण, पृ० ४६३
१४. वही।
१५. विनटीकाल० पृ० ३६
१६. मा०भा०, पृ० २२
१७. शंभुनारायण चौबे का संस्क०,प्रस्तावना,पृ० ३२
१८. रामा०, पृ० ७
१९. रामा०बाल० पृ० ४३

निर्धारित किया है । उनके अनुसार भागवतदास कुंज अयोध्या, रघुपतिविहारी तिलक, बाबा हरलाल चतुर्वेदी मथुरा, और रघुनाथ तिलक की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम अंकित (संशोधन के पूर्व का) पाठ 'पायस' है । यद्यपि इस अर्धाली में 'पायस' और 'कागा' से होने वाली पुनरुक्ति का परिहार करने के लिए पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार है तथापि यहाँ दो बार उल्लेख की कोई आवश्यकता है नहीं । अनुराग से पालने में 'निरामिषत्व' का ग्रहण दूरारूढ़ है । 'पायस' (खीर) के द्वारा 'निरामिष' की प्रतिपन्नता ठीक ठीक होती है । 'पायस' और 'पालिअहिं' में 'प' का अनुप्रास भी है जिसकी दाद अलंकार प्रेमी भी देंगे ऐसा लगता है । आधुनिक संस्करणों में 'पायस' ही पाठ गृहीत है । जिन प्राचीनतम हस्तलेखों को उनके संपादकों ने आधार बनाया उन्हीं में संशोधन के पूर्व 'पायस' पाठ है, जिस पर उन लोगों का ध्यानाकर्षण नहीं हुआ।[20] तुलसी ग्रन्थावली प्रथम खंड में व्यास-दीक्षित का एक श्लोक दिया है । यद्यपि उसमें संदर्भ नहीं अंकित है तथापि इसके द्वारा भी 'पायस' पाठ की ही पुष्टि होती है —

न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः ।। काकः सर्व रसान्भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यति ।।[21]

पाठ वही उचित होता है जो प्राचीनतम हो, विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति से सिद्ध हो अर्थात् जो उचित अर्थ प्रदान करे, प्रसंगानुकूल हो, रचयिता के प्रवृत्तियों के अनुकूल हो और जिसमें पुनरुक्ति न हो । 'पायस' पाठ उक्त सभी दृष्टियों से तर्कसंगत है । साथ ही कठिनतर पाठ भी है । अतः वही पाठ उपयुक्त और ग्राह्य है । 'पायस' पाठ स्वीकार करने के पश्चात् उक्त अर्धाली का अर्थ होगा — 'कौवे को बहुत ही अनुराग से खीर खिलाकर पालिये, (तो भी) क्या मांसत्यागी (निरामिष) हो सकते हैं ? 'पायस' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में गोस्वामी जी ने रामाज्ञा-प्रश्न में किया है —

---

२०. मानस, काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २६

२१. श्रीरामचरितमानस, अ०भा०वि०परिषद, काशी, पृ० १५

दसरथ कुलगुरु की कृपा सुतहित जाग कराइ ।
पायस पाइ बिभाग करि, रानिन्ह दीन्ह बुलाइ ।।[22]

<u>सकल कुल — सकुल रन ।</u>

राम सकुल रन रावनु मारा । सीय सहित निज पुर पगु धारा ।।[23]

डा० माताप्रसाद गुप्त वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करते हुए 'सकल कुल' पाठ निर्धारित करते हैं । सं० १७२१ , सं० १७६२, लाला छक्कन लाल जी की पोथी और भागवत दास जी की पोथी में 'सकल कुल' पाठ है ।[24]

सं० १६६१, सं० १७०४ की हस्तलिखित प्रतियों एवं कोदोराम जी के गुटका में 'सकुल रन' पाठ है । मानसपीयूषकार[25] गीताप्रेस के संस्करण और काशिराज संस्करण में भी यही पाठ है । इस प्रकार 'सकुल रन' पाठ प्राचीनतम है । अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर भी यही पाठ तर्कसंगत लगता है । उक्त अर्धाली में कवि 'राम' से 'रामनाम' को बड़ा सिद्ध करना चाहता है । 'सकल कुल रावनु मारा' पाठ से सायासता उतनी नहीं स्पष्ट होती जितनी 'सकुल रन रावनु मारा' से । क्योंकि कवि प्रथम 'सायासता' द्योतित करके बाद में 'बिनु श्रम' कहना चाहता है । तात्पर्य यह है कि जिस कार्य को राम संग्राम में अपने उदार पराक्रम से करते हैं, 'नाम' उसी को अनायास कर डालता है । रन और रावनु में अनुप्रास की छवि भी दर्शनीय है । अतएव 'सकुल रन' पाठ प्राचीनतम, कठिनतर उदात्त अर्थ युक्त एवं विषयानुसंगत है । डा० गुप्त ने कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से 'सकल कुल' पाठ रखा है, किन्तु साहित्यिक सरणि का परित्याग नहीं किया जा सकता । 'सकल कुल' जहाँ 'सकुल' में समाविष्ट हो जाता है वहीं 'रन' में और उत्कृष्टता आ जाती है । विनय पत्रिका में भी कवि ने 'सकुल' का प्रयोग किया है -- 'सकुल निर्मूल करि दुसह दुख हरहुगे ।'[26]

---

२२. रामाज्ञा० ४।१।२

२३. मानस १।२५।५

२४. मा०पी०आ०सं०,१ पादटिप्पणी, पृ० ३८१

२५. वही ।

२६. पद २११।

<u>-सुबंधु -सुबद्ध</u>

घोर धार भृगुनाथ रिसानी । घाट सुबद्ध राम बर बानी ।। [२७]

पं० रामवल्लभाशरण जी तथा भागवतदास की प्रति में सुबंधु पाठ है। मानस परिचारिकाकार ने भी 'सुबंधु' पाठ माना है।[२८] सुबंधु पाठ को प्रमाणित करने में उन्होंने दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। उनका भाव बिल्कुल काल्पनिक और पंडिताऊ है। पं० छक्कन लाल की प्रति में 'सुबंध' पाठ है। डा० माताप्रसाद गुप्त कहते हैं कि सुबंध ही पढ़ने में सुबद्ध हो जाता है।[२९] डा० गुप्त ने गवेषणापूर्ण - वैज्ञानिक ढंग से इसका पाठ 'सुबद्ध' ही निर्धारित किया है। मानस पीयूषकार, गीता-प्रेस और पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने भी 'सुबद्ध' पाठ को ही प्रमाणिक सिद्ध किया है। प्रासंगिक दृष्टि से विचार करने पर भी यही पाठ विषयानुसंगत एवं अर्थानुसंगत है। 'सुबंधु' पाठ मानने से अर्थ होगा - 'लक्ष्मण जी और श्रीराम जी की श्रेष्ठ वाणी ही घाट है। परशुराम-लक्ष्मण संवाद में लक्ष्मण की वाणी को 'श्रेष्ठ' कहना बिल्कुल असंगत है। लक्ष्मण की वाणी के लिए कवि स्वयं कह रहा है - 'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु।' बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु ।।'[३०] थर थर कांपहिं पुर नर नारी । छोट कुमार खोट बड़ भारी ।।[३१] सम्पूर्ण प्रसंग में लक्ष्मण की वाणी तिलमिला देने वाली है। ऐसी वाणी को गोस्वामी जी कभी 'श्रेष्ठ' नहीं कहेंगे। हाँ श्रीराम जी की वाणी अवश्य श्रेष्ठ है - 'बढ़त देखि जलसम बचन बोले रघुकुल भानु।', 'राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने।'[३२] 'अति विनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी।'[३३] सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।[३४] अतएव

---

२७. मानस १।४१।४

२८. मा०पी०बा०खं० १, पाद टिप्पणी, पृ० ६१८ और पृ० ६२०

२९. मानस, पृ० २५ (पाद टिप्पणी)

३०. मानस १।२७६

३१. वही १।२७८।५

३२. वही, १।२७७।५

३३. वही १।२७९।१

३४. वही १।२०४।५

तहाँ श्रीराम जी की ही 'बाणी' श्रेष्ठ है लक्ष्मण की नहीं । अत: 'कुबंधु' पाठ अप्रासंगिक है । उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - (इस कथारूपिणी नदी में तो) परशुराम जी का क्रोध है, वह घोर धारा है और श्रीराम जी की श्रेष्ठ बाणी ही सुदृढ़ बद्ध घाट है ।'

<u>अन्त-मध्य:</u>

नहिं तव आदि अंत अवसाना । अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना ।[क]

सं० १६६१, १७२१- १७६२ की हस्तलिखित प्रतियाँ, लाला छक्कन लाल की पोथी, संत उन्मनी श्री गुरुसहायलाल जी की टीका, पं० रामकुमार जी शिवलालनंद त्रिपाठी और श्री भागवतदास जी की पोथी में 'अंत अवसाना' पाठ है ।[३४] इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० विश्वनाथप्रसाद जी और पं० शंभुनारायण चौबे ने भी यही पाठ निर्धारित किया है । बाबा हरिहरप्रसाद जी की टीका कोदोराम जी के गुटका और गीताप्रेस में 'मध्य अवसाना' पाठ लिया है ।[३५]

अर्थानुसंगति की दृष्टि से 'अंत अवसाना' पाठ उपयुक्त नहीं लगता । अवसान और अंत पर्याय शब्द हैं । 'अंत' पाठ मानकर लोगों ने इसका अर्थ खींचतान कर किया है । पं० रामकुमार जी अंत का अर्थ मध्य करते हैं । उनके अनुसार यहाँ अंतर को अंत कहा है । अन्तिम अक्षर रकार का लोप हो गया है । संत गुरुसहायलाल जी ने अंत का अर्थ इस प्रकार किया है — 'न तो आपका आदि है और न आपके अन्त का अवसान, अर्थात् हद है । यही अर्थ मानस पीयूषकार ने भी किया है ।[३७] पीयूषकार के अनुसार शब्दसागर में 'अवसान' का अर्थ विराम, ठहराव और सीमा किया है । किन्तु संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में 'अंत' का अर्थ भी 'अवसान' किया है ।[३८] प्राचीनतम

क. मानस १।२३५।७

३५. मा०पी०बा०खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ३३१

३६. वही

३७. वही

३८. वे० पृ० ७

३९. मानस ७।६१।५-६

हस्तलिखित प्रतियों में अंत अवसाना पाठ है और न उनमें हरताल है न पाठांतर ।
गोस्वामी तुलसीदास जैसे शब्दप्रयोग की दृष्टि से सावधान कवि ने कैसे ऐसा व्यर्थ शब्द
रख दिया । लगता है प्रथम लिपिक ने अनुप्रास के प्रवाह में ऐसा लिख दिया होगा ।
गोस्वामी जी ने 'आदि' और 'अवसाना' के बीच में 'मध्य' शब्द का प्रयोग किया
है -- जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ।[39]
अंत अर्थ में 'अवसान' का भी प्रयोग हुआ है - जो पहुँचाय रामपुर तनु अवसान ।[40]
गीताप्रेस आदि कतिपय संस्करणों में 'आदि मध्य अवसाना' पाठ स्वीकृत है । आदि
के साथ 'अंत' का प्रयोग सहज स्वीकृत है । इसी प्रकार 'आदि' 'मध्य' 'अवसान' भी उतना
ही स्वाभाविक प्रयोग है । त्रुटि का कारण 'अंत' और 'मध्य' शब्द की मात्रागत समानता
तथा आदि के साथ सहज सम्बद्धता प्रतीत होती है । किंतु 'अवसान' के पूर्व 'मध्य' का
प्रयोग 'आदि' के कारण अधिक संगत है । अंत अवसान यदि स्वतंत्र प्रयोग होता तो उसकी
संगति भी विचारणीय होती । वर्तमान स्थिति में यह स्पष्टतः असंगत दिखाई देता है ।
इस पृष्ठभूमि में काव्यात्मक गरिमा और तुलसी के शब्द-समायोजन की प्रकृति को देखते
हुए यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'आदि मध्य अवसाना' पाठ ही ग्राह्य है । भले
ही पाठालोचन की आधारभूत हस्तलिपियों द्वारा उसका समर्थन उतना न मिलता हो
जितना आदि अंत अवसाना का । यह स्थल इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है कि यहाँ
साहित्यिक अर्थ संगति को पाठालोचन की यांत्रिक प्रक्रिया के ऊपर वरीयता मिल रही है ।
है । अजगव खंडेउ उरग जिमि- अयमय खाँड़ न ऊखमय

गाधिसूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरियरे सूझ ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ ।।[41]

कतिपय पुस्तकों में 'अब गज खंडेउ उरग जिमि' पाठ मिलता है । श्री लमगोड़ा जी के
अनुसार 'अजगव खंडेउ.......' पाठ में प्रसारण गुण अधिक है और दूसरे पाठ में खींचातानी ।

---

३९. मानस ७।६१।५-६
४०. बरवै ६७
४१. मानस १।२७५ ।

फिर 'ऊखमय' में मय बिल्कुल कृत्रिम दिखता है और बैठता नहीं ।[42]

सं० १६६१, १७२१, १७६२ की हस्तलिखित प्रतियाँ, लाला छक्कनलाल जी की पोथी और कोदोराम जी के गुटका में, सं० १६६६ की प्रति, काशिराज की रामायण परिचर्या टीका, भागवतदास जी की पोथी और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में 'अयमय खाँड़ न ऊखमय' पाठ है ।[43] इसके अति आधुनिक प्रामाणिक संस्करणों डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और गीताप्रेस में भी यही पाठ है ।

'अजगव खंडेउ.....' पाठ से अर्थ होगा - 'शंकर जी के धनुष को ऊख की तरह से तोड़ डाला ।' स्मरणीय है कि पूर्व प्रसंग परशुराम-लक्ष्मण का है, न कि राम-परशुराम का । इस पाठ से यह कथन राम के पक्ष में लागू हो जायगा, क्योंकि धनुष को राम ने ही तोड़ा है । पुन: विश्वामित्र जी लक्ष्मण जी को साधारण बालक समझने के कारण परशुराम के ऊपर हृदय में हँसे थे । अत: प्रासंगिक दृष्टि से यह पाठ संगत नहीं है । इसके बाद समस्त प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों, प्रकाशित संस्करणों एवं आधुनिक समस्त प्रामाणिक संस्करणों में भी 'अयमय खाँड......' पाठ ही उपलब्ध होता है । यह पाठ कठिन भी है । अत: यही ग्राह्य है । उत्कृष्ट व्यंग्य वही है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों के नीचे मुस्करा रहा हो । ब्राह्मणों को मधुर प्रिय होता ही है - 'ब्राह्मणो मधुरप्रिय:' । विश्वामित्र जी भी इसी बात पर हँस रहे हैं कि - ऊख की खाँड़ मुख में रखते ही घुल जाती है, मीठी लगने के कारण खा डाली गयी और लोहे की खाँड़ तो मुँह काट और पेट फाड़ डालेगी । हलवाई के यहाँ बनी हुई शक्कर की खाँड़ लोग खाते हैं किन्तु लक्ष्मण जी लोहे के खाँड़ अर्थात् कठिन व्यक्ति से पाला पड़ा है ।

परशुराम ने २१ बार पृथ्वी को नि:क्षत्रिय किया और सहस्रबाहु जैसे पराक्रमी को भी मार डाला । विश्वामित्र जी के कहने का तात्पर्य है कि ये सब 'ऊखमय'

----

१. मा०पी०बा०खं० ३, पाद टिप्पणी, पृ० ५६७

२. वही

खाँड़ अर्थात् साधारण नृप थे। लक्ष्मण को मारना-लोहे की खाँड़ जानना अर्थात् लोहे का बना बताना है। उक्त दोहे का अर्थ होगा — "विश्वामित्र जी ने कुसमय में हँस कर कहा कि मुनि को हरा ही हरा सूझ रहा है। (यह बालक) लोहे का बना हुआ खाँड़ (तलवार) है ऊख के रस से निर्मित खाँड़ नहीं। क्रोध (परशुराम) को अब भी नहीं बूझता।" स्मरणीय है कि यदि यहाँ पर ऊखमय (शक्कर) कहते, अयमय खाँड़ (तलवार) न कहते तो शक्कर और तलवार का भ्रम न होता, क्योंकि दोनों (शक्कर और तलवार) में रूप का साम्य नहीं है और बिना एकरूपता के भ्रम नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि लोहे से निर्मित खाँड़ है, शक्कर की खाँड़ नहीं।

सुरासुर-सरासुर।

सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू॥[४३]

सं० १६६१, १७०४, १७६२ की हस्तलिखित की प्रतियों को दो राम जी के गुटका और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में 'सुरासुर' पाठ है।[४४] डा० माताप्रसाद गुप्त, काशिराज और गीताप्रेस के संस्करण एवं उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों के अतिरिक्त समस्त प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में 'सरासुर' पाठ है।

'सुरासुर' पाठ से एक अर्थ लिया गया है कि 'देवता और असुर' भी हार मान गये किंतु 'सकै', 'सोउ' और 'गयेउ' ये तीनों एक वचन हैं। एक वचन क्रिया और सर्वनाम के लिए 'बहुवचन' कर्ता का प्रयोग नहीं हो सकता। यदि 'सुरासुर' शब्द को मेरु के साथ समास बद्ध मान लिया जाय, तब अर्थ होगा 'सुरासुर' सहित मेरु पर्वत, जो अभिप्राय नहीं है।

फिर धनुर्भंग के प्रसंग में मानस तथा मानसेतर ग्रन्थों में भी 'बाणासुर' का नाम बराबर कई स्थलों में आया है —

रावन बान छुआ नहि चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥[४५]
रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवहिं सिधारे॥[४६]

---

४३. मानस १।२९२।७

४४. मा०पी०बा०खं० ३ पादटिप्पणी, पृ० ६४५

४५. मानस १।२५६।३

४६. वही, १।२५०।२

बान बलवान जातुधानप सरिसे सुर ।
जिन्ह के गुमान सदा सालिम संग्राम को ।[४७]

बान जातुधानपति भूप दीप सातहूँ के ,
लोकप तिलोकके पिनाक भूमि लई है ।[४८]

स्पष्ट है कि उक्त स्थलों में 'बाणासुर-रावण' का उल्लेख साथ-साथ आया है । यहाँ भी 'बाणासुर' के साथ रावण का उल्लेख हुआ है -

जेहिं कौतुक सिवसैल उठावा, सोउ तेहि सभा पराभउ पावा ।।[४६]

यहाँ पर 'बाणासुर' का सुमेरु उठाने का प्रमाण प्राप्त न होने पर 'पाठ भेद' का अनुमान करना अत्यंत कठिनाई उपस्थित करता है जिसका निराकरण दो प्रकार से हो सकता है एक तदनुरूप किसी पौराणिक अन्तर्कथा के या संदर्भ के उपलब्ध हो जाने पर दूसरे 'सुरासुर' पाठ को मेरु से सम्बद्ध मान लेने पर (वह यहाँ संभावना व्यक्त करता है कि 'बाणासुर सुमेरु पर्वत उठा सकता है ।' फिर 'सुरासुर' का भी सुमेरु पर्वत उठाने का प्रमाण कहीं नहीं मिलता । अतएव यहाँ पर 'सुरासुर' पाठ ही प्रासंगिक एवं काव्य-प्रयोग की दृष्टि से समीचीन है ।

तनय-जनक

जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै ।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै ।[५०]

सं० १६६१ और १७०४ की हस्तलिखित प्रतियों में 'तनय' पाठ है ।[५१] पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र और गीता प्रेस ने भी 'तनय' पाठ माना है । मानसपीयूषकार ने भी यही पाठ प्राचीनता की दृष्टि से स्वीकार किया है ।

---

४७. कवितता० १।६

४८. गीता० १।८४।२ और जा०मं० १०३

४६. मानस १।२६२।८

५०. वही १।३२५।छन्द २०

५१. मा०पी०,बा०खं० ३, पृ० ७७८

सं० १७२१, १७६२ की हस्तलिखित प्रतियों, छोटेराम जी के गुटका एवं लाला छक्कन लाल जी की पोथी में 'जनक' पाठ है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने पाठ-संपादन के वैज्ञानिक विधि से 'जनक' पाठ ही निर्धारित किया है। यदि प्राचीनतम पाठ के ही आधार पर पाठ निर्धारण होना चाहिए तो 'सुरपुर' पाठ भी प्राचीनतम है, किन्तु उसको मानसपीयूषकार आदि सम्पादकों ने उचित नहीं प्रामाणिक माना, क्योंकि वह प्रासंगिक एवं कवि प्रयोग की दृष्टि से खरा नहीं उतरता। इसीप्रकार 'तनय' पाठ भी प्रासंगिक और कविप्रयोग की दृष्टि से असंगत है। एक तो 'तनय' सं० पुल्लिंग है जो स्त्रीलिंग जानकी की 'लघु भगिनी' के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतएव असंगत है। गोस्वामी जी ने कहीं 'तनय' का अर्थ 'पुत्री' नहीं किया है। सर्वत्र उन्होंने 'तनय' का अर्थ पुत्र किया है --

'पुत्रजोगु न तनय तुम्हारे।'[५२] पवन तनय संतन हितकारी।[५३]

वे 'तनया' का अर्थ पुत्री करते हैं -- तात जनक तनया यह सोई।[५४]

अतः यहाँ पर डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा निर्धारित 'जनक' पाठ ही सुसंगत और कियायानुसंगत लगता है। जिन लोगों ने 'तनय' पाठ माना है, उन्होंने इसका अर्थ 'पुत्री' किया है, जो कि परम्परा सम्मत नहीं है और एक प्रकार से उसे असंगत भी कहा जा सकता है। जनक जी के दो कन्यायें सीता जी और उर्मिला जी थीं, इसी से इनके संकल्प में 'जनक' नाम दिया गया है। यदि 'तनय' पाठ स्वीकार किया जाय तो 'तनया' का तनय छंदाग्रह से मानना उचित होगा।

सुरपति-सुरपुर

बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू।।[५४क]

---

५२. मानस १।२६२।१

५३. विनय० ३६

५४. मानस १।२३२।१

५४क. मानस २।१७५।३

राजापुर की हस्तलिखित प्रति में 'सुरपति' पाठ है।[५४] डा० माताप्रसाद गुप्त[५५] और गीताप्रेस के संस्करण[५६] में भी 'सुरपति' पाठ दिया है। मानस पीयूषकार और काशिराज संस्करण में 'सुरपुर' पाठ है। पाठ वही प्रामाणिक होता है जो अर्थ, प्रसंग और कवि प्रयोग की दृष्टि से भी संगत हो। 'सुरपति' पाठ से अर्थ होगा - 'रघुनाथ जी वन में और राजा सुरपति है या सुरपति हो गये। यह विचारणीय है कि राजा दशरथ इन्द्र तो बने नहीं, इन्द्र तो दूसरा ही है। अभी आगे इन्द्र की बृहस्पति द्वारा फटकारे जायेंगे[५७] और तमाम प्रकार के कुचाल करेंगे।[५८] कवि प्रयोग की दृष्टि से भी 'सुरपति' पाठ असंगत है। गोस्वामी जी ने आगे बराबर इस प्रसंग में 'सुरपुर' शब्द का प्रयोग किया है -

> पितु 'सुरपुर' सिय राम बन करन कहहु मोहि राजु।[५९]
> लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ मन्नु अमरपुर ^पतिहित^ कीन्हा।।
> आपु रहहिं अमरावति राऊ।।[६१]

अतएव यहाँ पर 'सुरपुर' पाठ ही अर्थ, प्रसंग और कवि प्रयोग की दृष्टि से ठीक अर्थात् विषयानुसंगत है। अन्तःसाक्ष्य से भी यही पाठ सुसंगत लगता है। लगता है कि राजापुर के प्रति के लिखक ने रघुपति के प्रभाव से 'सुरपति' लिख दिया है।

सादर-सारद

> सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभुगुन गन लेखा।।[६२]

राजापुर की प्रति में 'सादर' पाठ है। संभवतः इसी के आधार पर नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण और मानसपीयूष में भी 'सादर' पाठ स्वीकृत हुआ है।

---

५४. मा०पी० अयो०, पृ० ६५६

५५. मानस, पृ० २५३

५६. वही, पृ० ३२६

५७. दे० मानस २।२१६-१८

५८. वही, २।३१५   ५९. वही, २।१७६

६०. वही २।१७६।३ और २।२४६।३

६१. वही २।१४८।४ और २।२४७।७   ६२. वही २।१६६।८

डा० माताप्रसाद गुप्त[६३] काशिराज और गीताप्रेस के संस्करण में 'सारद' पाठ है। यहाँ पर 'सादर' पाठ से अर्थ तो लग जाता है किन्तु काव्य प्रयोग की दृष्टि से यह न्यायप्रमाणित नहीं होता। प्रायः रामजी के गुणों के वर्णन का प्रसंग जहाँ-जहाँ आया है, वहाँ शारदा और शेष का नाम अवश्य आता है, क्योंकि राम के गुणों के प्रधान वक्ता ये ही हैं। उदाहरणार्थ --

होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥[६४]

सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥[६५]

अन्तर्साक्ष्य से यहाँ 'सारद' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। यही प्रासंगिक और गोस्वामीजी के प्रयोग शैली के अनुसार है। उक्त व्याख्येय अर्धाली का अर्थ होगा - करोड़ों सरस्वती और करोड़ों शेष जी भी प्रभु श्रीरामजी के गुण समूहों का लेखा (गिनती) नहीं कर सकते।

<u>उपचार-उपचरा</u>

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचरा न थोरा॥[६६]

छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, वंदन पाठक की प्रति, कोदवराम की प्रति और काशकांड में --आवण कुंज की प्रति, अयोध्या में राजापुर की प्रति में 'उपचार' पाठ है।[६७] श्री रामचरण दास, शुकदेव लाल जी, हरिहरप्रसाद जी, रामनरेश त्रिपाठी जी, विनायकराव जी और मानस पीयूषकार आदि टीकाकारों एवं गीताप्रेस के संस्करण में भी 'उपचार' पाठ है। सं० १७६२ की प्रति और सं० १७०४ की काशिराजवाली

---

६३. मानस, पृ० २६४
६४. वही १।३४२।१-२
६५. वही १।१२
६६. वही २।२९८।७
६७. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० ६१

प्रति, भागवतदास के संस्करण में 'उपचरा' पाठ है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डा० माताप्रसाद गुप्त[68] अन्य विद्वान संपादकों ने भी 'उपचरा' पाठ निर्धारित किया है। इनके अतिरिक्त, श्यामसुन्दरदास जी, मा०प्र०स० ना०प्र० सभा के संपादक, नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण विजयानंद त्रिपाठी के संस्करण में भी 'उपचरा' पाठ स्वीकृत है।[69] लाला भगवानदीन जी भी 'उपचरा' पाठ को ही प्रामाणिक मानते थे।[70]

उक्त अर्धाली में 'उपचरा' शब्द को टीकाकारों ने 'उपचार' मानकर उसके अर्थ इस प्रकार किये हैं —जड़ (दुख),[71] कष्टप्रद उपाय,[72] उपाय,[73] [illegible],[74] इलाज-अभ्यास[75] उकसाया,[76] ललकारा,[77] लालित[78] और परेशान[79] किये हैं।

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में 'उपचार' का उपाय और इलाज के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ नहीं दिया है।[80] अतः ऐसे सब अर्थ काल्पनिक हैं। यहाँ पर 'उपाय' और 'इलाज' अर्थ भी तर्कसंगत नहीं है। ये अर्थ स्वीकार करने पर उक्त अर्धाली के द्वितीय चरण में कोई क्रिया नहीं है जो 'उपचार' के हेतु प्रयुक्त की जाय। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डा० माताप्रसाद गुप्त ने विवेकपूर्ण वैज्ञानिक पाठ संपादन के आधार पर 'उपचरा' पाठ निर्धारित किया है, जो कि तर्कसंगत लगता है। 'भरत' कर्ता के साथ 'उपचरा' क्रिया आवश्यक है। यदि 'भरतहि' को द्वितीया के स्थान पर सप्तमी में माना जाए और यह अर्थ लिया जाय कि भरत में और इसमें उपचार कम नहीं है,

---

69. मा०पी०,अयो०, पाद टिप्पणी, पृ० ८१४
70. वही।
71. रा०परि०परिशिष्ट पृ०, अ०र०हरप्रसाद, पृ० १३०
72. टी० म०मा०भा०, प्र०भा०, पृ० २६८
73. रामा० शुकदेवलाल, पृ० १२० और कबीरकवि जी, पृ० ६६७
74. मानस, टीका०, अवधबिहारीदास, पृ० ५६६, और पोद्दार जी, पृ० ५१६
75. गौड़ जी का अर्थ, मा०पी०,अयो०,पृ० २२६
76. वि०टी०,टीका०विनायकराव, पृ० ३४१
77. मानस, टी०रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ६२६
78. रामा०, टी०रामेश्वर भट्ट, पृ० ५६०
79. द०रामा०श्याम तुल०,पृ० ८८४
80. सं० पृ० १२४

लौं पाठ 'भरतहि' होना चाहिए था, जैसे अन्यत्र है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग हुआ है — अर्थात् तुम्ह इ [illegible] न नाथा । [illegible] न [illegible] कहु नाथा ।।[81] अथवा यह अर्थ किया जाय कि भरत ने उपचार छोड़कर [illegible] न किया । और सा-उपाय नहीं किया । यह स्पष्ट नहीं है । [illegible] भी पुष्ट नहीं है जो इनका अर्थ किया जाय । अतः ये अर्थ ~~[illegible]~~ असंगत हैं । विजयानंद त्रिपाठी जी ने पाठ तो 'उपचरा' स्वीकार किया है किन्तु अर्थ 'पूजा' किया है और क्लिष्ट कल्पना करके भाव 'निरादर' का निकाला है।[82] पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार — 'उस चरण में 'उपचरा' होना उचित है। टीकाकारों ने 'उपचरा' को न समझकर तुरंत उसका 'उपचार' कर दिया । समझा होगा कि भ्रम से 'चा' का आकार 'र' में लग गया है। उपचरा शब्द संस्कृत उपचरण से बना है और इसका अर्थ है 'दुर्व्यवहार किया' उपचरना वैसे है जैसे — आनंदना । तब मयना हिमवंत अनंदे । पुनि पुनि पारबती पद बंदे ।[83] इसीप्रकार — दीन जी,[85] पीयूषकार[86] और श्यामसुन्दरदास जी[87] ने भी 'दुर्व्यवहार' अर्थ किया है । मिश्र जी, दीन जी, पीयूषकार और बाबू श्यामसुन्दर दास के 'दुर्व्यवहार' (दुर्व्यवहार) 'उपचरा' शब्द का भावार्थ हो सकता है किन्तु वास्तविक और सटीक अर्थ नहीं ।

मैं मिश्र जी के संस्कृत 'उपचरण' से 'उपचरा' विकसित है जिससे सहमत नहीं हूँ। 'उपचरा' संज्ञा पुल्लिंग का क्रिया रूप 'उपचरा' है। जैसे गोस्वामी जी ने आनंद संज्ञा पुल्लिंग से अनंदे क्रिया बना ~~लिया~~ ली है, वैसे 'उपचार' से 'उपचरा' क्रिया बना

---

८१. मानस १।२८२।५

८२. वि०टी०, वि०पा०, पृ० ३३१

८३. मानस १।६६।१

८४. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७६-८०

८५. मा०पी०ब्यो० पादटिप्पणी, पृ० ८१५

८६. वही.

८७. मानस, पृ० ५५५

~~जिन्न~~ औ। वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में 'उपचार' का एक अर्थ शिष्टता, नम्रता, सौजन्य किया है।[८८] इसी आधार पर उपचरा का अर्थ होगा — 'शिष्ट आचरण करना है'। अतः उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार होगा —

"हे नाथ! मेरे कहने का अनुकूल (बुरा) न मानिएगा, भरत ने हमारे साथ किंचित शिष्टाचरण नहीं किया।"

<u>घटन-घटइ</u>

देह दिनहु दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई।।[८९]

'घट न' पाठ भागवत दास के प्रथम संस्करण (सं० १९४२) का है। रघुनाथ दास की प्रति चंदन पाठक की प्रति और कोदव राम की प्रति में भागवतदास का ही पाठ है।[८९] हरिहरप्रसाद जी,[९०] शुकदेव लाल जी,[९१] श्यामसुन्दरदास जी,[९२] वीरकविजी[९३] और ज्वालाप्रसाद जी[९४] आदि टीकाकारों ने 'घट न' पाठ स्वीकार किया है। सं० १७०४ की काशिराज वाली प्रति में 'घटइ तेजु बल मुख छबि सोई' पाठ है। श्री रामचरणदास जी ने उक्त अर्धाली के द्वितीय चरण को पूर्ण रूपेण परिवर्तित कर दिया है — 'घटत तेज मुख द्युति छबि सोई'।[९५] बालकाण्ड में - भावणकुंज की प्रति में और अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में - 'घटइ' पाठ है। सं० १७६२ वि० की प्रति में 'घटत न तेजु बल मुख छबि सोई' पाठ है।[९६] गीता प्रेस[९७] काशिराज, डा० माताप्रसाद गुप्त[९८] और मानस पीयूषकार ने भी 'घटइ' पाठ स्वीकार किया है।

रामेश्वर भट्ट ने 'घटन' पाठ मानकर तेज और बल नहीं घटता' अर्थ किया

८८- दे०पृ० २०३
८९. मानस २।३२४।१
९०. रा०परिपरिशिष्ट,पृ० ९८६
९१. रामा०, पृ० १६८
९२. मानस,पृ० ६४०
९३. मानस,पृ० ८०२
९४. सं०टी०,पृ० ६७२
९५. रामा०, पृ० ८०४
९६. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन,पृ० ६५
९७. मानस,पृ० २८४
९८ वही, पृ० ३२५

यहाँ पर 'घट न' पाठ बिलकुल असंगत है क्योंकि एक तो यह ~~प्राचीन:~~ प्राचीन पाठ नहीं है, दूसरे कवि के अन्य ग्रन्थ से साम्य नहीं रखता । गीतावली में इसी प्रसंग में 'घटत' (घटना, कम होना) के अर्थ में गोस्वामी जी ने प्रयोग किया है - 'तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु त्यों त्यों प्रीति अधिकाई ।'[१०९] 'भरत जी का तेज घटता था' इसी अर्थ की असंगति के कारण हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों एवं टीकाकारों ने पाठ बदलकर 'घटन' पाठ कर दिया है । किन्तु अन्य ग्रन्थ में इसी प्रसंग में 'घटत' शब्द के प्रयोग के कारण 'घट न' पाठ और इसके अर्थ अनुपयुक्त लगते हैं ।

टीकाकारों का यह अर्थ कि - 'तेज और बल घटता था' भी कवि प्रयोग के प्रतिकूल है । क्योंकि गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है कि तप से तेज का विस्तार होता है - 'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा ।'[११०] और भरत जी का बल भी कम नहीं हुआ था । वे हनुमान जी कहते हैं कि - 'चढ़ु मम सायक सैल समेता । पठवउँ तोहि जहँ कृपा निकेता ।'[१११] फिर 'बिलसत बेतस बनज बिकसे' दृष्टान्त तेज बढ़ने का है । अतः यहाँ पर 'तेज और बल घटता था' यह अर्थ तर्क संगत नहीं है । गौड़ जी का अर्थ भी क्लिष्ट कल्पना युक्त है । विजयानन्द त्रिपाठी जी के अर्थ को सटीक तो नहीं, किन्तु भावार्थ कहा जा सकता है । 'घटइ' का संयुक्त होना अर्थ होता है किन्तु यह भी यहाँ युक्तिसंगत नहीं लगता । उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि 'घटइ' पाठ प्राचीन और कविप्रयोग सम्मत है । आप्टे ने संस्कृत - हिन्दी कोश में 'तेजस्' के लगभग २३ अर्थ दिये हैं । उनमें से एक अर्थ - 'मज्जा' भी है ।[११२] मेरे विचार से यहाँ पर 'तेज' का अर्थ - चरबी, मेद, वसा या मज्जा ही है । अतएव उक्त विवेच्य अर्धाली का अर्थ होगा - 'शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है । तेज (अन्न घृतादि से उत्पन्न होने वाला मेद) घट रहा है और बल एवं मुख की प्रभा वैसी ही बनी है ।' पोद्दारजी

---

१०९ गीता० २।७६।४

११०. मानस ७।९०।५

१११. वही, ६।६०।६

११२. सं०कृ० ४३६ ।

ने भी यही अर्थ किया है। यहाँ पर यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

सीतल निसि तव असि बर धारा- सीतल निसित बहसि बर धारा

"सीतल निसित बहसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥"[११३] सं० १७२१, १७६२, छक्कन लाल, रघुनाथदास, वंदन पाठक, सं० १७०४ की प्रतियों एवं भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १९४२) में निसि तव असि पाठ है।[११४] श्रीरामचरणदास जी[११५] ज्वालाप्रसाद जी[११६] पं० रामकुमार जी[११७], विनायकराव जी[११८] सैत सिंह पंजाबी जी,[११९] महावीरप्रसाद मालवीय जी[१२०] और रामेश्वर भट्ट जी[१२१] आदि टीकाकारों ने भी यही पाठ स्वीकार किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी "निसितव असिवरधारा" पाठ इसलिए स्वीकार किया है क्योंकि उनके अनुसार - "निसित" पाठ इसलिए अनुपयुक्त है क्योंकि "बर" तीक्ष्ण के अर्थ में प्रयुक्त हो चुका है और "निसित" के कारण अर्धाली में पुनरुक्ति दोष आ जाता है।[१२२] इस पाठ के अनुसार टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - "हे तलवार! तेरी धार शीतल निसि अर्थात् चाँदनी रात्रि के समान है।"

कोदवराम की प्रति में निसित बहसि पाठ है।[१२३] हरिहरप्रसाद जी[१२४] अवधबिहारीदास जी,[१२५] रामनरेश त्रिपाठी जी,[१२६] श्यामसुन्दरदास जी[१२७], विजयानंद त्रिपाठी जी,[१२८] श्रीकांतशरण जी[१२८] और का०ना०प्र०सभा के संपादक ने[१२९] स्वकीय संस्करण में इसी को स्वीकार किया है। मानस पीयूषकार, गीताप्रेस और काशिराज के संस्करणों में भी यही पाठ स्वीकृत है। उक्त अर्धाली में "निसित बहसि

----

११३. मानस ५।१०।६   ११४. शंभु नारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ०१०।

११५. रामा०, पृ० ६४४   ११६. सं०टी०, पृ० ८९९

११७. टीका सुन्दर०, प्रका० कृष्णप्रसाद सिंह चौधरी, मैनेजर पाटलिपुत्र, पृ० ११४

११८. वि०टी०, सुन्दर, पृ० ५३   ११९. मा०भा०, सुन्दर, पृ० १४

१२०. सुन्दर, पृ० १५   १२१. रामा० पृ० ८२४

१२२. डा० माताप्रसाद गुप्त, तुलसी ग्रन्थावली, भाग १, खंड २, पृ० ४१२

१२३. डा० शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० १०७

१२४. रा०परि० परिशिष्ट, पृ० १०   १२५. मानस, पृ० ८०८

१२६. वही, पृ० ८६१   १२७. वि०टी० पृ० ८७   १२८. सि०ति०, पृ०१८४

"हर धारा" ही तर्क संगत प्रतीत होता है क्योंकि गोस्वामी जी ने प्रसन्न राघव से प्रेरणा लेकर छायानुवाद किया है —

> चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्र विरहानल जातम् ।
> त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णा धारया वहसि शीतलमम्भः ।।[129]

इस श्लोक का पूर्वार्ध अर्धाली ५ से पूर्ण रीत्या मिलता है । श्लोक के उत्तरार्ध का "त्वं हि धारया वहसि शीतलं" की चौपाई का संगत "वहसि धारा" है और "कान्तिजित मौक्तिक चूर्ण" का भाव चौपाई के "वर" शब्द में किया गया है । उक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध का अर्थ है — "तू अपनी धारा से मोती के चूर्ण की कान्ति को जीतने वाले शीतल जल को धारण करती है । बाबू जी, दीन जी, पं० रामवल्लभशरण जी और पीयूषकार यहाँ नदी का रूपक मानते हैं । उनके अनुसार—नदी की धारा शीतल और तलवार में भी धार । जल अग्नि को बुझाता है, तलवार धार से विरहाग्नि बुझेगी । यह सादृश्य है ।[130] यहाँ रूपक की स्पष्टता प्रसन्नराघव के श्लोक के आधार पर ही होती है, गोस्वामी जी की पंक्तियों से उतना स्पष्ट नहीं हो पाता । इसी आधार पर डा० किशोरीलाल ने "धार वहना" तलवार चलाना अर्थ किया है ।[131] किन्तु यह संगत नहीं प्रतीत होता । यहाँ "वहसि" संस्कृत का "वहसि" है । प्रसन्न राघव के उक्त श्लोक में "वहसि" आया है, उसी को गोस्वामी जी ने अवधी प्रकृति के अनुसार वकार ब करके "बहसि" कर दिया है । "वहसि" वह धातु लट्-लकार एक वचन, मध्यम पुरुष है । संस्कृत वह धातु का अर्थ धारण करना, वहन करना होता है । यहाँ पर "वहसि" का अर्थ धारण करती है है । अधिकांश प्रतियों में "निसि तव असि" पाठ मिलता है । इसका कारण संभवत: यही हो सकता है कि उस

पिछले पृष्ठ का शेष —

१२९. प्रसन्नराघव नाटक, अंक ६, श्लोक ३३ ।

---

१३०. मा०पी०सुन्दर, पृ० ६५

१३१. सम्मेलन पत्रिका, मानस चतु:शती विशेषांक, भाग ६०, सं०१,२,३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ० २८८-८९

समय लेखन क्रम में प्रायः शब्द अलग-अलग नहीं लिखे जाते थे । अर्थ करने वाला अपनी धारणा के अनुसार उनका विलगाव कर लेता था । कभी-कभी इस क्रम में त्रुटि आ जाना स्वाभाविक है, जैसा प्रस्तुत पंक्ति में हुआ है । 'निसितबह हासें' 'निसित बहसि' हो सकता है । 'हसि' के अर्थ की उलझन के कारण 'हो गई' पाठ कर दिया गया होगा । जैसा कि विभिन्न प्रतियों में पाया जाता है । किन्तु यह पाठ मूल उद्गमस्थल के प्रतिकूल है । 'प्रसन्न राघव' में 'त्वं निशितधारया वहसि शीतलं' है जिसका अनुवाद गोस्वामी जी ने - 'सीतल बहसि धार' किया है । निसित संस्कृत निशित शब्द है, जिसका अर्थ तीक्ष्ण तेज होता है । इस शब्द के अन्य प्रयोग के कारण पाठान्तर हुआ है । इसका प्रयोग कठोपनिषद् में भी मिलता है ।[क] यह पाठ कठिनतर भी है । पाठालोचन का सिद्धान्त है कि कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट होता है । प्रसन्न राघव के श्लोक से इस पाठ की आंशिक संगति भी है । पं० विश्वनाथ - प्रसाद मिश्र ने भी यही पाठ निर्धारित किया है । अतएव यहाँ पर 'सीतल निसित बहसि' पाठ ही तर्कसंगत है । अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा —

'तू (चन्द्रहास) शीतल तेज और श्रेष्ठ धार (नदी के पक्ष में धारा) धारण करती है । (अतः) मेरे दुख के गुरुत्व को दूर कर दे ।'

<u>पुनी, धुनी, धरणी, धनी और गुनी :</u>

सब निर्दंभ धर्मरत धुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।।

सं० १७२१, छक्कनलाल, रघुनाथ, वंदन पाठक और कोदवराम इन सबकी प्रतियों में पुनी पाठ है । भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १९४२) में भी 'पुनी' पाठ है ।[१३२] पीयूषकार के अनुसार - सं० १८१७, १८१८ और पं० रामगुलाम के गुटका में भी 'पुनी'

क. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।
—कठोपनिषद १।३।१४, प्रकाशक घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तरप्रदेश

१३२. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० १४३ ।

पाठ है।[133] गीता प्रेस,[134] विनायकराव जी[135] श्यामसुन्दरदास जी,[136] अवध-बिहारी दास जी[137] शिवानंद त्रिपाठी जी,[138] और अखिल भारतीय विक्रमपरिषद काशी के संपादक[139] आदि टीकाकारों ने भी 'पुनी' पाठ मानकर इसका अर्थ 'पुण्यात्मा' किया है। शिवानंद त्रिपाठी जी ने 'पुनी' का अर्थ दयावान किया है। श्रीकांतशरण जी 'धुनी' पाठ इसलिए नहीं मानते हैं क्योंकि गोस्वामी जी सरल शब्द की रीति निभाने के पक्षपाती थे।[140] किन्तु जब गोस्वामी जी कानन, सभीती, जनक और कदंब आदि कूटोन्मुखी शब्दों का प्रयोग कर सकते थे, तो 'धुनी' का क्यों नहीं? 'धुनी' पाठ भी रामचरणदास जी का है और अर्थ 'धुनी' अर्थात् जिनके धर्म का निर्धारण धुनि है अर्थात् किंतु रस धुनी नहीं बल्कि धुरंधर है।[141] राम श्याम जी ने उक्त अर्थाली को ही पारिभाषित कर दिया है - धर्म धुरंधर राजा, धर्मनिष्ठ और धर्म के कुल में अग्रणी है। जहाँ की स्त्री पुरुष हैं वे सब अति चतुर और अनेक गुणवान हैं।[142] शुकदेव लाल जी ने 'धनी' पाठ मानकर धनी (धनवान) अर्थ किया है।[143]

सं० १७६२ की प्रति और १७०४ की काशिराज वाली प्रति[144] और सं० १८४२ की प्रति में 'गुनी' पाठ है।[145] शंकरप्रसाद जी[146] और पंजाबी जी[147]

---

१३३. मा०पी०, उत्तर० पाद टिप्पणी, पृ० १५१

१३४. मानस, पृ० ८६५   १३५. वि०टी०, पृ० ५६

१३६. मानस, पृ० ९६७   १३७. वही, पृ० १०४२

१३८. वि०टी०, तु०भा० उत्तर०, पृ० ४७

१३९. प्र०सं०, पृ० ६३४

१४०. मानस, सि०ति०, तृ० सं०, पृ० २४७२ - २४७३

१४१. रामा०, पृ० ११६७   १४२. रामा० उत्तर०, पृ० २१

१४३. रामा०, पृ० १६

१४४. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० १४३

१४५. मा०पी०, उत्तर० पाद-टिप्पणी, पृ० १५१

१४६. रा०प०रि०परिशिष्ट, पृ०, पृ० २४

१४७. मा०भा०, उत्तर०, पृ० ३२

ने 'घृनी' पाठ मानकर 'पुण्यवान' अर्थ किया है। रामेश्वर भट्ट जी ने 'घृनी' पाठ तो माना है और अर्थ -पुण्यवान किया है।[१४८] रामनरेश त्रिपाठी जी ने भी 'घृनी' पाठ मानकर अर्थ- आप्टे की डिक्शनरी के अनुसार - [illegible], २ [illegible], ४ तेज प्रकाशमान किया है।[१४९]

यहाँ पर 'घृनी' पाठ प्राचीनतम, कठिनतर और सार्थक है। पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार कठिनतर और प्राचीनतम पाठ मूल के अधिक निकट होता है। पं० विश्वनाथ मिश्र और डा० माताप्रसाद गुप्त[१५०] दोनों विद्वान और कुशल संपादकों ने 'घृनी' पाठ को ही प्रामाणिक माना है। अतः यहाँ पर 'घृनी' पाठ ही तर्कसंगत है। कुछ टीकाकारों ने 'पुनी' पाठ मानकर उसका अर्थ पुण्यात्मा एवं 'और' किया है। किन्तु 'पुण्यात्मा' का भाव 'धर्मरत' में आ जाता है और 'पुनि' (और) कोई विशेष प्रयोजनीय शब्द नहीं है,यह केवल अगले-पिछले शब्दों को जोड़ने वाला अव्यय है। लगता है कि प्रतिलिपिकारों ने 'घृणा' का तिरस्कारी भावार्थ और लेख प्रमाद के कारण लिखा हुआ जानकर 'पुनी' कर दिया है। कालान्तर में कतिपय टीकाकारों ने भी प्राचीनतम पाठ 'घृनी' अर्थ तिरस्कारी समझकर-धुनी, धरणी और धनी अनेक पाठान्तर कर दिये। रामनरेश त्रिपाठी जी का प्रकाशमान अर्थ तर्कसंगत नहीं लगता। त्रिपाठी जी ने 'घृणि' का अर्थ लिया है, किन्तु यहाँ शब्द घृणी-घृणा है। आप्टे ने घृणा (घृ+नक्+टाप्) का अर्थ दया, तरस, किया है। संस्कृत में इसका प्रयोग दया अथवा 'अनुकम्पा' अर्थ में ही पाया जाता है —

तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ।[१५१]
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ।[१५२]

---

१४८. मानस, पृ० १०७३

१४९. वही, पृ० ११०४

१५०. वही, पृ० ५०२

१५१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३६४

१५२. वाल्मी० रामा०, २।४५।१६

घृणा -घृनि - घृणिन् से प्रथमा एक वचनीय रूप घृणी होता है, जिसका अर्थ है- दयावान। यहाँ पर 'घृनी' (दयावान) शब्द 'धर्मरत' शब्द के अर्थ को अपूर्व अर्थवत्ता प्रदान करता है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — सब दम्भरहित, धर्मरत और दयावान हैं। स्त्री पुरुष सभी चतुर और गुणवान हैं।' आजकल 'घृणा' शब्द में अर्थापकर्ष का तत्त्व प्राप्त होता है। घृणा का दयावान अर्थ आज तिरस्कारवाची हो गया है।

<u>हाथ लौं न, हाथी स्वानैं और हाथी स्वान (स्वानै)</u>

स्वारथ के साथी, मेरे हाथ लौं न लेवा देई,
काहू तो न पीर रघुबीर दीन जनकी ॥[153]

भागवतदास जी की प्रति, चरखारी नरेश की टीका, हरिहरप्रसाद जी की टीका, रामेश्वर भट्ट की टीका, सं० १८७६ की प्रह्लाद दास की पोथी,[154] नागरी प्रचारिणी सभा की तुलसी ग्रन्थावली दूसरे खंड और श्रीकांतशरण जी के संस्करण[155] में 'हाथ लौं न' पाठ है। यही पाठ पं० रामकुमार जी के खर्रे में है।[156]

सं० १६६६ की भगवान् प्रसाद-रामनगर-काशी की प्रति में 'हाथी स्वानैं' पाठ है। महावीरप्रसाद मालवीय की टीका, बाबू शिवप्रकाश की टीका, बैजनाथ जी की टीका, लाला भगवानदीन जी की टीका, वियोगी हरि जी की टीका,[157] देवनारायण द्विवेदी की टीका[158] सूर्यदीन शुक्ल की टीका[159] और गयाप्रसाद जी की टीका में[160] 'हाथी स्वान' पाठ है।

'प्राचीनतम पाठ 'हाथी स्वानैं' है। वे काय हो जाना कोई असंभव नहीं है। लगता है 'स्वान' को भगवान् प्रसाद ने 'स्वानैं' लिख दिया। विनय-

---

१५३. विनय० ७५
१५४. वि०पी०,खं० ३, पाद टिप्पणी, पृ० ७८०
१५५. विनय० शि०ति०, पृ० ५१५
१५६. वि०पी०खं० ३,पाद टिप्पणी, पृ० ७८४
१५७.. वही,पाद टिप्पणी, पृ० ७८०
१५८. विनय०, पृ० १५७ १५९. वही, पृ० ८६
१६०. वही, पृ० १३२

पीयूषकार ने 'स्वानैं' पाठ माना है।[१६१] आगे चलकर टीकाकारों ने 'स्वान' कर दिया। यहाँ पर 'स्वानैं' पाठ ही प्राचीनतम है। अर्थ न लगा सकने के कारण लोगों ने 'हाथ सौं न' पाठ कर दिया। पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट का होता है। स्वानैं पाठ कठिन भी है। अतः यहाँ पर 'स्वानैं' पाठ ही तर्क संगत प्रतीत होता है। अतएव उक्त पंक्ति का पाठ इस प्रकार होगा -

'स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वानै लेवा देई' इसका अर्थ होगा - (ये सब देवतादि गण) मेरे साथी स्वार्थ के हैं। ये हाथी और स्वान का लेन देन करते हैं। अर्थात् हाथी के समान अधिक सेवा लेते हैं और कुत्ते के समान तुच्छ सांसारिक वस्तु प्रदान करते हैं। यही अर्थ अन्तःसाक्ष्य से भी प्रमाणित होता है -

विबुध स्यानै पाँस्वानै बंधौं नाहीं नीके,
देत एकगुन लेत कोटिगुन भरि सौ।।[१६२]

हाथ सौं न पाठ से इसका अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है -

"ये सब स्वार्थ के साथी हैं और मेरे हाथ से उनसे कुछ लेन देन (व्यवहार) नहीं है।" अर्थ की दृष्टि से भी विचार करने पर यह पाठ और अर्थ असंगत लगता है। इस अर्थ से देवता, मनुष्य और मुनियों का स्वार्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।

हरिहि हरिता-हरि-हरहि हरता, सिवहि सिवता - बिधहि बिधता:

हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई।।[१६३]

वियोगी हरि जी की टीका[१६४] गयाप्रसाद जी की टीका[१६५] देवनारायण द्विवेदीजी

---

१६१. वि०पी०खं० ३, पृ० ७८०

१६२. विनय० २६४

१६३. विनय० १३५।३

१६४. ,, पृ० ३२०

१६५. ,, पृ० १६८

की टीका,[१६६] लाला भगवानदीन की टीका ;[१६७] बैजनाथ जी की टीका,[१६८] गीताप्रेस की टीका,[१६९] और पं० सूर्यदीनशुक्ल[१७०] आदि की टीकाओं में ' हरि-हि हरिता - बिधहि बिधता ' पाठ है। तुलसी ग्रन्थावली में भी यही पाठ है।[१७१] मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय की सं० १६७० की छपी मूल गुटका और पं० महावीर प्रसाद मालवीय वीर कवि की टीका में ' पुनि हरिहिहरता...... ' पाठ है।[१७२]

सं० १६६६ की श्री भगवान ब्राह्मण की प्रति, हीरानगर के व्यास पं० गदाधर की पोथी और भागवतदास की प्रतिलिपि में - हरि-हरहि हरता - बिधहि बिधता जेहि पाठ है। पं० रामेश्वर भट्ट की टीका और हरिहरप्रसाद जी की टीका में केवल ' हरि ' नहीं है। विनय पीयूषकार[१७३] और श्रीकान्तशरण जी ने[१७४] भी यही पाठ स्वीकार किया है।

यद्यपि कवि प्रयोग की दृष्टि से नागरी प्रचारिणी सभा का ही पाठ प्रमाणित होता है --

विधि से करनिहार, हरि से पालनिहार,
हर से हरनिहार जपे जाके नामैं।[१७५]
करतार, भरतार, हरतार, कर्म काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है।[१७६]

किन्तु पाठालोचन का सिद्धान्त है कि कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट होता है। अतः इस दृष्टि से विनय-पीयूषका पाठ कठिनतर और प्राचीनतम है। प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों में यही पाठ है। कतिपय टीकाकारों ने भी ' हरि ' से अर्थ न लगा

---

१६६. विनय० , पृ० २३३ — १६७. वही, पृ० ६८
१६८. वही, पृ० ३४५ — १६९. वही, पृ० २१४
१७०. वही, पृ० १४५
१७१. तुलसी ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ४३६
१७२. वि०पी० खं० ३, पाद टिप्पणी, पृ० १३०० - १
१७३. वही — १७४. विनय० सि०ति०, पृ० ८६४
१७५. गीता० ५।२५
१७६. बाहुक, ३०

सकने के कारण उसे छोड़कर अन्य अर्थों का स्थान स्वीकार कर लिया है । प्राचीनता पर ध्यान न देकर अधिकांश आधुनिक टीकाकारों ने सभा के ही पाठ को प्रामाणिक माना है । किन्तु विनय-पीयूषका पाठ प्राचीनतम और शुद्धतर है । अतः वही तर्कसंगत और प्रामाणिक प्रतीत होता है ।
विनय पीयूष में यह पाठ दिया है —

हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई ।।[177]

इसका अर्थ इस प्रकार होगा - जिसने विष्णु को हरत्व, पापों के हरण की सामर्थ्य एवं शंकर को सृष्टि-संहार की सामर्थ्य, ब्रह्मा को ब्रह्मत्व (पालन की सामर्थ्य) और लक्ष्मी को ऐश्वर्य दान की सामर्थ्य प्रदान की है ।' वेदान्त शिरोमणि श्री-रामानुजाचार्य, ने जेहि के साथ 'हरि' का अन्वय करके अर्थ किया है - 'जिस हरि ने हर को हरत्व...... ' ।[178]

किन्तु कवि के प्रयोग से यह अर्थ उचित नहीं है । कवि ने भी श्रीराम को विष्णु, ब्रह्मा और शिव से बड़ा माना है - जाके बल बिरंचि हरि ईसा ।
पालत सृजत हरत दससीसा ।।[179]

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ।।[180]
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका । अमित प्रभाउ एक तें एका ।
बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ।।[181]

इस पाठ से 'हरता' में और अधिक गांभीर्य आ जाता है । 'हरता' शब्द से 'हरि'

----

१७७. वि०पी० सं० ३, पृ० १३००
१७८. वही, पाद टिप्पणी, पृ० १३०३
१७९. मानस ५।२१।५
१८०. वही १।१४४।६
१८१. वही १।५४।७-८

और हर शब्दों के महत्व का बोध होता है। अतः कवि के शब्द प्रयोग कौशल का भी आभास होने लगता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यही पाठ प्रामाणिक लगता है। लक्ष्मी जी भी, जिनसे रघुनाथ का ऐश्वर्य और शील है इस पाठ में समाविष्ट हो जाती है। इससे 'राम' का रामत्व उत्कृष्टतर से उत्कृष्टतम हो जाता है जो कवि का अभीष्ट है। छन्दानुशासन की दृष्टि से भी यही पाठ उचित है। अन्यथा सामान्य मात्राएं न्यूनाधिक हो जाती हैं।

मन कुमनोरथ, मनो मनोरथ और मनहु मनोरथ

काल करम बस मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु भो तो।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो ।।[१८२]

यह पाठ नागरी प्रचारिणी सभा का है। पं० गजाधरदास की पोथी, सन् १९०४ की हरिहरप्रसाद की टीका, सं० १८९३ की श्री जमुनादास वैश्य की लिखी पुस्तक, मूल वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई की सं० १९५९, वीरकवि जी की टीका, बाबू शिवप्रकाश की टीका, रामेश्वर भट्ट जी की टीका, दीन जी की टीका[१८३] गीताप्रेस की टीका[१८४] गयाप्रसाद जी की टीका[१८५] सूर्यदीन शुक्ल की टीका[१८६] और विनय-पीयूषकार ने इसी पाठ को स्वीकार किया है।[१८७] केवल भागवतदास की प्रतिलिपि में 'मनोमनोरथ' पाठ है।[१८८] इसी को आधार श्रीकांतशरण जी ने बनाया है।[१८९] सं० १८७८ की श्री बेनी-कायस्थ की लिखी पोथी में 'मनहु मनोरथ' पाठ है।

---

१८२. विनय० १६१

१८३. सि०पी० सं० ४, पाद टिप्पणी, पृ० २११

१८४. विनय०, पृ० २६५

१८५. ,, पृ० ३५६

१८६. ,, पृ० १८०

१८७. सि०पी०, सं० ४, पृ० २११

१८८. वही, पाद टिप्पणी, पृ० २११

१८९. विनय०, सि०ति०, पृ० १०६५

१९०. वही, पृ० १०६६

केवल पं० सूर्यदीन शुक्ल को छोड़कर 'मन कुमनोरथ' पाठ को स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-- काल और कर्मों के प्रभाव से कभी-कभी कुछ कुमनोरथ मन में होते (तब) जैसे मछली जल में आनंदमग्न रहती है, (कभी कभी) उसे छोड़कर उछलकर फिर फड़फड़ा कर उसी में गोता लगाती है (वैसे ही मैं) गोता लेता हूँ।'

परन्तु गोस्वामी जी स्वयं को महापतित, समस्त कल्मषों और दुराचारों का आगार मानते हैं। अतः वे यह नहीं कह सकते कि मुझमें बुरी-भावनाएं कभी-कभी उठती हैं। इसी गड़बड़ी के कारण श्रीकांतशरण जी ने भागवतदास की प्रति का 'मनो मनोरथ' पाठ स्वीकार करते हुए मनोनुकूल अर्थ किया है। उनके अनुसार 'कुमनोरथ' पाठ नितांत अशुद्ध है, क्योंकि 'जितो दुराउ......' इस चरण से यहाँ अपने दोष-कथन का प्रसंग है। ऐसा नहीं कि कभी-कभी ही 'कुमनोरथ' हो जाते हैं। 'मनो मनोरथ' पाठ लेकर 'मनो' का अर्थ 'मन से भी' किया है। उन्होंने 'जलदान माँगिबो' पाठ अन्तरा - २ में रखा है और उसका सम्बन्ध 'काल करम ....' से लगाकर यह अर्थ किया है - 'यह कृपा अमृत रूपी जलदान माँगना, इसका कैसा है, यह मैं खरा सत्य कहता हूँ कि काल और कर्म के वश में निरंतर रहकर आनंद अर्थात् मानने वाले मेरे मन से भी यह मनोरथ जो कभी-कभी होता है वह वैसा ही है जैसे जल में आनंद पूर्वक रहने वाली मछली कभी...... ।'[१९०] श्री अंजनीनंदनशरण जी भी अर्थ लगाने के लिए ~~कुछ शंका~~, कुछ क्लिष्ट कल्पना करते हैं। उनके अनुसार 'मेरी समझ में यदि शंका को ठीक मानें और कभी-कभी अन्याश्रय का 'जितो दुराउ' से असंगत मानें तो 'कु' को 'को' या 'का' का अपभ्रंश मानकर अथवा प्रह्लाददास वाली हस्तलिखित पोथी का 'को' पाठ ग्रहण कर यह अर्थ कर सकते हैं - 'काल कर्मवशीभूत मन का कभी-कभी ऐसा मनोरथ होता है, तब जैसे मछली जल में आनंदपूर्वक रहकर (कभी कभी) उसे छोड़कर उछलकर-छटपटाकर (फिर) गोता लेती है।' - इस अर्थ में

----

१९०. विनय०, स०ति०, पृ० १०६६

होते पाद ऊपर से मछली नहीं पहुँचते । भाव कि ऐसे ही मैं तुरन्त उलटा पटाकर फिर अन्यान्य या विषय सुख में डूब जाता हूँ । 'अपार लेत गोतो' को अन्वय में ले आने से 'ज्यों' का सम्बन्ध पूरा लग जाता है — ज्यों....... त्यों मैं अपार लेत गोतो । '१६१ श्रीनंदनशरण जी पाठ को नहीं बदलना चाहते, किंतु अर्थ में कुछ खींच-तान अवश्य करते हैं । केवल दो हस्तलिखित प्रतियों और श्रीकांतशरण-जी को छोड़कर समस्त हस्तलिखित प्रतियों एवं टीकाओं में पाठ 'मन सुमनोरथ' ही है । 'मनोमनोरथ' पाठ मान लेने से भी अर्थ सुसंगत नहीं लगता । जैसा कि श्रीकांत-शरण जी के अर्थ से स्पष्ट है । अतः सभा के संस्करण का 'पाठ' ही तर्कसंगत और उपयुक्त है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए —'काल व कर्म के वश से मन रूपी मछली छोड़ कभी-कभी कुछ हुआ अर्थात् ईश्वरोन्मुख हुआ तो वह ऐसा ही है जैसे मछली जल में आनंद से रहती हुई कभी-कभी उछलकर भट् पहुँचकर उसी में गोता लगाती है । भारतीय आचार्यों ने अर्थ-निश्चय का एक साधन शब्दाध्याहार भी बतलाया है । इसी आधार पर 'छोड़' शब्द का अध्याहार दृष्टांत के 'उछरि' से कर लिया गया है । पं० सूर्यदीन शुक्ल ने भी लगभग यही अर्थ किया है । गोस्वामी जी ने 'मन' को मछली और 'विषय' को जल कहा है —

विषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक । '१६२

यहाँ पर मछली जैसे जल में सानंद रहती है, वैसे ही कवि कहता है कि मैं भी विषय-सुख को आनंदमय मानकर उसमें लिप्त रहता हूँ । जैसे मछली जल को छोड़ने पर व्याकुल होकर फिर उसी में आ जाती है, वैसे ही मैं भी ईश्वर के भजन, सत्संगादि में मन न लगने के कारण पुनः उसी सांसारिक विषय-वासनादि में लीन हो जाता हूँ ।' यहाँ पर यही अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होता है ।

---

१६१. वि०पी० सं० - ४, पृ० २१६

१६२. विनय० १०२ ।

१६३. विनय० सटीक , पृ० १८०

भौंतुवा भौंर - भुरुद्द, भुरुट, भुट, भुरुद्दुवा, भुरुद्दभौंर

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं ।[क]
यह नागरी प्रचारिणी सभा का पाठ है। हरिहरप्रसाद जी की टीका, वीरकवि जी की टीका, सं० १६१५ की श्रीरामरतनदास लिखित पोथी, लाला भगवानदीन जी की टीका, और वियोगी हरि जी की टीका में 'भौंतुवा भौंर' पाठ है। रामेश्वर भट्ट जी की टीका में भौंतुवा भौंर पाठ है।[१६२] देवनारायण द्विवेदी और गीताप्रेस की[१६३] टीका में भी 'भौंतुवा भौंर' पाठ है। पं० गजाधरदास की पोथी में 'भरुद्द भौंर' पाठ है। मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय की सं० १९७० की छपी मूल गुटका और भावार्थप्रकाश की टीका में भुरुट भौंर पाठ है। बैजनाथ जी की टीका में 'भुरुट भौंर' पाठ है। भागवतदास जी की प्रतिलिपि और मूल वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई। सं० १९५१ में भुरुद्दुवा भौंर पाठ है।

सं० १६६६ की श्री भगवान कृष्ण की लिखी प्रति,[१६५] गयाप्रसाद जी की टीका[१६६] और विनय-पीयूष में 'भुरुद्द भौंर' पाठ है। पं० महावीरप्रसाद मालवीय के अतिरिक्त 'भौंतुवा भौंर' पाठ स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -- भंवर का चक्कर खाने वाला एक प्रकार का काले रंग का कीड़ा जो प्राय: वर्षाऋतु में जलाशयों आदि में जलतल के ऊपर और नावों के पास भी चक्कर काटता हुआ रहता है। मालवीय जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - यह युक्तप्रांत के अधिकांश किसानों का व्यावहारिक शब्द है। रस्सी बनाने के लिए लकड़ी[१६९] का एक यंत्र।'[१६७] बैजनाथ जी ने 'भुरुट भौंर' और भौंर[१६८], पं० रामकुमार ने भुरुटो भौंर'

क. विनय० २२९

१६२. वि०पी०, सं० ५, पादटिप्पणी, पृ० ७०६

१६३. ,, सटीक, पृ० ३१६

१६४. वही, पृ० ३६५

१६५. वि० पी०, खंड ५, पाद टिप्पणी, पृ० ७०६

१६६. विनय० सटीक, पृ० ३०२३

१६७. विनय कोश, पृ० १७८

१६८. विनय० सटीक, पृ० ४३७

१६९. वि०पी०सं० ५, पृ० ७१०

और भट्ट जी ने 'भुलटु भौंर'[200] पाठ देकर यही 'कालाकीड़ा' अर्थ किया है।

उक्त पंक्ति के पद को पढ़ने से भौंर पाठ असंगत लगता है। 'भौंतुवा भौंर को हौं' पाठ स्वीकार करने वाले संपादकों और टीकाकारों ने भी इस पद के ऊपर की पंक्ति में 'औंर को हौं' 'धौंर को हौं' पाठ माना है। प्राचीनतम पाठ- 'और को हौं, कौंर को हौं, जौंर को हौं, धौंर को हौं, भौंर को हौं और ठौंर को हौं, है। अधिकांश बहुल पाठ में 'भौंर को हौं' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। टीकाकारों ने 'भौंर' से 'भौंर' और भौंर से भौंर कर लिया है। 'भौंर' के तोल से आगे की पंक्ति में 'ठौंर' कर लिया है किन्तु 'भौंर' का तोल 'ठौंर नहीं ठौंर' होना चाहिए। ठौंर पाठ किसी भी टीका में नहीं है। अतः 'भौंर' पाठ तर्कसंगत नहीं। यहाँ पर तर्कसंगत और प्राचीनतम पाठ 'भौंर को हौं' है। 'भुलट, भुलटौ और भुलटु' पाठ मानने वालों ने भी 'भौंर' और 'भौंर' पाठ किया है। 'भुलट' का अर्थ काला कीड़ा किया है। किन्तु किसी भी कोश में मुझे 'भुलट' शब्द का अर्थ 'काला कीड़ा' नहीं मिला। हिन्दी शब्दसागर में भौंतुवा का अर्थ 'कालाकीड़ा' किया है। अर्थ न लगने के कारण टीकाकारों ने 'भुलट' को 'भौंतुवा' और 'भौंर को भौंर' करके इसका अर्थ भंवर का भौंतुवा (कालाकीड़ा) किया है। प्राचीनतम पाठ 'भुलटु' है क्योंकि सं० १६६६ की भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति में यही पाठ मिलता है। टीकाकारों ने इसी 'भुलटु' को भुलटु, भुलट, भलट, और भुलटुआ कर लिया है। इससे भी 'भुलटु' पाठ ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ एवं प्राचीन टीकाकारों ने भी भुलट, भुलट आदि पाठ ही स्वीकार किया है। 'भुलट' कठिनतर पाठ भी है। अतः पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार यही मूल के अधिक निकट और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अर्थ की दृष्टि से भी भौंतुवा भौंर' का जो अर्थ टीकाकारों ने किया है, वह उचित नहीं प्रतीत होता। उनका अर्थ इस प्रकार है - 'भाव यह है कि जैसे भौंतुवा जल में रहता हुआ भी जल के ऊपर ही तैरता रहता है, उसमें डूब नहीं सकता, वैसे ही कलि ने यद्यपि मुझे भव-नदी में डाल दिया है तथापि मैं आपके प्रताप से इस विषम-प्रवाह में बहूँगा नहीं, ऊपर-ही-ऊपर तैरता रहूँगा।' किन्तु तुलसीदास

---

200 विनय० सटीक, पृ० ३१५

इसलिए निम्न पंक्ति बल बहु ठेकाने तोर को हीं से स्पष्ट होता है कि कवि अपने को इससे ऊपर की पंक्ति में नितांत असमर्थ व्यक्त कर चुका है। यदि ऐसा न मानें तो ऊपर की पंक्ति और इस पंक्ति में भावार्थ की पुनरावृत्ति भी आती है। 'कहा भयो जो' से भी यही सूचित होता है। लोग कहते हैं कि कोई हानि नहीं, यदि अमुक ने मुझे धोखा दिया। मेरा तो आश्रयदाता जगत्पिता है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है —

कुमया कछु हानि न औरन की जो पै जानकीनाथ मया करि है।[201]

अतएव यहाँ पर विनय-पीयूष का पाठ प्रामाणिक लगता है। प्राचीनतम तो है ही। विनय पीयूषकार ने यह पाठ स्वीकार किया है —

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भुलटु भौंर को हौं।[202]

'भुलटु भौंर' का अर्थ बाबू शिवप्रकाश[203] और गंगाप्रसाद जी ने – एक पौधा किया है जिसका कांटा प्रातःकाल अस्पर्श्य रहता है, गड़ता नहीं। गोण्डा जनपद में इसे 'बरियुया कांटा' कहते हैं। 'भौर का भुलट' होना मुहावरा है जिसका अर्थ है – 'नितांत असमर्थ होना' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा – 'क्या हुआ अर्थात् कोई हानि नहीं जो मेरे मन ने कलिकाल से मिलकर मुझे नितांत असमर्थ कर दिया।'

तनु तजेउ, तनु तजऊ, तनु जनेउ, तनु जन्यो, तनु जनतेउ, त्वच तजत, त्वचा तजत और तनुज तजऊ

तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूं।[204]

जो यह पाठ नागरीप्रचारिणी सभा का है। श्रीभागवतदास की प्रतिलिपि में 'तनु तजेउ' पाठ है। 'त्वचा तजत' पर हरताल देकर यह पाठ बनाया गया है। रामेश्वर-

---

२०१. कवितां० ७।४७

२०२. वि०पी०खं०-५, पृ० ७०६

२०३. विनय सटीक, पृ० २८७

२०४. विनय० २७५।

भट्ट जी ने भी यह पाठ स्वीकार किया है।[२०५] श्री गदाधर व्यास की पोथी में 'तनुज तज' और 'तनु तजऊ' त ज की लिपि शैली के अनुसार दोनों प्रकार पढ़ जाते हैं, परन्तु स्पष्ट 'तनु तजऊ' ही पढ़ेंगे। 'तनु जनेउ' पाठ भी भगवान दीन जी का है। वियोगी हरि,[२०६] टीका प्रेस[२०७] और तुलसी ग्रन्थावली[२०८] में 'तनु जन्यो' पाठ है। तनु जनेउ पाठ मूल वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय की सं० १६५० की छपी मूल गुटका[२०९] और गीता प्रेस की टीका[२१०] में स्वीकृत है। बाबू शिवप्रकाश,[२११] देवनारायण द्विवेदी जी,[२१२] और गंगाप्रसाद जी ने[२१३] तन जन्यो पाठ स्वीकार किया है। 'त्वच तजत' पाठ महावीरप्रसाद मालवीय जी का है। 'त्वचा तजत' पाठ श्री बैनीकायस्थ की लिखी पोथी[२१४] और बैजनाथ जी[२१५] तथा पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[२१६] ने अपनी टीकाओं में दिया है। सं० १६६६ की श्री भगवानदास की लिखी प्रति, सं० १८६३ की श्री जमुनादास वैश्य की लिखी पुस्तक और विनय पीयूष में 'तनुज तज' पाठ दिया है।[२१७] श्रीकांतशरण जी ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।[२१८]

टीकाकारों ने मनमाने ढंग से उक्त पंक्ति के पाठ के सम्बन्ध में अटकलपच्चियाँ लगाई हैं। सं० १६६६ की श्री भगवान दास की लिखी प्रति में हरताल और काट-छाँट नहीं के बराबर है। इसमें कुल २७४ पद हैं। २७४ पद होने के कारण ना०प्र०सभा और गीताप्रेस के संपादकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ। यह विनय पत्रिका

---

२०५. विनय० सटीक, पृ० ३६८

२०६. वि०पी०,सं० ५, पाद टिप्पणी, पृ० १०४५

२०७. विनय० सटीक, पृ० ४३० २०८ तु०ग्रं० ख०भा०वि०प०टि०[illegible],पृ०८०५

२०९. वि०पी०सं० ५, पादटि०,पृ० १०४५ २१०. विनय० सटीक, पृ० ४३०

२११. विनय० सटीक, पृ० ३२७ २१२. वही, पृ० ३४६

२१३. वही, पृ० ३७५ २१४. वि०पी०सं० ५, पादटिप्पणी, पृ०१०४५

२१५. विनय० सटीक, पृ० ५१७ २१६. वही पृ० २६३

२१७. वि०पी० सं० ५, पादटिप्पणी, पृ० २७५

२१८. विनय० सि०ति० , पृ० १५६४

की सबसे प्राचीनतम हस्तलिखितप्रति है। इसमें "तनुज तज्यो" पाठ दिया हुआ है। प्राचीनतम होने के कारण यही पाठ प्रामाणिक प्रतीत होता है। अन्यत्र टीकाकारों ने भी इसी पाठ को मूल के अधिक सन्निकट का स्वीकार किया है। अतः यही पाठ मान्य है। कुटिल कीट का अर्थ कुछ लोग केकड़ी करते हैं, जो बच्चा देते ही मर जाती है क्योंकि केकड़ी के बच्चे पेट फाड़कर निकलते हैं। तुलसीदास को तो उनके माता पिता दोनों ने छोड़ दिया था। यदि केवल माता छोड़ती तब तो केकड़ी अर्थ लग सकता था पर माता-पिता के साथ केकड़ी अर्थ कैसे लग सकता है। यही बात सर्पिणी अर्थ करने से भी फँसती है। तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने कुटिल कीट का अर्थ - जूं, पेट के केंचुए आदि करते हैं।[219] मेरी दृष्टि से भी इसका अर्थ जूं, चिल्लड़ आदि है। रक्त चूसने के कारण इनको 'कुटिल' कीट कहते हैं। अतः विनय पत्रिका की इस पंक्ति --

तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूं।

का अर्थ इस प्रकार होगा -

मैं उनके तन से उत्पन्न पुत्र था, तब भी उन्होंने मुझे जूं-चिल्लड़ आदि कुटिल कीड़े की भाँति त्याग दिया। तनुजतज्यो पाठ में उक्त अन्य पाठों से अधिक भाव गाम्भीर्य है।

बैरिखा, बाँरि, बैर और बीर
---------- ----------

गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव,
कुसल गौ कीस बर बैर जाको।[220]

श्रीकांतशरण जी भागवतदास की प्रति का पाठ 'बर बैरिसा' बताते हैं और स्वयं 'बर बैरिखा' पाठ स्वीकार करते हैं। 'बर बैरिखा' से भी अर्थ न स्पष्ट होने के कारण तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने 'बर बैरिखा जाको', पाठ कर दिया है। और अर्थ किया है --राम के जिस पहले दूत (हनुमान) के श्रेष्ठ बल की पताका

----

२१९. वि० सं०, अ०भा०वि०प०रि० काशी, पृ० ८०५
२२०. कवित्ता० ६।२१

फ[illegible]रा रही है।[222] श्री रामप्रसाद जी[223] बैजनाथ जी[224] और चन्द्रदेव नारायण जी[225] ने 'बरबैरि' पाठ स्वीकार करके इसका अर्थ श्रेष्ठ बैरी या प्रबल शत्रु ' किया है। ना०प्र०सभा, दीन जी[226] देवनारायण द्विवेदी जी,[227] चम्पाराम मिश्र जी और चन्द्रशेखर द्विवेदी जी ने[228] 'बरबैर' पाठ मानकर बड़े शरीर वाला या बड़ा बलवान' अर्थ किया है।

'बरबैरिणा' से अर्थ स्पष्ट नहीं होता और 'बर बैरिणा जाको' पाठ से छन्द के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। अतः अर्थ और प्रवाह की दृष्टि से यह पाठ संगत नहीं प्रतीत होता। शत्रु को श्रेष्ठ बैरी कहना भी अच्छा नहीं लगता और 'बर' का अर्थ प्रबल भी नहीं होता। 'बैर ' शब्द का अर्थ मुझे शरीर कहीं नहीं प्राप्त हुआ। अतः उक्त दोनों पाठ तर्क संगत नहीं प्रतीत होते हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'बर बीर' पाठ निर्धारित किया है।[229] पं० रामप्रताप त्रिपाठी ने भी यह पाठ स्वीकार किया है।[230] अन्य पाठों की अपेक्षा मुझे डा० गुप्त द्वारा निर्धारित पाठ विषयानुकूल लगता है। इस पाठ से अर्थ भी उपयुक्त लग जाता है। डा० गुप्त का पाठ इस प्रकार है —

गहन उजारि पुर जारि सुत मारि तव, कुसल गौ कीस बर बीर जाको ।।

इसका अर्थ होगा - जिसका श्रेष्ठ बीर कपि हनुमान तुम्हारा अशोक वन उजाड़कर नगर जला कर और तुम्हारे पुत्र (अक्षकुमार) को मारकर सकुशल यहाँ से चला गया।'

---

२२२. ग०सं०,अ०भा०वि०प०रि०काशी, पृ० २२५
२२३. कवित्त रामा०, पृ० ८१
२२४. वही, पृ० ११२
२२५. कवित्ता० सटीक, पृ० ७६
२२६. वही, पृ० ८१
२२७. वही, पृ० ६७
२२८. वही, पृ० ४१
२२९. कवित्ता० पृ० २६
२३०. कवित्ता० सटीक, पृ० ६५

भाग - भाँग

नाम तुलसी पै भौंहे भाग, सो कहायो दास,
किये अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को ।[२३१]

'भौंहे भाग' पाठ नागरी प्रचारिणी सभा, हरिहरप्रसाद जी,[२३२] चन्द्रशेखर शास्त्री,[२३३] रामप्यारा मिश्र और तुलसीग्रन्थावली का[२३४] है। लाला भगवान दीन जी[२३५] श्रीकांतशरण जी,[२३६] देवनारायण त्रिवेदी जी,[२३७] बैजनाथ जी[२३८] और गीताप्रेस[२३९] ने 'भौंहे भाँग' पाठ स्वीकार किया है।

यहाँ 'भाँग' पाठ अपेक्षाकृत अधिक व्यंजनापूर्ण है। कहाँ तो तुलसी जैसा पवित्र और कहाँ भाँग जैसी नशीली। जैसे काशी का विलोम मगध, गंगा का कर्मनाशा और ब्राह्मण का कसाई[२४०] है, उसी प्रकार तुलसी का विलोम भाँग है। उक्त दोनों तुलसी ग्रन्थावली से स्पष्ट है कि काशी वाले 'भाँग' को बुरा नहीं कह सकते। यद्यपि आधुनिक तुलसी ग्रन्थावली के संपादक ने अन्यत्र 'भाग' के स्थान पर 'भाँग' पाठ ही स्वीकार किया है।[२४१] चन्द्रशेखर शास्त्री ने भी 'भाँग' के पक्ष में ही वकालत की है। किन्तु यहाँ 'भाँग' पाठ काव्यप्रयोग की दृष्टि से भी सार्थक न लगता है -

नाम राम को कलप तरु कलि कल्यान निवास ।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास ।।[२४२]

यद्यपि यहाँ पर सभा के संस्करण में 'भाँग' पाठ है।[२४३] किन्तु वंदन पाठक[२४४] और

----

२३१. कवितावली ७।१३ २३२. कवित्त, पृ० ११५

२३३. कवितावली, सटीक, पृ० २३

२३४. वि० सं०, क०भा० वि० परि०, काशी, पृ० २४१

२३५. कवितावली पृ० ११६ २३६कवितावली सि०ति०, पृ० २७८

२३७. कवितावली सटीक, पृ० १४० २३८. कवित्त रामा०, पृ० १५३

२३९. कवितावली, पृ० १११ २४०. मानस १।६।८

२४१. तुलसी ग्रन्थावली, वि० सं०, क०भा०वि०परि०,काशी, पृ० ११२

२४२. वही दोहा० ११

२४३. दोहा० ११

२४४ दोहा० प० ४

पं० कालीप्रसाद आदि अनेक टीकाकारों ने भांग पाठ ही स्वीकार किया है बरवै में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है—

केहि गिनती महँ गिनती जस बनघास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ।।[२४५]

अत: यहाँ पर भांग पाठ ही विषयानुकूल है। अतएव कवितावली के उक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा —यद्यपि मेरा नाम (पवित्र और पूज्य) तुलसी है, किन्तु भांग से भी बुरा होने पर आपका दास हो गया और आपने भी ऐसे विश्वासघाती को अपना भी लिया।

<u>बरवा है - घर नाहे</u>

लोक कहै बिधिहू न लिख्यो सपनेहूँ नाहिं अपने बर बाँहे।

हरिहरप्रसाद जी[२४६] और अम्बाराम मिश्र जी[२४७] ने बरवा है पाठ स्वीकार करके इस प्रकार अर्थ किया है —स्वप्न में भी अपने सिर का बाल तक अपना नहीं है।

ना०प्र०सभा, दीन जी,[२४८] श्रीकांतशरण जी,[२४९] बैजनाथ जी,[२५०] डा० माताप्रसाद गुप्त[२५१] पं० चन्द्रशेखर द्विवेदी,[२५२] देवनारायण द्विवेदी जी,[२५३] गीताप्रेस[२५४] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[२५५] ने घर बाहे पाठ स्वीकार किया है। गीताप्रेस की टीका और तुलसी ग्रन्थावली में घर बाहे का अर्थ अपने बल पर है यह अर्थ दिया है। शेष समस्त टीकाकारों ने इसका अर्थ अपनी बाहुओं में बल किया है। यह अर्थ अधिक तर्क संगत लगता है। प्राचीन हस्तलिखित

---

२४५. कवित्त० ७।५८   २४६. कवित्त रामा०, पृ० १४१
२४७. कवित्त० सटीक, पृ० ११७   २४८. कवित्त० सटीक, पृ० १४३
२४९. कवित्त सि० ति०, पृ० ३५६
२५० कवित्त रामा० सटीक, पृ० २०२
२५१. कवित्त०, पृ० ११५
२५२. कवित्त०, सटीक, पृ० ६२
२५३. वही, पृ० १७१
२५४. वही, पृ० १२६
२५५. ति०ग्रं०, ना०प्रा०वि०परि० काशी, पृ० २५३

किया है। हिन्दी शब्द सागर में भी इसका अर्थ 'केवाँच' किया है।[२६५] इस प्रकार उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — (तुलसीदास जी का कथन है कि) मेरे भुजा रूपी वृक्ष की जड़ में बाहु पीड़ा रूपी केवाँच की लता उत्पन्न हुई है। उसे नष्ट करके कपि-लीला (कपि-स्वभाव जैसा) से उखाड़ डालिए ।

<u>बृंद - बंद</u>

नगर-रचना सिखन कों बिधि तकत बहु बिधि बंद।[२६६]

बैजनाथ जी ने 'बृंद' पाठ मानकर यह अर्थ किया है कि 'श्री अवधनगर की दिव्य विचित्र रचना सीखने हेतु विधाता नगर को बहुत प्रकार से वृंद-वृंद देखते हैं।[२६७] हरिहर-प्रसाद जी ने 'बंद' पाठ रखकर अर्थ किया है कि 'नगर रचना सीखने बंद कई प्रकार बहु विधि से विधाता तकता है।[२६८] मुनिलाल जी 'बृंद' पाठ मानकर इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'नगर की रचना सीखने के लिए ब्रह्मा जी उसके तरह-तरह के भेद देखते हैं।[२६९] मातादीन शुक्ल जी ने 'बिधि' के स्थान पर 'कोविद' और 'बंद' पाठ मानकर उसका अर्थ-रचना के बंद या भेद किया है। ठाकुर बिहारी लाल जी 'बंद' पाठ स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि - 'नगर की विचित्र रचना को विधाता सीखने हेतु बहुत प्रकार से बंदना करि देखते हैं।[२७१]

'बृंद' पाठ संभवतः ऊपर की पंक्ति को 'बृंद' से तुक मिलाने के लिए इस पंक्ति में 'बहुबिधिबृंद' कर दिया है। किन्तु 'बृंद' पाठ मानने से अर्थ उपयुक्त नहीं लगता। जैसा कि हरिहरप्रसाद जी और गीताप्रेस के टीकाकार के अर्थ से स्पष्ट है। 'बंद' पाठ मानकर भी उपर्युक्त प्रायः सभी टीकाकारों ने मनोनुकूल अनेक अर्थ किए हैं।

---

२६५. दे० पृ० ४५१ — २६६. गीता० ७।२३

२६७. गीता० सटीक, पृ० ५४६ — २६८. वही, पृ० ३३

२६९. गीता० सटीक, पृ० ४२७

२७०. गीता०, पृ० १५८

२७१. गीता० रामा०, पृ० ३३१।

नागरी प्रचारिणी सभा आदि अनेक संस्करणों में 'भेद' पाठ ही स्वीकृत है। यहाँ पर यही पाठ प्रासंगिक और विषयानुसंगत प्रतीत होता है। तुलसी शब्दसागर में इसका अर्थ-भाग, अंश किया गया है।[२७२] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'श्री प्रबंध की रचना सीखने के हेतु ब्रह्मा जी आकर रचना के अनेक प्रकार भेद देखते हैं।' लगभग यही अर्थ श्रीकान्तशरण जी[२७३] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक ने[२७४] भी किया है।

पय अहार-पय अन्हाइ

पय अहार-फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास ॥[२७५]

नागरी प्रचारिणी सभा और गीताप्रेस[२७६] ने 'पयअहार' और 'सकल सुमंगल' पाठ स्वीकार किया है। पोद्दार जी के अनुसार 'किसी किसी प्रति में 'पय अन्हाइ' पाठ मिलता है....... पय अहार और खाइ में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, उसी के निवारण के लिए संभवत: 'अहार' के स्थान में 'अन्हाइ' संशोधन पीछे से किया गया है। किन्तु इसी प्रकार के प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है - देखिये रामचरितमानस अयोध्या० दोहा १८८ -

पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत रामहित नेम व्रत परिहरि भूषन भोग ॥[२७७]

किन्तु यहाँ पर पुनरुक्ति के भय से पाठ-परिवर्तन नहीं किया गया है। रामचरित-

---

२७२. दे० पृ० ३२०
२७३. गीता०, सि०ति०, पृ० ६६६
२७४. ति० सं०, ना०प्रा०चि० परि०, काशी, पृ० ५४०
२७५. दोहा० ५।
२७६. दोहा०, पृ० २-३
२७७. वही।

मानस, वैराग्य संदीपनी और रामाज्ञा - प्रश्न के अधिकांश दोहे दोहावली में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। उपर्युक्त सम्पादकों ने प्रस्तुत तथ्य पर ध्यान न देने के कारण 'पय अहार' और 'सकल सुमंगल' पाठ स्वीकार किया है। प्रस्तुत दोहा रामाज्ञा प्रश्न का है। रामाज्ञा प्रश्न में 'नअहार' और 'सगुन' सुमंगल पाठ मिलता है। पाठालोचन का सिद्धान्त है कि संशोधित पाठ अन्तःसाक्ष्य द्वारा सिद्ध होना चाहिए। रामाज्ञा प्रश्न का पाठ इस प्रकार है —

पय नअहार, फल खाइ जपु, रामनाम षटमास।
सगुन सुमंगल सिद्धि सब, करतल तुलसीदास ॥[२७८]

अतएव यहाँ पर यही पाठ होना चाहिए। पोद्दार जी ने मानस का जो प्रमाण प्रस्तुत किया है वह संगत नहीं लगता। वहाँ परिस्थिति दूसरी है और युग भी राम का है। लोगों को सीता सहित राम-लक्ष्मण से मिलने की उत्कट लालसा है। आहार तो वे मार्ग पूर्ण करने के हेतु करते हैं। यदि बिना आहार के मार्ग में चलना संभव होता, तो वे इसे भी न ग्रहण करते। गोस्वामी जी के द्वारा बताये हुए समस्त मार्ग सरल हैं। वे जनकवि थे। दूध की समस्या आज भी है और गोस्वामी जी के समय में भी थी। उन्होंने स्वयं कहा है — 'जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।'[२७९] और 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी ?'[२८०]

जिस युग में अन्न न मिलता हो, वहाँ दूध कैसे मिलेगा। अतः कम से कम गोस्वामी जी ऐसा कठिन मार्ग नहीं बतायेंगे। भागवतदास जी की शोधित प्राचीन प्रति में नअहार ही है। श्रीकान्तशरण जी ने भी रामाज्ञा प्रश्न के पाठ को ही स्वीकार किया है।[२८१]

---

२७८. रामाज्ञा ७।४।७

२७९. कविता० ७।७३

२८०. वही ७।९७

२८१. दोहा०, शि०ति०, पृ० ६

पं० कालीप्रसाद[२८२] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[२८३] और वंदन पाठक[२८४] ने भी 'पय अन्हाइ' पाठ स्वीकार किया है। अतः यहाँ पर उक्त रामाज्ञा प्रश्न का ही पाठ तर्कसंगत है। दोहावली के इस दोहे के पूर्व दोहा संख्या ३-४ में चित्रकूट का ही प्रसंग है। प्रासंगिक दृष्टि से भी यही पाठ तर्क संगत है। इस प्रकार उक्त व्याख्येय दोहे का पाठ इस प्रकार होना चाहिए —

पय अन्हाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सगुन सुमंगल, सिद्धि सब, करतल तुलसीदास ॥

इसका अर्थ होगा- तुलसीदास कहते हैं कि पयस्विनी में स्नान तथा फलाहार करके छह महीने तक (चित्रकूट जाकर) राम के नाम का जप करते रहो। इस शकुन से कल्याण की सिद्धि होगी और सभी सिद्धियाँ हस्तगत हो जायेंगी। मूल रूप 'अन्हाइ' रहा होगा ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि 'अन्हाइ' से 'अहार' तक पहुँचना 'नहाइ से अहार' तक पहुँचने की अपेक्षा अधिक सुगम और स्वाभाविक है।

आनन-आपन

आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ।
तुलसी अंबुज-अंबु-बिनु तरनि तासु रिपु होइ ॥[२८५]

वंदन पाठक जी,[२८६] पं० कालीप्रसाद जी[२८७] और श्रीकांतशरण जी[२८८] 'आनन' पाठ मानते हैं। सभा के संस्करण, तुलसीग्रन्थावली[२८९] और गीताप्रेस की टीका[२९०] में 'आपन' पाठ है। यहाँ पर 'आपन' पाठ ही तर्क संगत लगता है। 'आनन' पाठ रखने से दूसरी पंक्ति से सम्बंध-विच्छेद हो जाता है क्योंकि पहली पंक्ति में 'आपन'

---

२८२. दोहा० कौमुदी टीका, पृ० ४   २८३. वि०सं०,अ०भा०वि०प०रि०काशी,दो०५
२८४. दोहा० सटीक,पृ० २   २८५. दोहा० ५३४
२८६. दोहा० सटीक,पृ० १८०
२८७. दोहा० ,कौमुदी टीका, पृ० २५३
२८८. वही सि०ति०,पृ० ६२६   २८९. वि०सं० सं०अ०भा०वि०प०रि० काशी, पृ०१८४
२९०. वा दोहा०,सटीक,पृ० १८७
२९१. मानस २।१७।७-८

व्यक्त भाव की पुष्टि अंतिम पंक्ति में आने वाले भाव से नहीं होती । 'आपन' पाठ मानने से प्रथम पंक्ति का भाव दूसरी पंक्ति में प्रतिबिम्बित होता है अतः यहाँ पर 'आपन' पाठ ही सार्थक और प्रासंगिक प्रतीत होता है । कविप्रयोग की दृष्टि से भी यही पाठ प्रमाणित होता है --

...... समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ।। भानु कमल कुल पोषनिहारा । बिनु जल जारि करै सोइ छारा ।।[२६१] 'पिरीते' शब्द के लिए ही यहाँ 'आपन' शब्द प्रयुक्त हुआ है । अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा - ' जब अपने (हितैषी) ही अपना साथ छोड़ देते हैं, तो उस समय कोई हितकारी नहीं होता । तुलसीदास कहते हैं कि सूर्य है तो कमल का मित्र, पर जल रहित पाकर वह कमल का शत्रु होकर उसे जला डालता है ।

कुंद सम- कुंद सम

जथा लाभ संतोष सुख, रघुबर-चरन सनेह ।
तुलसी जौं मन कुंद सम, कानन बसहु कि गेह ।।[२६१]

पोद्दार जी 'कुंद सम' पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि 'घोड़ा एक ही स्थान पर खड़ा हुआ टाप चलाता रहता है परन्तु स्थान नहीं छोड़ता, उस स्थिति को कुंद कहते हैं । इसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी जिनका मन श्रीराम प्रेम में अचल रहता है, उन्हीं के सम्बन्ध में यह बात कही गयी है ।'[२६२] पं० कालीप्रसाद ने 'कुंद सम' ही पाठ मानकर अर्थ किया है - 'किन्तु मन यदि घोड़े के समान उछलता कूदता है तो चाहे वन में रहो चाहे घर में दोनों ही तुल्य हैं ।'[२६३] इसी प्रकार श्रीकांतशरण जी भी कुंद पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है - 'जिनका मन घोड़े की 'कुंद' के समान उछलता है ,अर्थात् भजन में बैठे रहने पर भी मन उछल कूद मचाता रहता है, वे चाहे वन में रहें और चाहे घर में (दोनों बराबर हैं, उनके बहिरंग स्थाग का कुछ महत्व

----

२६१. दोहा० ९२

२६२. दोहा०,सटीक,पृ० २१

२६३. दोहावली की कौमुदी,टीका, पृ० ४०

नहीं है। तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय 'खुद' पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि 'खुदी या पछोरन के समान चाहे घर में पड़ा रहे या वन में फेंक दिया जाय उसका कोई क्या करेगा।'[२६५]

पोद्दार जी के अर्थ से स्पष्ट है कि उन्होंने 'खूँद सम' का अर्थ 'अचल' किया है किन्तु हिन्दी शब्दसागर में 'खूँद' का अर्थ इस प्रकार किया है — 'थोड़ी जगह घोड़े का इधर उधर चलते रहना।' अतः पोद्दार जी का अर्थ असंगत प्रतीत होता है। पं० कालीप्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ हिन्दी शब्दसागर के आधार पर 'चंचल' किया है। किन्तु यहाँ पर यह अर्थ उक्त दोहे की प्रथम पंक्ति से विरुद्ध लगता है। इस अर्थ से किसी भाव विशेष की पुष्टि नहीं होती। दोहे की प्रथम पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि किसी तात्त्विक सिद्धान्त को अभिव्यक्त करना चाहता है। सटीक अर्थ न लगता देखकर तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय 'खुदी या पछोरन' अर्थ करते हैं। किन्तु यह भी युक्तिसंगत नहीं है। श्री वंदन पाठक जी खूँद सम के स्थान पर 'बूँद सम' पाठ स्वीकार करते हैं।[२६६] किन्तु इसका कोई आधार नहीं है और न आशय ही स्पष्ट किया गया है। संभवतः उनका भाव इस प्रकार रहा होगा, पृथ्वीपर गिरने के पूर्व बूँद निर्मल होती है —

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी।[२६७]

गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी कहा है —

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।[२६८]

ऐसा ही एक स्थान पर और कहा है —

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई।।[२६९]

'न मन कुटिलाई' के अर्थ में ही दोहे का तृतीय चरण आया प्रतीत होता है। 'बूँद सम' पाठ मानकर उक्त दोहे का अर्थ होगा —

---

२६५. हि०सं०, अ०भा०वि०प०रि०, काशी, पृ० ११६

२६६. दोहावली, सटीक, पृ० १६

२६७. मानस ४।१४।६

२६८. वही ५।४४।५

२६९. वही ७।४६।२

'तुलसीदास कहते हैं कि राम के चरणों से जिसका स्नेह बना रहता है, जो जितना लाभ हो उसी में सन्तुष्ट रहता है और जिसका मन खूँद की भाँति निर्मल है, वह चाहे घर में रहे चाहे वन में। अर्थात् चाहे गृहस्थ हो या विरक्त दोनों उचित हैं।' पूर्ववर्ती दोहे में भी 'कानन बसहिं कि गेह' का प्रयोग है। अतः दोनों के अर्थ पर एक साथ विचार करना अधिक उचित है। पूर्ववर्ती ६१ वाँ दोहा इस प्रकार है —

जे जन रूखे विषयरस, चिकने राम सनेह ।
तुलसी ते प्रिय राम कों, कानन बसहिं कि गेह ।।

जब तक दोहावली की कोई प्राचीन पाण्डुलिपि नहीं मिलती तब तक 'खूँद' या 'बूँद' में से किसी पाठ को अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई तीसरा व्यक्ति 'बूँद' की तरह 'कुंद' पाठ भी मान सकता है। मन के बूँद समान के अर्थ में यह नहीं कहा जायगा। परन्तु अधिकतर 'खूँद' पाठ ही मिला है। अतएव उसी के आधार पर विभिन्न प्रकार के अर्थ करने की प्रक्रिया अपनानी होगी। 'खूँद' का अर्थ 'तेज' गति से चलते चलते घोड़े का अकस्मात रुककर धरती खोदने लगना होता है। इन्द्रिय-निग्रह करने वाले मन की दशा के लिए यह रूपक अग्राह्य नहीं है, तथापि पूरी संगति नहीं लगती, क्योंकि दोहे का पूर्वापर रूपकात्मक नहीं है। इस तरह की असमर्थ अलंकृति तुलसी में प्रायः नहीं मिलती। 'खूँद' शब्द को लाक्षणिक अवश्य माना जा सकता है और तब इसका तात्पर्य होगा - 'अकुलाहट, 'उथल पुथल' आदि। 'मन खूँद सम' का अर्थ होगा - 'मन में समत्व की चेष्टा पूर्वक स्थापना' जो उचित प्रतीत होता है। गीता में भी कहा गया है —'समत्वंयोग-मुच्यते'। 'मन खूँद सम का तात्पर्य होगा - 'मन की विकलता का सम दशा में आना।'

मौन-मैन

कोमल बानी संत की स्रवत अमृतमय आइ ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ ।।[300]

३००, वै०सं० १६

वंदन पाठक जी,[३०१] नागरी प्रचारिणी सभा और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने[३०२] 'मैन' पाठ स्वीकार किया है। लाला भगवान दीन जी[३०३] और श्रीकांतशरण जी [३०४] ने भी 'मैन' पाठ माना है। संभवतः 'मैन' का अर्थ न समझने के कारण बैजनाथ जी ने 'मौन' पाठ कर दिया है।[३०५] 'मैन' पाठ स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मोम' किया है। हिन्दी-शब्दसागर में भी इसका एक अर्थ 'मोम' किया हुआ है।[३०६]

गोस्वामी जी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी किया है --
मैन के दसन, कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई।[३०७]

यहाँ पर 'मैन' पाठ ही संगत है और इसका अर्थ 'मोम' है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा- 'तुलसीदास कहते हैं कि सन्तों की कोमल वाणी अमृत से पूर्ण होकर प्रवाहित होती रहती है। इसे यदि कठोर मन वाला भी सुन ले तो मोम बन कर पिघल जाय।' जिस प्रकार अमृत प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मोम भी द्रवणशील है। यहाँ पर 'मैन' पाठ ही विषयानुसंगत है।

----

३०१. वं०सं० नेह प्रकाशिका, पृ० २४

३०२. नि०सं०, ना०प्रा० स०प०रि०, काशी, पृ० ७

३०३. तुलसी-पंचरत्न, पृ० २

३०४. वं०सं०, सि०ति०, पृ० २४

३०५. वं०सं० सटीक, पृ० १७

३०६. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४०२३

३०७. श्रीकृष्ण ० ५१।

अध्याय -- ५

अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान :-

कहीं-कहीं टीकाकारों ने शाब्दिक अर्थ में उलट-फेर कर दिया है, तो कहीं वाक्यों के अर्थ में खींचतान की है और कहीं-कहीं पूरे पद के अर्थ में विपर्यय कर दिया गया है। कतिपय टीकाकारों ने तो पाठ किसी का स्वीकार किया है और अर्थानुकरण किसी अन्य का किया है। किसी शब्द का अर्थ कुछ है तो उसका स्वरूप कुछ अन्य ही कर दिया गया है। उदाहरणार्थ-सहरोसा का अर्थ-सहर्ष तो टीकाकारों ने इसका अर्थ क्रोध सहन करके किया है। इसी प्रकार निलखि का अर्थ- विशेष रूप से लक्ष्य करके किया गया है। ऐसे ही साईं दोहाई, पुर, चितेरे और धरमसी आदि शब्दों के अर्थभावभेद ,प्रसंगान्तर और हेरफेर या विपर्यास (ट्रांसपोजीशन) हो गया है। विनय पत्रिका के १४ वें पद के सम्पूर्ण चरण में अर्थ-विपर्यय हो गया है। ~~विनयपत्रिका १४ वें पद के अतिरिक्त भी~~ कहीं-कहीं टीकाकारों ने ऊटपटांग अन्वय करके अर्थों में गड़बड़ी उत्पन्न कर दी है। इस प्रकार के असंगत और भ्रामक अर्थों के कारण रसानुभूति में कृत्रिम अतिरेक या अवरोध उत्पन्न होता है। प्रस्तुत अध्याय में तुलसी साहित्य के ऐसे ही विपर्यस्त अर्थों की समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

सहरोसा

मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउं आजु सहरोसा ।।[1]

प्रस्तुत अर्धाली में 'सहरोसा' पद के अर्थ में विपर्यय हो गया है। श्रीरामचरणदास के अनुसार-सहरोष कही सत्य संकल्प करिके कहत हौं।[2] पंजाबी जी इसका अर्थ

---

१. मानस १।२०८।३

२. रामा०, पृ०३२८

कहते हैं --'सहरोसा' शूरता समेत, सहरोसा नाम निसे का ।[3] बैजनाथ जी के अनुसार-'सहरोष सहित रोष सर्वस्व देउँ रोष क्रोधवाची है तहाँ सब पदार्थ पर जो प्रीति है ताको निरादर अर्थ रोष और दृढ़ प्रतिज्ञा धारण और जामें देत समय क्रोध न आवे जामें दान वीरता में उत्साह नहीं रहै अति सहरोष तथा त्याग वीरता में - 'राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं' । जो राज्य पर प्रीति रहत तो त्याग वीरता कैसे होती ।'[4] ज्वालाप्रसाद जी के मत से - 'शूरता सहित या सत्य संकल्प से कहता हूँ आज सब दे सकता हूँ ।'[5] रामनरेश त्रिपाठी जी के मतानुसार -'मैं आज विरोध को सहन करके सर्वस्व दे दूंगा ।[6]

यह अर्धाली उस समय की है जब विश्वामित्र दशरथ के पास आए और उनसे निशाचरों के वध के हेतु रामानुज रघुनाथ जी की याचना की । इसी पर दशरथ जी का कथन है कि हे मुनि ! पृथ्वी, गो, धेनु और कोष माँगिये । मैं सब दे डालूंगा । इस प्रसंग में 'सहरोसा' का अर्थ -'शूरता समेत, सहित रोष और विरोध को सहन करके या क्रोध को सहन करके' करने से दशरथ के शील पर आघात पहुँचता है । ऋषि लोग संसार के निष्काम सेवक होते थे वे द्रव्योपार्जन नहीं करते थे । अतएव राजा लोग पूजा के साथ, श्रद्धा से उनको दान देते थे । दशरथ का विश्वामित्र से यह कहना कि मैं क्रोध सहन करके सब देने को प्रस्तुत हूँ, अकृतज्ञता और अमानवीयता है । गीता में कहा गया है कि जो दान क्लेशपूर्वक दिया जाता है वह राजसदान है ।[7] फिर यहाँ क्रोध सहन करने की कोई बात भी नहीं । 'सहरोषा' का 'सत्य संकल्प करके' अर्थ भी समझ में नहीं आता, यह भी मनोनुकूल अर्थ है । इसका अर्थ मुझे किसी भी कोश में नहीं मिला । यहाँ पर 'प्रसन्न होकर' अर्थ को ही विषयानुसंगत कह सकते हैं ।

---

३. मा०भा०,प्र०भा०,पृ० २७६

४. रामा०बाल०,पृ० ५२३

५. सं०टी०,पृ० २४८

६. मानस,सटीक, पृ० २३४

७. दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।' गीता, १७।२१

'सहरोसा' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अरण्यकांड में भी किया है। वहाँ पर भी 'हर्ष' के साथ की ही अर्थानुसंगति है :--

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालकहि राख महतारी ।।[८]

'सहरोसा' का अर्थ निम्नांकित दो प्रकार से समुचित लग सकता है --

(१) सहरोसा - सह+रोसा (रोसा) अर्थात् उमंग सहित, सोत्साह।

'रोस' का एक अर्थ शब्दसागर में जोश, उमंग दिया है। यथा --

'विगत जलद नभ नील सकुच यह रोस बढ़ावत' - हरिश्चन्द्र[९]

अत: 'सहरोसा' का अर्थ हुआ - उमंग के साथ या उत्साह के साथ। दशरथ जी कहते हैं कि पृथ्वी, गो,धन और कोष माँगिये मैं उत्साह पूर्वक आज सर्वस्व दे सकता हूँ। विनायक राव जी[१०] और विजयानंद त्रिपाठी जी ने[११] उत्साह के साथ अर्थ किया है।

(२) 'सहरोसा' शब्द सहर्ष का अपभ्रंश है। 'सहरष' शब्द ही 'सहरोसा' हो गया है। छन्दानुरोध के कारण 'हरसा' (हर्ष) का 'हरोसा' (हरोसा) हो गया। ~~छन्दानुरोध के कारण 'हरसा' (हर्ष) का~~ छन्दबैठाने के कारण 'ए' या 'ओ' प्राय: बढ़ जाता है। सूरदास तथा केशवदास ने ऐसे प्रयोग किये हैं --

कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही'

यहाँ 'बरही' (बरही) का 'बरोही' हो गया है। इसीप्रकार --

'कलिकाल महाबीर महाराज महिमेवाने।' यहाँ 'महिमावान' का 'महिमेवाने' किया गया है। अतएव 'सहर्ष' का सहरोसा हो गया।

पं० विश्वनाथ प्रसाद जी सहर्ष अर्थ करते हुए कहते हैं कि अवध में प्रसन्नता पूर्वक कुछ देते समय 'सहरोस' देना बोला जाता है। अत: 'सहरोसा' सहर्ष का विकृत रूप हुआ और इस अर्थ के ग्रहण करने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।'[१२]

---

८. मानस ३।४३।४-५

९. मा०पी०,बाल,खं० ३, पृ० १२७

१०. वि०टी०,पृ० ४७

११. वि०टी०,प्र०भा०,पृ० ३५८

हरिहरप्रसाद जी लिखते हैं कि - 'सहरोसा कहैं हर्षपूर्वक विरोध लक्षणा और रोस का अर्थ हर्ष जानना या प्राकृत में सहरोसा शब्द हर्ष वाची है।'[१३] ग्राउस महोदय ने भी प्रसन्नतापूर्वक (ग्लैडली) अर्थ किया है।[१४] श्री अवधबिहारीदास[१५] रामेश्वर भट्ट,[१६] श्यामसुन्दरदास,[१७] पोद्दार जी[१८] और तुलसी ग्रन्थावलीके संपादक[१९] ने भी 'हर्ष' के साथ अर्थ किया है। यहाँ प्रकरण नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी प्रसन्नता पूर्वक अर्थ निश्चित होता है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा -

'हे मुनि, पृथ्वी, गौ, संपत्ति और कोश माँगिये मैं प्रसन्नतापूर्वक दे दूँ।

बिलखि -

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभु जीवन मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ ।।[२०]

यहाँ पर 'बिलखि' शब्द के अर्थ में अर्थ-विपर्यय हो गया है। लाला भगवान दीन जी के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'व्याकुल होकर' न होना चाहिए क्योंकि वशिष्ठ जी व्याकुल होते तो ऐसे विवेकपूर्ण वचन न कह सकते। बिलखि का अर्थ है - वि+लक्ष - विशेष लक्ष करके, विवेकपूर्वक।[२१] गुरु का अनुसरण करते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद जी अर्थ करते हैं कि 'वशिष्ठ ऐसे विज्ञानी साधक का 'रोना' अनुचित भासता है और रोकर हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ, ऐसी वैराग्यपूर्ण बात कहना भी संगत नहीं जँचता। अतः 'बिलखि' का विशेष रूप से अर्थात् खूब समझ-बूझकर' अर्थ न किया जाय तो वशिष्ठ के लिए प्रयुक्त मुनिनाथ

----

१३. रा०परि०परिशिष्ट, प्र०,पृ० १४४
१४. आस्क आव् मीलैंड कैटल,गुड्स एंड ट्रेजर एंड आई विल ग्लैडली गिव यू आल आई हैव एट वन्स,द रामायन आव तुलसीदास, पृ० १०४
१५. मानस,सटीक, पृ० २२८   १६. रामा० सटीक,पृ० २१८
१७. मानस,सटीक, पृ० १६७   १८. वही, पृ० २०६
१९. प्र०सं०,अ०भा०वि०परि०काशी, पृ० २१२
२०. मानस २।१७०
२१. मा०पी०अयो०,पृ० ६५२

विशेषण भी दोष पूर्ण ही समझिए।[२२] पं० विश्वानंद त्रिपाठी[२२क] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[२३] बाबा हरिहरप्रसाद जी[२४] और मानस पीयूषकार ने अर्थ की उलझन से बचने के लिए 'बिलखकर' ही शब्द रख दिया है।

'बिलखि' का अर्थ विशेष रूप से लक्ष्य करके, विवेकपूर्ण और समझ-बूझ कर मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ (हिन्दी अथवा संस्कृत वि० - (विपरीत)+लक्ष (=दिखाई देना- दुःख प्रकट करना) विलाप करना। रोना २. दुखी होना है। दुखी होने के अर्थ में उदाहरणस्वरूप यही दोहा प्रस्तुत किया गया है।

विनायक राव जी[२५] और पं० ज्वालाप्रसाद जी ने[२६] इसका अर्थ 'व्याकुल-होकर' किया है। 'व्याकुल' अर्थ के कारण ही दीन जी ने इसका अर्थ-विशेष लक्ष्य करके, विवेकपूर्वक किया है। यहाँ पर 'व्याकुल' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। 'व्याकुल' का अर्थ संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में घबराया हुआ, विकल, २. बहुत अधिक उत्कंठित दिया है।[२७] गोस्वामी जी भी शोक और व्याकुलता में अन्तर स्वीकार करते हैं। यदि वे शोक और व्याकुलता में अन्तर न मानते तो 'शोकाकुल' शब्द का प्रयोग कदापि न करते। परन्तु उन्होंने शोकाकुल शब्द का प्रयोग किया है- जरत सुर असुर नरलोक शोकाकुलं मृदुलचित अजित कृत गरल पानं।[२८] अतः यहाँ पर व्याकुल अर्थ असंगत है। मिश्रजी का तर्क है कि वशिष्ठ ऐसे विज्ञानी ऋषि का 'रोना' अनुचित भासता है। स्मरणीय है कि इस प्रसंग में 'बिलखि' शब्द का अर्थ 'रोना' किसी भी टीकाकार ने नहीं किया है। यदि किसी ने किया भी हो तो वह रोने के अर्थ में संगत नहीं है। मात्र दुःखी होना ही अभीष्ट अर्थ है।

---

२२. वि०टी०,अयो०, पृ० २४०

२३. पृ०सं०, का०ना०प्र०स०काशी,पृ० ५०७

२४. मानस, सटीक, पृ० ५०३

२५. वि०टी०,अयो०,पृ० २५५

२६. सं०टी०,पृ० ५५६

२७. दे०,पृ० ६१३

२८. विनय० ११

इसका प्रयोग अन्यत्र हुआ है —

सीता मातु सनेहबस बचन कहइ बिलखाइ ।।[२६]

समद सुनत बिकसत रवि निकसत,कुमुद-बिपिन बिलखाई ।[३०]

भरत मातुपहिं गइ बिलखानी ।।[३१]

आश्चर्य है कि गुरु शिष्य दोनों ने ऐसे अल्प प्रचलित अर्थों के कारण ही खींचतान पूर्वक अर्थ किया है । अब यदि यह कहा जाय कि मुनिनाथ को दुःखी होने का भी अधिकार नहीं है तो कृपया इस दोहे के ऊपर की अर्धाली को लें, जिसमें ज्ञानी मुनि को शोक और स्नेह में डूबा हुआ कहा गया है —

बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी । सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी ।[३२]

गोस्वामी जी ने वशिष्ठ जी के लिए ही नहीं जनक जी के लिए भी'बिलखाइ' शब्द का प्रयोग किया है —

धोरेहुं भरत न पेलिहहिं मनसहुं रामरजाइ ।

करिअ न सोचु सनेहबस कहेउ भूप बिलखाइ ।।[३३]

वैराग्य या विवेक पूर्ण वाक्य दुखपूर्ण स्थिति में प्रायः कहे जाते हैं । विशेषतः सान्त्वना देते समय रावण पक्ष में भी ऐसी स्थितियाँ मिलती हैं —

सुनि दसकंधर बचन तब कुंभकरन बिलखान ।

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान ।।[३४]

यहाँ पर'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से'दुखी होकर' अर्थ ही तर्क संगत है । गौड़ जी का मत है'बिलखि' का अर्थ'दुखी होकर' ही प्रसंगानुसार अधिक उपयुक्त है और साधारण रूढ़ि भी इसी अर्थ की पोषक है । विधाता के पुत्र वशिष्ठ जी

----

२६. मानस१/२५५

३०. गीता० १।१

३१ मानस २।१३।५

३२. मानस २।२७०।८

३३. वही २।२८८

३४. वही, ६।६२

की भी एक न चली, वह भी न सँभाल सके, इसके लिए इस प्रसंग पर वह 'बिलख' कर कहते हैं। 'बिलखि' अर्थ करना विलक्षण है।[३५] प्राचीन टीकाकार श्रीरामचरणदास ने इसका अर्थ खींच करके किया है।[३६] श्री रामेश्वर भट्ट का 'गंभीर होकर' अर्थ भी मनमाना है।[३७] पंजाबी जी[३८] ग्राउस महोदय,[३९] श्रीकांतशरण जी[४०] और पोद्दार जी ने[४१] भी 'दु:खी होकर' अर्थ किया है। लाला हरप्रसाद जी और अनेक महानुभावों ने भी दु:खी होकर ऐसा अर्थ किया है।[४२] अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा-

मुनिनाथ वसिष्ठ जी ने दुखी होकर कहा - भरत ! सुनो - भावी बड़ी बलवान है, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सब विधि के हाथ है अर्थात् मनुष्य के हाथ में यह बातें नहीं हैं।

साँइ दोहाई :-

संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलउँ तजि ताही ॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साँइ दोहाई ॥[४३]

इस चौपाई के चौथे चरण के अर्थ में विपर्यय हो गया है। विजयानंद त्रिपाठी जी ने गोल-मटोल शब्द स्वामि दोहाई ही लिख दिया है।[४४] मनमाना पाठांतर करने वाले ज्वालाप्रसाद जी ने 'पापशिरोमणि' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है- मुझको अपने शिरोमणि स्वामी की दोहाई है।[४५] अवधबिहारीदासजी ने दोहाई अर्थ किया है। उनके अनुसार मैं स्वामी की दोहाई देकर कहता हूँ कि मैं पापियों में शिरोमणि हो जाऊँगा।[४६] रामेश्वर भट्ट जी[४७] विनायकराव जी[४८] श्यामसुन्दर दास जी[४९] और रामनरेश त्रिपाठी जी ने[५०] अर्थ किया है कि -

---

३५. मा०पी०अयो०,पृ० ६४३

३६. रामा० सटीक, पृ० ६५२

३७. मानस०सटीक, पृ० ५३५

३८. मा०भा०,पृ०भा०,पृ० ११६

३९. दस होली स्पीक द प्रिंस आव हैवेन, द रामायन आव तुलसीदास पृ० २५८

४०. मानस सि०ति०,सि०सं० ,पृ० १२१९

४१. मानस,सटीक, पृ० ४७०

४२. मा०पी०अयो०,पृ० ६४२

४३. मानस० २।१८५।३-४

४४. वि०टी०अयो०,पृ० २६४

४५. सं०टी०पृ० ५७०

४६. मानस,सटीक,पृ०५५५

४७. मानस,सटीक पृ० ५४८

४८. वि०टी०,पृ० २७८

४९. मानस,सटीक,पृ०५१५

५०. वही,पृ० ५८५

"मैं स्वामी का सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैं पापियों का सरदार (शिरोमणि) कहलाऊँगा । श्रीरामचरणदास[५१] और श्रीरामवि जी ने[५२] दोहाई का अर्थ द्रोह तो किया है किन्तु पापसिरोमनि का अर्थ पापियों का शिरोमणि किया है । उपर्युक्त टीकाकारों के साथ विनायकी टीकाकार[५३] ने भी पाप सिरोमनि का अर्थ पापियों में शिरोमणि किया है । किन्तु पापियसिरोमनि पाठ से यह अर्थ हो सकता है, पापसिरोमनि से नहीं । पापसिरोमनि का अर्थ पापों में ऊँचा या बड़ा पाप होगा । यहाँ पर दोहाई का अर्थ दोहाई (घोषणा) या सौगंध बिल्कुल असंगत है । शपथ का कोई प्रयोजन भी नहीं है, दूसरे यह अर्थ प्रसंग के प्रतिकूल है । सो परिनाम न मोरि भलाई के पश्चात् यह कहना कि मैं स्वामी का सौगंध खाता हूँ, मैं पापियों में शिरोमणि हूँ, तर्कसंगत नहीं है । यहाँ पर इस भाव की चौपाई होनी चाहिए कि नगर, घोड़े, हाथी, महल और कोषादिकों की बिना सुव्यवस्था किये प्रस्थान करना अनुचित ही नहीं बहुत बड़ा पाप है । करइ स्वामिहित सेवकु सोई से भी इसी भाव की पुष्टि होती है ।

अतः यहाँ दोहाई का अर्थ द्रोह होना चाहिए । साँइ द्रोहाई पाठ कहीं नहीं मिलता है । सभी ने निर्विवाद रूप से साँइदोहाई पाठ स्वीकार किया है । यह कहना भी समुचित नहीं है कि गोस्वामी जी ने साँई के साथ द्रोह शब्द का प्रयोग नहीं किया है । ऐसे प्रयोग कई स्थलों पर प्राप्त हुए हैं -

हौं समुझत साँई-द्रोह की गति छार-छियो रे ।।[५४]

स्वामी की सेवक-हितता सब, कछु निज साँय-दोहाई ।।[५५]

गोस्वामी जी ने पयाग और प्रयाग, पेम और प्रेम दोनों प्रकार से प्रयोग किया है -

----

५१. रामा०,पृ० ६५७

५२. मानस,पृ० ६५८

५३. मा०पी०,अयो०,पृ० ६८७

५४. विनय०,३३

५५. वही ,१७१

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू । भयेउ भूपमनु मनहुँ पयागू ।।[५६]

जाना मरमु नहात प्रयागा । मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ।।[५७]

का कियो जोग अजामिल जू, गनिका कबहीं मति पेम पगाई ?[५८]

प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं ।[५९]

इसी प्रकार उन्होंने 'द्रोह और दोह' दोनों प्रकार से प्रयोग किया है । यहाँ 'दोहाई' 'द्रोहाई' का घिसा हुआ रूप है, जिस प्रकार क्रोध कोह हो गया है, उसी प्रकार द्रोह दोह । भरत जी ने स्वयं को 'स्वामिद्रोही' कहा भी है –

जानहु राम कुटिलकरि मोही । लोग कहउ गुर साहिब द्रोही ।।[६०]

'स्वामि द्रोह' अर्थ से 'पाप सिरोमनि' शब्द की भी संगति बढ़ जाती है । शंकर प्रसाद जी[६१], ग्राउस महोदय,[६२] पंजाबी जी[६३] पोद्दार जी[६४] मानस पीयूषकार,[६५] और पं० शिवनाथ प्रसाद मिश्र जी ने[६६] अर्थ किया है कि 'स्वामी की द्रोहाई (स्वामी का वैर-विरोध) सब पापों में बड़ी है।' 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चित के साधन से भी यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है । अतएव उपर्युक्त चौपाई का अर्थ होगा – सब सम्पत्ति रघुनाथ जी की है । यदि बिना रक्षा का आयोजन किये त्यागकर चल दूँ । तो अन्ततः मेरा हित नहीं, स्वामि द्रोह महापाप है ।

इसी प्रकार विनय पत्रिका के १४८ वें पद में साईं दोहाई शब्द आया है । यहाँ पर भी वियोगी हरि जी[६७] देवनारायण त्रिवेदी जी एवं रामेश्वर भट्ट जी[६८] ने दोहाई का अर्थ शपथ किया है । इस पंक्ति –

----

५६. मानस० २।२८५   ५७. वही, २।२०७।५

५८. कवितान० ७।६३   ५९. जानकी० ६५

६०. मानस २।२०४।१   ६१. रा०पा०परिशिष्ट,प्र०,पृ० १०५

६२. टु हम्यौर बन्स बीन लाईं इज क्राउनिंग सिन, पादटिप्पणी में – 'दोहाई हिअर कुड सीम टु बी नाट फार दुहाई, लैमेंटेशन, बट फार द्रोह, इन्ज्योरी' – द रामायण आव तुलसीदास, पृ० २६४

६३. मा०भा०, प्र०भा०,पृ० २११   ६४. मानस,।सटीक,पृ० ४८१

६५. मा०पी०अयो०,पृ० १८६   ६६. गोसाईं तुलसीदास,पृ० १७७

६७. विनय०,पृ० २९०   वही,पृ० २९८, विनय० पृ० २१४

कहौं कौन मुँह लाइकै, रघुबीर गुसाईं ।
सकुचत समुझत आपनी सब साईं दोहाईं ।[६९]

का अर्थ करना कि – हे रघुवीर ! हे गोसाईं (स्वामिन्) ! मैं कौन मुँह लगाकर (आपसे कुछ) कहूँ ? मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि अपनी सब समझकर सकुचा रहा हूँ । अनर्थ करना है । मानस की उपर्युक्त चौपाई की भाँति प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ भी 'प्रकरण' अर्थ विनिश्चय के साधन से इस प्रकार निश्चित होता है — 'अपनी सब स्वामिद्रोहता समझकर सकुचा रहा हूँ ।' यहाँ अर्थ सौष्ठव पर ध्यान देने पर 'द्रोहाई' अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है । जब तक दोहाई का- द्रोहाई अर्थ न किया जाय तब तक अर्थानुसंगति नहीं होती । श्रीकांतशरण जी[७०] लाला भगवानदीन जी[७१] और महावीरप्रसाद मालवीय[७२] ने भी 'द्रोह' ही अर्थ किया है । बैजनाथ जी ने 'दोहाई' को ज्यों का त्यों रख दिया है ।

सम्पूर्ण पद के अर्थ में विपर्यय:

देखो देखो बनु बन्यो आजु उमाकंत । मनों देखन तुम्हहिं आई रितु बसंत ।।
मानो तनु दुति चंपक कुसुम माल । बर बसन नील नूतन तमाल ।।
कल कदलि जंघ पद कमल लाल । सूचति कटि केहरि गति मराल ।।
भूषन प्रसून बहु विविध रंग । नूपुर किंकिनि कलरव विहंग ।।
कर नवल बकुल पल्लव रसाल । श्रीफल कुच कंचुकि लता जाल ।।
आनन सरोज कच मधुप गुंज । लोचन विसाल नव नील कंज ।।
पिक बचन चरित बर बर्हि कीर । सित सुमन हास लीला समीर ।।
कह तुलसिदास सुनि सिवसुजान, उर बसि प्रपंच रचै पंच बान ।।
करि कृपा हरिअ भ्रम फंदु कामु । जेहि हृदय बसहिं सुखरासि रामु ।।[७४]

---

६९. विनय० १४८ ।
७०. वही सि०ति०, पृ० १००५
७१. विनय० पृ० २६१
७२. पृ० २०४
७३. वही, पृ० २७७
७४. सि०पी० १४।सं० १, पृ० २०७

बाबू शिवप्रकाश,[७५] बैजनाथ जी,[७६] रामेश्वर भट्ट जी,[७७] देवनारायण त्रिवेदीजी[७८] वियोगीहरि जी,[७९] गयाप्रसाद जी,[८०] वीरकवि जी,[८१] पोद्दार जी,[८२] लाला भगवान दीन,[८३] सूर्यदीन शुक्ल जी,[८४] आदि टीकाकारों ने इस पद में शिवजी के अर्द्धनारीनटेश्वर गौरीशंकर रूप की वंदना होना स्वीकार किया है और इसी से उन लोगों ने पार्वती जी का वसंत से रूपक बांधा है। किन्तु यह अर्थ यहाँ पर सर्वथा असंगत, भ्रमपूर्ण और अनुपयुक्त है। गोस्वामी जी ने पार्वती और सीता का नखशिख वर्णन अपने मूल में कहीं नहीं किया है। पार्वती और सीता के प्रति जिसका भाव इसप्रकार है -

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी।।[८५]

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी।।[८६]

वह माता के जंघा- स्तन आदि अंगों का वर्णन नहीं कर सकता। प्रस्तुत पद को पढ़ने से यही विदित होता है कि यहाँ वसंत को एक नायिका के रूप में चित्रित करके उसके नायक कामदेव से रक्षा करने की प्रार्थना कामारि शिव से की जा रही है। यहाँ बनी-ठनी नायिका वसंत बना-ठना वन को देखने आयी है। वसंत से कामोद्दीपन होता भी है। शिवजी 'कामारि' हैं। और कामने ही भक्त पर आक्रमण किया है। अत: अंत में कवि प्रार्थना करता है कि कृपया काम को हर लें। यथा - तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा[८७]। 'जगत मातु' का नखशिख वर्णन करके उससे अपने में कामोद्दीपन करना महापाप है। यहाँ केवल शिव की वंदना है। 'उमाकंत' संबोधन है। 'मनो देखन तुम्हहिं आई रितु वसंत' से भी यही सूचित होता है कि ऋतु वसंत देखने आयी है। 'पुनि

----

७५. विनय० पृ० १७-१८   ७६. वही, पृ० २२-२३
७७. वही, पृ० १८   ७८. वही, पृ० २०
७९. वही, पृ० ६४   ८० वही, पृ० १६
८१. वही, पृ० १७-१८   ८२. वही, पृ० ३०
८३. वि०पी० खं० १, पृ० २१०-११   ८४. वही, पृ० २१०-११
८५. मानस १।१०३।४   ८६ वही, १।२४६।१
८७. वही, १।८७।६

सिव सुजान भी इसी को प्रमाणित करता है। जो देखने आयी है उसी का नख-शिख वर्णन है। पार्वती जी की वंदना इसके बाद चौथे चरण पर की गयी है जहाँ वे स्थित हैं। अर्द्धनारीश्वर रूप की वंदना पद १० में है — भस्म सर्वांग अर्द्धांग शैलात्मजा।[८८]

गीतावली में भी एक पद इसी प्रकार है। वहाँ भी उपक्रम और उपसंहार लगभग ऐसा ही है। वहाँ भगवान राम से काम के प्रपंच के विषय में कहा है कि जिसकी रचना श्री रामजी ने की उसी को कामदेव ने छोड़ा। उदाहरणार्थ —

आजु बन्यो है विपिन देखो, रामधीर। मानो खेलत फागु मुदमय मदन बीर।।

< ^

कह तुलसिदास तेहि छाँड़ मैन। जेहि राख राम राजीव नैन।।[८९]

ऋतुपति आए भलो बन्यो बन समाज। मानो भए हैं मदन महाराज आज।।[९०]

इसीप्रकार मानस में भी कहा गया है —

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहाँ बसंत ऋतु रही लोभाई।।[९१]

अतएव उक्त पद का अर्थ होगा — हे उमापति! देखिये, देखिये आज वन कैसा सुशोभित है? ऐसा प्रतीत होता है कि मानो तुम्हारे दर्शन हेतु वसंत ऋतु आयी है। (अब वसंत ऋतु का वर्णन नायिका रूप में करते हैं।) चंपा के पुष्पों की पंक्तियाँ ही उसके शरीर की कान्ति हैं। नवीन तमाल वृक्ष (मानो उसके चंपक वर्ण पर श्रेष्ठ श्यामल वस्त्र अर्थात् साड़ी है। सुन्दर केले अंधारें हैं लाल कमल (रक्ताभ तलवे वाले) चरण है। कटि सिंह की ओर और गमन हंस की ओर संकेत कर रहे हैं। विभिन्न वर्णों वाले अनेक पुष्प ही उसके आभूषण हैं। (श्रुतिमधुर) सुन्दर शब्द-वाले पक्षी पाजेब और क्षुद्र घंटिका हैं। मौलसिरी और आमके नवीन (कोमल -

----

८८. विनय० १०

८९. गीता० २।४८

९०. वही २।४६

९१. मानस १।२२७।२

खिलने) पत्ते (सुकोमल दोनों) हाथ हैं। बेलया नारियल स्तन हैं और लताओं का जाल चोली है। कमल मुख है, भ्रमरों का समूह केश है। नवीन नील कमल बड़े-बड़े नयन हैं। कोयल वचन और सुन्दर मोर एवं तोते उसके चरित्र हैं। खिले पुष्प हंसी और (त्रिविध) समीर लीला है। (इसप्रकार की बनी-ठनी वसंत रूपी-नायिका आपके दर्शनार्थ पधारी है।) तुलसीदास कहते हैं कि हे कृपान शिवजी! सुनिये! कामदेव ने मेरे हृदय में निवास करके मधुर ऋतु रूपी रमणी के सौंदर्य द्वारा मेरे मन में जो विकार उत्पन्न किये हैं कृपया उस काम को हर लें, जो कि भ्रम का आदि कारण है, जिससे सुखनिधान श्री रामचन्द्र जी मेरे हृदय में निवास करें।"

यहाँ पर यही अर्थ तर्क युक्त है। प्रसंग और भाव प्रयोग आदि की दृष्टि से भी यही उपयुक्त बैठता है। साहित्य वाचस्पति महात्मा अंजनी नंदन-शरण जी ने एवं श्रीकांत शरण जी ने अपनी विचार प्रक्रिया से यही अर्थ किया है[६२]। प्रकरण, औचित्य और युक्तिसंगत नामक अर्थ-विनिश्चय के साधनों से यही अर्थ निश्चित होता है।

<u>पीर पराई :-</u>

समरथ सुभी जो पावई बीरपीर पराई।
ताहि तकें सब ज्यों नदी बारिधि न बुलाई ।।[६३]

बैजनाथ जी,[६४] रामेश्वर भट्ट जी,[६५] वियोगी हरि[६६] और पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[६७] आदि सब टीकाकारों ने "पीरपराई" का अर्थ - "उसकी सब पीड़ा भाग जाती है

----

६२. विनय० सि०ति०, पृ० ६८
६३. वि०पी० ३५।खंड १,पृ० १४०
६४. विनय० पृ० ५३
६५. वही, पृ० ५१
६६. वही, पृ० १३०
६७. वही, पृ० ३६

किया है। बाबू शिवप्रकाश,[९८] गजाप्रसाद जी,[९९] वीर कवि जी[१००] और देव-नारायण द्विवेदीजी[१०१] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है — "यदि समर्थ मंगल रूप और दूसरों की व्यथा दूर करने में बहादुर स्वामी मिल जाते हैं, तो उन्हें सब लोग वैसे ही देखते हैं जैसे नदी बिना बुलाये ही समुद्र की ओर दौड़ती है।" दीन जी के अनुसार "सच्चा शूरवीर तो वही है जो सामर्थ्यवान् होकर भी दूसरे की पीड़ा को अपनी ही पीड़ा समझे।"[१०२] पोद्दार जी का अर्थ देवनारायण द्विवेदी आदि टीकाकारों की भाँति है।[१०३] श्रीकांतशरण जी[१०४] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय[१०५] ने "वीर" को सम्बोधन स्वीकार करके शेष अर्थ लगभग उपर्युक्त टीकाकारों की भाँति किया है।

यहाँ पर "पीर पराई" का अर्थ "उसकी सब पीड़ा भाग जाती है" बिल्कुल असंगत है। ऐसा अर्थ करने वाले टीकाकारों ने सामान्य एवं प्रचलित अर्थ को छोड़कर असामान्य एवं अप्रचलित अर्थ क्यों किया, इसका कोई कारण भी नहीं दिया है, जो और भी विचित्र लगता है। कवि प्रयोग की दृष्टि से यह अर्थ प्रमाणित नहीं होता। गोस्वामी जी ने लगभग ऐसा ही प्रयोग मानस में भी किया है —

करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई।[१०६]

अतएव यहाँ पर "पीर पराई" का अर्थ "दूसरे की पीड़ा" ही है। सम्बोधन मात्र वीर का ही नहीं है "वीर समर्थ हितकारी।" का होना चाहिए। जैसा कि महात्मा अंजनीनंदन शरण[१०७] और उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — "हे वीर समर्थ हितकारी! जो पराई पीर पाता है अर्थात् दूसरे की पीड़ा देख स्वयं दुखी हो जाता है उसकी ओर सब लोग इस प्रकार

---

९८. विनय०, पृ० ५३ — ९९. वही, पृ० ५५
१००. वही, पृ० ४९ — १०१. वही, पृ० ६२
१०२. वही, पृ० २३ — १०३. वही, पृ० ६२
१०४. वि०सि० ति०, पृ० १६५ — १०५. वि० सं०, अ०भा०वि० परि०, काशी, पृ०६१३
१०६. मानस० २।८५।२
१०७. वि०पी०, खंड १, पृ० १४२

देखा करते हैं जैसे नदी समुद्र को । समुद्र नदी को बुलाता नहीं । अर्थात् जैसे नदियाँ बिना बुलाये अपने से समुद्र की ओर दौड़ी जाती हैं वैसे ही दयावान के पास सभी बिना बुलाये दौड़े जाते हैं । युक्तिसंगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है ।

गारो :-

> जौं कलिकाल प्रबल अति हो तो तुव निदेस तें न्यारो ।
> तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो ।।[१०८]

बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि "जो कलिकाल अत्यन्त प्रबल महाबल-वान हो तो तुव निदेश अपनी आज्ञा से न्यारा स्वेच्छित कार्य करता हो तो हम ऐसा करते कि जो आपका भरोसा रख आपके गुण गाते हैं उस पर कलियुग बाधक हुआ इस हेतु उस पर रोष करें उसके दोष कहते हैं सो परिहरि त्यागकर पुनः 'गारो' तजि अपनी गंभीरता छोड़ अमान हो उस कलिकाल ही को भजते फिर आप को क्यों भजते उसी का भरोसा रखते ।[१०९] हरिहरप्रसाद जी[११०] और वियोगी-हरि जी[१११] ने इसका अर्थ इस प्रकार से किया है — हम लोग तुम्हारी आशा छोड़ देते, तुम्हारा गुणगान भी न करते, और क्रोध कर उस बेचारे को जो भला-बुरा कहते हैं सो भी न कहते बस सब झंझट छोड़ छाड़कर उसका भजन करते ।" लगभग ऐसा ही अर्थ रामेश्वर भट्ट का है ।[११२] गयाप्रसाद जी के मत से है हरि ! लाज छोड़कर उसी के क्रोध, भरोसा, दोष और गुणों को मानते ।[११३] पं० सूर्यदीन शुक्ल

---

१०८. वि० पी०, खंड ३, पृ० ६५६ १०९. विनय० सटीक, पृ० ८७६
११०. वि०पी० खं० ३, पाद टिप्पणी, पृ० ६५७
१११. विनय सटीक, पृ० २५३ ११२. वही, पृ० १४१
११३. वही, पृ० १५३ ११४. वही, पृ० १०६

के अनुसार - हे राम ! क्रोध, भरोसा, दोष-गुण के झगड़े (गारो) छोड़ उसी को भजता।[११४] देवनारायण द्विवेदी जी के मतानुसार - हे हरे ! मैं सब प्रतिष्ठा छोड़कर (अर्थात् बदनामी सहते हुए भी) उसे क्रोध करने पर भी उसका भरोसा रखकर तथा उसके दोषों को गुण समझकर उसी को भजता।[११५]

वियोगी हरि की भाँति पोद्दार जी[११६] और श्रीकांतशरण जी[११७] 'गारो' का अर्थ झंझट करते हुए लिखते हैं कि - हे हरे ! अब आपका भरोसा और गुणगान छोड़कर तथा उस पर क्रोध करने तथा दोष लगाने का झंझट त्याग कर उसी का भजन करते।' वीर कवि जी के अनुसार - 'आपके गुणों का भरोसा छोड़ इसका गर्व त्यागकर उसी का भजन करते।[११८] लाला भगवान दीन जी के अनुसार - 'हे हरि ! मैं अपने गौरव को भूलकर, आपकी आशा को छोड़कर, कलियुग के प्रति जो क्रोध है तथा उसके गुणदोष को छोड़कर उसी का भजन करता अर्थात् पाप-पूर्ण पथ पर चलता। [११९] श्रीकांतशरण जी ने हरि का अर्थ हरण किया है और सब लोगों ने 'हरि' को सम्बोधन माना है।[१२०]

उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों को देखने से स्पष्ट होता है कि अर्थानुसंगति के लिए लोगों ने मनोनुकूल अन्वय किया है। 'गारो' का अर्थ लाज, झंझट और झगड़ा पुष्ट कहीं नहीं प्राप्त हुआ। अतएव ये सब आरोपित अर्थ हैं। गारो शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - सं० गर्व प्राकृत गारव हिन्दी गारो। जिसका अर्थ है - गर्व, घमंड और अहंकार।[१२१] औचित्य नामक अर्थ निश्चय के साधन से इसका अर्थ इस प्रकार होगा --

यदि कलिकाल (आपसे) अत्यन्त बलवान और आपका आज्ञाकारी न होता तो हे हरि ! मैं अपने अभिमान को छोड़कर उसके क्रोध को सहन करता, उसी का

----

११४. विनय०सटीक, पृ० १०६ ११५. वही, पृ० १८०

११६. वही, पृ० १६६

११७. वही सि०ति०, पृ० ६१३

११८. वही, सटीक, पृ० १३६ ।

११९. वही ,, पृ० ७४

१२०. वि०पी०सं० ३, पृ० ६६४

१२१- संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ. २६६

भरोसा करता, उसके दोषों को भी अंगीकार करता और उसी का गुणगान करता। भक्त का सारा अभिमान स्वामी के अभिमान में समाहित हो जाता है -

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें ॥[१२२]

श्री रामचन्द्र का सेवक होना गौरव की बात है -

सिव बिरंचि सुरमुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥[१२३]

प्रायः सभी पर उपर्युक्त अर्थ ही सर्वमान्य है। विनय पीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[१२४]

प्रभु की परिहरुये :

बिरुदावली बिलोकिय तिन्ह में कोउ हौं हौं।
तुलसी प्रभु को परिहरुये सरनागत सोहौं ॥[१२५]

वैजनाथ जी,[१२६] रामेश्वर भट्ट जी[१२७] वियोगी हरिजी[१२८] और दीन जी[१२९] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है --(कदाचित् बिरुदावली में कहीं संबंध न मिलने से आप मुझे त्याग दें तो) प्रभु का त्यागा हुआ तुलसी सामने शरणागत होकर पड़ा रहूंगा। अन्यत्र न जाऊंगा, तब तो कृपा करनी ही पड़ेगी) बाबू शिवप्रकाश जी और श्रीभगवान सहाय जी ने उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है - प्रभु से त्यक्त होने पर भी तुलसी शरण में प्राप्त होकर सम्मुख ही रहेगा। अथवा यदि किसी बिरुदावली में न स्थान पाने योग्य निश्चित होऊं तो मैं बताता हूँ कि मैं तो शरणागत तुलसी हूँ जिसने आपसे प्रभु को छोड़ दिया है अर्थात् आप जैसे स्वामी से विमुख है।[१३०] वीरकवि जी के अनुसार-दास नसड़ी तो सन्मुख शरण आया

---

१२२. मानस० ३।११।२१ — १२३. वही ६।२२।१
१२४. वि०पी०खं० ३,पृ० ६५७ — १२५. विनय० १५०
१२६. विनय०सटीक, पृ० २६१ - ६२ — १२७. वही, पृ० २१७
१२८. वही, पृ० ३६६ — १२९. वि०पी०खं० ४, पाद टिप्पणी,पृ० १३७
१३० वही ।

हुआ तुलसी आपके द्वारा त्यागा जीव है।" यहाँ सम्बन्ध सूचित करने की व्यंजना है कि दास का सम्मान नहीं प्राप्त है, किन्तु आपसे तिरस्कृत होने का नाता तो अक्षय है। तुलसी आपको छोड़कर अब अन्यत्र नहीं जा सकता। यह गूढ़ व्यंग्य है।[१३१] गयाप्रसाद जी के अनुसार हे प्रभु! शरणागत सोंह से (सामने से) तुलसीदास को क्यों छोड़ते हो।[१३२] देवनारायण द्विवेदी जी का अर्थ वियोगी हरि जी की ही भाँति है।[१३३] पं० सूर्यदीन शुक्ल के मत से (अपनी) कीर्ति पंक्ति में देखो उनमें मैं भी कोई हूँ। तुलसी पर कृपा को छोड़ (तुम्हारे) सामने शरण है।[१३४]

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने उक्त पंक्ति के शब्दों का अर्थ न करके मनोनुकूल ऊटपटांग अर्थ किये हैं। समुचित अर्थ की संगति न होने के कारण ही अर्थ में विपर्यय हुआ है। यहाँ पर को- किसे, परिहर्यो-त्याग किया, सरनागत सो हों - सम्मुख शरण में आए हुए। सम्मुख अर्थ में सोंहें का प्रयोग कवितावली में भी हुआ है - तोहि लाज न गाल बजावत सौंहैं।[१३५]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - आप अपनी कीर्ति पंक्ति पर दृष्टिपात करिये, उसी में मैं भी कोई हूँ तुलसीदास जी कहते हैं कि सम्मुख शरण में आए हुए किसे प्रभु ने त्याग किया अर्थात् किसी का भी तो नहीं। युक्त संगतता नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत है। श्रीरामचन्द्र जी का तो सिद्धान्त है -

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥[१३६]
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥[१३७]

----

१३१. विनय० सटीक, पृ० २०७
१३२. वही, पृ० २२६
१३३. वही, पृ० २६६
१३४. वही, पृ० १६६
१३५. कविता० ६।१३
१३६. मानस ५।४३
१३७. वही, ५।४४।१

सखा कहौं मेरो सहजसुभाउ ।

सुनहु सखा कपि पति लंकापति तुम्हसन कौन दुराउ ।

सबबिधि हीनदीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ ।

आयो सरन भजौं न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ ।।[138]

भरत जी को भी विश्वास है —

तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ।।[139]

कवि प्रयोग की दृष्टि से भी यही अर्थ तर्कसंगत है । विनयपीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है ।[140]

गुन गरुआई

नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।

ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ।।[141]

प्रस्तुत पंक्ति में 'गुन गरुआई' के अर्थ में टीकाकारों ने उलटफेर कर दिया है । बैजनाथ जी[142] वियोगीहरि जी[143] और रामेश्वर भट्ट जी[144] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं - 'ममत्व और शील-गंभीरता दिखाई, अथवा उसके करतब का बड़ा एहसान माना ।' पं० सूर्यदीन शुक्ल के अनुसार - 'ऐसे भी पिता से ज्यादा जटायु पर ममता की कि उसके गुण गरुआने लगे ।'[145] पोद्दार जी का अर्थ वियोगी हरि जी की ही भाँति है ।[146] वीरकवि जी के अनुसार - 'अपनता के प्रभाव का भारीपन दिखाया ।'[147] लाला भगवानदीन जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है —जटायु के प्रति अपने प्रेम और बड़प्पन का भाव दर्शित किया ।[148] हरिहरप्रसाद और पं० रामकुमार जी का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है - 'उस पर ममता गुण और गरुआई दिखाए ।'

---

१३८. गीता० ५।४५

१३९. मानस२।१८२।४

१४०. वि०पी०खं० ४, पृ० १३७

१४१. विनय० १६५

१४२. विनय०सटीक,पृ० ३१५

१४३. वही, पृ० ३८०

१४४. वही, पृ० २३३

१४५. वही, पृ० १८३

१४६. वही पृ० २६८

१४७. वि०पी०खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० २३०

१४८. वही ।

ममता की और मित्र से (मित्र की अपेक्षा) गुरु और गरुआई भी अधिक माना ।[१४९]

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट है कि टीकाकारों ने अपने अर्थ मनोनुकूल कल्पना करके किये हैं । उक्त पंक्ति का सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है । गरुआई शब्द सं० गुरु से बना है । हिन्दी गरुआ+ई (प्रत्य०) - गुरुता ।[१५०] जटायु जी ने प्रेम का पालन करके शरीर परित्याग कर चिरस्थायी कीर्ति की स्थापना की- ऐसी भी मित्र से अधिक ममता गिद्धराज जटायु पर की । यह श्रीरामजी के गुणों का गुरुत्व है । लगभग यही अर्थ देवनारायण द्विवेदी[१५१] और विनयपीयूष-कार ने किया है ।[१५२] औचित्य नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त और संगत प्रतीत होता है ।

बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है ।।
बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै
ऐसी बिरुदावली बलि बेद मनियत है ।।[१५३]

इसका अर्थ बैजनाथ जी इस प्रकार करते हैं - "पुनः सबल प्रतापवन्त कैसे हो कि बड़े जो सबल हैं उनकी बड़ाई जो जबरई है तथा छोटे जो निर्बल हैं उनकी छोटाई जो भयशंका है इति दोनों का आपका प्रताप दूर करता है मैं बलिजाऊँ । ऐसी बिरदावली बेदों में नियत गाई है, यथा - "नियतिविधिः" (अमरः) अर्थात् ऐश्वर्य में बेद विधि से विदित है कि आपके प्रताप से गाय बाघ एक घाट पर पानी पीते हैं । यथा बैर न कर काहु सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।"[१५४] पं० सूर्यदीन शुक्ल ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - "बड़े का महत्त्व, छोटे की निचाई दूर करती ऐसी (तुम्हारी) कीर्ति बलि जाऊँ बेद मानते हैं ।[१५५] वीरकविजी

------------------------------१४९

१४९. विनयपी० खंड ४, पादटिप्पणी, पृ० २३०
१५०. सं० हिन्दी शब्द० पृ० २५६
१५१. विनय० सटीक, पृ० २८७
१५२. वही विनयपी० खं० ४, पृ० २३०
१५३. विनय० १८३
१५४ विन० सटीक, पृ० ३४६-५०
१५५. वही, पृ० २०३

ने तो विवाद से बचने के लिए पाठ ही परिवर्तित कर दिया है — बड़े की बड़ाई करें, छोटे की छोटाई दूरि देत। निरगुनकली कुटिल मनिका है।[१५६] वियोगी हरि जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -- हे रघुनाथ जी! प्रीति की रीति आप ही भलीभाँति समझते हैं। बलिहारी! वेद आपकी विरुदावली को इस प्रकार गाते रहे हैं कि आप बड़ों का बड़प्पन, अभिमानियों का गर्व एवं छोटे की छोटाई अर्थात् अकिंचन दीन जनों की दीनावस्था दूर कर देते हैं।[१५७] ऐसा ही अर्थ हरिहरप्रसाद जी,[१५८] लाला भगवानदीन जी,[१५९] रामेश्वर भट्ट जी,[१६०] पोद्दार जी[१६१] देवनारायण द्विवेदी जी[१६२] [illegible]प्रसाद जी ने[१६३] किया है। श्रीकांत शरण जी ने बड़े - बड़प्पन से तात्पर्य ईश्वर के बड़प्पन से लिया है। वह भक्तों के निकट इतने छोटे बन जाते हैं क्या कहना?[१६४] डा० बचनदेवकुमार ने पाठ तो नागरी प्रचारिणी सभा का स्वीकार किया है और अर्थ पं० महावीरप्रसाद मालवीय का[१६५] जिनका कि भिन्न पाठ है। मालवीय जी का पाठ किसी भी संस्करण में नहीं प्राप्त होता।

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने उक्त पंक्ति का अर्थ दो प्रकार से किया है - एक तो यह कि जो हरि विमुख अपने को मोहवश बड़ा मान लेते हैं, उनके बड़प्पन को मिटा देते हैं। दूसरे अपने बड़े होने की बड़ाई को प्रेमियों के साथ प्रेम निबाहने में दूर कर देते हैं। किन्तु ये अर्थ असंगत हैं क्योंकि उक्त पंक्ति के नीचे की पंक्तियों में मात्र छोटे की छोटाई का उदाहरण प्राप्त होता है। अतएव इसका अर्थ इस प्रकार होगा -

----

१५६. विनय सटीक, पृ० २४२ १५७. वही, पृ० ९२७

१५८. वही, पृ० २६३ १५९. वही, पृ० ३१४

१६०. वही, पृ० २५५ १६१. वही, पृ० २६५

१६२. वही, पृ० ३१० १६३. वही, पृ० २६७

१६४. विनय० कि०टी०, पृ० ११७३

१६५. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ० १३६

"हे राम जी ! आपकी प्रीति की रीति किसी तरह विदित है। छोटे का छोटापन दूर कर देते हैं - यही बड़े का बड़प्पन है। बलिहारी है। ऐसी कीर्तियाँ तो वेद गान रहे हैं।" इसी की पुष्टि आगे की पंक्तियों से भी होती है - आपने गृध्रराज जटायु का श्राद्ध किया और भीलनी (शबरी) के फल खाये। यही तो छोटे का छोटापन दूर करना है। गोस्वामी जी जैसा सचेत कवि बड़े की बड़ाई, ... दूरि करौं कह कर और इसका एक भी उदाहरण न देकर 'छोटे की छोटाई' का उदाहरण देगा, ऐसा असंभव है। कवि तो यहाँ बड़े की 'बड़प्पन' पर बलि-बलि जाता है -

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥[166]
मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥[167]

रघुनाथ जी ऐसी ही बात अपने पुरजनों से भी कहते हैं -

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥

* *

जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥[168]

युक्ति संगता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत और उपयुक्त है। पं० सुदर्शन शुक्ल का अर्थ लगभग इसीप्रकार है।

<u>क्यों बरहि जात</u>

तदपि कबे निडर हौं कहौं, करुनासिंधु।
क्यों ब रहि जात सुनि बात बिन हेरे॥[169]

---

१६६. मानस० २।१३५
१६७. वही, ६।११६
१६८. वही, ७।४३।४ और ६
१६९. विनय० २१०

`न रहि जाते` पाठ नागरीप्रचारिणी सभा, गीताप्रेस एवं अन्य आधुनिक संस्करणों में प्राप्त होता है। `क्यों रहि` पाठ सं० १८७९ की श्री प्रह्लाददास की पोथी और सं० १९३५ की श्री रामशरणदास लिखित पोथी का है।[170] किन्तु सं० १६६६ वि० की श्री भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति, गजाधरदास की पोथी, श्रीभागवतदास की प्रतिलिपि, बैजनाथ जी की टीका, रामेश्वर भट्ट जी की टीका और बाबू शिवप्रकाश की टीका में `नरहि जाते` पाठ है।[171] प्राचीनतम पाठ `नरहि जाते` है। अतः यहाँ पर यही पाठ स्वीकार्य है। `नरहि जाते` पाठ से अर्थानुसंगति न कर पाने के कारण ही `न रहि` या `क्यों रहि` पाठ स्वीकार किया गया होगा। बैजनाथजी लिखते हैं कि `क्यों` शब्द का ककार (क लो लोप:) सूत्र से लोप हो गया है इससे `यों` `क्यों` का `यों` रह गया है।`[172] संभवतः इसी आधार पर आधुनिक सभी संस्करणों में `क्यों न रहि` पाठ मिलता है। हिन्दी क्रिया विशेषण `क्यों` के साथ संस्कृत 'ऽ' का प्रयोग कुछ अटपट सा लगता है।

`क्यों न` पाठ स्वीकार करके लाला भगवानदीन जी[173] पोद्दार जी, देवनारायण द्विवेदी और वियोगीहरि जी[174] बैजनाथ जी[175] और श्रीकान्तशरणजी ने[176] `कैसे रहा जाता है` अर्थ किया है। `नरहि जाते` पाठ स्वीकार करके गयाप्रसादजी[177] रामेश्वर भट्ट जी[178] और विनयपीयूषकार[179] ने `न बहुरा जाते हो या आनाकानी की जाती (कराया जाता) है` अर्थ किया है।

----

१७०. वि०पी०, खं० ४ पाद टिप्पणी, पृ० ५८४

१७१. वही

१७२. विनय सटीक, पृ० ४०२

१७३. वि०पी०, खं० ४ पाद टिप्पणी, पृ० ५८५

१७४. क्रमश: विनय० सटीक, पृ० ३४०, पृ० ३५३, पृ० ४८५

१७५. ,, ,, पृ० ४०२

१७६. ,, ,, सि०ति०पृ० १३०३

१७७. ,, सटीक पृ० ३०१

१७८. ,, ,, पृ० २६४

१७९. खं० ४, पृ० ५८५

पं० सूर्यदीन शुक्ल जी 'बराहिं' का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'तो भी मैं निर्भय हो कहता हूं कि हे राम ! क्या मोर (बराहि) से हूं (अरीं) बिना देखने वाली की बात सुनी जा सकती है ?'[१८०]

'बराहिं' का अर्थ 'बहरा' भी नहीं हो सकता क्योंकि बहरा शब्द की व्युत्पत्ति सं० बधिर प्रा० बहिर हि० बहरा है। 'बहरा' में बराहिं शब्द बन ही नहीं सकता। अतः यह अर्थ भी असंगत है। यहाँ पर 'बराहिं' का अर्थ 'मोर' कोरी ही कल्पना है। 'बराइँ' शब्द संस्कृत 'वारण' से बना है जिसका अर्थ है बराकर, बचाकर।[१८१] गोस्वामी जी ने मानस में भी इस शब्द का प्रयोग किया है —

सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ।।[१८२]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ उपर्युक्त आधार पर होगा -

'तथापि मैं निर्भीकता के साथ कहता हूं कि हे करुणासागर ! मेरी प्रार्थना सुनकर बिना देखे आप क्यों अलग होते (मुँह फेरते) हैं ?' वैजनाथ जी[१८३] और हरिहरप्रसाद जी ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[१८४] परन्तु यह अर्थ स्वाभाविक और सहज नहीं दिखाई देता विशेषतः पूर्व पंक्ति की संगति को दृष्टि में रखने पर 'बदन फेरे' उदासीन राम के प्रति यह कहना अधिक स्वाभाविक लगता है कि 'हे कृपासिंधु आपसे मेरी बात सुनकर भी अब क्यों बिना देखे रहा जाता है।' यहाँ अब (ऽब) का प्रयोग आवश्यक एवं साभिप्राय प्रतीत होता है। ब्रजभाषा के कवियों ने ओकारांत और एकारांत पदों के बाद अकार का लोप बहुधा किया है। तुलसी जिसके अपवाद नहीं हैं। केशवदास ने ऐसा प्रयोग किया है —

दरसै अमकोऽब नहीं दरसायै*

इस अर्थ को मानने में प्राचीन पाठ में कोई असंगति नहीं आती क्योंकि कहीं-कहीं 'ऽ' का लोप हो गया है और कहीं नहीं।

---

१८०. विनय० सटीक, पृ० २३७

१८१. तुलसीशब्दसागर, पृ० ३२६

१८२. मानस २।२२।४

१८३. विनय० सटीक, पृ० २७४

१८४. वि०पी० सं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५८५

* रामचन्द्रिका १४।२६

जब जब जग जाल व्याकुल करम काल

जब जब जगजाल व्याकुल करम काल
सब खल भूप भए भूतल भरन ।।[१८५]

इन पंक्तियों का अर्थ हनुमानप्रसाद पोद्दार जी[१८६] रामेश्वर भट्ट जी[१८७] महावीरप्रसाद मालवीय[१८८] लाला भगवान दीन जी[१८९] और वियोगी हरि जी ने[१९०] इस प्रकार किया है — जब जब आपके भक्त जग जाल में फँस कर दुखी हुए और काल और कर्म के वश में जा पड़े और पृथ्वी पर भारस्वरूप दुष्ट राजे हुए। किन्तु उक्त पंक्ति से यह अर्थ तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है। उसमें कहा गया है - जब जब जगजाल कर्म और काल से व्याकुल हुए। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -

'जब जब सारा विश्व-प्रपंच (जग-जंजाल) कर्म और काल के वश में होकर व्याकुल हुआ और पृथ्वी का पालन करने वाले सब राजा दुष्ट और पृथ्वी के भार-स्वरूप हुए।' जग जाल का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है —

जनमु मरनु जहँ लागि जग जालू। [१९१] मानस में अन्यत्र इसी भाव की चौपाई है —

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।[१९२]

इस अर्थ में विप्र, धेनु और धरणि सभी समाविष्ट हैं। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[१९३]

---

१८५. विनय० २४८
१८६. ,, सटीक, पृ० ३८६
१८७. विनय० सटीक, पृ० ३६६
१८८. ,, ,, पृ० ३१०
१८९. ,, ,, पृ० ४१७
१९०. ,, ,, पृ० ५६१
१९१. मानस २।९२।६
१९२. वही १।१२१।६-७
१९३. हि०सं० का०ना०प्र०स० काशी, पृ० ७८८

बैजनाथ जी,[१९४] देवनारायण त्रिवेदी जी,[१९५] पं० सूर्यदीन शुक्ल जी,[१९६] श्रीकांतशरण जी[१९७] और विनय पीयूषकार[१९८] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

आजु लौं जो पार दिन :-

> कहूं कुसमाज राज आजु लौं जो पार दिन
>
> महाराज केहू भाँति नाम ओट लई ।। [१९९]

बैजनाथ ने सोये दिन[२००] और लाला भगवान दीन जी ने आपे दिन पाठ स्वीकार किया है।[२०१] इसके अनुसार उनका अर्थ भी ठीक है। किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा गीताप्रेस और अन्य सभी आधुनिक संस्करणों में पार दिन पाठ मिलता है। पार दिन पाठ मान करके निम्नलिखित समस्त टीकाकारों ने उनका भिन्न-भिन्न अर्थ किया है -

पं० रामकुमार जी के अनुसार - 'आज तक जो बचता गया, वह किसी प्रकार आपके नामकी ओट लेकर ही।[२०२] रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार- आज तक के दिन जो पाये गए (अर्थात् गए बीते) पर हे महाराज ज्यों त्यों करके अब तुम्हारे नाम का सहारा लिया है।[२०३] बाबू शिवप्रकाश और श्री भगवान सहाय इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं - आज तक जो जीवित रहा, कुसमाज रूपी शत्रुओं से मारा न गया, सो हे महाराज! किसी प्रकार से आपके नाम की शरण ली। तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[२०४] वियोगी हरि जी[२०५] पं० सूर्यदीन शुक्ल जी,[२०६] श्रीकांतशरण जी[२०७] और हनुमान प्रसाद पोद्दार जी[२०८] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -

'आज तक जितने दिन बीते वे सब व्यर्थ ही चले गए, अब किसी न किसी तरह आपके नाम का सहारा लिया है।' भरतारी टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - कहूं कुसमाज का राज्य अर्थात् आधिक्य है। हे महाराज! जो आज तक मैं निबह आया हूँ सो किसी भाँति से नाम की ओट ली।[२०९]

---

१९४. विनय०सटीक, पृ० ४६९   १९५. वही, पृ० ४१०   १९६. वही, पृ०२७१
१९७. वही सि०ति०, पृ० १४७५   १९८. वि०पी०, सं०५, पृ० ८४६
१९९. विनय० २५२   २०० वही सटीक, पृ० ४७९
२०१. वि०पी०, सं० ५, पादटिप्पणी, पृ० ८८५   २०२. वही
२०३. विनय० सटीक, पृ० ३५२   २०४. वि०सं०, अध्या०वि०पी०काशी, पृ० ७६१
२०५. विनय०सटीक, पृ० ५७२,   २०६ वही, पृ० २७६,   २०७ वही, पृ०१४८८

वियोगी हरि जी, देवनारायण द्विवेदी जी श्रीकांतशरण जी पोद्दार जी, और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय आदि टीकाकारों ने बैजनाथ जी के पाठ का तो नहीं किन्तु उनके अर्थ का अंधानुकरण किया है। इससे टीकाकारों की अनुकरण प्रवृत्ति का आभास होता है। यह तो निर्विवाद है कि पाए दिन प्राचीन ही नहीं अपितु अकुस्मक है। अतः यहाँ पर यही पाठ स्वीकार करने पर तो तो (वे सब) व्यर्थ ही कहे गये - ये शब्द जोड़ों की पूर्ति के लिए अर्थ करने में बढ़ाने पड़ते हैं। रामेश्वर भट्ट जी ने जोड़ों का अर्थ तो किया है। 'पाए दिन' कोई बहुत कठिन शब्द नहीं है। किन्तु आश्चर्य होता है कि प्राचीन और अर्वाचीन सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ ऊटपटांग और क्लिष्ट कल्पना करके किया है। 'पाए दिन' का सीधा-सादा अर्थ है --जो दिन प्राप्त हुए या व्यवहार में आये। गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र किया है - विनय सनेह सों कहति सिय त्रिजटा सों, 'पाये' कछु समाचार आरजसुवन के ?' पाये जू। बँधाये सेतु, उतरे कटक कुलि,[210]
अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- हे महाराज। इस महा कुसमाज के राज्य में आज तक जो दिन प्राप्त हुए (व्यवहार में आए (उनमें किसी तरह से नामका आश्रय लिये रहा।' विनय-पीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[211]

<u>अब तें सकुचाइ सिहाई :-</u>

तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो
बिलोकि अब तें सकुचाइ सिहाई ।।[212]

वियोगीहरि जी [213] पं० सूर्यदीन शुक्ल जी,[214] पोद्दार जी,[215] रामेश्वर भट्ट जी,[216] लाला भगवान दीन जी, हरिहरप्रसाद जी, वीरकवि जी[218] देवनारायणद्विवेदी[219]

पिछले पृष्ठ का शेष -- २०८. विनय० सटीक, पृ० ३६७
२०९. वि०पी०,खं० ५,पादटि०,पृ०२५२

---

२१०. कविता० ६।३ २११. वि०पी०खं० ५, पृ० ८८५

२१२. विनय० २७५ २१३. वही सटीक, पृ० ६१८, वही २१४. वही,पृ०२६४

२१५. वही, पृ० ४३०-३१, २१६. वही पृ० ३६६ २१७. वही,पृ० ३६६

२१८. वि०पी०खं०५, पृ० १०४६ २१९. विनय० सटीक, पृ० ४४६

के अनुसार -" यह देखकर अब मैं (आपके सामने मन ही मन) संकोच और लज्जा का अनुभव करता हूँ और सिहाता हूँ।" दीन जी, वियोगीहरि जी और पोद्दार जी ने अब लैं का अर्थ अब किया है। भट्ट जी ने तब सें और लाल जी ने 'अब तक' और देवनारायण द्विवेदी जी ने अभी सें अर्थ किया है। यहाँ पर यह अर्थ संगत नहीं लगता। इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए - बिना प्रेम और विश्वास के भी आपका हो जाने से तुलसीदास सुखी हो गया। हे नाथ ! नाम के प्रताप और आपके शील स्वभाव से मेरा हित (गुण) देखकर अब वे लोग (जिन्होंने पहले मेरा निरादर किया था) अब सकुचाते और प्रशंसा करते हैं युक्तिसंगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ पर यही अर्थ सर्वसंगत लगता है। क्योंकि गो-गोस्वामी जी ने प्रथम अपने कष्टों और उपेक्षा का वर्णन किया है। तत्पश्चात राम के नाम के प्रताप से अब वे इतना आदरणीय हो गये कि लोग अपने पूर्व निरादर युक्त वाणी का स्मरण करके संकोच करते हैं। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग किया है --

> तुलसी से नाम को भी दाहिनो दयानिधान,
>
> सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको ।।[२२१]
>
> तुलसी सों साहिब समर्थ को सुसेवक है,
>
> सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को ।।[२२२]

बैजनाथ जी[२२३] श्रीकांत शरण जी[२२४] और विनय पीयूषकार[२२५] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

परमिति पराधीन की

> प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल कृपालुहिं परमिति पराधीनकी ।।[२२६]

---

२२१. कवितावली ७।१८

२२२. वही ७।७३

२२३. विनय० सटीक, पृ० ५१६

२२४. वही सि०ति०,पृ० १५६४

२२५. वि०पी०खं० ५, पृ० १०४६

२२६. विनय० २७८

बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हैं - 'पराधीन कलिप्रेरित कामादिकों के वेग में पड़ा जो मैं उसको जो राम नाम में प्रीति की रीति है उसकी परिमिति मर्यादा को नतपाल कृपाल श्रीरघुनाथ जी से समुझाकर कहना।'[२२७] गयाप्रसाद जी के अनुसार 'मुझ पराधीन की प्रपत्ति भी समझायगी।'[२२८] देवनारायण द्विवेदी जी,[२२९] शंकरप्रसाद जी, रामेश्वर भट्टजी,[२३०] पोद्दार जी,[२३१] और वियोगी हरिजी[२३२] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है --प्रणतपाल दयालु रघुनाथ जी से मुझ परतंत्र जीव की प्रेम-पद्धति की हद को समझाकर कह देना। तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय के परिमिति का अर्थ सारी करते हुए लिखते हैं कि - 'मुझ पराधीन की सारी प्रीति-रीति भली भाँति समझा दीजियेगा।'[२३२] 'परिमिति' शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी या काव्य में हुआ है। सं० पर + मिति - परमिति का अर्थ है - चरम सीमा या मर्यादा।[२३३] इसका 'सारी' और 'प्रमाण' अर्थ कहीं नहीं प्राप्त होता। अतः यह अप्रामाणिक है। यहाँ पर मर्यादा अर्थ भी अग्राह्य है। गोस्वामी जी जैसा दीन भक्त स्वयं अपने मुख से यह नहीं कह सकता कि 'मेरे प्रेम-पद्धति की हद को समझाकर कह देना।' इसके पूर्व जो रीति प्रीति के साथ परमिति का प्रयोग है वह शंकर जी, हनुमान जी, भरत जी और लक्ष्मण जी के लिए है -

साहिब-सेवक-रीति प्रीति-परमिति नीति
नेम को निबाह एक टेक न टरत ।।[२३४]

---

२२७. विनय० सटीक, पृ० ५२४-२५

२२८. वही, पृ० ३७६

२२९. वही, पृ० ६२३

२३०. वही, पृ० ३७५

२३१. वही, पृ० ४३५

२३२. वही,

२३३. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ ० ५८७

२३४. विनय० २५१

यहाँ पर उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - मुझ उच्चकोटि (सर्वाधिक) के परवश के प्रेम-पद्धति को प्रणतपाल दयाशील (श्रीरामचन्द्र जी) को समझा दीजिएगा । वीरकवि जी[२३५] श्रीकान्तशरण जी[२३६] और विनयपत्रिकाकार[२३७] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है । युक्तिसंगतता नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ प्रासंगिक और तर्कसंगत विदित होता है । पं० सूर्यदीन शुक्ल ने पराधीनता की यह अर्थ किया है ।[२३८] किन्तु उक्त पद में पराधीन विशेषण शब्द है । अतः अर्थ करने में भी वही होगा न कि संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द पराधीनता । गोस्वामीजी ने इसके पूर्व अपने अन्तर्गत कलियुग के अधीनता का वर्णन किया है -

मैं तो दियो छाती पवि, लयो कलिकाल दबि ,

साँसति सहत परबस को न सह्यो ? [२३९]

यही उच्चकोटि की पराधीनता है ।

साप पाप , नये निदरत खल

मख महामुनि जाग जयो ।

नीच निसाचर देत दुसह दुख, कृस तनु ताप तयो ।।

सापे पाप, नये निदरत खल,तब यह मंत्र ठयो ।[२४०]

उक्त पंक्ति का सीधा अर्थ है - महामुनि विश्वामित्र यज्ञ करना चाहते हैं, किन्तु दुष्टनिशाचर असहनीय दुःख देते हैं । इसी संताप के कारण उनका शरीर सूख गया । यदि मुनि उन्हें शाप देते हैं तो पाप के भागी होते हैं और यदि नम्र होते हैं तो वे इनका निरादर करते हैं । इसी कारण मुनि ने विचार किया -- । इस पर बैजनाथ जी कहते हैं कि - यहाँ शंका होती है कि त्रिशंकु के हेतु वशिष्ठ जी के पुत्रों को शाप देकर जब विश्वामित्र ने भस्म कर दिया था तब पाप न

---

२३५. विनय० सटीक,पृ० ३३८ २३६. वही, पृ० १६०७

२३८. विनय० सटीक, पृ० २६६ २३७. वही, वि०प०(काट) पृ० १०६६-७०

२३९. विनय० २५६

२४०. गीता० १।४५

बिचारा। बलिदान के लिए अपने पुत्रों को शाप दे भस्म कर दिया था तब न पाप बिचारा। अब दुष्ट राक्षसों को शाप देने से पाप बिचारा। इससे प्रथम अर्थ (उक्त अर्थ) ठीक नहीं। दूसरा अर्थ यह कि शापे पापन, पूर्व की पापों करके शापे हैं। पापों करके शापे गये, जासे राक्षस हुए। उन मरों को कैसे मारिये। और वे निदरत नित अरत अभिभूते हैं अतः नित्य ही। यहाँ 'शापा अभि जनाः' पूर्व से ल और अकार निकार दकार हुई, जिससे नित अरत अरत अभिभूते हैं।'[२४१] बैजनाथ जी का यह अर्थ बिल्कुल ऊटपटांग है। क्योंकि आगे विश्वामित्र जी जनक जी से स्वयं इसका स्पष्टीकरण करते हैं -

> प्रीति-के न,पातकी, दिएहुँ साप पाप बड़ो
> मख-मिस मेरो तब अवध आयबु भो।[२४२]

यहाँ पर विश्वामित्र शाप देने में पाप से इसलिए डरते हैं, क्योंकि यह यज्ञ ऐसा है जिसमें क्रोध वर्जित है और बिना क्रोध के शाप लगता नहीं -

'न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ।।७। तथा भूताहि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते।'[२४३] अर्थात् उन पर क्रोध करने की भी इच्छा नहीं होती, उस यज्ञ का समय क्रोध करने और शाप देने का नहीं है। श्रीकांतशरण जी का भी यही मत है।[२४४]

<u>सुंदरकांड के पद- ४ की एक पंक्ति -</u>

> सोध बिनु, अनुरोध ऋतु के बोध बिहित उपाउ
> करत है सोइ समय साधन फलति बनत बनाउ।। [२४५]

बैजनाथ जी, ठाकुर बिहारीलाल जी और हरिहरप्रसाद जी ने पाठ-परिवर्तन करके ऊटपटांग अर्थ किये हैं। प्रस्तुत तीनों टीकाकारों ने यह पाठ स्वीकार किया है -

---

२४१. गीता०,सटीक, पृ० ११३-१४

२४२. गीता० ६४

२४३. वाल्मी० १।१९

२४४. गीता० सि०ति० ,पृ० १५६

२४५. वही ६।४

सोध बिनु अनुरोध रिपु को बोध-बिहित उपाउ । शंकरप्रसाद जी ने 'अनुरोध' स्वच्छ ही रखा है और 'अनु' का 'रिपु' कर दिया है । सम्भवतः यह पाठ परिवर्तन अर्थ की संगति न लगा पाने के कारण ही किया गया है । 'अनु' के स्थान पर 'रितु' पाठ भी मिलता है ।[246] लेख प्रमाद के कारण 'रितु' का 'रिपु' हो सकता है अथवा 'रितु' को अनावश्यक समझकर 'रिपु' कर दिया गया होगा । बैजनाथजी इसका अर्थ करते हैं — "रिपु को बोध कहे युद्ध कर जीत लेना सो सोध कहे खबर बिना पाये रिपु के बोध को अवरोध कहे रोक रखा है । बिहित कहे वर्तमान में रिपु के बोध का जो उपाय है, उसी साध्य के साधन की कर्तव्यता, उसका वही जो वानर रीछ हैं, वे करते हैं । उनका बनाव बनते ही कहे खबर तुम्हारी पाते ही फलत कहे रिपु के बोध होता ही है । इसमें वानर सो बिहित पद से वर्तमान काल हुआ । इस हेतु फलत कहा । इसका अर्थ रिपु को बोध होता है । लंका भस्म इति निश्चय ।[247] लगभग इसी प्रकार का अर्थ करते हुए ठाकुर बिहारी लाल लिखते हैं — "तुम्हारा सोध नहीं पाया, इस कारण बिहित कही वर्तमान उपाय में रिपु के बोध कही समझाने अर्थात् जीति लेने में अवरोध कही रुकाव रहा । उसी साध्य के साधन की कर्तव्यता को वानर रीछ करि रहे हैं, जिनका बनाव बनते ही अर्थात् तुम्हारी सुधि पाते ही फलति कहि रिपु का बोध होता ही है, बिलम्ब कुछ नहीं है ।"[248] शंकरप्रसाद जी के मत से — "रिपु को खबर पाए बिना अनुरोध कहे रोक रखा है अर्थात् कुछ बात नाहीं लग रिपु के बोध में जो बिहित उपाय ताको लोक करत है सोई उपाय रूप साधन सब पायेश फलति है और बनाव बनत है एही न्याय के अनुसार प्रभु ने रिपु के जानिबे हेतु दसों दिसा में वानरों को पठए । ते वानर प्रभु के काज में कुटिल कोउ नहीं हैं ।[249] पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार कठिन पाठ मूल के अधिक निकट होता है । अतः यहाँ ना०प्र० सभा का ही पाठ स्वीकार्य है ।

----

२४६. तु०प्र०, दि०सं०, सं०क०भा०वि० परि०काशी, पृ० ४६५ ।

२४७. गीता० सटीक, पृ० ३६२

२४८. गीता० रामा०, पृ० २२३

२४९. ,, सटीक, पृ० १६

उपर्युक्त अर्थों को देखने से विदित होता है कि टीकाकारों ने क्लिष्ट कल्पना करके मनोनुकूल अर्थ करने के प्रयत्न किये हैं। उक्त पंक्ति का सरलार्थ इस प्रकार है - सबर्ग वस्तु के व्यवधान के कारण आपकी खोज न हो सकी। जो विवेक से सुव्यवस्थित उपाय करते हैं, वही दशा समय यदि साधन करते बन गया तो सफल होता है।' कोश में अनुरोध का एक अर्थ-रुकावट, बाधा[२५०] और विहित का अर्थ- सुव्यवस्थित, नियोजित[२५१] किया है। श्रीकांतिशरण जी ने इसके अर्थ में 'अनुरोध' शब्द ही रख दिया है और 'बनत बनाउ' का अर्थ नहीं किया है।[२५२] मुनिलाल जी [२५३] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[२५४] भी सटीक अर्थ नहीं कर पाये हैं।

सकल साज-समाज साधन समउ कहं सब कोइ

बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ।
सकल साज समाज साधन समउ कहं सब कोइ ।।[२५५]

ठाकुर बिहारीलाल[२५६] और बैजनाथ जी[२५७] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं - 'बुद्धि, निःशंकता, पराक्रम सब वर्तमान हैं परन्तु हनुमान जी छिपाई राखे कांहे सब कोऊ यह कहत है कि जैसी समय की समाज होई तैसे साधक होने को चाही यह विचार हनुमान जी बुद्धि के बल ते साहस पराक्रम को छिपाए राखे।' यहाँ पर यह अर्थ कि समाज के अनुकूल साधक को होना चाहिए तथा बुद्धि के बल से साहस को छिपा रखा बिल्कुल असंगत अर्थ है। यहाँ ठाकुर बिहारीलाल और बैजनाथ जी दोनों के अर्थों में भ्रांति दिखाई पड़ती है।

---

२५०. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० ४२
२५१. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम, पृ० ६६५
२५२. गीता०, सि०ति०, पृ० ६६८
२५३. ,, सटीक, पृ० २६०
२५४. तु०ग्रं० ,ना०प्र०स०का०,काशी,पृ० ४६५
२५५. गीता० ६।५
२५६. ,, रामा०,पृ० २२४
२५७. ,, सटीक, पृ० ३६३

उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए - 'उन्होंने (हनुमान जी ने) बुद्धि बल, साहस और पराक्रम की उपस्थिति में भी उस (क्रोध) को छिपा रखा, क्योंकि सब लोग कहते हैं कि सभी उपाय समय पर ही सफल होते हैं।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त और तर्कसंगत लगता है। मुनिलाल जी,[258] हरिहरप्रसाद जी,[259] श्रीकांतशरण जी[260] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने[261] भी लगभग यही अर्थ स्वीकार किया है।

पुर

देख्यौ जात जानि निसिचर बिनु फर सर ह्यौ हियौ है।
पर्यौ कहि राम, पवन राख्यौ गिरि पुर तेहि तेज पियौ है ॥[262]

'पुर' शब्द को लेकर उपर्युक्त पंक्ति के अर्थ में उलट-फेर हो गया है। ठाकुर बिहारीलाल जी[263] और बैजनाथ जी[264] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं — 'भरत जी निशिचर जानि बिना गांसी को बाण हृदय में ज्यों कहुमारें ताके लागत राम राम कहि हनुमान जी गिरि परे तब पर्वत को पवन देव ने रोकि राख्यो जामे अवधपुर दबि जाइ ताही पवन के सहायता से पर्वत गिरिबे को जो वेग तेहि तेज को पुर पियो कही पान करि गयो भाव यथा कोऊ चोट मारे ताको कछु न मानें सोहे पी जायो है यथा घोड़ा को कोड़ा मारो सो पी गयो।' ~~इसी प्रकार~~ मुनिलाल जी[265] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[266] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है — 'मानो नगर ने उसका तेज पी लिया हो।' अयोध्या नगरी तेज को कैसे पी जायगी यह बात समीचीन नहीं लगती। संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर[267]

---

२५८. गीता० सटीकम्, पृ० २६२

२५९. वही, पृ० २०

२६०. वही, पृ० ६।३१

२६१. हि० सं० ग० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४६६

२६२. गीता० ६।१०

२६३. ,, रामा०, पृ० २७८

२६४. वही, सटीक, पृ० ४५६

२६५. वही, पृ० ३६२

२६६. हि०सं०ग०भा०वि०परि०काशी, पृ०५०५

२६७. सं०शु० ६ ६३०

और तुलसी शब्द सागर[२६८] में 'पुर' का अर्थ-पूर्ण किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है —उन्हें (हनुमान को) अयोध्या के ऊपर से होकर) जाते हुए देखकर राक्षस जानकर भरत जी ने उनके हृदय में बिना गाँसी का बाण मारा, (वे हनुमान जी) 'राम-राम' कहकर गिर पड़े। पवन देव ने (अयोध्या के रक्षार्थ) पर्वत को ऊपर ही रोक लिया और उस बिना फल के बाण ने ही हनुमान के पूर्ण तेज को पी लिया।'

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर के अनुसार 'पुर' अरबी शब्द है किन्तु यह संस्कृत पूर्ण से विकसित है। हरिहर प्रसाद जी[२६९] और श्रीकान्तशरण [२७०] ने भी यही अर्थ लिया है। 'युक्ति संगतता' नामक अर्थ निर्णय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक विदित होता है, क्योंकि संज्ञा के उपरांत ही सर्वनाम का प्रयोग होता है। संज्ञा 'बाण' के लिए ही सर्वनाम 'तेहि' का प्रयोग हुआ है। चरणान्त में प्रयुक्त 'हियो' शब्द भी संज्ञा ही है, परन्तु बाण की तुलना में तेज के साथ उसकी संगति कम बैठती है अतः 'हियो' की अपेक्षा 'बाण' के लिए ही 'तेहि' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा माना जा सकता है। एक अर्थ यह भी संभव है। आलंकारिक रूप में पवन को पर्वत संभालने के अतिरिक्त तेज पान करने का श्रेय भी दिया जाय तो अर्थ होगा उन्होंने ही या पवन ने हनुमान की प्राणरक्षा के निमित्त बाण के सारे तेज को अपने में आत्मसात कर लिया। किन्तु यह अर्थ भी असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि जब पवन ने बाण के तेज को पी लिया तो हनुमान जी बाण लगने पर बेहोश क्यों हुए ? इस प्रकार स्थिति अत्यन्त संदिग्ध ही है। संभव है वर्तमान पाठ ही अशुद्ध हो। यहाँ पर पूर्व अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

<u>चितेरे</u>

तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि,
रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं ।। [२७१]

---

२६८. दे० पृ० ३०२

२६९. गीता० सटीक, पृ० ६०

२७०. ,, सि०ति० पृ० ८३२

२७१. कविता० २।१४

श्रीरशरप्रसाद जी,[२७२] बैजनाथ जी,[२७३] इन्द्रदेव नारायण जी,[२७४] श्रीकांतशरण जी,[२७५] और तुलसीग्रन्थावली के सम्पादकमहोदय,[२७६] आदि टीकाकारों ने 'चितेरे' का भी अर्थ चित्र किया है। नागरीप्रचारिणी सभा के तुलसी ग्रन्थावली में 'चितेरा' का अर्थ 'चित्र' किया है।[२७७] चंपाराम मिश्र ने इसका अर्थ तस्वीर में लिखे[२७८] और लाला भगवान दीन जी ने चित्र लिखितसवीरों की तरह अर्थ किया है।[२७९] किन्तु यहाँ पर 'चितेरे' का चित्र नहीं हो सकता। यदि 'चितेरे' का अर्थ 'चित्र' किया जाय तो 'ऐरे' का अर्थ भी 'ताप' करना चाहिए। गोस्वामी जी ने चित्रकार अर्थ में 'चितेरे' शब्द का प्रयोग किया है -

सुन्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ॥[२८०]

मंगल मय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥[२८१]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'तुलसी दास कहते हैं कि तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ के इन तीनों (श्रीराम-लक्ष्मण और सीता) को देखकर स्त्री-पुरुष ऐसे मुग्ध हैं जैसे चित्रकार (मनोहर कला-पूर्ण) चित्र शाला को देखकर।' डा० माताप्रसाद गुप्त,[२८२] चन्द्रशेखर जी[२८३] और देवनारायण द्विवेदी जी[२८४] ने भी 'चितेरे' का अर्थ चित्रकार किया है। युक्ति संगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है।

<u>गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो</u>

राम गुलाम तुही हनुमान,
गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो।[२८५]

---

२७२. कवित्त रामा०, पृ० २७ | २७३. कवितता०, सटीक, पृ० ५०

२७४. वही, पृ० २६ | २७५. वही सि०ति०, पृ० ३४

२७६. दि०सं०, ना०प्रा०वि०परि०काशी, पृ० २०२ | २७७. कविता० २।१४पादटिप्पणी

२७८. वही सटीक, पृ० २२ | २७९. वही, पृ० २६

२८०. विनय० १११ | २८१ मानस १।२१३।५

२८२. कविता० पृ० १०३ | २८३. वही सटीक, पृ० २८-२६

"गुसाईं" सुसाईं" । विशेषण कोई हनुमान जी का मानते हैं तो कोई श्रीराम जी का । पं० महावीरप्रसाद मालवीय इसका अर्थ करते हैं -"हे गोस्वामी हनुमान जी । आप श्रेष्ठ स्वामी और सदा श्री रामचन्द्र जी के सेवकों के पक्ष में रहने वाले हैं ।"[२८६] श्रीविनायकराव जी के अनुसार -"श्री हनुमान जी । श्रीराम जी के सेवक एक आप ही हैं, आप मेरे सदा अनुकूल रहने वाले अति कृपान्वित और अच्छे स्वामी हैं ।[२८७] वैजनाथ जी का अर्थ भी लगभग ऐसा ही है -- "गोसाईं साधारण जीवमात्र के पालने वाले सुसाईं सुसेवकन के हित सुन्दर स्वामी हे हनुमान् राम गुलाम पै तुही सदा अनुकूलों अर्थात् रामदासन के रक्षा करनहारे एक आप ही हैं ।"[२८८] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने अपने अर्थ में सुसाईं शब्द को ही छोड़ दिया है -"हे हनुमान । आपही राम के सच्चे सेवक हैं आप सदा मुझ पर कृपा किए रहने वाले गोस्वामी हैं ।[२८९] किन्तु प्रासंगिक दृष्टि से यह अर्थ असंगत नहीं है । यहाँ पर गोस्वामी जी कहते हैं कि हे हनुमान जी श्रीराम जी के सच्चे सेवक एक आपही हैं । क्यों आप ही सेवक हैं ? क्योंकि प्रभु (गुसाईं") सुस्वामी श्रीराम जी आप पर सदा अनुकूल रहते हैं । जिस पर स्वामी सर्वदा अनुकूल रहते हों ,वही सच्चा सेवक होता है । सीता जी ने हनुमानजी को वरदान भी दियाहै --

सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहुँ हनुमंत ।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत ।।[२९०]

श्रीराम जी सुस्वामी तो हैं ही -- स्वामि गोसाईंहि सरिस गोसाईं ।[२९१]
यहाँ "गुसाईं" सुसाईं" सदा अनुकूलों" विशेषण श्रीराम जी का है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा- हे हनुमान जी एक आपही श्रीराम जी के वास्तविक सेवक हैं । प्रभु,

----

२८६. बाहुक सटीक,पृ० ३२
२८७. ,, सि०ति० पृ० १५५
२८८. ,, सटीक, पृ० ४४
२८९. वि०सं०, म०प्रा०पि०परि०काशी,पृ० ३०८
२९०. मानस ६।१०७

सुखधामी श्रीराम जी आप पर सर्वदा अनुकूल रहते हैं।' परमेश्वरी दयाल जी का अर्थ कुछ उपयुक्त है किन्तु 'हे दयालु प्रभु!' सम्बोधन तो व्यर्थ असंगत प्रतीत होता है।[292] श्री हरिहरप्रसाद जी मेरे ही अर्थ के पक्ष में हैं।[293] 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ सर्व संगत लगता है।

घरबसी

ललित लालन निहारि, महरि। मन बिचारि, डारि दे घरबसी लकुटि बेग करतें।।[294]

'घरबसी' का अर्थ रामनरेश शरण जी,[295] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय[296] ने क्रमशः घर में रहने वाली और' घर बसाने वाली' अर्थ किया है। गीता प्रेस की टीका में भली औरत' अर्थ किया गया है।[297] किन्तु यहाँ पर यह अर्थ बिल्कुल असंगत है। 'घरबसी' का अभिधार्थ- सं० गृह+वास अर्थात् घर बसाने वाली' है और व्यंग्यार्थ घर उजाड़ने वाली।[298] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ - (कोई ब्रजांगना यशोदा से कहती है --) अरी महरि! किंचित् इस कोमल लाल की ओर देख और कुछ तो अपने हृदय में विचारकर! अरी घर उजाड़ने वाली! तुरंत अपने हाथ से छड़ी दूर फेंक दे।' श्रीकांतशरण जी ने भी यही अर्थ किया है।[299] 'वक्ता की भावना' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है।

कान्ह-पाई, नीके-ई लागत मन रहत समाने

तुलसीदास हुई अधिक कान्ह पाई नीके ई लागत मन रहत समाने।[300]

---

२९२. भाकुक सटीक, पृ० ५१ २९३. कवि० रामा०, पृ० २६९-७०

२९४. श्रीकृष्ण १७ २९५. वही सटीक, पृ० १५

२९६. हि०सं० अ०भा०वि० परि० काशी, पाद टिप्पणी, पृ० ५५९

२९७. श्रीकृष्ण सटीक, पृ० २० २९८. तुलसी शब्द सागर, पृ० १३५

२९९. श्रीकृष्ण सि०ति०, पृ० २८

३००. श्रीकृष्ण ० २८।

इसका अर्थ रामायन सरन जी करते हैं कि कान्हऊ सों मेरो मन लगाई रह्यु है। समाने नाम कान्ह के रूप में समाइ गया है। यह अर्थ कि कान्ह में मन समा गया है, बिल्कुल असंगत है। कान्ह में मन क्या समायेगा। वहाँ मन में कान्ह का समाना उपयुक्त है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - तुलसीदास कहते हैं कि (कोई गोपी कहती है कि) वही क्या कम है कि कन्हैया अच्छे लगते हैं और मन उन्हीं में मग्न रहता है या वे मन में प्रविष्ट रहते हैं। श्रीकांतशरण जी[301], गीताप्रेस की टीका[302] वामदेव जी[303] और तुलसीग्रन्थावली के संपादक महोदय ने[304] लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक ने नीके और मन के मध्य से 'लागत' शब्द को हटा दिया है।[305] युक्तिसंगतता नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।

कै ये नई सिखी सिखाई हरि निज-अनुराग बिछोहीं।

> मधुकर कान्ह कही ते न होहीं।
> कै ये नई सिखी सिखई हरि निज अनुराग बिछोहीं ।।[306]

रामायन सरन ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - जो मधुकर कहत है सो कान्ह की कही नाहीं है कै ए नई सीख हैं के नई सीख हरि ने निज अनुराग बिछोही जो ज्ञान बैराग है नई सिख सीखी है सो सबनि आदु ही नई सिख सीखी है।[307] सरन जी ने निज अनुराग बिछोही का अर्थ- ज्ञान -बैराग किया है और इसी को नई सीख स्वीकार किया है। यह पूर्णरूपेण ऊटपटांग अर्थ है। इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए - हे भ्रमर! तुम्हारी ये (ज्ञानोपदेश की बातें कन्हैया की कही हुई नहीं हैं। अथवा कन्हैया ने अपने प्रेम वियोगिनी गोपियों के

---

301. श्रीकृष्ण सि०ति० पृ० ६२
302. वही सटीक, पृ० ४६
303. वही, पृ० ४४
304. तु०ग्रं० ना०प्र०स०काशी, पृ० ५७१

लिए ये नई बातें (कूबरी की) सिखाई हुई होती हैं।' युक्ति तर्कसंगतता' नामक अर्थ - निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। श्रीकान्तशरण जी,[३०८] नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी[३०९] वामदेव जी[३१०] और पोद्दार जी [३११] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय का अर्थ सटीक नहीं है।[३१२] उन्होंने नई शब्द को अपने अर्थ में स्पष्ट नहीं किया है और 'निज अनुराग बिछोहीं' का अर्थ अपना प्रेम समाप्त करके किया है। 'बिछोही' ऐसा स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ है - वियोगिनी।

परमेस्वर न सहैगो

'तुलसी' परमेस्वर न सहैगो, हम अबलनि सब सही है।[३१३]

श्रीकान्तशरण जी ने इसका अर्थ कुछ विचित्र सा किया है - 'श्री तुलसीदास कहते हैं कि (वह गोपी कहती है) परमेश्वर भी ऐसे प्रतिकूल बर्ताव को) सहन नहीं करेगा किन्तु हम अबलाएँ सब सह रही हैं।' पुनः व्याख्या में 'सहन नहीं करेगा' की व्याख्या करते हैं कि कुब्जा के अन्याय का दण्ड परमात्मा भी उसे देगा।[३१४] पोद्दार जी के अर्थ से भी लगभग यही भाव अभिव्यक्त होता है।[३१५] यहाँ पर परमेश्वर के दण्ड देने की बात कुछ अटपट सी लगती है। व्यर्थ की खींचतान से ऐसा अर्थ निकाला गया है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए — हम अबलाओं ने (अबला होते हुए भी कृष्ण के विरह में) जैसा वियोग दुख सहा है, वैसा तो (सर्वशक्तिमान)परमेश्वर भी नहीं सह सकेगा। 'औचित्य नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। रामायनसरन जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[३१६]

---

३०८. श्रीकृष्णा०सि०ति०,पृ० ६६

३०९. वही सटीक, पृ० ८१

३१०. वही, पृ० ४७

३११. वही, पृ० ४६

३१२. तु०ग्रं०,का०ना०प्र०स०,काशी,पृ०५७२

३१३. श्रीकृष्णा ४२

३१४. वही सि०ति०,पृ० १०२ और १०४

३१५. सटीक, पृ० ५०

३१६. श्रीकृष्णा०,सटीक, पृ० ४३

तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई

> ९ हठ निरत नरत लालच-बस, परे जहाँ बुद्धि बल न बसाई ।
> तुलसिदास इन्ह पर जौं द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई ।।[317]

इस अन्तिम पंक्ति का अर्थ रामायण शरन जी ने किया है -"बैर बिसरावनो की गोपी लोग हमारे उपदेश को खंडन किया तो हमने ऊधो के साथ भेजा सो नहीं अंगीकार किया तातें मेरी बैरी हैं सो नयन के नाते और हम लोगों के मिलकि बैर बिसरावेंगी ।"[318] इसी प्रकार पोद्दार जी अर्थ करते हैं -"तुलसीदास कहते हैं कि यदि श्रीहरि इन पर (अपनी ओर से ही) द्रवित हों तो विरोध भुलाकर पुनः आकर मिल लें (इन्हें दर्शन देवें) ।[319] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने भी ऐसा ही अर्थ किया है -"कृष्ण इन पर दया करें तो पिछला बैर (उनकी निष्ठुरता) भुलाकर (ये नेत्र) फिर उनसे जा मिलें ।"[320] उपर्युक्त टीकाकारों ने और के विरोध की बात पता नहीं कहाँ से सम्बद्ध कर दी है । वहाँ उक्त सभी अर्थ अप्रासंगिक है । इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए -"ये नेत्र दर्शन के लोभ के वशीभूत होकर अपने हठ में निमग्न और ऐसे स्थान में अवस्थित हैं, जहाँ बुद्धि बल का भी (कुछ) वश नहीं चलता । तुलसीदास जी कहते हैं कि(गोपी कहती हैं) ऐसे इन नेत्रों पर यदि श्रीकृष्ण जी द्रवीभूत हों (दर्शन से कृतार्थ करें) तो पुनः इनसे (नेत्रों से उपर्युक्त) बैर भुलाकर मिलूं अर्थात् इन नेत्रों को शत्रु न मानूं ।" श्रीकांतशरण जी[321] नरोत्तम और वियो०[322] और वामदेव जी ने [323] भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है ।

---

३१७. श्रीकृष्णा० ५६
३१८. वही सटीक, पृ० ६५
३१९. वही ,, पृ० ७०
३२०. तु०ग्रं०,ना०प्र०स०काशी,पृ० ५८२
३२१. श्रीकृष्णा० सि०ति०,पृ० १५७
३२२. ,, सटीक,पृ० ६०
३२३. ,, ,, पृ० ६५

अध्याय — ६

अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान

अनेक अर्थों वाले शब्द को अनेकार्थी शब्द कहा जाता है। तुलसी साहित्य में बहुत से अनेकार्थी शब्द प्राप्त हुए हैं जिनके कारण भी अर्थ-समस्याएं उत्पन्न हुई हैं एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने से टीकाकारों को मनोनुकूल क्लिष्ट करके अर्थ की संगति बैठाने का अवसर मिलता है। उदाहरणार्थ बसन, भरनी, पतंग, हरि कूट और सिली आदि शब्द। किसी ने 'बसन' का अर्थ बसंगी नहीं, स्वामी-पति और करधनी किया है तो किसी ने वस्त्र। भरनी का अर्थ कोई भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र, पक्षी विशेष करते हैं तो कोई मोरनी। इसी प्रकार 'पतंग' शब्द का अर्थ किसी ने पक्षी, गुड्डी, अरुण, तम्बूरा चिनगारी और सूर्य की ओर हाथ मिलाना किया है तो कुछ ने गेंद। 'हरि' का अर्थ कोई कामदेव, विष्णु भगवान करते हैं तो कोई घोड़ा। ऐसी अर्थ समस्याओं का मुख्य कारण प्रसंग पर ध्यान न देना है। प्रस्तुत अध्याय में इस प्रकार के विवादास्पद स्थलों की अर्थ-समस्याओं का निदान भारतीय आचार्यों द्वारा बताये हुए संयोगप्रकरणादि अर्थ विनिश्चय के साधनों के आधार पर करने का प्रयास किया गया है।

बसन

विधुबदनी सब भाँति संवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥[1]

हिन्दी शब्द सागर में बसन (सं० वसन) का अर्थ है - १. वस्त्र, २. ढकने की वस्तु, आवरण, छादन ३. घेरा, अवरोध, परिवेष्ठन।[2] सम्भवत: 'घेरा' अर्थ के आधार पर

---

१. दे० मानस १।१०।४

२. दे०पृ० ४३६७

की बृहत् हिन्दी कोश में इसका अर्थ स्त्रियों का एक गहना, रसना और दूसरा-निवास, मकान अर्थ दिया है।[3] तुलसीशब्दसागर में इसका अर्थ -- १. कपड़ा वस्त्र, २. बसने वाले दिया है।[4] इससे स्पष्ट है कि बसन शब्द अनेकार्थी है। उक्त अर्धाली के बसन शब्द के अर्थ के विषय में समीक्षकों ने अनेकानेक क्लिष्ट कल्पनाएं करके मनोनुकूल और अनेक ऊटपटांग अर्थ किए हैं। रामकथा के विश्वविश्रुत विद्वान डा० कामिल बुल्के कहते हैं कि "बिना बसन" का अर्थ नग्न किया जाना अशोभन तथा आपत्तिजनक है, क्योंकि तुलसी जैसे मर्यादा-पालक भक्त कवि कभी ऐसा संकेत शब्दों से भी नहीं कर सकते।"

भारतीय मनीषा के प्रकांड विद्वान डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २ मार्च, १९५८ के अंक में उक्त प्रश्न को रखा, जिस पर अगले अंकों में कुछ विद्वानों के उत्तर पढ़ने को मिले थे। उनमें से किसी ने 'बसन' का अर्थ रत्ना, किसी ने सुहाग सिंदूर और किसी ने उसका अर्थ पति किया था। हिन्दी के विख्यात कवि डा० हरिवंशराय 'बच्चन' के अनुसार उक्त चौपाई में 'बसे' का अर्थ है बसना, सुव्यवस्थित होना - सुस्थिर होना और 'बर' यहां क्रिया है विशेषण नहीं। 'बर' का जो अवधी में 'बर' उच्चारण किया जायगा, वह होगा 'बराहुआ - वरण किया हुआ - व्याहा हुआ। आगे नारि है तो अर्थ होगा बरी हुई - व्याही हुई। अतः इस चौपाई का अर्थ इस प्रकार हुआ - सब भांति संवारी-वस्त्रालंकार से विभूषित विधु बदनी भले ही हो पर वह सोहेगी नहीं, शोभित वह थोड़ी देर के लिए हो भी ले, पर वह बसेगी नहीं -सुव्यवस्थित नहीं होगी जब तक वह बरी न हो, परिणीता न हो।"

और फिर सब के बाद डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया वह यह था: "गोसाईं जी व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते। इस शंका में कुछ सार है। अतः 'बसना' का अर्थ वस्त्र न होकर 'पति' होना चाहिए। अतएव चौपाई का अर्थ होगा -- 'चन्द्रमुखी और सब भांति अलंकृत स्त्री भी बिना पति

----

३. दे० पृ० ११६६
४. दे० पृ० ३३२

के शोभा नहीं पाती ।"[५]

डा० गुप्ते और डा० अग्रवाल के पक्ष का अनुसरण करते हुए डा० अम्बाप्रसाद सुमन लिखते हैं कि "तुलसी मर्यादावादी तथा शुद्ध एवं संयत शृंगार रस के सृष्टा थे। राम नाम हीन कविता के उपमान के रूप में आए हुए "बसन बिना बर नारी" का प्रयोग तुलसी के लिए लज्जास्पद है। वे नंगी नारी की कल्पना कभी नहीं कर सकते। हमारा विचार है कि यहाँ "बसन" शब्द का अर्थ "स्वामी या पति" है। नारी जिसके यहाँ निवास करती है या आश्रय पाती है वह बसन अर्थात् पति हुआ। बिना पति के वह नारी की शोभा नहीं पा सकती जो चन्द्रमा के समान मुख वाली हो और सब प्रकार के रूपों में साजी-संवारी गई हो।

"बसन बिना" का अर्थ वस्त्र रहित किया जाएगा तो वदतो व्याघात दोष भी इस अर्धाली में आ जायगा, क्योंकि पूर्वार्द्ध में कहा गया है कि जो चन्द्रवदनी सब प्रकार से सुसज्जित की गई हो। जब सब प्रकार से सुसज्जित है तब वह नारी वस्त्रहीन कैसे कही जा सकती है। अतः अर्थ इस प्रकार किया जाना चाहिए - अच्छे कवि द्वारा रची हुई कविता भी रामनाम के बिना इस प्रकार शोभा नहीं पाती जिस प्रकार कि चन्द्रवदनी सुन्दर नारी बिना पति (स्वामी) के सुशोभित नहीं होती।"[६]

श्री देवदत्त शास्त्री लिखते हैं कि "तुलसीदास जी का कहना है कि नारी रूप, लावण्ययुक्त हो, चन्द्रमुखी हो, सभी प्रकार के शृंगार से सुसज्जित हो, किन्तु यदि वह बसन रहित हो तो सुशोभित नहीं होती। तुलसीदास जी का "बसन" शब्द का तात्पर्य अमर की "अरधनी" से रहा है किन्तु मानस के टीकाकारों ने उसे वस्त्र समझ लिया और यह नहीं सोचा कि "सब भाँति संवारी" कहने मात्र से वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित नारी का बोध होता है न कि नग्न नारी का।

व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वथा असंगत है कि सुघर स्त्री आभूषणों से सजने के बाद वस्त्र रहित कैसे रह सकती है। "बसन" शब्द का अर्थ "वस्त्र" परंपरागत मान

----

५. तुलसी परिशीलन, पृ० १६३

६. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० १८२-८३

लिया गया और किसी ने इसके अर्थ तत्व पर विचार नहीं किया । .... 'बसन' शब्द का अर्थ वस्त्र या पति किए जाने का मुख्य कारण तुलसीदास जी की जन्मभूमि तथा उसके आसपास के क्षेत्र की बोली से अपरिचित होना ही जान पड़ता है । 'बसन' शब्द की जोड़ का एक शब्द 'बसनी' भी पूर्वी पांचाली भाषा में प्रचलित है, जो बांदा, फतेहपुर, रीवां और पश्चिमी इलाहाबाद जिलों में व्यवहृत होता है । बसनी कपड़ों की बनती है, उसमें रुपये (सिक्के) भरकर कमर में बांध लिया जाता है । .... 'बसन-करधनी' भारतीय नारी का पुरातन आभूषण है । वैदिक काल से लेकर अब तक इसका प्रचलन अविच्छिन्न चला आ रहा है । अजन्ता, एलोरा के नारी चित्र प्राचीन मृण्मयी प्रस्तरमयी नारी-मूर्तियों के आकर्षण का केन्द्र कमर की करधनी ही है । तुलसीदास जी का आशय यही रहा है कि विधु बदनी सब भांति संवारी नारी यदि बसन-करधनी रहित हो तो वह सुशोभित नहीं होती, क्योंकि गले का हार वक्ष की ही शोभा बढ़ाता है, किन्तु करधनी शरीर के मध्य भाग को घेरकर स्त्री को चतुर्दिक सुन्दर बना देती है ।"[७]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समीक्षकों ने 'बसन' शब्द के ३ अर्थ किये हैं -
१. बसेगी नहीं -सुव्यवस्थित नहीं होगी, २. स्वामी या पति और
३. करधनी ।

बच्चन जी का अर्थ कि 'वह बसेगी नहीं - सुव्यवस्थित नहीं होगी जब तक वह वरी न हो, परिणीता न हो' संगत नहीं लगता । गोस्वामी जी के समय से लेकर आज तक ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं कि बिना परिणीता स्त्री आजीवन सुव्यवस्थित रही- बसी रही और परिणीता स्त्री के साथ जीवन निर्वाह करना दूभर हो गया । फलस्वरूप उनका निष्कासन आवश्यक हो गया । मुसलमान लोग हिन्दू कन्याओं को बिना वरण के अपहरण कर लेते थे और उन्हें आजीवन अपने हरमों में सुव्यवस्थित रखते थे । आजकल का 'लव मैरेज' भी प्रायः बिना वरण के होता है और अधिकांशतः सफल भी होता है । अतः व्यावहारिक दृष्टि से अव्यवस्थित तथ्य को गोस्वामी जी स्वीकार नहीं कर सकते ।

---

७. तुलसीपरिशीलन, सं० बाबूलाल गर्ग, श्रीदेवदत्तशास्त्री का लेख, पृ० १६२ - १६६

डा० बुल्के, डा० अग्रवाल और डा० सुमन का यह कथन कि गोस्वामी जी मर्यादा पालक भक्त कवि और संयत शृंगार रस के प्रष्टा थे। अतः वे व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते थे। एतदर्थ निवेदन है कि वे गोस्वामी जी के निम्न उद्धरणों पर ध्यानाकृष्ट करें -

जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चन्द चकोरू ।।[८]

नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित हानी ।।[९]

श्रीफल कुच, कंचुकि लता जाल ।[१०]
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव, अति दारुनदुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल, बिसारि सूल सठ, पुनि खल पतिहिं भजै ।।[११]
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै ।[१२]
बार-बार कह्यों में पुकारि दाढ़ीजार सों[१३]

जो भक्तकवि श्रेष्ठ जंघाओं वाली, बिआनी, कुच, चोली, गर्भ का चुना और दाढ़ीजार जैसे शब्दों का प्रयोग कर सकता है, उसको बिना वस्त्र की, कहने में क्या आपत्ति होगी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी कहते हैं कि गोस्वामी जी व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते तो 'पुनि खल पतिहिं भजै' की क्या व्यंजना है? गोस्वामी जी ने अनेकों बार 'स्वामी-पति' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यहाँ 'बसन' शब्द का प्रयोग पति अर्थ में करने से कोई विशेष अर्थ-गरिमा नहीं आ जाती। 'बसन' शब्द का 'पति' अर्थ क्लिष्ट कल्पनापरक अर्थ है। तुलसी शब्दसागर में 'बसन' का अर्थ 'बसने वाले' दिया है देवदत्त शास्त्री जी कहते हैं कि 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित मानक हिन्दी कोश के संपादक ने 'बसन' का अर्थ पति किया है। 'पति' अर्थ के विषय में शास्त्री जी का तर्क संगत लगता है। उनके अनुसार - पति विहीन नारी दो प्रकार की मानी जाती है : एक तो विधवा और दूसरी वेश्या। विधवा बिधु बदनी तो हो सकती है किन्तु सब भाँति सँवारी नहीं। इसलिए पतिविहीन विधवा की कल्पना यहाँ उचित नहीं। रह गई वेश्या। तो यह सर्व विदित है कि उसकी शोभा सजावट, उसका शृंगार आकर्षण ही तो लोगों को

----

८. मानस २।२६।४ ९. वही २।७५।२ १०. विनय०१४

११. वही ८९ १२. कवित्ता० ७।४०

१३. वही, ५।११

आकृष्ट और प्रभावित करता है। इसलिए वसन-हीन-पति विहीन अर्थ की संगति यहाँ नहीं बैठती।[१४] वेश्या यदि किसी पति विशेष का वरण कर ले तो उसकी शोभा बढ़ने के बजाय घट जायगी। 'वसन' शब्द का करधनी अर्थ देवदत्त शास्त्री जी की कोई नवीन खोज नहीं है। वृहत हिन्दीकोशकार को चाहे गोस्वामी जी की जन्मभूमि के शब्दों का ज्ञान न रहा हो किन्तु उन्होंने भी इसका अर्थ-स्त्रियों का एक गहना किया है। कवि के जन्मभूमि के शब्दों का डंका पीटकर किसी शब्द के अर्थ अनर्थ करना उसके भावों का गला घोंटना है। गोस्वामी जी के जन्मभूमि का निर्णय अभी निर्विवाद नहीं हुआ है। अतः यह कहना कि अमुक शब्द अमुक गाँव में बोला जाता है अतः वह गोस्वामी जी के जन्मभूमि से सम्बद्ध है। गोण्डा फैजाबाद के आदि जिलों में प्रयुक्त अनेक शब्द भी तो तुलसी साहित्य में प्राप्त होते हैं। बसनी उस थैली विशेष को कहते थे जो रुपये आदि को रखकर कमर में बाँधी जाती थी। शास्त्री जी ने भी 'बसनी' की चर्चा की है। स्वयं गोस्वामी जी इसे थैली कहते थे --

अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥[१५]

'करधनी' अर्थ में गोस्वामी जी ने अपने साहित्य में इस शब्द का प्रयोग किया है, ऐसा मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। यहाँ पर करधनी अर्थ बिल्कुल निरर्थक है। गोस्वामी जी ने इसी प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी किया है --

बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बरनारी॥[१६]

बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥[१७]

वस्त्र अर्थ में 'बसन' का प्रयोग गोस्वामी जी ने सैकड़ों बार किया है।[१८] डा० सुमनजी

---

१४. श्री देवदत्त शास्त्री का लेख, तुलसीपरिशीलन, पृ० १६२-६६

१५. मानस १।२७६।४

१६. वही, ५।२३।४

१७. वही २।१७७।४

१८. दे० मानस १।१३३।८, १।३२६।३, विनय० ५०,४४ श्रीकृष्ण० ६०। आदि।

कहाँ तक वदतो व्याघात का दोषारोपण करेंगे । उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'सब भाँति सँवारी' का अर्थ आभूषणों से है । संस्कारविचार में भी इसी प्रकार का प्रयोग हुआ है—

श्रीरम्चन्द्रकला ललत्पदमनेत्रा स्वलंकार युतापि वारते विमुक्ता ।
कृपापि योषिन्न ये शोभमाना हरेर्नामहीना सुवाणीतथैव ।।[१९]

अस्तु उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - "चन्द्रमा के समान मुख वाली स्त्री सब प्रकार से सुसज्जित रहने पर भी वस्त्र के बिना शोभा नहीं पाती ।" हरिहरप्रसाद जी[२०] पंजाबी जी,[२१] शुकदेवलाल जी[२२] विनायक राव जी,[२३] अवधबिहारीदास जी,[२४] ग्राउसमहोदय,[२५] विजयानंद त्रिपाठी जी[२६] और रामनरेश त्रिपाठी जी[२७] आदि समस्त टीकाकारों ने 'बसन' का अर्थ वस्त्र किया है 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है ।

भरनी

रामकथा कलि पन्नग भरनी । पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी ।।[२८]

'भरनी' अनेकार्थी शब्द है । हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ इस प्रकार है --
१. संज्ञा स्त्री० (हिन्दी भरना) १. करघे की ढरकी । नार । उदा० सुरति ताना करें पवन भरनी भरें, माँड़ी माँहि प्रेम अंग अंग भीने । पलटू बानी,पृ० २५ ।
२. संज्ञा स्त्री० (अनिश्चित व्युत्पत्ति) १ छछूंदर । २. मोरनी । ३. गारुड़ी मंत्र, ४. एक प्रकार की जंगली बूटी ।
(३) काव्यप्रयोग, पुरानी हिन्दी-संज्ञा स्त्री० (सं० भरणि) भरणी नक्षत्र ।[२९]

श्यामसुन्दर दास जी[३०] और बाबूराम मिश्र जी ने[३१] इसका अर्थ भरणी

----

१९. मा०पी० सं० १, पृ० १९६   २० रा०परि०परिशिष्ट,पृ० १८
२१. मा०भा०,पृ० ३४   २२. रामा०,पृ० ११
२३. वि०टी०, पृ० ५२   २४. मानस,पृ० १६
२५. द रामा० आव तुलसीदास, पृ० ८   २६. मानस वि०टी०पृ०भा०,पृ० ३०
२७. मानस पृ० ४१७   २८. मानस १।३१।६
२९. हि०पृ० ३६२३   ३०. मानस,पृ० ३६
३१. रामा०पृ० ३५

नक्षत्र किया है ।

'गारुडी मंत्र को भी भरणी कहते हैं । जिससे सर्प के काटने पर झाड़ते हैं तो साँप का विष उतर जाता है । मानसतत्त्व विवरण में लिखा है -- वह मंत्र जिसे सुनकर सर्प छूटे तो बचे नहीं और न छूटे तो जल भुन जावें यथा --

'किलो सर्पा तेरे बानी' इत्यादि । बाबा हरिदास जी कहते हैं कि झाड़ने का मंत्र कान में भरणी' शब्द कह कर फूंक डालते हैं और पाँडे जी कहते हैं कि भरणी झाड़ने का मंत्र है । सुधाकर द्विवेदी जी कहते हैं कि राजपूताने की ओर सर्पविष झाड़ने के लिए भरणी गान प्रसिद्ध है । फूल की थाली पर सरफुलई से तरह-तरह की गति बजाकर यह गान गाया जाता है ।'[32] पं० विजयानंद त्रिपाठी जी ने भी भरणी' का अर्थ - भरणी-मंत्र किया है ।[33]

बैजनाथ जी[34] और जानकी शरण जी[35] लिखते हैं कि व्रज देश में एक सर्पनाशक जीव विशेष होता है जो मूसे का सा होता है । यह पक्षी सर्प को देखकर सिकुड़कर बैठ जाता है । साँप उसे मेढक (दादुर)जानकर जीते ही निगल जाता है तब वह अपनी कांटेदार देह को फैला देता है जिससे सर्प का पेट फट जाता है और साँप मर जाता है । यथा --

'तुलसी छमा गरीब की पर घर घालनिहारि ।
ज्यौं पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि ।। तुलसी सतसई

व्यास शैली के टीकाकारों ने इसके तीन-तीन, चार-चार अर्थ किये हैं श्री रामचरणदास जी ने गरुड़ मंत्र, मयूरी और एक विशेष जन्तु आदि अर्थ किये हैं ।[36] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार-' कोऊ कहत रामकथा कालिरूपी सर्प को भरनी कहैं झारिवे को मंत्र है सापकी सर्पनाशक वा भरनी एक मूसा जंतु वा

----

३२. मा०पी०, खं० १, पृ० ४५१
३३. मानस,वि०टी०,पृ०भा०पृ० ७६
३४. रामा० बाल०, पृ० १८४
३५. मानस मार्तण्ड,टीका, प्र०खं०,पृ० ३१२
३६. रामा०,पृ० ६४

भरनी नामा नक्षत्र है भाव भरनी नक्षत्र का जल सर्प नाशक है ज्योतिष में लिखा है या भरनी मयूरी ।[३७] पंजाबी जी लिखते हैं -"भरनी कहे करे को कहते सो सांपों को मारते हैं अरु जैपुर के देस में जिससे सर्प की विष उतरे उस मंत्र को भरनी कहते हैं । सो कलि रूपी सर्प की विष उतारने को श्रीरामचन्द्र की कथा भरनी सम है ।"[३८]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने इसके लगभग चार अर्थ किये हैं - भरणी नक्षत्र ,गारुड़ी मंत्र, एक पक्षी विशेष और मयूरी ।

मोरनी और सर्प का विरोध प्रसिद्ध है । अत: विरोधिता अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ भरनी का अर्थ मोरनी होगा । उपर्युक्त हिन्दी शब्दसागर और मेदिनी कोश में भरणी का अर्थ मोरनी है -"भरणी मयूरपत्नी स्यात् वरटा हंस-योषिति"[३९] ।

वीरकवि जी,[क] रामनरेश त्रिपाठी जी,[ख] श्रीकांत शरण जी,[ग] रामेश्वर भट्ट जी,[घ] पोद्दार जी,[च] विनायकराव जी,[छ] अवधबिहारीदास जी[४०] तुलसीग्रंथावली के सम्पादक महोदय[४१] और पं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने[४२] भी इसका अर्थ मोरनी किया है ।

गोस्वामी जी जहाँ-जहाँ भव-व्याल से त्रस्त हुए हैं, वहाँ उन्होंने उरगारिपु-गामी का स्मरण किया है --

----

३७. रा० परि० परिशिष्ट, पृ०, पृ० ३६

३८. मा० भा० , पृ० भा० , पृ० ६६ ३६. मा०पी०बाल०खं० १,पृ० ४५१

४०. क रामा०,पृ० ५० ख. मानस० पृ० ४३

ग. मानस सि०ति०पृ०खं०,पृ० १७४ घ. वही, पृ० ४६

च. वही,पृ० ६३ छ. रामा०बाल० वि०टी०,पृ० ११६

४०. मानस,पृ० ४६ ४१. पृ०खं०खं०अ०भा०वि० परि०,काशी,पृ०४७

४२. गोसाईं तुलसीदास,पृ० १४५

ग्रसित - भवव्याल अतित्रास तुलसीदास पाहि श्रीराम उरगारियानम् ।।[४३]

तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ।।[४४]

परम-कठिन-भवव्याल-ग्रसित ~~तव सरन उरग-रिपु-गामी~~ हौं, त्रसित भयो अति भारी ।।[४५]

चाहत अभय भेक सरनागत खगपति नाथ बिसारी ।।

गोस्वामीजी ने सर्प-नाशहित मोरनी और उरगारिपु गामी का भी प्रयोग किया है, भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र एक पक्षी विशेष कहीं नहीं कहा है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - 'रामकथा कलिरूपी सर्प के लिए मोरनी के समान है और विवेक रूपी अग्नि (उत्पन्न करने) के लिए लकड़ी है।' अर्थात् जैसे मोरनी सर्प को खा जाती है उसी प्रकार राम कथा सुनने से पाप नष्ट होता है।

पतंग

करहिं गान बहु तान तरंगा । बहुबिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा ।।[४६]

'पतंग' अनेकार्थी शब्द है हिन्दी शब्दसागर में इसके अनेक अर्थ दिये हैं -

पतंग - सं० पु० (सं० पतंग) १. पक्षी, चिड़िया, २. शलभ, टिड्डी, ३ पांखी, भुनगा, फतिंगा, ४. कोई परदार कीड़ा, उड़ने वाला कीड़ा, ५. सूर्य, ६. एक प्रकार का धान। जड़हन। ७. जल महुआ, जल मधूक वृक्ष ८. एक प्रकार का चंदन, ९. कंदुक, गेंद-, १०. पारद, पारा, ११. जैनों के एक देवता जो वाणव्यंतर नामक देवगण के अन्तर्गत हैं। १२. एक गंधर्व का नाम, १३. एक पहाड़ का नाम, १४. तन, शरीर, जिस्म (अने०) १५. नौका, नाव (अने०) १६. चिनगारी, १७. कृष्ण या विष्णु (को०) १८. अश्व, घोड़ा (को०)[४७]।

---

४३. विनय० ६१

४४. वही, ११७

४५. वही, ९२

४६. मानस १।१२६।५

४७. दे०पु० २७८४

विजयानंद त्रिपाठी जी[४८] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक[४९] महोदय ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है - "जलपक्षी अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं कर रहे हैं। श्यामसुन्दरदास के अनुसार - "जल में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं पक्षी करने लगे।[५०] बैजनाथ जी के मत से - पाणि कहे हाथ कैसे चंचल चलत यथा वायुवश पतंग आकाश में चलत।"[५१] रामेश्वर भट्ट जी ने इसका अर्थ सूर्याकार किया है।[५२] विनायकराव जी लिखते हैं कि - हाथों को अनेक प्रकार से गुड्डी की नाईं नचाती थीं।[५३]

श्रीकांतशरण जी कहते हैं कि बहुत तरह को पाणि-पतंग आदि क्रीड़ाएं कर रही हैं।"[५४] बाबूराम मिश्र जी अर्थ करते हैं कि अपने गुलाबी हाथों से बहुत तरह की क्रीड़ाएं करने लगी।[५५] अयोध्याशरणीदास जी इसका अर्थ करते हैं कि हाथ को पतंग की तरह भाव देता करके नाच नाचने लगीं।[५६] ग्राउस महोदय लिखते हैं कि (वे) स्वयं नृत्य में आमोद-प्रमोद करती हुई हाथ हिला रही थीं।[५७] व्यास-शैली के टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। श्रीरामचरणदास जी लिखते हैं कि - "पाणि कही हाथ के भावते पतंग नृत्य करती हैं........ किन्तु पतंग नाम तम्बूरा को ऐसो पाणि में लिहे बजावती हैं नृत्य क्रीड़ा करती हैं।"[५८] पं०ज्वाला-प्रसाद जी के अनुसार - "बहुत प्रकार से हाथ ऊंचा कर गेंद उछालती हुई नाचने लगीं, जिससे अंग दीखे अथवा पतंग नृत्य करती हैं, हाथों में गेंद उछालकर क्रीड़ा करती हैं।[५९] शंकरप्रसाद जी अपनी टीका में इसके इतने अर्थ दिये हैं - "पतंगा अरुन रंग (रा०प०) हेतु अरुनोदय काल के सब रंग सूर्य से औ पतंग नामो (रा०प०प०) सों बहु प्रकार करि गान करति हैं........ औ हाथ रूपी पतंग

---

४८. मानस० वि०टी०, प्र०भा०, पृ० २३५ ४९. प्र०सं०अ०भा०वि०पा०रि०(काशी) पृ० १४०

५०. मानस,पृ० १२६ ५१. रामा० बाल०,पृ० ३८३

५२. मानस ,टीका० रामनरेश त्रिपाठी,पृ० १०

५३. रामा० बाल० वि०टी०, पृ० २८८ ५४. मानस सि०ति०प्र०सं०,पृ० ४२४

५५. रामा०,पृ० १३२ ५६. मानस,पृ० १५०

५७. हिप्नोटिंग दे मसेल्व्स इन द हान्स विद वेविंग हैड्स, बरामा० आफ तुलसीदास, पृ० ६५.

५८. रामा०, पृ० २३१

५९. रामा० सं०टी०,पृ० १७२

को नचावति है अर्थात् जैसे पतंग उड़त है वा आगिन से जैसे पतंगा कहै चिनगारी शीघ्र निकसति तैसे हाथ सों भाव अति शीघ्र बतावति हैं वा कोउ उन कहत है कि पतंग नाम कंदुक का है ताकी क्रीड़ा कै कहै उछारति हैं।"[60] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि टीकाकारों ने इसके लगभग १० अर्थ किये हैं - पक्षी, पतंग, गुड्डी, पाणि पतंग क्रीड़ा, अरुन या गुलाबी रंग, हाथ हिलाना , पतंग नृत्य, तम्बूरा, हाथ रूपी पतंग, चिनगारी और कंदुक (गेंद)। कुछ लोग पतंग का अर्थ सूर्य करके यह अर्थ करते हैं कि सूर्य की ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं। ऐसा करके अपने अंगों को दिखाती हैं जिससे मन में विक्षेप हो।[61]

जल में पक्षी या जल पक्षी की क्रीड़ाओं से समाधिस्थ नारद जी पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? इससे उद्दीपन विभाव की कल्पना असंगत प्रतीत होती है। 'पतंग नृत्य' अर्थ करने से 'पानि' शब्द व्यर्थ हो जाता है। अरुनरंग, हाथ हिलाना, तम्बूरा, चिनगारी और हाथ रूपी पतंग को नचाना आदि अर्थ ऊट पटांग खींचतान और मनमाने हैं। अतः ये सभी अर्थ अग्राह्य हैं। सूर्य की ओर हाथ उठाकर कौन सी क्रीड़ा है। इस प्रकार के खेल का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त हुआ। 'पतंग' का 'गुड्डी' अर्थ भी अप्सराओं के प्रसंग में असंगत है। यह अर्थ साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रतिकूल है। "ग्रीक लोगों में चौथी पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में पतंग खिलौने के प्रचलन का अनुमान लगाया गया है। चीन में छठी शताब्दी में इसका प्रचलन हुआ माना जाता है और जहाँ से संभवतः सातवीं शताब्दी में इसका प्रचलन मुस्लिम देशों में हुआ। डा० पी०के० गोडे ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यों से उद्धरण देते हुए और कई विद्वानों के विचार प्रकट करते हुए अपना यह मत प्रस्तुत किया है कि भारत में खिलौने के रूप में पतंग (गुड्डी) उड़ाने का प्रचलन १५०० ई० के पश्चात् हुआ।"[62] उतने प्राचीन काल में पतंग (गुड्डी) अर्थ में इसका प्रयोग अनुचित लगता है। "वस्तुतः पतंग शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है उड़ते हुए अथवा बह

----

६०. रामा०परि०परिशिष्ट,पृ० ६८

६१. मा०पी०बाल०,खं० २,पृ० ५५२

६२. डा० केशवराम पाल,हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ परिवर्तन,पृ० ६१-६२

उछलते हुए जाने वाला (पतनुउत्प्लवन् गच्छतीति)। पक्षी, शलभ आदि उड़ने अथवा उछलनेवाले जीव होते हैं। सूर्य को भी प्राचीनकाल में आकाश में चलता हुआ माना जाता था। गेंद भी उछलती है। अत: संस्कृत में पक्षी, शलभ, सूर्य और गेंद आदि के लिए 'पतंग' शब्द प्रचलित हुआ। इनमें से 'पक्षी' अर्थ में 'पतंग' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है।[६३] हिन्दी साहित्य में कहीं भी गेंद अर्थ में इसका प्रयोग नहीं मिला। संस्कृत में भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं मिलता।

उक्त अर्धाली उस समय की है जिस समय नारद तपस्या में तल्लीन थे और इन्द्र अपने इन्द्रासन छीन लिए जाने के भय से तपस्या से विचलित करने के लिए अप्सराओं को भेजा था। भागवत में भी ठीक ऐसा ही एक प्रसंग मिलता है। एक बार राजा आग्नीध्र मंदराचल की एक घाटी में तपस्या में तल्लीन होकर श्री ब्रह्माजी की आराधना करने लगे। ब्रह्मा जी उनकी अभिलाषा जानकर अपनी सभा की गायिका पूर्वचित्ति नामक अप्सरा को उनके पास भेज दिया। राजा आग्नीध्र उसके काम कला को देखकर पागल की भाँति इस प्रकार कहने लगे.... प्रियवर।

यों ऽसौत्वया करसरोजहत: पतंगो

दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे।

मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं

कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम्॥[६४]

अर्थात् तुम जब अपने कर कमलों से थपकी मारकर इस गेंद को उछालते हो, जब वह दिशा-विदिशाओं में जाती हुई मेरे नेत्रों को तो चंचल कर ही देती है, साथ-साथ मेरे मन में भी खलबली पैदा कर देती है। तुम्हारा बाँका जटाजूट खुल गया है, तुम इसे सँभालते नहीं? अरे, यह धूर्त वायु कैसा दुष्ट है, जो बार बार तुम्हारे नीवी-वस्त्र को उड़ा देता है।

----

६३. वही।

६४. स्क० ५। अ० २। श्लोक १४।

भागवत में अन्यत्र भी ऐसे ही प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग गेंद अर्थ में हुआ है —

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतंगम् - मध्यं विषीदति बृहत्स्तन भारभीतं । शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखा समूहः ।[६५] अर्थात् सुन्दरि ! जब तुम उछलती हुई गेंद पर अपनी हथेली की थपकी मारती हो, तब तुम्हारा चरण कमल एक जगह नहीं ठहरता, तुम्हारा कटि प्रदेश स्थूल स्तनों के भार से थक सा जाता है और तुम्हारी निर्मल दृष्टि से भी थकावट झलकने लगती है।"

नवयौवना सुन्दरस्त्रियों अथवा अप्सराओं - नायिकाओं का कन्दुक-क्रीड़ा करना अनेक स्थलों पर भागवत में प्राप्त हुआ है —

" सा हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना -
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ।।[६६]

अर्थात् हे महाराज ! एकबार वह अपने महल की छत पर गेंद खेल रही थी गेंद के पीछे इधर-उधर दौड़ने के कारण उसके नेत्र चंचल हो रहे थे तथा पैरों के पायजेब मधुर झनकार करते जाते थे । उस समय इसे देखकर विश्वावसु गंधर्व मोहवश अचेत होकर अपने विमान से गिर पड़ा था ।" जब भगवान ने शंकर जी को मोहिनी रूप दिखाया गया था , उस प्रसंग में कंदुक-क्रीड़ा का उल्लेख लगभग ५ बार हुआ है ।[६७]

गोस्वामी जी ने कई प्रसंग-जैसे वर्षा और शरद के वर्णन (किष्किंधा-कांड) में भागवत का अनुसरण किया है । बहुत संभव है कि उक्त अर्धाली के पतंग शब्द को भी उन्होंने भागवत से ही ग्रहण किया हो क्योंकि उक्त उद्धरणों में मानस और भागवत का प्रसंग ज्यों का त्यों मिलता है । अतएव उक्त अर्धाली का

---

६५. भा० ३।२०।३६

६६. वही ३।२७।१७

६७. वही ८।१२

अर्थ होगा -- वे (नवयौवना अप्सराएं) बहुत प्रकार की तानों की तरंग के साथ गाने लगीं और हाथ में कन्दुक (गेंद) लेकर अनेक प्रकार के खेल खेलने लगीं ।

एक ही शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं प्रसंगानुसार यथास्थान उन अर्थों की संगति हुआ करती है । 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहां 'कन्दुक' अर्थ ही पूर्ण संगत और उचित एवं प्रासंगिक विदित होता है । भागवत के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि 'पाणि पतंग क्रीड़ा' से देवता एवं ऋषियों के मन मोहित हो गये थे ।

शुकदेवलाल जी[६८] पंजाबी जी[६९] गुरुसहायलाल जी, लाला भगवानदीन जी, मानसपीयूषकार[७०], रामश्याम जी,[७१] रामनरेश त्रिपाठी जी[७२] और पोद्दार जी[७३] आदि टीकाकारों ने भी 'पतंग' का अर्थ 'कन्दुक' (गेंद) ही किया है ।

सुधा --

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा । मुएँ करै का सुधा तड़ागा ।।[७४]

हिन्दी शब्द सागर में 'सुधा' शब्द के ये अर्थ दिये हैं - (१) अमृत, पीयूष, अमी, (२) मकरंद (३) गंगा (४) जल (५) दूध (६) रस, अर्क (७) मृद्विका, मरोड़ फली, (८) आंवला, आमलकी (९) हरें, हरीतकी (१०) सेहुंड़, थूहर, (११) सलिन, शालपर्णी, (१२) बिजली, (१३) पृथ्वी, (१४) विष, जहर हलाहल (१५) चून (१६) ईंट, इष्टका (१७) गिलोय । गुडूची (१८) रुद्र की स्त्री (१९) एक प्रकार का वृक्ष (२०) पुत्री (२१) वधू (२२) धाम, घर (२३) मधु, शहद ।[७५]

----

६८. रामा०, पृ० ८१

६९. 'अरु पतंग करिअे गेंदु तिन संग क्रीड़ा करतीआं विचरतीआं, मा०भा०,पृ०५ टी० पृ० २०२

७०. मा०पी०,बाल० खं० २, पृ० ५५२

७१. रामा०, बाल० पृ० ११३ ७२. मानस, पृ० १५१

७३. मानस,पृ० १५२

७४. मानस १।२६१ । २, ७५ - दे० पृ० ३५९०

७५. मा०पी० बाल० खं० ३,पृ० ५८३

मानस पीयूषकार ने उलझन से बचने के लिए अपने अर्थ में 'सुधा' शब्द को ही ज्यों का त्यों रख दिया है।[७६] संत उन्मनी टीकाकार ने सुधा के और भी अर्थ 'पर्यन्त' एवं 'गंगा' लिये हैं। वे लिखते हैं कि 'सुधा' मागधी भाषा में 'पर्यन्त' अर्थ का वाचक है अर्थात् थोड़े से जल की कौन कहे, तड़ाग भरा जल भी हो तो क्या ? वा सुधा गंगा, यथा -"सुधा गंगिष्टिकास्नुक्योर्मिवालेपाऽमृतेषु च" । अर्थात् गंगा या तालाब ही फिर किस काम का। प्रोफेसर लाला भगवान दीन जी कहते हैं कि 'सुधा' का अर्थ 'जल' लेने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है, दूसरे 'तड़ाग' शब्द में तो जल का बोध हो ही जाता है, 'सुधा' शब्द की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिये कि शंकर जी कहते हैं कि हे सुधा (पार्वती जी) ! मरने पर तालाब भर पानी क्या कर लेगा ? "सुधा" पार्वती जी का नाम है -- जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी ।

दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तुते ।।

श्रीरामबक्स पाण्डे जी, वीरकवि जी, पं० रामकुमार जी श्रीमान् गौड़ जी ने 'सुधा' का अर्थ अमृत ही किया है। पाण्डे जी लिखते हैं कि मुएको तालाब क्या करेगा, क्या अमृत का तालाब है जो जिला लेगा। वीरकवि जी कहते हैं कि अमृत का तालाब प्यास के दुःख से मरे हुए को जिला देगा, परन्तु प्यास के भीषण यंत्रणा से तड़प - तड़प कर जो उसके प्राण निकले हैं उस पीड़ा को नहीं भुला सकता।

श्रीमान् गौड़ जी लिखते हैं कि -" यहाँ सीता जी धनुष भंग की प्यासी हैं। इतनी छोटी बात के तुरंत न हो जाने से यदि अत्यंत अधीरता के कारण अमंगल हो जाय, तो पीछे धनुष भंग (साधारण जल तो क्या) सुधा तड़ाग (स्वयं सरकार) का उनके समक्ष मौजूद हो जाना भी क्या करेगा ? कोई पानी का प्यासा तो मर जाय पर उसके पास ही अमृत का तालाब भरा हो जो उसके शव तक स्वयं न पहुँच सके तो मुए को उस तड़ाग का होना मात्र क्या लाभ पहुँचायेगा ? जब सारी

----

७६. दे० मा०पी० बाल०,सं० ३,पृ० ४८३

ही खेती सूख ही गयी, निष्प्राण हो गयी तो पानी बरस के उसे हरा न कर सकेगा, क्योंकि पानी रगों में पहुँच न सकेगा । अवसर चूक जाने पर पछताना ही हाथ लगता है । यहाँ सरकार मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं 'प्रभु सब त्रिभुवन मारि जियाई ।' परन्तु इन्द्र के पूछने पर ही जिलाने की बड़ाई उसे दी जाती है । यहाँ अमंगल होने पर सुधा समुद्र भी कुछ नहीं कर सकता । 'सुधा समुद्र' भगवान के रूप को अन्यत्र भी कहा । (सुधा समुद्र समीप बिहाई । मृगजल निरखि मरहु कत धाई । २४६।५।। यहाँ अत्यन्तानुप्रास के लिये सुधातड़ाग कहा । इसमें कोई दोष नहीं ।'[७७]

श्री अवधबिहारीदास जी ने कुछ और के साथ गौड़ जी के ही मत का समर्थन किया है । श्रीकांतशरण जी[७८] और रायबहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथ-प्रसाद भानु[७९] ने भी अवधबिहारीदास जी के तर्क एवं भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है । भानु जी के कुछ भाव मानस पीयूषकार की टीका से उद्धृत किया हुआ लगता है । श्री अवधबिहारीदास जी लिखते हैं कि जानकी प्यासी हैं, श्रीरामजी के हाथों से धनुष टूटने की आशा प्यास है --

'आस पियास मनोमल हारी ।' धनुष टूटने का सुख जल है (यथा- 'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ') और श्रीराम जी अमृत का तड़ाग हैं ।' यह भाव गौड़ जी के भाव से साम्य रखता है । आगे वे कहते हैं कि -'अमृत का गुण जिलाने का नहीं है, अमरत्व करने का है, सुधा मार्गाख्य अमरता.......... ' देह से बाहर निकल गई हुई आत्मा को फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्मा को तैयार करके उस देह में प्रवेश करा देने का गुण या सामर्थ्य अमृत में नहीं है ।.... जिन्दा अमृत पान करने से शरीर में आत्मा अमर हो जाती है फिर शरीर में से नहीं निकलती है।........ यदि कहिये कि लंका में मरे हुए वानरों को इन्द्र ने अमृत की वर्षा करके जिलाया है उसका समाधान यों है कि यदि अमृत में जिलाने का गुण होता तो निशचरों पर भी अमृत की वर्षा हुई थी । निशचरों को भी जीना चाहिए था पर वे नहीं जीवित हुए । यदि कहिये कि फिर वानर भालु क्यों जीवित

---

७७. मा०पी०बालकांड ३,पृ० ४८४

७८. मानस,सि०सि०,प्र०खं०,पृ० ७१४

७९. तुलसीतत्व प्रकाश, पृ० ४६-५०

हुए ? तो वे श्रीराम जी की इच्छा से जीवित हुए थे (प्रमाण) "जिये सकल रघुपति की इच्छा" पुन: यदि कहिए कि श्रीराम जी ने इन्द्र से जिलाने को क्यों कहा है (उत्तर) इन्द्र को श्रीरामजी ने केवल बड़ाई दिया है (प्रमाण) "केवल सक्र कीन्ह बड़ाई नहीं तो प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई।" अत: इन्द्र और अमृत से वानर भालु नहीं जिये हैं। वे श्रीराम जी की इच्छा से जिये हैं। यह तो शब्दार्थ हुआ।.......
जो सुधा का अर्थ जल तड़ाग का करते हैं वह महा अयोग्य है, क्योंकि शब्द-विरोध, उपमा-विरोध, दोऊ विरोध उपस्थित हो जाते हैं।.... उपमा विरोध यह है कि जब सुधा तड़ागा का उपमेय करना पड़ेगा कि सुधा तड़ाग क्या है ? तब विरोध पड़ेगा। अत: यहाँ सुधा-तड़ाग का अर्थ जल-तड़ाग नहीं हो सकता।[80] शब्द विरोध दीन जी की ही भाँति माना है। ज्वालाप्रसाद जी[81], ग्राउस महोदय,[82] तुलसी-ग्रन्थावली के सम्पादक,[83] श्यामसुन्दरदास जी,[84] रामनरेश त्रिपाठी जी[85] और पोद्दार जी ने[86] "सुधा" का अर्थ "अमृत" ही किया है।

संत सिंह पंजाबी जी लिखते हैं कि - "सामान्य जल की इच्छा करता हुआ कोउ तृषावंत जो मर जाय तो पुन: सुधा सरोवर की प्राप्ति सों उसको क्या सिद्ध होता है। सुधा पद इहाँ अमृत का वाचिक नहीं लेना जाते अति दूषन आवता है ताते लक्षना कर अति निर्मल अरु मिष्ट जल का वाचक जानना: अथवा सुधानाम चूने का जो सिसु तृषित को पोखर का जल भी नहीं मिला अरु उसी मुए हुए को चूने गच तालाब सों डारिए तो क्या सिद्ध है सुधा लेपो मृतस्नुही इत्यमरा तृतीये काण्डे नानार्थ वर्गे टीका दारूपियेनदेव गृहादिकं लिप्यते लेप चूर्ण सुधा तैसे तृषावंत। सीता जो तिसने जीवते पोखर जलवत बाप का उठावना न किया मृत्यु भये पीछे

---

८०. मानस,पृ० २७९-८०

८१. रामा०,पृ० ३१०

८२. इफ ए मैन डाईड आव् थर्स्ट फार वांट आव् वाटर ह्वेन ही इज वन्स डेड, आव् ह्वाट यूज टु हिम इज ए लेक आव नेक्टर ? - द रामा आव् तुलसीदास, पृ०१२७

८३. प्र०सं०,का०भा०वि०परि०काशी,पृ० २५६

८४. मानस, पृ० २५१

८५. ,, पृ० २८७

८६. ,, पृ० २४८

धनुष को तोड़ दिया तो उसके किस काम का । टिप्पणी-मुये को सुधाका तड़ाग अर्थात् जल का तालाब क्या करेगा या कहनेवाला कहता है कि मुये को तालाब क्या करेगा क्या अमृत का तालाब है या यह कि जो मर गया तो मुर्दे पर जल के तलाब को क्या करेगा ।[८७]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने 'सुधा' के लगभग ६ अर्थ किये हैं -- पर्यन्त, गंगा, पार्वती, चूना अमृत और मिष्ट जल । पर्यन्त, गंगा और चूना अर्थ बिल्कुल अश्लील है । सुधा का अर्थ पार्वती भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगे के अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभुपुलके लखि प्रीति बिसेषी ।।[८८] से ये भी राम जी के हृदय के विचार लगते हैं ।

यहाँ पर सुधा का अर्थ विचारणीय है । 'सुधा' का अमृत अर्थ कवि के विचारों के प्रतिकूल है, क्योंकि काण्ड सोपान में गोस्वामी जी ने कहा है कि --

सुधा बरषि कपि भालु जियाए । हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए ।।[८९]

तात्पर्य यह कि अमृत का गुण मृतक को जिलाना है । फिर वे यह कैसे कह सकते हैं कि मरने के बाद अमृत का तालाब किस काम का । दीन जी भी अवधविहारीदास जी और भानु जी आदि का यह कथन कि 'सुधा' का जल अर्थ लेने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है और 'तड़ाग' शब्द में ही जल का बोध हो ही जाता है । संगत नहीं प्रतीत होता । क्योंकि उक्त अर्धाली में दो वाक्य हैं । अत: प्रत्येक में वारि-सुधा प्रयोग हो सकता है । पुन: 'तड़ाग' बिना जल का भी होता है । गर्मियों में तालाबों के जल प्राय: सूख जाते हैं, फिर भी लोग उसे 'तड़ाग' (ताल) कहते हैं । गोस्वामी जी ने भी बिना जल की नदी कहा है - 'नदी बिनु बारी'[९०] अत: यहाँ पर पुनरुक्तिदोष की कल्पना निरर्थक है ।

श्रीकांतशरण जी और अवधविहारीदास जी का कथन कि बाहर निकल गई हुई आत्मा को फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्मा को तैयार करके उस देह में प्रवेश करा देने की सामर्थ्य अमृत में नहीं है....... यदि अमृत में जिलाने का

---

८७. मा०मा०,प्र०मा०, पृ० ३४४ ८८. मानस १।२३१।४

८९. वही ६।११४।५

९०. वही २।६५।७

गुण होता तो निशचरों को भी जीना चाहिए था ।" किन्तु उक्त कथन तर्क संगत नहीं प्रतीत होता । अमृत का स्वाभाविक गुण है जिलाना । रघुवंश में राजा अज का कथन है --

> मृता जीवन्ति पीयूषेण न तु मोक्षगताः क्वचित् ।।क
> स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
> विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।।६१।

अर्थात् मरे हुए अमृत से जीवित हो जाते हैं पर मोक्ष पाये हुए नहीं जीवित होते । राजा अज कह रहे हैं कि यह माला यदि प्राण हारक है तो मैं अपने हृदय पर धारण करता हूँ तो मेरे प्राण क्यों नहीं लेती । कभी-कभी विष भी अमृत की तरह से आचरण करता है और कभी अमृत विष की तरह, ईश्वर की इच्छा से ही ऐसा होता है । बिना मुक्त हुए आत्मा अमृत से पुन: आ सकती है जैसा कि रघुवंश के उदाहरण से स्पष्ट है । यह सुनिश्चित है कि जल के बिना तड़प-तड़पकर मृत व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता । अत: वह अमृत से जी सकता है । गोस्वामी जी ने भी कहा है --

> सुधा वृष्टि भै दुहुँ दल ऊपर । जिए भालु कपि नहिं रजनीचर ।।
> रामाकार भए तिन्ह के मन । मुक्त भए छूटे भव बंधन ।।६२

यदि रजनीचर "रामाकार" और "मुक्त" न हुए होते तो वे भी सुधा-वृष्टि से जीवित हो जाते । अत: यह कहना कि "सुधा" मृतक को नहीं जिला सकता, असंगत है । भालु-कपि सब देवांश थे । देवता लोग मोक्ष नहीं चाहते वे सगुणोपासक हैं -- सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं, सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्ष सुख त्यागि ।।६३

अत: स्पष्ट है कि भालु कपि मुक्त नहीं हुए थे इसीकारण वे अमृत-वृष्टि से जीवित हो गये । अतएव उक्त अर्धाली में आए हुए "सुधा" शब्द का अर्थ जल ही होगा - "प्यासे ने यदि जल के बिना शरीर त्याग दिया तो मर जाने पर जल का ताल ही (मिल जाय तो) क्या करेगा ? (क्या लाभ) ।"

----

६१. रघुवंश ८/४६, मा०पी०लं०का० पृ० ५८०

६२. मानस ६।११४।५-६

६३. वही ४।२६

हिन्दी शब्दसागर आदि हिन्दी कोशों के अतिरिक्त संस्कृत कोशों में 'सुधा' का एक अर्थ 'जल' दिया हुआ है।[९४] प्रकरण नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी 'सुधा' का अर्थ जल ही होगा। उक्त अर्धाली सीता जी के पक्ष की है और आगे स्वयं कवि ने सीता जी के लिए लिखा है कि -

'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती ।।[९५]

अतः स्पष्ट है कि उसके पूर्व कवि ने सीता के पक्ष में 'जल' शब्द का प्रयोग किया है। प्रज्ञानंद स्वामी ने भी 'जल' ही अर्थ स्वीकार किया है। श्रीरामवत्स पाण्डे ने भी मुख्यार्थ 'जल का तालाब' किया है।[९६] श्रीरुचि जी ने अर्थ में तो 'अमृत का तालाब' ही लिखा है पर टिप्पणी में लिखा है कि - "सुधा अमृत और जल दोनों को कहते हैं, यह सुधा शब्द से जल का ग्रहण है अमृत का नहीं है क्योंकि बिना जल के प्राण त्यागे हुए को सुधा तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है? वारि के संयोग से 'सुधा' शब्द में एक मात्र जल की अभिधा है।[९७] इनके अतिरिक्त श्रीरामचरणदास[९८] हरिप्रसाद जी,[९९] बैजनाथ जी,[१००] शुकदेवलाल जी,[१०१] विनायकराव जी,[१०२] रामेश्वर भट्ट जी[१०३] और विजयानंद त्रिपाठी जी[१०४] आदि टीकाकारों में 'सुधा' का अर्थ जल ही लिखा है।

गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी 'अमी' शब्द का प्रयोग जल अर्थ में किया है -

अरघ देइ मनि आसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अँचवायउ ।।[१०५]

---

९४. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ११९५   ९५. मानस १।२६३।६

९६. मा०पी०बाल०खं०३,पृ०४८४   ९७. मानस,पृ० ३०६-३०७

९८. रामा०,पृ० ३६०   ९९. रामा० परि०परिशिष्ट,पृ०पृ०१८०

१००. वही,बाल०,पृ० ६२१   १०१. वही,पृ० १५६

१०२. वि०टी०पृ० २४६

१०३. मानस,पृ० २७०

१०४. वि०टी०,पृ०भा०, पृ० ४३७-३८

१०५. पा०म० १३५।

यहाँ पर भी अयोध्याप्रसाद और रामनकौरी जी,[१०६] तुलसीग्रन्थावली के संपादक महोदय[१०७] और रामनारायण वाली प्रति में[१०८] इसका अर्थ अमृत दिया है। किन्तु लाला भगवानदीन जी,[१०९] सद्गुरुशरण अवस्थी जी[११०] और अच्युतानंद जी[१११] 'अमी' का अर्थ 'जल' ही किया है। संस्कृत-हिन्दी कोश में अमृत का अर्थ जल दिया है - अमृतान्यातजीमूत ,[११२] ब्राह्मणलोग भोजन के पूर्व और अंत में आचमन करते हुए यह मंत्र पढ़ते हैं - अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा, अमृतापिधानमसि स्वाहा ।।[११३] इस में आये हुए 'अमृत' शब्द का अर्थ 'जल' है। यद्यपि 'सुधा' और 'अमृत' का प्रसिद्धार्थ अमृत या पीयूष ही है, किन्तु गोस्वामी जी ने 'जल' अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। पार्वती मंगल के उक्त पंक्ति में भी आये हुए 'अमी' का अर्थ जल ही है।

<u>हरि</u> :

हरिहि हरित रामकुमार जौहै। रमा समेत रमापति मोहै।।[११४]

हिन्दी शब्दसागर में 'हरि' शब्द के ये अर्थ दिये हैं — (१) विष्णु, २. इन्द्र, ३. घोड़ा, ४. बंदर, ५. सिंह, ६. सिंह राशि, ७. सूर्य, ८. किरन , ९. चन्द्रमा, १०. गीदड़, ११. शुक, सुआ, तोता (१२) मोर, मयूर, १३. कोकिल, कोयल, १४. हंस, १५. मेढ़क, मंडूक, १६. सर्प, साँप, १७. अग्नि, १८. वायु, १९. विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण, २०. श्रीराम, २१. शिव, २२. यम, २३. शुक्र, २४. गरुड़ के एक पुत्र का नाम, २५. एक पर्वत का नाम, २६. एक वर्ष या भूभाग का नाम, २७. अठारह वर्णों का एक छंद या वृत्त, २८. बौद्ध शास्त्रों में एक बड़ी संख्या का नाम।[११५]

----

१०६. पा०मं०, पृ० ४२
१०७. दि०सं० अ०भा०वि०प०रि०पृ०३४
१०८. पा०मं०,पृ० ३१
१०९. तुलसी पंचरत्न,पृ० ११
११०. तुलसी के चार दल,पृ० १४४-४५
१११. पा०मं०,पृ० ३८
११२. उत्तररामचरित ६।२१
११३. दे०संस्कृत हिन्दी कोश,आप्टे,पृ०८५
११४. मानस १।३१७।३
११५. दे०पृ० ३७८४

टीकाकार जी 'हरि' का अर्थ कामदेव करते हुए कहते हैं कि - 'जब रामचन्द्र जी ने निज कान्ति 'हरि' (कामदेव) को उनके पुरनारियों ने अवलोकन किया तो रमा रमेश मोहित हो गये। काम को अवलोकना शृंगार रस को धारण करना जानना चाहिये।[116] श्रीरामचरणदास,[117] हरिहरप्रसाद जी,[118] बैजनाथ जी[119] महावीरप्रसाद जी[120] ग्राउस महोदय,[121] श्यामसुन्दरदास जी,[122] विजयानन्द त्रिपाठी जी,[123] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय,[124] रामचन्द्र पाण्डेय जी, रामनरेश त्रिपाठी जी,[124क] पोद्दार जी,[125] श्रीकान्तशरण जी,[126] पं० रामकुमारदास जी और प्रोफेसर रामदास गौड़ जी,[128] आदि अधिकांश टीकाकारों ने 'हरि' का अर्थ विष्णु ही किया है।

तुलसी-साहित्य में 'हरि' शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर विष्णु भगवान है किन्तु मानस के चतुर्थ सोपान में 'हरि' का अर्थ बंदर है -

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।।[129]

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से जहाँ जो अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, वहाँ वही ग्राह्य होता है। 'प्रकरण' से यहाँ 'हरि' का अर्थ घोड़ा है। श्रीकान्तशरण जी आदि कतिपय टीकाकार 'हरि' विष्णु अर्थ के सम्बन्ध में ये तर्क प्रस्तुत करते हैं - 'इसमें कोई-कोई 'हरि' का अर्थ घोड़ा करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि शंकर, विधि, सुरेश एवं देवगणों को घोड़े सहित देखना न कहकर रामरूप ही देखना कहा गया है - 'रामरूप अनुरागे' निरखि रामछवि' 'रामहिं चितव,' 'रामहिं देखा' इत्यादि वाक्य इसी प्रसंग में कहे गये हैं, तो विष्णु भगवान पर क्या केवल रामरूप का असर नहीं पड़ा कि उन्हें

----

११६. मा०पी०,बा०खं० ३, पृ० ७३४
११७. रा०मा०,पृ० ४४३
११८. ,, परि०परि०शिष्ट ०पृ०पृ० २१३
११९. पृ० ६६६
१२०. सं०टी०,पृ० ३५१
१२१. द रामा० आव तुलसीदास,पृ० १५२
१२२. मानस,पृ० ३०२
१२३. वि०टी०पृ०भा०पृ० ५२३
१२४. प्र०सं०क०न०सि०परि०काशी,पृ० ३०८
१२४क. मानस पृ० ३४३
१२५. वही, पृ० २६१
१२६. सि०ति०पृ०सं०पृ० ८१४
१२८. मा०पी०बाल०खं० ३,पृ० ७३४
१२९. मानस० ४।१२।७

घोड़े-शक्ति देखने पर मोह हुआ ? इस अर्थ में राम छवि का अपकर्ष है।"[130]
किन्तु ये तर्क बहुत संगत नहीं हैं। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र और देव समाज की उनकी पत्नियाँ शक्ति देखने को न कहकर केवल रमापति को ही रमासमेत क्यों कहा गया। उमा जी और अन्य देवताओं की स्त्रियाँ भी तो साथ में थीं। फिर ब्रह्मा जी की स्त्री 'शारदा' जी तो उस घोड़े की छवि का वर्णन करने में असमर्थ थीं - जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा।।[131] यदि कवि केवल एक ही अंग का वर्णन करे तो उसकी विशिष्टता क्या होगी ? कवि की दृष्टि केवल: नहीं अपितु समग्रत: होनी चाहिए। अत: घोड़े-शक्ति राम के वर्णन से राम-छवि का अपकर्ष नहीं, उत्कर्ष होता है। ऐसा भी कहा जा सकता है। व्याख्येय पंक्ति के ऊपर की पंक्तियों में कवि ने घोड़े की छवि का चमत्कार वर्णन किया है। विष्णु भगवान को अपने वाहन गरुड़ पर गर्व था। वे समझते थे कि हमारे गरुड़ के समान किसी देवता का वाहन नहीं है किन्तु उनका वाहन गरुड़ अभी ऊपर की पंक्तियों में लज्जित हो चुका है -

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे।।[132]

इसी कारण जब विष्णु भगवान ने श्रीराम जी को घोड़े समेत देखा जो गरुड़ से करोड़ों गुणा वेग चलनादि से युक्त था, तब वे मोहित हुए। राम जी दूल्हा रूप में बंधु समेत घोड़े पर सवार होकर श्री जनक द्वार पर जा रहे हैं। अत: यहाँ पर 'घोड़े शक्ति' अर्थ अप्रासंगिक नहीं है। राम की रम्यता पर केवल: कवि ने बल देते हुए सबको अपने में रमाने वाली रमा और उनके पतिको विमुग्ध चित्रित किया है इस अर्थ से विष्णु भगवान की पुनरुक्ति का भी परिहार हो जाता है। उपर्युक्त हिन्दी शब्दसागर और संस्कृत हिन्दी कोश में[133] भी 'हरि' का एक अर्थ घोड़ा भी दिया है। अर्थकार का 'हरि' का अर्थ 'कामदेव' नहीं हो सकता, क्योंकि अभी कवि ने घोड़े के लिए 'काम' की उत्प्रेक्षा की है।

----

१३०. मानस सि०ति०पु०सं०पृ० ८१५

१३१. मानस १।३१७।१

१३२. वही १।३१६।७

१३३. आप्टे,पृ० ११६६

बीरकवि जी ने 'हरिहित सहित' का अर्थ भले घोड़े के सहित किया है किन्तु यह संगत नहीं है। हित शब्द का प्रयोग 'प्रेम' के अर्थ में गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है--

जो कछु रामु लखन बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥[१३४]

अतः यहाँ पर 'हित' का अर्थ 'प्रेम' ही होगा। रामेश्वर भट्ट जी ने अर्थ किया है -- 'जब प्रेम से श्रीरामचन्द्रजी को और घोड़े को देखा तब लक्ष्मी समेत विष्णु मोहित हो गये।'[१३५] किन्तु यहाँ पर 'घोड़े सहित प्रेम पूर्वक राम को देखा' अर्थ ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। विनायक राव जी का अर्थ तो उपयुक्त है, किंतु उन्होंने 'रमा समेत' का अर्थ नहीं किया है - 'लक्ष्मीपति विष्णु जी ने जब घोड़े समेत रामचन्द्र जी के रूप को प्रेम से देखा तो मोहित हुए (भाव यह कि हमारे ही रूपांतर रामचन्द्र जी की इस समय घोड़े पर कैसी अनुपम छटा है।'[१३६] बाबू श्यामलाल जी का अर्थ तो ठीक है किन्तु 'हरिहित सहित' का अर्थ 'योग्य घोड़ा' कुछ खटकता है।[१३७] श्री अवध-बिहारीदास जी का अर्थ बिलकुल असंगत है - 'श्रीराम जी ने जब प्रेम के सहित घोड़ों चढ़े को देखा अर्थात् चलाया तब श्रीरामजी की ऐसी शोभा बढ़ी कि लक्ष्मी के सहित जो विष्णु हैं सो मोहित हो गये।'[१३८] इस अर्थ को स्वीकार करने में 'तब श्रीरामजी ऐसी शोभा बढ़ी कि' वाक्य अलग से जोड़ना पड़ता है। मानस पीयूषकार ने तो 'हरि' का अर्थ 'विष्णु भगवान' और 'घोड़ा' दोनों करके विलक्षण समन्वय कर दिया है - 'विष्णु भगवान ने जब श्रीराम जी को प्रेम सहित एवं घोड़े सहित देखा तो लक्ष्मीपति भगवान विष्णु (मूर्तिमान् रमणीयता के पति) लक्ष्मी सहित मोहित हो गये।'[१३९]

---

१३४. मानस० २।१४२।७

१३५. ,, पृ० ३२२

१३६. वि०टी०, पृ० २३८

१३७. बालकांड का नया जन्म, पृ० १७१

१३८. मानस, पृ० ३३१

१३९. मा०पी०बाल०खं० ३, पृ० ७३३

श्रीकान्तशरण जी[१४०] और गौड़ जी[१४१] पुनरुक्ति दोष का परिहार करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं - 'हरि और रमापति' में पुनरुक्ति नहीं है। 'राम' 'रमापति' 'रमा' साभिप्राय है और 'हरि' की ठीक अभिधा का परिचायक है। रमा - रमणीयता की मूर्ति लक्ष्मी। रमापति-रमणीयता की मूर्ति के पति। इस तरह 'रमापति' 'हरि' का विशेषण है।' किन्तु यह अर्थ बलपूर्वक किया गया लगता है। 'रमापति' का अर्थ रमणीयता के पति परम रम्यरूप - विष्णुभगवान' कहीं नहीं बल्कि सर्वत्र होता है। अतएव इस अर्थ से 'पुनरुक्ति-दोष' का निराकरण नहीं होता। अतः यहाँ पर उपर्युक्त अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतिव्याप्ति मिटाने के लिए भी 'रमापति' का प्रयोग भी संगत नहीं लगता यह भी क्लिष्ट कल्पना है। इस तरह के सभी अर्थों में अन्वय की अस्वाभाविकता प्रतीत होती है क्योंकि विष्णु शब्द बीच में आ जाने पर हरि उक्ति की स्वाभाविकता को शिथिल कर देता है। किन्तु हरि शब्द का विष्णु अर्थ मानने पर यह अन्वय गत कठिनाई दूर हो जाती है। पुनरुक्ति की समस्या अवश्य कठिनाई उपस्थित करने लगती है किन्तु ऐसे प्रयोग मानस में अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं यहाँ शब्द गत पुनरुक्ति भी नहीं है क्योंकि हरि शब्द पुनः नहीं आता। और समानार्थी शब्द के कारण पुनरुक्ति उतनी आपत्तिजनक नहीं कही जा सकती। इस प्रकार दोनों ही अर्थ ग्राह्य कहे जा सकते हैं।

कूट

कमठपीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाज महुँ सिवधनु तोरा।।[१४२]

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में 'कूट' शब्द के ये अर्थ दिये हैं -

१. पहाड़ की ऊँची चोटी, जैसे हेमकूट। २. सींग, ३. (अनाजआदि की) ऊँची और बड़ी राशि, ढेरी, जैसे अन्नकूट। ४. छल, धोखा, फरेब, ५. मिथ्या, ६. गूढ़भेद, रहस्य, ७. वह जिसका अर्थ जल्दी न प्रकट हो जैसे सूर का कूट-पहेली

---

१४०. मानस, सि०ति०,प्र०सं०,पृ० ८१५

१४१. मा०पी०बाल० सं० ३,पृ० ७३४

१४२. मानस १।३५७।४

८. वह हास्य या व्यंग्य जिसका अर्थ गूढ़ हो ।[१४३] आप्टे संस्कृत-हिन्दी-कोश में इथौड़ा ,घन और हल की फाली आदि का अर्थ भी दिये हैं ।[१४४]

रामनरेश त्रिपाठी जी लिखते हैं'कूट' शब्द प्राय: पर्वत के अर्थ में आता है पर यहाँ लोह के अर्थ में आया जान पड़ता है आप्टे ने'कूट' का अर्थ ए हैमर', एन आयरन मैटल भी किया है । इसप्रकार उन्होंने'कूट' का अर्थ लोहा' किया है ।[१४५] श्रीरामचरणदास जीनेपुनरुक्ति की चिंता न करते कुछ पाठ ही परिवर्तित कर दिया है - कमठ पीठ पवि कठिन कठोरा ।'[१४६] रामेश्वर भट्ट जी[१४७] विनायक-राव जी,[१४८] श्यामसुन्दरदास जी,[१४९] और ग्राउस महोदय [१५०] ने 'कूट' शब्द का अर्थ ही छोड़ दिया है । रामनरेश त्रिपाठी जी की भाँति वीरकवि जी ने कूट का अर्थ लोह दाह'[१५१] विजयानंद त्रिपाठी जी ने निहाई[१५२] और संतसिंह पंजाबी ने लोह'[१५३] अर्थ किया है । बाबू श्यामलाल[१५४] और बैजनाथ जी[१५५] ने 'वज्र-शिला' अर्थ किया है । हरिहरप्रसाद जी[१५६] और श्रीकांतशरण जी[१५७] ने वज्र-समूह अर्थ किया है ।

किन्तु यहाँ पर उक्त सभी अर्थ अग्राह्य हैं क्योंकि गीतावली के इस पंक्ति-'घन पिनाक,पवि मेरु तें गुरुता कठिनाई ।[१५८] से'कूट' का अर्थ यहाँ'पर्वत' ही सिद्ध होता है ।'सामर्थ्य' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ कच्छप भगवान की पीठ और वज्र के समकक्ष'पर्वत' की ही संगति उपयुक्त प्रतीति होती है । क्योंकि 'पर्वत' गुरुता और काठिन्य की दृष्टि से'लोह' से गुरुतर और कठिनतर है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा-'कच्छप भगवान की पीठ, वज्र और पर्वत से भी कठोर शिवधनुष को तुमने तोड़ दिया ।'

१४३.दे० पृ० २१६ — १४४. दे०पृ० २६१

१४५. मानस,पृ० ३६२ — १४६. रामा०1, पृ० ४६२

१४७. मानस,पृ० ३६७ — १४८. वि०टी०,पृ० ३११

१४९. मानस,पृ० ३४४ — १५०. इन द एसेम्बली आव् प्रिंसिज यू ब्रोक शिवाज बो-ओर्फार्ड टार्टस-शेल आर ए थन्डरबोल्ट, द० रामा० आव तुलसीदास,पृ० १७४

१५१. मानस, पृ० ४२५ — १५२. वि०टी०पृ०भा०,पृ० ५६०

१५३. मा०भा०,पृ० ४४३ — १५४. बालकांड का नया जन्म,पृ० २११,१५५. रामा०,पृ०७५८

१५६. रा०परि०परि०पृ०,पृ०२३७ . १५७. मानस सि०ति०पृ०सं०,पृ०८८०

१५८ गीता०१।१०।१३

हनुमानप्रसाद पोद्दार,[१५६] महाभिक्षारीदास जी,[१६०] तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय,[१६१] और मानस पीयूषकार ने[१६२] 'कूट' का अर्थ पर्वत ही किया है। शुकदेवलाल जी ने वज्र के पर्वत अर्थ किया है।[१६३] समझ में नहीं आता वज्र का पर्वत क्या है? वज्र के पर्वत का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अत: यह अर्थ बिल्कुल अग्राह्य है।

सेष-सयन

गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने, जाने सेष-सयन ।।[१६४]

'सेष सयन' अनेकार्थी शब्द है। 'सेष' का अर्थ है -- (सं० शेष) १. बाकी, शेष, २. सर्पराज, ३. थोड़ा, न्यून। 'सेष' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने 'बाकी' और शेषनाग दोनों अर्थों में किया है -- 'बाकी' अर्थ में --

सप्त सप्त तजि सेष-को, राखे सब मिलगान ।।[१६५]

सर्पराज अर्थ में --

शेष सर्वेश आसीन आनंदवन, प्रणत-तुलसीदास त्रासहारी ।।[१६६]

जिन के विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत ।।[१६७]

'सयन' के कई अर्थ हैं -- १. सोने वाला, २. सोना, शयन, ३. शय्या। यह 'सयन' सं० शयन से विकसित है। इस अर्थ में भी गोस्वामी जी ने 'सयन' शब्द का प्रयोग किया है --

करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन।[१६८]

---

१५६. मानस०, पृ० ३२६

१६०. मानस, पृ० ३७४

१६१. पृ०सं०, ना०प्रा०वि०प्रा०काशी, पृ० ३५१

१६२. मा०पी०, बा०सं०३, पृ० ८६१

१६३. रामा०, पृ० २१०

१६४. गीताप्रेस, गीता० ५१

१६५. रामाज्ञा० आरंभिक दोहा

१६६. विनय० ११

१६७. वैराग्य ३४।

१६८. दे० तुलसीशब्द०, पृ०४४ और मानस १।१।सो० ३

सयन किये देखा कपि तेही । मंदिर महु न दीखि बैदेही ।[१६९]

'संस्कृत 'संज्ञपन' से विकसित 'सयन' का अर्थ है - इशारा, संकेत । इस अर्थ में भी गोस्वामी जी ने सयन शब्द का प्रयोग किया है -

सयनहि रघुपति लखनु नेवारे । प्रेम समेत निकट बैठारे ।।[१७०]

सैनहिं कह्यौ चलहु सजि सैन ।।[१७१]

सभा के संस्करण में 'जानें' शब्द नहीं है । यहाँ पर 'जानें' शब्द अनुपस्थिति से उपयुक्त अर्थानुसंगति नहीं होती । क्योंकि बातें दशरथ जी से हो रही हैं, इस बीच में उन्हीं का हर्षित होना संगत है, न कि शेषशायी रामजी का । हर्ष के उपरांत दिया हुआ दान ही सात्विक दान है । दशरथ जी ने इसी प्रसंग में मानस में भी हर्ष समेत दान देने को कहा है -

मांगहु भूमि धेनु धन कोसा । सर्बस देउँ आजु सहरोसा ।।[१७२]

अतः 'किय हरषाने जाने सेष सयन' पाठ ही तर्कसंगत है । इसीकारण मैंने यहाँ पर गीता प्रेस का पाठ स्वीकार किया है । अन्य आधुनिक संस्करणों में लगभग यही पाठ है । अनेकार्थी शब्दों के कारण बैजनाथ जी ने भ्रामक अर्थ किया है । उन्होंने शेष का अर्थ 'बाकी' और 'सैन' के अर्थ से प्रकट होता है कि इसका अर्थ संकेत किया है । उनके अनुसार - 'वशिष्ठ समुझायो कि विश्वामित्र द्वारा विवाह होनहार यज्ञ की रक्षा इनहीं करि होंइ अरु इनकों मनुष्य न मानिये जो द्विज सुर साधु के रक्षक हैं इतनी बात प्रकट कहे साकेत विहारी परात्पर रूप को प्रसिद्ध नहीं कहे यह शेष कहे बाकी राखे ताको सैन बुझाइ समुझाइ दिये तब जानि रघुनाथ जी के ये रूप पर रूप हैं ताते हरषानि हृदय में ।'[१७३] हरिहरप्रसाद जी ने इस पंक्ति का अर्थ सरल जानकर छोड़ दिया है ।

---

१६९. मानस, १।१।सो० ५।५।७

१७०. मानस १।२५४।४

१७१. गीता० ५।२१

१७२. मानस १।२०८।३

१७३. गीता०,पृ० ११८-१९ ।

ठाकुर बिहारीलाल जी,[१७४] मुनिलाल जी,[१७५] श्रीकांतशरण जी,[१७६] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[१७७] ने 'शेष - शयन' का अर्थ शेषशायी भगवान विष्णु ही किया है। 'साहचर्य' अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ यही अर्थ होगा। क्योंकि शेषनाग जी और भगवान विष्णु का साहचर्य देखा गया है। श्रीमन्नारायण को शेषशायी कहा जाता है, ऐसा प्रसिद्ध है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'जब गुरु वशिष्ठ जी ने (राम की महिमा) दशरथ जी को समझा-कर बताया, तब वे प्रसन्न हुए और समझ गये कि ये राम ही शेषशायी श्रीमन्नारायण हैं।' गोस्वामी जी यह मानते हैं कि क्षीर-समुद्र शेषशायी श्रीमन्नारायण और शेष जी ही श्रीराम और श्री लक्ष्मणरूप में अवतार लिये हैं -

पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।।[१७८]

<u>सिखी सी</u>

कबहुँ समुझि वनगवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी।।[१७९]

'सिखी' शब्द के अनेक अर्थ हैं - सीखी हुई, संस्कृत-शिखिन् से विकसित 'सिखी' का अर्थ है - मोर, आग।[१८०] मुर्गा, बैल, साँड़, घोड़ा, केतु, बाण, तीर आदि।[१८१]

तुलसीग्रन्थावली के संपादक महोदय 'सिखी' का अर्थ बाण करते हुए लिखते हैं - 'तुलसीदास कहते हैं कि उस समय की (उनकी प्रीति) का वर्णन करने से तो वह प्रीति ऐसी कसक उत्पन्न करती है जैसे किसी ने (हृदय में) बाण खींच मारा हो।'[१८२]

----

१७४. विनय०, पृ० ६६ — १७५. पृ० ८१ (वही)

१७६. वही, सि०ति०, पृ० १६८

१७७. डि० तैह, अ०भा० वि० परि० काशी, पृ० ३५४ ।

१७८. मानस २।१३८।५ — १७९. गीता० २।५२।४

१८०. तुलसी शब्दसागर, पृ० ४५६ — १८१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६२४ ।

१८२. वि०वे० अ०भा०वि०परि० काशी, पृ० ४२६ ।

किन्तु यहाँ पर यह अर्थ संगत नहीं लगता । गोस्वामी जी ने 'सिली' शब्द का प्रयोग 'सीखी हुई' अर्थ में अन्यत्र किया है -

रामहि चितवत चित्र-लिखे से । सकुचत बोलत बचन सिखे-से ।।[१८३]

कै ये नई सिखी सिखई हरि निज अनुराग बिहाई ।।[१८४]

स्मरणीय है कि प्रथम उदाहरण में यदि 'चित्र-लिखे' और 'सिखे से' है तो उक्त पंक्ति में 'चित्र लिखी सी' और 'सिखी सी' है । यह शब्दसाम्य आश्चर्यजनक है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा-

'फिर तत्काल ज्यों ही (कौशल्या जी को) रामके वन गमन का स्मरण होता है त्यों ही विस्मित (भौंचकी) होकर चित्र में बनी हुई सी स्तब्ध रह जाती है । तुलसीदास कहते हैं कि उस समय का वर्णन करने से तो प्रीति सीखी हुई-सी प्रतीत होती है (क्योंकि वास्तविक प्रीति की उपस्थिति में उसका वर्णन ही असंभव)' श्रीकांतशरण जी,[१८५] मुनिलाल जी[१८६] बैजनाथ जी,[१८८] ठाकुरबिहारीलाल जी,[१८९] और हरिहरप्रसाद जी[१९०] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है । 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है ।

सगुन -

सीता लखनु समेत प्रभु, सोहत तुलसीदास ।
हरषत सुर, बरषत सुमन सगुन सुमंगल बास ।।[१९१]

'सगुन शब्द' भी अनेकार्थी है । संस्कृत 'सगुण' से विकसित 'सगुन' का अर्थ है - परमात्मा का वह रूप जो सत, रज, तम आदि गुणों से युक्त रहता है । अवतार

----

१८३. मानस २।३०२।३
१८४. श्रीकृष्णा० ४१
१८५. विनय० सि०ति०,पृ० ५०६
१८६. गीता०,पृ० ५२
१८८. गीता०पृ० २९०
१८९. गीता० पृ० १७३
१९०. श्यो०, पृ० ३५
१९१. दोहा० २ ।

अवतार लेने पर या साकार होने पर भगवान 'सगुण' कहे जाते हैं। यह रूप निर्गुण का उल्टा है।

संस्कृत 'शकुन' से विकसित 'सगुन' का अर्थ है — शकुन, शुभ लक्षण, शुभ।[१६२] उक्त दोहे के 'सगुन' शब्द का अर्थ पं० कालीप्रसाद जी[१६३] और पोद्दार जी ने[१६४] सगुण रूप किया है। किन्तु यहाँ पर 'सगुण' अर्थ असंगत है, क्योंकि यह दोहा रामाज्ञा ३।१।७ का है। यहाँ के प्रसंगानुसार खर-दूषणादि पर विजय प्राप्त करके लक्ष्मण सहित श्री सीताराम विराजमान हुए हैं, उसी समय का यह ध्यान है। रामाज्ञा प्रश्न में इस शकुन को सुमंगल का स्थान कहा गया है। श्रीरामजी विजयी हैं, इससे लक्ष्मण जी और सीताजी भी अत्यन्त प्रसन्न हैं। दोहावली में भी यह ध्यान शकुन और सुमंगल का स्थान है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा - 'तुलसीदास कहते हैं कि जानकी जी और लक्ष्मण जी के साथ प्रभु श्रीराम जी शोभित हो रहे हैं। देवता प्रसन्न होकर उन पर पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। यह (ध्यान) शकुन एवं सुमंगल का निवासस्थान है।' श्रीकांतशरणजी[१६५] और तुलसीग्रन्थावली के संपादक महोदय ने १६६ भी यही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक विदित होता है।

सोहर

> लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
> भए सुंदर सतकोटि मनोज मनोहर ।।[१६७]

---

१६२. दे० तुलसी शब्दसागर, पृ० ४४०

१६३. दोहा० कौमुदी टीका, पृ० २

१६४. ,, पृ० २

१६५. ,, सि०ति०, पृ० ५-६

१६६. द्वि०खं०, त०भा०वि०प०रि०, काशी, पृ० १११

१६७. पा०मं० १२४

'सोहर' शब्द के दो अर्थ हैं --१. एक प्रकार का मंगल गीत जो बच्चा पैदा होने के सम गाया जाता है।[१९८] गोस्वामी जी ने इसे सोहिलो कहा है --सहेली सुनु सोहिलो रे।[१९९] इस अर्थ में सोहर हिन्दी सोहना, सोहला से विकसित है।
२. शोभा दिखाने का समय। संदिग्ध व्युत्पत्ति मानते हुए भी तुलसी शब्दसागर में इस 'सोहर' का विकास संस्कृत 'शोभन' से माना गया है।[२००]

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक ने 'सोहर' शब्द का अर्थ 'गलचौर' किया है।[२०१] गीताप्रेस की टीका में इसका अर्थ 'कोलाहल' किया गया है।[२०२] अच्युतानन्द जी ने इसका अर्थ 'उत्सव' किया है।[२०३] यहाँ पर 'सोहर का अर्थ शोभा या सौंदर्य दिखाने का समय' जैसा कि तुलसी शब्द सागर से स्पष्ट है, ही तर्क संगत है, क्योंकि परिणय के समय सभी लोग चाहते हैं कि वर सुन्दर हो। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - लोकाचार की दशा देखकर (कि संसार में लोग वर को सुन्दर चाहते हैं) तथा शोभा प्रदर्शन का उपयुक्त समय समझकर शिवजी सौ करोड़ कामदेवों के समान सुन्दर बन गये।' प्रकरण नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

लाला भगवानदीन जी,[२०४] सद्गुरु शरण अवस्थी[२०५] और अयोध्याप्रसाद, रामकोरी जी ने[२०६] भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

अरगानी

कहिवे कछु कछु कहि जैहै, रहो, आलि। अरगानी।[२०७]

---

१९८. हिन्दी शब्द सागर, पृ० ३६६४

१९९. गीता० १।२

२००. वै० पृ० ४६८

२०१ हि० सं०, अ०भा० वि० परिशिष्ट, काशी, पृ० ३३

२०२. पा०मं०, पृ० ३२

२०३. पा०मं०, पृ० ३५

२०४. तुलसीपंचरत्न, पा०मं०,पृ०१०

२०५. तुलसी के चार दल, पृ० १३६

२०६. पा०मं०, पृ० ३८

२०७. श्रीकृष्णा० ४७।

सं० अलग्न से विकसित अरगाना या अरगाई का अर्थ है - अलग हुआ या अलग करके।[२०८] इस अर्थ में भी गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग किया है -

गह सिंधु उचक अनल औं आई । तहं रामक जननी अरगाई ।।[२०९]

संस्कृत अर्थ गानम् से विकसित -अरगाई या अरगानी का अर्थ है - चुप होकर, चुप हुई, चुप । इस अर्थ में भी इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने किया है -

भरत कहाई सोइ किये भलाई । अस कहि रामु रहे अरगाई ।।[२१०]

सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी । झुकी रानि अब रहु अरगानी ।।[२११]

यहाँ पर 'अरगानी' शब्द का अर्थ रामायन सरन ने 'चुप रहु या अलग रहु' लिखा है [२१२] किन्तु यहाँ इसका दूसरा अर्थ चुप रहना है । अलग रहने की यहां संगति नहीं है, क्योंकि 'अरगानी' के पूर्व वाक्य का अर्थ है -(एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है) तुम कहना कुछ चाहती है और मुंह से न जाने क्या निकल जाय इसके बाद इसलिए सखी ! चुप रहो की ही संगति लगती है ।

पोद्दार जी[२१३] श्रीकांतशरण जी,[२१४] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने[२१५] भी यही अर्थ किया है ।

<u>हारि</u>

अति अनन्य गति इन्द्री जीता । जाको हरि बिनु कतहु न चीता ।।
मृगतृष्ना सम जग जिय जानी । तुलसी ताहि संत पहिचानी ।।[२१६]

----

२०८. तुलसी शब्दसागर, पृ० २६

२०९. मा०पी० अरण्य० ४३ । ६ ,पृ० ३५०

२१०. मानस० २।२५८।८

२११. मानस २।१४।७

२१२. श्रीकृष्ण, पृ० ४६

२१३. श्रीकृष्ण०, पृ० ५५

२१४. श्रीकृष्ण, सि०ति०,पृ०११६ २१५. वि०सं०,श०मा०बि०प्र०काशी,पृ०५७६

२१६. वै०सं० १४

'हरि' शब्द के - विष्णु, इन्द्र, घोड़ा, बंदर, सिंह, सूर्य, किरन, चन्द्रमा, मोर, शिव,यम आदि अनेक अर्थ हैं।[२१७] किन्तु 'विप्रयोग' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ भगवान विष्णु' ही अर्थ सर्व संगत है, क्योंकि जितेन्द्रिय संतों के चित्तों से वियोग होना इसी अर्थ को निश्चित करता है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा-- तुलसीदास जी कहते हैं --जो जितेन्द्रिय और भगवान में भलीभांति तल्लीन हो, जिसके हृदय में हरि के अतिरिक्त और कोई न हो और जो इस संसार को मृगतृष्णा की तरह मिथ्या मानता हो, उसी को संत समझना चाहिए।"

रघुनाथ

राम कहाँई दशरथ के लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तो श्रीरघुनाथ क हो।।[२१८]

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय इसका अर्थ करते हैं कि -- "राम तो दशरथ के हैं, लक्ष्मण किसी और के हैं। हाँ भरत और शत्रुघ्न तो दोनों राम के छोटे भाई हैं।"[२१९] यहाँ 'रघुनाथ' शब्द का अर्थ 'राम' संगत नहीं लगता। वैसे 'रघुनाथ' श्रीराम के लिए प्रसिद्ध हो चुका है। 'रघुनाथ' शब्द अनेकार्थी है। इसके अर्थ हैं - १. राम, २. दशरथ। यहाँ पर रघुनाथ का अर्थ दशरथ है। यहाँ भरत शत्रुघ्न को श्रीरामजी का भाई कहना उचित नहीं प्रतीत होता। 'संयोग' उचित नामक अर्थ निश्चय के साधन से भरत- और शत्रुघ्न ही परस्पर भाई हैं। भरत का शत्रुघ्न के साथ प्रसिद्ध सम्बंध है। गोस्वामी जी के शब्दों से भी यही प्रकट होता है --

----

२१७. हिन्दी शब्दसागर,पृ० ३७८४

२१८. नहछू १२

२१९. दि०हं०,श०भा०चि०परि०,काशी,पृ० ३

२२०. मानस १।१९८।३-४

बारेहि तें निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी ।।
भरत सत्रुहन दूनौं भाई । प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई ।।[५]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा –

'राम तो दशरथ जी के पुत्र अवश्य हैं परन्तु लक्ष्मण उनके नहीं किसी अन्य के हैं। हाँ, भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई तो महाराज दशरथ के ही हैं।' उपर्युक्त मानस के उद्धरण में 'दूनौं भाई' शब्द आया भी है। 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि किसी महिला ने प्रथम कहा कि 'राम दशरथ के पुत्र हैं और लक्ष्मण किसी अन्य के। इसके उपरांत आना चाहिए कि भरत और शत्रुघ्न किसके हैं? राम की तरह से ये दोनों भाई सीधे थे, अतः उनका मजाक न करके स्पष्ट कह दिया कि ये श्री दशरथ जी के ही सुपुत्र हैं। श्रीकान्तशरण जी,[२२०] और श्री सद्गुरुशरण अवस्थी जी[२२१] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

जेठि

कौशल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो ।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो ।।[२२२]

'जेठि' शब्द के दो अर्थ हैं – १. जेठानी, जेठ या पति के बड़े भाई की स्त्री, २. बड़ी, गुरु-स्त्री गण (पद या उम्र में बड़ी)। कुछ लोगों ने 'जेठि' का अर्थ जेठानी (पति के बड़े भाई की स्त्री) किया है। परन्तु यह अर्थ असंगत है क्योंकि दशरथ जी की पत्नियों में कौशल्या जी ही सबसे बड़ी पत्नी थीं। अतः यहाँ पर 'जेठानी' अर्थ बिल्कुल असमीचीन है।

---

५. मानस १।१९८।३-४

२२०. नहछू, सि०ति० पृ० १३

२२१. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १२-१३

२२२. नहछू ६

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा -

'किसी वयोवृद्धा (गुरु-पत्नी, पद में भी नहीं) ने कौशल्या जी को आदेश दिया कि जाओ सिंहासन पर बैठकर (बालक राम का) नहछू कराओ ।'

लाला भगवान दीन जी,[223] श्रीकांतशरण जी[224] सद्गुरुशरण - अवस्थी जी,[225] और तुलसीग्रन्थावली के संपादक[226] महोदय ने भी यही अर्थ किया है ।

---

२२३. तुलसी पंचरत्न, पृ० ३

२२४. नहछू, सि०ति०, पृ० ११

२२५. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ६

२२६. टि०तु०, ना०प्र०स०का०काशी, पृ० २

अध्याय - ७

मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ समस्यायें और उनका निदान

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। संस्कृत एवं हिन्दी में इस शब्द का तात्विक अर्थ-ज्ञान कराने वाला समानार्थी कोई शब्द नहीं है। श्री रामचन्द्र वर्मा 'मुहावरा' के स्थान पर 'रूढ़ि' शब्द को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'मुहावरा' के स्थान पर प्रयुक्तता, वाग्रीति, वाग्धारा, भाषा-सम्प्रदाय, वाग्योग, वाक्पद्धति, वाग्व्यवहार, वाक् सम्प्रदाय, विशिष्ट स्वरूप, वाक्प्रचार, वाक्वैचित्र्य और इष्टयोग आदि अनेक शब्द विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु जब 'मुहावरा' शब्द एक प्रायमरी के छात्र से लेकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तक दोनों ही उसे एक साथ और एक ही अर्थ में समझते हैं तो उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः उर्दू और हिन्दी दोनों के लिए 'मुहावरा' शब्द ही सर्वोपयुक्त है।

अब तक बहुत से लोगों का विश्वास था कि हिन्दी में 'मुहावरे' उर्दू और फारसी से आये हैं और संस्कृत में मुहावरों का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु संस्कृत में मुहावरा के लिए इसका समानार्थी कोई शब्द प्रयुक्त न होने का यह कारण कदापि नहीं है कि उसमें मुहावरे नहीं हैं। संस्कृत वाङ्मय मुहावरों से ओत-प्रोत है। किन्तु उनका वर्गीकरण और विश्लेषण शब्द शक्तियों और अलंकारों के अन्तर्गत ही कर दिये गये हैं। डा० ओमप्रकाश गुप्त ने ऋग्वेद से लेकर अबतक के मुहावरों की संक्षिप्त सूची और उनकी परम्परा का इतिहास देकर[१] यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत साहित्य में आदि काल से ही मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

---

१. मुहावरा मीमांसा, पृ० १५-१८

'मुहावरा' अरबी शब्द है, यह हौर शब्द से निर्मित है। गयासुल्लुगात में इस शब्द के सम्बन्ध में लिखा गया है — 'मुहावरा बिल्जम मीम बफतेह वाव या मक्दीगर कलाम करदन व पासुखदादन यक दीगर क्व हैशह वक न ज मोगरआँ।[2]

अर्थात् 'मुहावरा' मीम परदेश और वाव पर जबर है। उसका अर्थ परस्पर बातचीत और एक दूसरे से सवाल-जवाब करना है। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ इसप्रकार है - 'मुहावरा: संज्ञा पुल्लिंग (अरबी मुहावरह) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली या लिखी जाने वाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो। रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग। किसी एक भाषा में दिखाई पड़ने वाली असाधारण शब्दयोजना अथवा प्रयोग। जैसे - लाठी खाना मुहावरा है, क्योंकि इसमें 'खाना' शब्द अपने असाधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है, पर बोलचाल में 'लाठी खाना' का अर्थ 'लाठी का प्रहार सहना' लिया जाता है। इसीप्रकार 'गुल खिलाना', 'घर करना', 'चमड़ा खींचना', 'चिकनी चुपड़ी बातें' आदि मुहावरे के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग 'रोजमर्रा' या 'बोलचाल' भी कहते हैं[2] अभ्यास। आदत। जैसे आजकल पेरा लिखने का मुहावरा छूट गया है।'[3] डा० ओमप्रकाश गुप्त लिखते हैं कि मुहावरे की अधिक से अधिक सर्वाङ्गीण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है — 'प्राय: शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गठे हुए रूढ़ वाक्य वाक्यांश अथवा शब्द इत्यादि को मुहावरा कहते हैं। जैसे, हाथ पैर मारना, सिर धुनना, हीं हीं करना, गटागट निगल जाना, टेढ़ी खीर होना, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना, दूध के जले होना, नौ की लकड़ी नब्बे खर्च करना, अंगारों पर लोटना, आग से खेलना इत्यादि।[4]

---

२. गयासुल्लुगात-ग्यासुद्दीन (अनु० मुंशी गुलाब सिंह)पृ० ४४५,प्रका० लाहौर,दिल्ली, १८८५।

३. हि०श०सा० पृ० ३८८८

४. मुहावरा मीमांसा, पृ० ३०४।

लोकोक्ति जिना वक्ता की उक्ति है। लोकोक्ति शब्द का अर्थ है - 'लोक + उक्ति' अर्थात् लोक में प्रचलित कथन। 'कहावत' शब्द का अर्थ है - कह+आवत - कहने में जिसकी आवृत्ति होती रहती है। लोकोक्ति एवं कहावत को एकही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। जयनारायण वर्मा के शब्दों में 'लोकोक्ति-वह लघु वाक्य है जो संक्षिप्त, सारगर्भित, वक्र तथा तुक सामञ्जस्ययुक्त अनुभव की अभिव्यक्ति हो। यह वाक्य व्याकरण के नियमों से जकड़ा नहीं होता। अतः इसे स्वतंत्र लघुवाक्य भी कहा जा सकता है।'[५] डा० ओमप्रकाश गुप्त के शब्दों में - 'भाषा की दृष्टि से मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों ही बड़े महत्त्व की चीजें हैं। दोनों से ही भाषा के सौंदर्य में वृद्धि होती है, किन्तु फिर भी दोनों एक ही नहीं। दोनों में भेद है और काफी भेद है। रूप विचार अथवा व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों एक नहीं हैं। न्याय शास्त्र के अनुसार प्रत्येक वाक्य में दो पद उद्देश्य और विधेय और एक विधान जिन्हें संयोजक तीन बातें होनी चाहिए। लोकोक्ति में उद्देश्य और विधेय इन दोनों का विधान न रहने के कारण, उसका अर्थ समझने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, जब कि मुहावरे का जब तक किसी वाक्य में प्रयोग न किया जाय, अर्थ ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकता। अर्थ की दृष्टि से लोकोक्तियाँ अपने में पूर्ण होती हैं, मुहावरे नहीं, लोकोक्तियाँ सब की सब लोकोक्ति अलंकार के अन्तर्गत आ जाती हैं किन्तु मुहावरों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, वे लक्षणा और व्यंजना पर अवलंबित होने के कारण किसी एक ही अलंकार में सीमित नहीं रहते।'[६] लोकोक्तियों के पीछे कोई न कोई कथा रहती है। इसका सम्बन्ध अतीत में लोक-जीवन में घटी किसी

----

५. हरियाणा की लोकोक्तियाँ - शास्त्रीय विश्लेषण, पृ० ५५, प्रका० आदर्श साहित्य प्रकाशन, १२६। ६ वेस्ट सीलमपुर, दिल्ली - ३१, प्रथम संस्करण, अगस्त, १९७२ ई०

६. मुहावरा मीमांसा, पृ० ३८२।

घटना विशेष से होता है। प्रभाव पूर्ण होने के कारण जन मानस पर इसका अमिट प्रभाव पड़ता है।

भविष्य में वैसा ही कोई प्रसंग आने पर उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है। मुहावरों में प्राय: क्रिया का प्रयोग होता है लेकिन लोकोक्तियों में अधिकतर क्रिया का लोप रहता है। दोनों ही रोचक होती हैं। अर्थ गांभीर्य के कारण लोकोक्तियाँ गागर में सागर वाली कहावत को चरितार्थ करती हैं लोकोक्तियाँ प्राय: जनभाषा में होती हैं। इनका वाक्य अपरिवर्तनीय होता है जब कि मुहावरे वाक्यों के अनुसार परिवर्तित कर लिए जाते हैं। लोकोक्तियाँ स्वतंत्र होती हैं, जब कि मुहावरों को दूसरे वाक्यों की आवश्यकता पड़ती है। मुहावरों एवं लोकोक्तियाँ दोनों का सृजन प्राय: जनता करती है।

हरिऔध जी ने मुहावरों में लक्षणा और व्यंजना दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। रामचन्द्र वर्मा भी मुहावरों में व्यंजना के तत्त्व को स्वीकार करते हैं। डा० ओमप्रकाश गुप्त कहते हैं कि तात्पर्याख्यवृत्ति ही मुहावरों की मूल शक्ति है। तात्पर्यार्थ से ही मुहावरों का बोध होता है।[७] कुछ भी हो किन्तु मुहावरों से गंभीर अर्थ प्रकाशन होता है। इनके द्वारा भाषा को वक्रता एवं चुटीलापन प्राप्त होता है। एक तरह से मुहावरे लघु लोकोक्तियाँ हैं। प्रभावपूर्ण अर्थ व्यंजना ही मुहावरों का प्राण है। इसमें थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ होता है। पाठक को मुहावरे के उचित अर्थ को ग्रहण करना चाहिए अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

साहित्य जब-जब जनता के निकट आता है, भाषा मुहावरेपन की ओर झुकती है। तुलसी साहित्य इसका प्रमाण है। गोस्वामी जी ने प्रभावपूर्ण अर्थ व्यंजना के लिए अपने साहित्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। उन्होंने मुहावरों का प्रयोग प्रभावशाली अर्थ व्यंजना और अपने मन्तव्यों को उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण बनाने के लिए किया है। इसके विपरीत लोकोक्तियों

----

७. मुहावरा मीमांसा, पृ० ३८२।

का प्रयोग किसी बात के समर्थन, पुष्टीकरण अथवा विरोध एवं खंडन के लिए किया है। गोस्वामी जी मुहावरों एवं लोकोक्तियों के आचार्य हैं। मानस में ही नहीं, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली और विनय पत्रिका में भी मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में जहाँ मुहावरों एवं लोकोक्तियों में अर्थ समस्याएँ उत्पन्न हैं, ऐसी ही विवादपूर्ण स्थलों की अर्थ समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ करने में बड़ी गड़बड़ी की है। कहीं-कहीं मुहावरों एवं लोकोक्तियों को न समझकर उसके अभिधेयार्थ की अभिव्यंजना में अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। उदाहरणार्थ नहाक के लिए गाय मारना' का अर्थ कोई मुण्ड के लिए, कोई बैगन लगाए हुए, कोई नाज के लिए, कोई ताँत के लिए और कोई सिंह के लिए गाय मारना' अर्थ करके छोड़ दिया है। यह किसी ने नहीं कहा है कि 'सिंह के लिए गाय मारना' मुहावरा है जिसका लाक्षणिक अर्थ कुछ अन्य ही है। इसी प्रकार 'दीप की बाती टालने को न कहना, 'धुआँ देखना', 'बाँस की जड़ में घमोई होना और बाघ के सम्मुख जाने पर न खाना' आदि मुहावरों एवं लोकोक्तियों का अर्थ किया गया है। 'बारह बाट घालना' के अर्थ की खोज में लोगों ने मानस से अपनी बुद्धि के अनुसार नष्ट होने वाले १२ मार्गों' को खोज निकाले हैं। 'बाल की खाल निकालना' का अर्थ निर्दयी नाई बाल के साथ खाल भी निकाल लेते हैं' किया गया है। यत्रतत्र अर्थ की संगति न लगा पाने के कारण पाठ परिवर्तन कर दिये हैं 'नहाते समय गात भी न खसना' किया गया मुहावरे का अर्थ 'स्नान करने में समय न बिताओ' किया गया है। ऐसे ही मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ समस्याओं का निदान पृथक् पृथक् नहीं किया गया है, बल्कि उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। दोनों का कोई वास्तविक विभाजक रेखा न होने के कारण ही ऐसा किया गया है।

चाढ़ नहिं सरई

तोरे धनुष चाढ़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ।।[1]

'चाड़' शब्द का अर्थ न समझने के कारण श्री रामचरणदास[2] और बैजनाथ जी ने[3] 'काज नहिं सरै' पाठ कर दिया है। पं० ज्वालाप्रसाद ने 'चाढ़े' पाठ माना है।[4] विनायक राव जी[5] रामनरेश त्रिपाठी जी,[6] अयोध्याहरिदास जी[7] और मानसपीयूषकार ने पाठ तो 'चाहि' ही माना है किन्तु 'काज' पाठ के प्रभाव के कारण 'काम नचलेगा' ऐसा अर्थ किया है। श्रीकांतशरण जी ने मानसपीयूष के शब्दार्थ वाले अर्थ को ग्रहण कर लिया है।[9] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने 'चाड़' शब्द से तद्भव होकर अर्थ किया है - 'धनुष तोड़ने भर से क्या होता है'[10] कुन्दनलाल जी ने 'चाड' पाठ मानकर अर्थ किया है - 'कुछ चाह नहीं सरती है अर्थात् पूरी नहीं पड़ती है।[11] शिवानंद त्रिपाठी जी ने अर्थ किया है 'धनुष टूटने से चाट नहीं मिटेगी।'[12] समझ में नहीं आता यहाँ 'चाट' शब्द का अर्थ क्या है? त्रिपाठी जी ने 'चाड़' शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं, बल्कि अस्पष्ट कर दिया है। डा० चन्द्राप्रसाद जी ने 'चाड़' शब्द का समर्थन करके अर्थ किया है कि धनुष तोड़ने से मतलब तो सिद्ध नहीं होती।[13]

हिन्दी शब्दसागर में 'चाढ़' शब्द को संस्कृत 'चंड' से विकसित मानकर अर्थ किया गया है - प्रबल, बलवान, उग्र, उद्धत, बढ़ा चढ़ा, श्रेष्ठ, तृप्त, संतुष्ट, अघाया हुआ।[14] दोहावली में चाढ़ शब्द आया है -

----

२-२ रामा० पृ० ६३०, पृ० ३०६
४. सं०टी०, पृ० ३१५
५. वि०टी०, पृ० १४६
६. मानस, पृ० २६२
७. मानस, पृ० २०६
८. मा०पी०बाल०, सं० ३, पृ० ५१२
९. मानस सि०ति०, प्र० सं०, पृ० ७२३ - २४
१०. तु०सं०ग्र०ना० वि० परि०, काशी, १।२६६।४
११. रामा०, पृ० १५६
१२. वि०टी० ग्र०ना०, पृ० ४४६
१३. रा०च०मा० का० वाग्वैभव, पृ० ८४
१४. दे० पृ० ६६४

चित्त पुनीत प्रभु ध्यान गहि, गरि मधुकर गिनु बाहु ।

निज मुख मानिक सम दसन, भूमि परे ते बाहु ।।[१५]

'दोहावली' में 'बाहु' शब्द में 'बाहु' पाठ ही प्रामाणिक लगता है और इसके 'स्मरण' अर्थ स्पष्ट होता है। टीकाओं पर आधारित होने के कारण तुलसी शब्द-सागर में 'बाहु' का अर्थ 'प्रबल इच्छा' किया गया है।[१६] इसके अतिरिक्त बाहु शब्द का अभिप्रायार्थ - 'इच्छा' किसी भी कोश में नहीं प्राप्त हुआ।

'बाँह गहना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है ... पूरी होना।[१७] यहाँ पर 'बाहु नहिं गहई' (बाहु न गहना) का अर्थ होगा 'अभिलाषा नहीं पूरी होगी'। उक्त अर्धाली का अर्थ होगा -

'धनुष तोड़ देने (मात्र) से अभिलाषा नहीं पूरी होगी। हमारे जीवितावस्था में राजकुमारी से कौन विवाह कर सकता है।'

हरिहरप्रसाद जी[१८] पंजाबी जी,[१९] रामेश्वर भट्ट जी,[२०] वीरकवि जी,[२१] श्यामसुन्दरदास जी[२२] और पोद्दार जी[२३] आदि टीकाकारों की दृष्टि बाँह मुहावरे पर न रही थी, किन्तु अर्थ 'अभिलाषा पूरी होगी' ही किया है। 'औचित्य' अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

<u>मारसि गाइ नहारु लागी</u>

'फिरि पछितैहसि अंत अभागी । मारसि गाइ नहारु लागी ।।[२४]

---

१५. दोहा० ३३०

१६. दे०पृ० १४५

१७. दे० हिन्दी शब्द सागर, पृ० ८६४

१८. रा० परि० परिशिष्ट, पृ० पृ०१८३

१९. मा०भा०, पृ०भा०, पृ० ६४६

२०. मानस, पृ० २७५

२१. मानस, पृ० ३१४

२२. वही, पृ० २५७

२३. वही, पृ० २५२

२४. मानस २।३६।८

सं० १७६२ वि० की प्रति, छक्कनलाल की प्रति, सं० १७०४ वि० की काशिराज वाली प्रति, भागवतदास की प्रति, अयोध्याकांड- राजापुर की प्रति में और भागवतदास के सं० १६४२ वाली प्रति में नहारू पाठ है।[२५] पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० रामकुमार जी की प्रतियों में भी यही पाठ है।[२६] डा० माताप्रसाद गुप्त और काशिराज संस्करण में भी "नहारू" पाठ है।

ना०प्र० सभा के संस्करण, रघुनाथदास की प्रति, बंदन पाठक की प्रति और बाबा हरिदास की प्रति में नाहरू पाठ है।[२७] छक्कनलाल जी की प्रति में नहारू पाठ है और मानस मयंक में नाहरू और नहारू दोनों पाठों का भावार्थ किया गया है।[२८] यहाँ पर "नहारू" पाठ ही तर्कसंगत लगता है क्योंकि अधिकांश प्राचीनतम प्रतियों, डा० माताप्रसाद गुप्त और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे सुयोग्य संपादकों ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम रामकुमार जी "नहारू" तृण को कहते हैं। अर्थात् तृण के लिए गाय को मारती है। कोदोराम दास जी ने टिप्पणी में लिखा है कि "नहारू" किसी देश में बंधन को कहते हैं। "नहारू लागी" अर्थात बंधन लगी हुई, बँधी हुई। भाव यह कि छूटी हो तो चाहे भाग भी जा सके, बँधी हुई भाग भी नहीं सकती कि जान बचाले। यहाँ राजा गया है जो प्रतिज्ञा में बँध गये हैं। बैजनाथ जी भी लगभग ऐसा ही अर्थ करते हुए लिखते हैं - "नहारू नसों की होती है उसका बंधन दृढ़ होता है। अर्थ हुआ कि ऐसी नहारू लगी हुई गाय को मारती है। भरत राज्य रूपी हेतु रामवनवास (का वर) नहारू है, राजा गाय है। बैजनाथ जी ने मुख्य अर्थ "बाघ" ही स्वीकार किया है।[२९] बाबा हरिदास जी

----

२५. शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० ८२

२६. मा० पी० अयो०, पाद टिप्पणी, पृ० १६६

२७. वही, पृ० १६६ और शंभुनारायण चौबे मानस अनुशीलन, पृ० ८२।

२८. मा०पी०, अयो० पाद टिप्पणी, पृ० १६६

२९. वही, पृ० १६७।

इसका अर्थ करते हैं कि हार के लिए गाय को न मार । जैसे गाय हीरा का हार लीले तो उसका पेट न फाड़ना चाहिए , यत्न से ले लेना उचित है । वैसे ही मैं तेरी गाय रूप हूँ और अवध का राज्य हार रूप है सो मैं तो राम हेतु पहले ही न्यास कर चुका अब राम जी न सही भरत ही को वह हार रूप राज पर्भिना दूंगा ,जो राम जी वन को चले जायेंगे तो भरत जी राज्य न ग्रहण करेंगे तब तू अंत में पछतायेगी । काश्मीर में 'नखाक' साग को कहते हैं, साग गोमांस नहीं खाता ।[30] लालूराम मिश्र जी ने भी यही अर्थ किया है कि साग के लिए तू गाय को मारती है ।[31] 'नखाक' का अर्थ कुछ लोग जूता या कपड़े का टुकड़ा करते हैं ।[32]

श्री[illegible] जी के अनुसार अरी अभागिनी गाय मारने में तुझे पीड़ा नहीं लगती है ? उन्होंने न 'हाक' पाठ माना है और 'हाक' का अर्थ पीड़ा किया है ।[33]

व्यासों की प्रणाली की अनेकार्थ प्रधान व्याख्या पद्धति के सहारे व्यासीय शैली के टीकाकारों एवं अन्य कतिपय टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं । 'नाक' पाठ मानकर श्रीरामचरणदास जी इसका अर्थ करते हैं - "पुनि तैं बार बार पछितायगी अन्त विषै तैं नाक कहे नख चारि अंगुल के हेतु गऊ वध करती है किन्तु नाक कही खेत अंकुर एक ग्रास गऊ कहुँ लिये है त्यादि हेतु वध करति है यहाँ राजा गऊ है अरु श्रीरामचन्द्र को संकल्प मात्र भयो है सोई अंकुर भयो अरु राजा के वासना सुख सो खेत सन्ते कैकेयी विद्यानिन जीव मारती है अरु भरत के लिए राज्य को वासना सोई खेत है अरु तामें कैकेयी के सुख की वासना सोई बीज सूखि, जायगो धर्म्म रूप जलते हीन है ।[34]

---

३०. मा०पी०, भा० पादटिप्पणी, पृ० १९६

३१. रामा०, पृ० ३२

३२. मा०पी०भा०, पृ० १९६

३३. मानस, पृ० ४७७

३४. रामा०,पृ० ५३६-३७

शंकरप्रसाद जी की टीका में ये अर्थ दिये हैं - रा०प० - जैसे कोऊ गाय के रुधिर हेतु गोवध करे तैसे सवति के हेतु अनरथ । काष्ठ जिह्वा स्वामी जी के अनुसार - नाहर बाघ नउआ अथवा बुदिलसिंह आदि की भावना । कोऊ अस अर्थ करत नउआ खाल को कहत है । चरबट रोग भगारिबे हेतु नउआ जूता को कहत है, कोऊ विला भर बाम को कहत हैं, काऊ अन्नादि के अंकुर को कहते हैं भाव अल्प स्वारथ साधन हेतु बड़ा अर्थ अनर्थ करसि कोऊ नउआ नाज को कहत हैं । भाव नाज गोमांस को नहीं खात तस भरत राज्य को नहीं स्वीकार करहिंगे काऊ वे भांख खुले बाघ के बच्चा को नउआ कहत हैं भाव सिंह के अर्थ वार्धिनि व्यर्थ गाय मारेसि कोऊ कहत कि बाघ को लागि अर्थात् धोखा से जैसे गाय मारेसि तस फेरि पछिते लाइ है कोऊ निशा पात कर कुबेसा अर्थ करत हैं ।[३५]

मानस-मयंककार इसका अर्थ करते हैं -

धेनुपियारे धेनु है, आमिष केसो राज ।
भरत नाहक सिंह है, केश नशाह भ्राज ।।४६ ।।

इस चौपाई का मयंककार तीन अर्थ करते हैं - प्रथम-राजा कैकेयी से कहते हैं -- हे अभागी ! तू फिर पछतायगी, तू अकारण सिंह के लिए गाय को मारकर महापातकी हुई, तात्पर्य यह कि धेनु पियारे रामचन्द्र रूपी धेनु को मारकर तूने राज रूपी आमिष भरत रूपी सिंह के लिए निकाल लिया, जो कदापि उस राज को ग्रहण नहीं करेंगे, जैसे सिंह दूसरे के मारे हुए पशु का मांस नहीं खाता । अतएव तुमको महापातक की छाप लगा, जिसके फलको भोगकर पछतायगी । द्वितीय तूने (नशाक) अर्थात् सुरागाय की पूंछ के केश के लिए नाहक गोहत्या की, इसके लिए तू फिर पछतायगी ।

बरदाने मो आदि हुवे, भरत मिलाए अन्त ।
धेनु नाह तू मारि है, कह शिशु भरत सुखंत ।।५० ।।

तृतीय अर्थ - राजा कहते हैं कि हे अभागी ! तूने पुत्र भरत रूपी सिंह के लिए अपने पति रूपी गऊ को मारा, यद्यपि गऊ मारकरके जो तुम चाहती हो सो नहीं होगा,

----

३५. रा०प०रि०परिशिष्ट,प्र०,पृ० २३

तुम्हारा वर मांगना तुम्हारी कामना का आदि है। और भरत पेट अंत है और कुछ परिणाम नहीं है, क्योंकि भरत राज्य कदापि ग्रहण न करेंगे, तुमको पश्चाताप ही हाथ लगेगा।'[३६]

पं० ज्वाला प्रसाद जी इसका अर्थ करते हैं -"जैसे कोई सिंह के तृप्त करने को गाय मारे वैसे रुपति के हेतु यह अनर्थ करती है, और कहते हैं, नाहरू तांत का बनता है उसके अर्थ जैसे कोई गाय मारे ऐसे पछतायेगी, किना मांस खुले बाघ के बच्चों को भी नाहरू कहते हैं, बाज को भी कहते इनके अर्थ गोवध करना अनर्थ है ऐसे भरत जी राज्य नहीं लेंगे, किन्तु पछतावगी।'[३७] श्यामसुन्दर दास[३८] और रामनरेश त्रिपाठी जी ने [३९] नाहरू का अर्थ सिंह और बाज दोनों लिया है।

श्रीरामदास गौड़ जी 'नाहरू' पाठ मानकर इसका अर्थ नहरुआ रोग करते हुए लिखते हैं -' इसका अर्थ करने में लोग व्यर्थ वागाडम्बरों से काम लेते हैं, प्रसंग का ध्यान नहीं रखते। नाहरू व नामक एक रोग होता है जिसे नहरुआ भी कहते हैं। यह एक प्रकार का व्रण है, जिसमें कुछ तागेसे लम्बे कीड़े निकलते हैं और इसे गाय के तांत से फाड़ना एक टोना टोटका है। साधारणतया टोटकों की जैसे दशा होती है, इस टोटके से भी कोई लाभ वस्तुतः नहीं होता। ग्रन्थकार ने अन्यत्र भी इस रोग की चर्चा की है -

'अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ।।

यहाँ प्रसंग से यह अर्थ स्पष्ट है कि कैकेयी अंत में इसी तरह पछतायगी जैसे वह रोगी पछताता है जो नाहरू फाड़ने को तांत के लिए गोवध करता है और नाहरू अच्छा भी नहीं होता और गोहत्या ऊपर से लगती है। यहाँ रोगी कैकेयी है जिसे सवतिया

----

३६. मानस मयंक, वार्तिककार श्री इन्द्रदेव नारायण, पृ० १६६

३७. सं०टी०, पृ० ४५८

३८. मानस, पृ० ३८४

३९. ,, पृ० ४३६

हा रूपी नाहरू हो गया है । इसे दूर करने को राज्य रूपी तांत की वह जरूरत समझती है और राजा दशरथ रूपी गाय की रामवनवास रूपी हत्या से यह तांत रूपी राज्य प्राप्त होगा । परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या राज्य के मिल जाने से कुटिलिया फाल रोग मिट जायगा ? क्या यह टोटका सफल होगा ? क्या इस तांत से नहरूआ दूर हो जायगा ? राजा दशरथ का अभिप्राय यही है कि प्रयत्न विफल होगा और कैकेयी को अंत में पछताना ही पड़ेगा ।[40]

संत सिंह पंजाबी,[41] शुकदेवलाल जी,[42] विनायकराव जी और पोद्दार जी[43] नहारू का अर्थ तांत करते हैं । विजयानंद जी भी 'नहारू' का अर्थ तांत करते हुए कहते हैं कि अभिधानप्पदीपिकायाम (श्लो० २७६) में नहारू को तांत कहा गया है -- पुंसे नहारू च सिय थ धमन्यथ रसायसा ।[44]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'नहारू' के लगभग १२ अर्थ टीकाकारों ने किये हैं -- १. अन्नादि का अंकुर (तृण), २. बंधन, ३. हार, ४. नाश, ५. (अरवट रोग फाड़ने के लिए नहारू) जूता, ६. पीड़ा (हारून) ७. कुवेसा (निहारू) ८. बूढ़ी गाय की पूंछ के केश के लिए (नहारू लागी), ९. नहरूआ रोग, १०. तांत या चमड़े का टुकड़ा, ११. सिंह या बाघ का बच्चा, १२. बाघ के धोखा से । तांत, नहरूआ रोग और सिंह या बाघ अर्थ अधिकांश लोगों के हैं ।

हिन्दी शब्दसागर में 'नहारू' शब्द नहीं मिला । नाहरू सिंह या बाघ, नहरूआ, (नारू रोग), एक प्रकार का रोग ।[45] बृहत् हिन्दी कोश में - नाहरू का

----

४०. श्रीराम ० रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ५३-५४
४१. मा०भा०,पू०भा०,पृ० ४६
४२. रा०मा०,पृ० २०
४३. वि०टी०,पृ० ६२ और मानस० पृ० ३६३
४४. वि०टी०,कि०भा०,पृ० ५६
४५. वै० पृ० २६००-२६०१

अर्थ नहरूआ, नारू रोग, सिंह अर्थ दिया है।[४६] तुलसी शब्दसागर में इसका अर्थ तांत भी किया है।[४७]

यहाँ पर 'नहारू' का अर्थ बाज असंगत है क्योंकि बाज का विरोध गाय से नहीं अपितु लवा (बटेर) से है —

जनु सचान बन झपटेउ लावा ।।[४८]

लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ।।[४९]

ब्रह्मचारी दास जी का यह तर्क भी संगत है कि गायकी नहीं (तांत) से यदि (नहरूआ) रोग अच्छा हो गया तो पछताना सिद्ध नहीं होता।[५०] कैकेयी तो आगे भरपेट पछतायी है —

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ।।[५१]

अतः यह अर्थ भी उचित नहीं है। 'हाक' का अर्थ पीड़ा कहीं नहीं प्राप्त होता। अतः यह भी अप्रामाणिक है। जिसको गाय मारना ही है वह क्या खुली हुई गाय को नहीं मार सकता? जैसे बँधी गाय मारने से पाप लगेगा, वैसे खुली हुई गाय से। अतः 'नहारू' का 'बंधन लगी हुई' अर्थ भी असंगत है। अंकुर, जूता, हार, कुंसा, गाय की पूछ का केश आदि अर्थ बिल्कुल ऊटपटांग और अविचारणीय हैं। पर्यंककार आदि कतिपय टीकाकार 'धेनु पियारे रामचन्द्र रूपी धेनु को मार कर' अर्थ किया है किन्तु यह अर्थ अनुपयुक्त है क्योंकि 'प्राण लेना' सिद्ध होना चाहिए।

---

४६. दे० पृ० ६७६

४७. दे० पृ० २५६

४८. मानस २।२९।५

४९. वही, २।२९।६

५०. मानस, पृ० ४१४-१५

५१. मानस २।२५१।५

ऐसा राम के लिए नहीं हुआ । अतः 'गाय' दशरथ के लिए ही आया है । अवधविहारीदास जी आदि कतिपय टीकाकारों के द्वारा अभिव्यक्त रूपक अति-व्याप्ति दोष से युक्त है - दशरथ जी गाय हैं श्रीराम जी उनके प्राण हैं जिनके वियोग में मृत्यु हुई और राज्य ही उनका शरीर (मांस) है जिसे भरत नाहर अर्थात् सिंह के लिए कैकेयी ने भोगार्थ रखना चाहा, परन्तु भरत सिंह रूप जब राज्य (मांस रूप) नहीं स्वीकार किया तब पछताना ही पड़ा है ।'[52] यहाँ भरत जी सिंह और दशरथ जी गाय हैं, यही उक्त अर्धाली से स्पष्ट होता है शेष सभी आरोपित प्रतीत होते हैं । मयंककार और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[53] जी भी कहते हैं कि 'सिंह दूसरे का किया शिकार नहीं खाता । ..... भरत नाहर अथवा नाहर का बच्चा है । वह तेरे खिलाने से राज्य न लेगा ।' विचारणीय है कि उपर्युक्त वाक्यों से यही स्पष्ट होता है कि राज्य ही गाय है और कैकेयी भरत सिंह के लिए मार रही है, किन्तु ऐसा पूर्वोक्त अर्धाली से स्पष्ट नहीं होता । अतः यहाँ पर 'दशरथ जी' को ही गाय मानना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है ।

श्रीरामदास जी गौड़ कहते हैं कि - भरत जी के लिए व्याघ्र, सिंह या बाज की उपमा देना और भगवान रामचन्द्र व राजा दशरथ के लिए गाय की उपमा देना मेरे निकट सर्वथा असंगत है । वीर रस का कोई प्रसंग नहीं है इसलिए 'नाहर' की उपमा असंगत है । गाय स्त्रीलिंग है, इसलिये पुरुषों की उपमा उससे असंगत है । इसके सिवा सिंह और व्याघ्र अर्थ में कोई चमत्कारिक रूपक भी नहीं घटता ।[54] भरतजी को 'बाज' और रामचन्द्र जी को गाय की उपमा अनुपयुक्त है । इस तर्क को ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है । दशरथ जी के लिए गाय की उपमा असंगत नहीं है क्योंकि कवि अभी ऊपर उन्हें अबला समान कह चुका है --

बनि अबला जिमि करुना करहु ।।[55]

कवि अन्यत्र कौशल्यादि सासुओं के लिए सर्पों की उत्प्रेक्षा कर चुका है --

---

५२. मानस, पृ० ४१४-१५

५३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७०-७१

५४. मा०पी०अयो०, पृ० ११८

सुंदर बधु सासु लै सोईं । फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोईं ।।[५६]

अत: दशरथ जी को गाय से उपमित करना असंगत नहीं । यहाँ रूप लिंग का नहीं अपितु किंचित् परिस्थितियों का है । जैसे गाय कसाई के हाथ में पड़कर विवश और असहाय हो जाती है, वैसे राजा दशरथ कैकेयी को वरदान देकर विवश और असहाय हैं । वे उससे बार-बार प्राण के लिए भिक्षा माँगते हैं । श्रीराम जी के वनवास वाले वर को वापस लेना ही दशरथ जी को प्राण प्रदान करना है । इन परिस्थितियों के साम्य के कारण उन्हें गाय से उपमित किया गया । दशरथ जी ने अनेक बार कहा कि मैं नहीं जिऊँगा —

मारेसि मोहि कुठायँ ।[५७] सत्य कि जीवन लेइहि मोरा ।।[५८]

जिअनु मोर राम बिनु नाहीं ।[५९] जिय मिस मीचु सीस पर नाची ।।

राम बिरह जनि मारसि मोही ।[६०] कालु कराकर मोर ।[६१]

दशरथ जी को कैकेई के शब्दों से यह आभास हो गया कि अब मेरा जीवित रहना असम्भव है । इसीलिए उन्होंने बार-बार कैकेयी से कहा कि राम के बिना मेरा जीवन असंभव है । इन बातों से जब उस पर कोई प्रभाव पड़ता न दीख पड़ा, तब राजा दशरथ ने कैकेयी से कहा कि अयोध्या पुन: सुहावनी होकर रहेगी , राम की प्रभुता होगी । सभी भाई उनकी सेवा करेंगे तीनों लोकों में श्रीरामचन्द्र जी की बड़ाई होगी किन्तु तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी न मिटेगा । अब तुझे जो इच्छा हो कर । मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जब तक जीवित रहूँ तब तक फिर कुछ

----

५६. मानस १।३५८। ४

५७. वही २।३०

५८. वही २।२१।३

५९. वही २।३३।२

६०. वही २।३४।५ और ७

६१. वही २।३५

मत कहना ।' इन बातों का भी जब उस पर किंचित प्रभाव न पड़ा , तब पुनः उन्होंने अन्तिम यह वचन कहा - 'अरी अभागिनी ! तू अंत में पछतायेगी कि सिंह के लिए तूने गाय को मारा ।' गाय को मारना इस आशा से कहा था कि अब भी कदाचित उस पर कुछ प्रभाव पड़ जाय, क्योंकि सूर्यवंश में गाय पर शूरता नहीं दिखाई जाती ,लक्ष्मण जी कहते हैं -

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरे कुल इन्ह पर न सुराई ।।[६२]

क्योंकि इनको मारने से पाप लगता है -

बधें पापु ।'[६२] कवि ने आगे 'राम के त्याग' को गोवध के समान बताया है । सुमंत्र जी भी सीताराम-लक्ष्मण को वन में पहुँचा आने के उपरांत अयोध्या-प्रवेश के समय संकुचित हो रहे हैं -

पैठत नगर सचिव सकुचाई । जनु मारेसि गुरु बाँभन गाई ।।[६४]

स्मरणीय है कि दशरथ जी की मृत्यु का कारण 'राम-वनवास' ही था । अतः यहाँ दशरथ जी को 'गाय' कहना अनुपयुक्त नहीं है । यहाँ 'नाहरु' से तात्पर्य पराक्रमी या उद्यमी से है । 'नाहरु' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र किया है -

पुनि हँसि उठ्यो नंद को नाहरू, लियो कर कुधर उठाय ।।[६५]

कर्ता-कर्म एक वचन में 'नाहर' में अपभ्रंश का 'उ' है, अकारांत पुल्लिंग को गोस्वामी जी ने उकारांत कर भी दिया है । जैसे राम रामु मन मनु आदि । 'नाहर' का 'नाहरू' जैसा कि उक्त उदाहरण से स्पष्ट है, हो जाता है । छंदानुरोध के कारण 'नाहरू' का नाहरु या 'नहारु' हो सकता है । 'नाहरु' का विकास संस्कृत 'नरहरि' से हुआ है ।[६६]

---

६२. मानस १।२७३।६

६३. वही, १।२७३।७

६४. वही २।१४६।३

६५. श्रीकृष्णा० १८

६६. दे० हिन्दी शब्दसागर,पृ० २६००-२६०१

गोस्वामी जी के प्रत्यक्षराशिष्य रामु ि[illegible]द ने "नहारु" का अर्थ शार्दूल करते हैं —

कृते मयि स्वयं पापात् तपमेवाचरिष्यसि ।
गां मारयसि शार्दूल कृते किं फलं तव ।।[67]

ग्राउस महोदय,[68] रामेश्वर भट्टजी,[69] अवध बिहारी दास जी,[70] श्रीकांत-शरण जी[71] रायबहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथप्रसाद भानु जी,[72] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय,[73] काष्ठजिह्वा स्वामी, मर्यंकार लाला भगवान दीन जी[74] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी[75] आदि अधिकांश टीकाकारों ने "नहारु" का अधि सिंह और दास जी को गाय स्वीकार किया है। गाय और सिंह का बैर प्रसिद्ध भी है। स्वयं गोस्वामी जी ने ही कहा है —

देखि हैं हनुमान गोमुख नाहरनि के न्याय ।[76]

विरोधिता नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी यहाँ "नहारु" का अर्थ सिंह ही होगा। अतः भरत जी को सिंह की उपमा देना अनुचित नहीं है।

गौड़ जी कहते हैं कि "सिंह या व्याघ्र अर्थ में कोई अलंकारिक रूपक नहीं है। किन्तु यह असंगत है क्योंकि सिंह और गाय" का विरोध प्रसिद्ध है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ - "तू सिंह के लिए गाय को मार रही है" यह अभिधेयार्थ हुआ। उपर्युक्त अधिकांश टीकाकार अभिधेयार्थ के ही चक्र में फंसे रहे किन्तु इस

----

67. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० ३०३
68. यू वु विल रिपेंट एट द लास्ट, ओ माऽजरेबल वुमन, टु एर्निंग एट द टाइगर यू दस शाट हेड द काऊ - द रामा० आव् तुलसीदास, पृ० १९८
69. मानस, पृ० ४११ 70. मानस, पृ० ४१४-१५
71. मानस सि०ति०, सि०सं०, पृ० १७५-१७६
72. तुलसी तत्व प्रकाश, पृ० ५८५६
73. पृ०सं०, अ०भा०विपरि० काशी, पृ० ३६१
74. मा०पी०भू० पृ० १६७
75. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १६६ -७१
76. विनय० २२०

कथन में मुख्यार्थ का बाध है। वास्तव में सिंह के लिए गाय मारना मुहावरा है। मुहावरे में मुख्यार्थ का बाध होता है। इसमें लक्ष्यार्थ प्रधान होता है। डा० प्रतिभा अग्रवाल ने भी इसे मुहावरा माना है किन्तु उनके मस्तिष्क में नाहर का अर्थ तांत था इसलिए उन्होंने इसका अर्थ किया - "तुच्छ आवश्यकता के लिए बड़ा नुकसान करना"[77] परन्तु यह अर्थ जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट है, उपयुक्त नहीं है। अतएव सिंह के लिए गाय मारना उस मुहावरे का अर्थ होगा -"पराक्रमी व्यक्ति के लिए महा-पाप करना।" तात्पर्य यह है कि कोई अकर्मण्य के लिए पापपूर्ण आचरण से भी उसके जीवन-यापन हेतु सुव्यवस्था करे तो कुछ सीमा तक उचित भी है, क्योंकि पापी बनकर भी यदि किसी का उपकार हो जाय तो उतना बुरा नहीं है। किन्तु एक पराक्रमी या उद्योगी व्यक्ति के लिए पाप करने से तो अन्ततः पछताना ही पड़ेगा। पराक्रमी व्यक्ति अपने सुख सुविधा की व्यवस्था स्वयं कर लेगा। अतः उसके लिए पाप करने का प्रतिफल पछताना ही है क्योंकि पराक्रमी व्यक्ति उस पापपूर्ण आचरण से आभारी न होकर उसे अपकारी ही समझेगा। जैसा कि भरत ने किया। कैकेयी ने भरत से कहा कि - "तात बात मैं सकल संवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी॥"[78] भरत ने आगे कहा कि - जब ते कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥ बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुह परेउ न कीरा॥[79] अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - "अरी अभागिनी! अन्त में तू पश्चाताप करेगी। क्योंकि तू पराक्रमी व्यक्ति के लिए महापाप कर रही है।"

दीप बात नहिं टारन कहऊँ

बिपिन पुरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥[80]

---

77. हिन्दी मुहावरे, पृ० ४०३
78. मानस० २।१५६।१
79. वही १०२।१६१।१-२
80. मानस २।५६।४

रामेश्वर भट्ट जी,[८१] ग्राउस महोदय,[८२] और पोद्दार जी ने [८३]इसका अर्थ किया है कि कभी दीपक की बत्ती हटाने को भी नहीं कहती । मानस तत्वान्वेषी पं० रामकुमारदास जी भी इसी अभिधेयार्थ को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर मणि के दीपक (मणि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं ।) हैं, वहाँ दीप की क्याकी क आवश्यकता ? देव पूजन, अनुष्ठान, दीप मालिका आदि समय पर धर्म शास्त्र की आज्ञानुसार नित्य दीप जलाना आवश्यक है । बड़े बड़े भारतीय नगर में जहाँ कृत्रिम विद्युत प्रकाश रात के दिन बनाये रहते हैं, वहाँ आज भी तादवसरों पर धार्मिक हिन्दुओं के घर में घृत तैलादि के ही दीप जलाये जाते हैं बिजली के बल्ब से धार्मिक कृत्यों में दीप का काम नहीं लिया जाता । वैदिक धर्मशास्त्र के अनुसार नित्य सायंकाल में दीप जलाना प्रत्येक गृहस्थाश्रियों का कर्तव्य है और वहाँ पुरुषों का दीप निर्वापण दोष बतलाया गया है और वह दीप निर्वापण कार्य कुल देवियों को ही करना चाहिए —

दीपनिर्वापणात्पुंसः कूष्माण्डच्छेदनात्स्त्रियः ।
अचिरेणैव कालेन वंशनाशो भवद् ध्रुवम ।।

- शार्ङ्गधरपद्धतिः ६५१

अतः प्रकाशनार्थ नहीं अपितु स्वगार्हस्थ्य धर्म पालनार्थ भी अवधेश के राज सदन में दीप नित्य जलाया जाता था और उसका निर्वापण बाती उसकाकर (टारकर) निर्वापण कार्य गृहिणी ही कर सकती थी, परन्तु कभी कभी कौशल्या जी ने सुकुमारि सीता से उस अत्यंत सुगमातिसुगम कार्य दीप निर्वापण कालीन बाती भी टारने के लिए अपने मुख से नहीं कहा ।...... सभी जानते हैं कि सरसों आदि तेलके दीपक यदि वायु देकर बुझा दिया जाता है तो कुछ देर तक उससे अप्रिय गंध आती रहती है । अतः बुझाने वाले को चाहिए कि जलती हुई बत्ती को टार (खिसकाकर) तेल में डुबा दे । इससे दुर्गन्ध भी नहीं आती ।[८४]

---

८१. मानस०, पृ० ५५२

८२. द रामा० आव् तुलसीदास, पृ० २०६

८३. मानस, पृ० ३८१

८४. मानस शंका समाधान रत्नावली भाग २, पृ० ३६-४०

यद्यपि यह तथ्य पूर्णरूपेण अस्वीकार्य नहीं है किन्तु वस्तुतः 'दीप की बत्ती टालने को न कहना' लोकोक्ति है। लोकोक्ति का सम्बन्ध किसी प्रभावपूर्ण कथा से होता है। मानस टीकाकार श्री मुंशी रोशनलाल लिखते हैं कि -

'कुम्भासुर अयोध्या में पत्थर की वर्षा कर उपद्रव मचाये रहता था, नारद वशिष्ठ आदि महर्षियों ने विचारकर कहा कि इसके शमन के लिए यज्ञ किया जाय पर उस यज्ञ की पूर्ति तभी होगी जब सीता जी अपने हाथ से उस यज्ञ के दीपक की बत्ती उसकावें। इतना उत्पात हो रहा था, प्रजा को दुःख था, तब भी कौशल्या जी ने यह स्वीकार न किया कि श्री जानकी जी को इतना भी कष्ट दिया जाय। गणपति उपाध्याय जी कहते हैं - 'पाहन वर्षा देखि के कहि नारद बहु भाँति।

दीप शिखा सिय टारहीं होइ विघ्न सब शान्त।।'[८५]

श्री अवधविहारीदास जी कहते हैं कि किसी पुराण में कहा है कि एक दैत्य श्री अवधविहारीदास जू के अवध में आ-आ कर उपद्रव करता रहता था। उसकी मृत्यु इस प्रकार थी कि मिट्टी के घड़े में छिद्र करके उसमें दीपक जलाकर यदि श्री जानकी जी उस दैत्य को दिखा दें तो उसकी मृत्यु हो जाय, पर कौसल्या जी इस विचार से कि सीता जी को कष्ट होगा, यह कार्य उनको नहीं करने देती थीं। राजा दैत्य के कारण बड़े दुखी थे। जब राजा को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कौसल्या जी से कहा कि जानकी से यह काम करा दो। ऐसा किया, जानकी जी ने उसे ज्यों ही बत्ती दिखायी, उसकी मृत्यु हो गयी।'[८६]

इन कथाओं की सत्यता पर संदेह भले ही किया जाय, किन्तु यह तर्क अकाट्य है कि 'दीप की बत्ती टालने को न कहना' इस लोकोक्ति का आधार उपर्युक्त कथाएँ अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य कथा अवश्य रही होगी। क्योंकि लोकोक्तियों का सम्बन्ध अतीत में लोक-जीवन से घटी किसी घटना से होता है जो किसी कारणवश विशेष प्रभावपूर्ण होने के फलस्वरूप लोक मानस पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। कभी भी तदनुरूप प्रसंग आने पर उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती हैं।

---

८५. मा०पी०, अयो० पृ० २८८

८६. मानस, पृ० ४३६

विजयानंद त्रिपाठी[८७] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[८८] ने 'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ' का अर्थ अत्यंत साधारण काम' किया है। डा० प्रतिभा अग्रवाल[८९] और श्रीकांतशरण जी ने इसे मुहावरा कहा है। किन्तु कथा पर आधारित होने के कारण यह लोकोक्ति के अधिक सन्निकट है। अत: दीप बाति नाहिं टारन कहऊँ - 'दीप की बाती टालने को न कहना' का अर्थ है - 'अत्यंत सुगम कार्य के लिए भी न कहना।' इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - (कौशल्या जी कहती हैं कि) मैं संजीवनी बूटी की भाँति उनकी (सीताजी की) रक्षा करती रहती हूँ। मैंने उनसे अत्यंत सुगम कार्य लिए भी नहीं कहा।'

'घालेसि सब जगु बारह बाटा'

मोहि लगि येहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सबु जगु बारह बाटा ॥[९१]

'घालेसि सबु जगु बारह बाटा' का अर्थ करते हुए भी श्रीरामचरणदास जी कहते हैं कि 'सब जगत बारह बाट घालेउ है बारह बाट कही लौकिक वाणी है निःकृष्ट मार्ग है दारिद्र निरादर भय शोक ४ अधिभूत ते हैं मुर्छत्व परिणाम अपमान चिन्ता संकल्प उद्वेग ४ ये चारि अधिदैवतते हैं कफ वात पित्त रोगादिक ४ ये चारि अध्यात्म ते हैं ये तो बारहबाट सामर्थ्य में कहे जाते हैं तहाँ करुण रस है किन्तु बारह बाट कही अष्टदिशा अरु चारिउ फलतामें सर्व जगत् को घालिकही प्राप्त कियो है। श्रीरामचन्द्र को बनगमन कारणदेव मुनि इत्यादि सबको सकाम घाट में प्राप्त कियो है।[९२]

'काष्ठ जिह्वा स्वामी का मत है कि सब जग तहस नहस भा बारहबाटा

----

८७. वि०त्रि० अयो०, पृ० ९१
८८. तु०ग्रं०, ना०प्रा०वि०परि०, काशी, पृ० ४११
८९. हिन्दी मुहावरे, पृ० ३५७
९०. मानस, सि०ति०, द्वि०खं०, पृ० १०२४
९१. वही, २।२११।५
९२. रामा०, पृ० ५६३

जैसे पूर्ण आत्मा दस इन्द्रिय और मन बुद्धि यह बारह बाट में बिखर के जन्म जन्म खराब होते हैं। व्यासों की प्रणाली की अनेकार्थ प्रधान व्याख्या पद्धति के आधार पर अर्थ करते हुए हरिहरप्रसाद जी लिखते हैं कि - "घालेसि सब जग बारह बाटा का यह भाव कोऊ कहते हैं कि राजा पर प्रयोग किहेसि पर राजा ही सब देस है ताते सब पर परा बारहबाट कहें आपदा यह लोकोक्ति है। कोऊ कहत अहैं मोह, दैन्य[६३] त्रास, हानि, ग्लानि, क्षुधा, तृषा, क्रोध, मृत्यु व्यथा अकीर्ति मोह आदि।[६३] विनायकराव जी इसका अर्थ करते हैं कि - "उसने ये सब बुरा साज मेरे लिए ही तैयार किया था। (जिसके द्वारा) उसने सब संसार को दीन दुखिया कर दिया। इसके उपरांत राव जी[६४] पाद टिप्पणी में और पं० ज्वालाप्रसाद जी[६५] ने १२ मार्गों का उल्लेख किया है जिससे लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, "मोहो दैन्यं भयं त्रासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्रोधो व्यथाकीर्तिर्बाटो ह्येते हि द्वादश:" रामायणी श्री रामसुन्दरदास जी ने इनके उदाहरण राजा-रानी परिजन, प्रजा, रिपु में विभिन्न स्थलों से दिया है। उनके भावानुसार - "१. मोह, २. दीनता, ३. हानि, ४. ग्लानि अवधवासियों को। ५. भय रावण को, ६ त्रास जनक महाराज आदि को, ७-८. क्षुधा-प्यास लक्ष्मण-जानकी को, ९-१० क्रोध देवताओं को मृत्यु महाराज को, ११. व्यथा कुबरी आदि को और १२. अकीर्ति कैकेयी को प्राप्त हुई।"[६६]

श्री जानकीनंदनशरण जी ने मानस पीयूष में बारह बाट इस प्रकार लिखा है -

लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥[६७]

---

६३. रामा०परि०परिशिष्ट,प्र०,पृ० १२०

६४. वि०टी०,पृ० ३१६

६५. सं०टी०,पृ० ५८६

६६. मा०पी०,अयो०,पृ० ७६१-६२

६७. मानस २।७९।३-५

१. राम को बन का रास्ता, २. सीता को बन का रास्ता, ३. लक्ष्मण को बन का रास्ता, ४. दशरथ को यमपुर का रास्ता, ५. अपने को विलपन का रास्ता, ६. अपयश का रास्ता, ७. प्रजा को शोक का, ८. प्रजा को संताप का, (९-१०-११. सुख को सुख का, सुयश का, सुराज का रास्ता और १२. राम को सुराज का रास्ता।[९८]

उपर्युक्त सभी क्लिष्ट कल्पना युक्त एवं लौकिकत्व मर्थ है। 'बारह बाट घालना' मुहावरा है। मुहावरे में अभिधार्थ का नहीं, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता है। अर्थ व्यंजना ही मुहावरों का प्राण है। अतः यह कहना कि अमुक पंक्तियाँ ही बारह बाट हैं, अनर्थ करना है। 'बारह बाट' में कैकेयी के समस्त कुकृत्य आ गये। थोड़े में बहुत कुछ कह देना, यह मुहावरों के द्वारा ही संभव है। गोस्वामी जी ने भरत जी के वाक्यों की विशेषता बताते हुए कहा भी है -

अरथ अमित अति आखर थोरे।[९९]

थोड़े शब्दों में अधिक कहना भरत जी की विशेषता है। मुहावरे की भी यही विशेषता है। अतः सिद्ध है कि 'बारह बाट घालना' मुहावरे के रूप में गोस्वामी जी ने प्रयुक्त किया है। 'बारह बाट घालना' मुहावरे की व्युत्पत्ति 'लोको दैन्यं भयं त्रासो' नामक उक्त श्लोक से मानी जा सकती है।

गोस्वामी जी के 'बारह बाट घालना' नामक मुहावरे का अर्थ है - 'नष्ट-भ्रष्ट करना और 'बारह बाट जाना' का अर्थ है - 'नष्ट-भ्रष्ट होना'[९९क] इस अर्थ में उन्होंने इसका प्रयोग किया है -

लंक सुभ परचा चलति, हाट, बाट, घर घाट।
रावन सहित समाज अब, जाइहि बारह बाट ।।[९९ख]

---

९८. मा०पी०, अयो०, पृ० ६६६

९९. मानस २।२९३।२

९९क. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३४६३

९९ख. रामाज्ञा० ५।६।२

इसी प्रकार दोहावली में इसका प्रयोग हुआ है।[९६] 'औचित्य' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। यहाँ पर 'जग' का तात्पर्य परिचित या सम्बन्धित जन समुदाय से है। जैसे लोग कहते हैं कि 'आप मरे तो जग मरा।' अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा --उसने (कैकेयी ने) यह सब (उक्त) अभिचार मेरे लिए रचा और सारे संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।' विजयानंद त्रिपाठी जी,[९७] श्रीधनिशारीदास जी,[९८] ग्राउस महोदय,[९९] रामेश्वर भट्ट जी,[१००] पोद्दार जी,[१०१] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय [१०२] और श्रीकांतशरण जी ने [१०३] 'बारहबाट घालना' को मुहावरा स्वीकार करके उक्त अर्थ ही किया है। रामनरेश त्रिपाठी जी मुहावरे का अर्थ मुहावरे में करते हुए 'बारह बाट घालना' का अर्थ तीन तेरह करना किया है।[१०४]

<u>लाज सुराग की गांडर तांती</u>

सो मैं कुमति कहौं केहि भांती। लाज सुराग कि गांडर तांती ॥[१०५]
टीकाकारों ने 'गांडर' शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। वीरकवि जी[१०६] और विजयानंद त्रिपाठी जी[१०७] ने 'गांडर तांती' का अर्थ 'भेड़ की तांत' किया है। विनायकरावजी

----

९६. दोहा० ४९६ एवं 'बारह बाट' ५०० । दोहा० ५००। एवं ४९६
९७. मानस०वि०टी०, अयो०पृ० ३०५
९८. मानस,पृ० ५८०
९९. द रामायन आव तुलसीदास,पृ० २७६
१००. रामा०,पृ० ५७४
१०१. मानस०,पृ० ५०२
१०२. तु०ग्रं०,अ०भा०वि०प्रा०काशी,पृ० ५४१
१०३. मानस सि०ति०,द्वि०खं०,पृ० १२९७
१०४. मानस,पृ० ६११
१०५. मानस २।२४०।६
१०६. मानस, पृ० ७११
१०७. वि०टी०,द्वि०भा०,पृ० ३५०

के अनुसार 'कहीं गड़रिये के भी ऊन से सुरावट के शब्द निकाल जाते हैं।'[१०८] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने भी 'भेंड़ की ऊन धुनने की तांत' अर्थ किया है।[१०९] श्री रामबहल पाण्डेय ने भी यही अर्थ किया है।[११०] रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'ऊन की तांत' अर्थ किया है।[१११]

ज्वालाप्रसाद जी,[११२] श्यामसुन्दर दास जी,[११३] शुकदेव लाल जी[११४] श्रवधबिहारीदास जी[११५] ग्राउस महोदय,[११६] श्री [illegible] जी,[११७] और श्री रामदास गौड़ जी,[११८] 'गांडर' तालाबों और झीलों से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास मानते हैं। पं० रामकुमार जी इसका अर्थ मूंज की डोरी किया है।[११९]

अनेकार्थ प्रधानवाली व्यासीय टीकाकारों ने भी अनेक अर्थ किये हैं। श्रीरामचरणदास जी लिखते हैं कि "गाडर के तार ते कहुं धुराग बाजे है नहीं बाजे गाडर कहीं गडरिया के ऊन को सूत किंतु गाडर कहि तृण तेहि की रज्जु तेहि ते राग नहीं निकसत है।[१२०] हरिहरप्रसाद जी के मत से, गांडर कहे भेंड़ की तांत ते बाजत है अर्थात् नहीं बाजत है कोऊ अस कहत गांडर घास विशेष तस का भेद।[१२१] पंजाबी जी के अनुसार "गांडर तांति कहिये भेंड़ की स्थूल नाड़ी किंवा ब्रज में गाडर पनहि को कहते हैं जिससे तान उठती है जिसकी तांत से नहुं कैसे बाजे।[१२२] रामेश्वर भट्ट जी, पोद्दार जी और मानसपीयूषकार ने अपने अर्थ में ज्यों का त्यों गांडर की तांत ही लिख दिया है।[१२३]

----

१०८. वि०टी०, पृ० ३४१

१०९. पृ०सं० ना०प्र० वि० परि० काशी, पृ० ५६५

११०. मा०पी०,अयो०,पृ० ८५८

१११. मानस,पृ० ६४०

११२. सं०टी०,पृ० ६१

११३. वही,पृ० ५६६

११४. रामा०,पृ० ६२६

११५. वही, पृ० ६०८

११६. एक सन इन्स्ट्रूमेंट इज वनली स्ट्रंग विथ ग्रास कैन इट मेक स्वीट म्यूजिक, द रामा० आव तुलसीदास,पृ० २६०

११७. मानस० सि०ति० सि०सं०,पृ० १३५०

११८. मा०पी०,अयो०,पृ० ८५९

११९. वही, ८५८

१२० रामा०,पृ० ७२४

१२१. रामा०परि०परिशिष्टपृ०पृ०१३७

१२२. मा०भा०, पृ० २८२

१२३. दे० क्रमशः रामा०,पृ० ६०१, मानस पृ० ५९५, और मा०पी०अयो० पृ० ८५७

इस प्रकार टीकाकारों ने इसके लगभग ५ अर्थ किये हैं — १. भेड़ की तांत, २. गड़रिये के धीं ऊन या भेड़ की ऊन धुनने की तांत, ३. ऊन की तांत , ४. मूंज , ५. एक प्रकार की घास । भेड़ की तांत और एक प्रकार की घास अर्थ कई लोगों ने किये हैं । कोशों में गाडर और गांडर दोनों भिन्न शब्द हैं । 'गाडर' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है । यह संस्कृत गड्डरी या गड्डरिका से विकसित है । इसका अर्थ है भेड़ ।[१२४] 'गांडर' का अर्थ इस प्रकार दिया है - संज्ञा स्त्री० (सं० गंडाली) मूंज की तरह की एक घास जिसकी पत्तियाँ बहुत पतली और हाथ डेढ़ हाथ लंबी होती हैं । जड़ से इसके अंकुर गुच्छों में निकलते हैं । यह घास तराई में तथा ऐसे स्थानों पर होती है जहाँ पानी इकट्ठा होता है । नेपाल की तराई में तालों और झीलों के किनारे यह बहुत उपजती है । इसकी सूखी जड़ जेठ असाढ़ में पनपती है और उसमें से बहुत से अंकुर निकलते हैं जो बढ़ते जाते हैं । कुआर के महीने में बीच से पतलीपतली सींकें निकलती हैं जिनके सिरे पर छोटे जीरे लगते हैं । किसान सींकों को निकाल कर उनसे झाड़ू ,पंखे टोकरियाँ इत्यादि बनाते हैं और पत्तों को काटकर उनसे छप्पर छाते हैं । इस घास की जड़ सुगन्धित होती है और इसे संस्कृत में उशीर तथा फारसी में खस कहते हैं । यह पतली सीधी और लंबी होती है और बाजारों में खस के नाम से बिकती है । खस का अतर निकाला जाता है और उसकी टट्टियाँ भी बनती हैं, खस से नैचे भी बाँधे जाते हैं । बीरन खस ,[१२५] उदाहरणस्वरूप यह अर्धाली प्रस्तुत है ।

स्मरणीय है कि पाठ गांडर ही है अतः यहाँ पर यही अर्थ संगत है । गोंडा जनपद में इसे 'गँड़रा' कहते हैं । युक्ति संगतता नामक अर्थ निश्चय के आधार पर 'एक प्रकार की घास' अर्थ ही निश्चित होता है, क्योंकि 'भेड़' आदि की तांत से कुछ न कुछ राग निकल ही सकता है । जैसा कि गोस्वामी जी मानते हैं कि तांत से राग निकलता है -

बेद साधु गुरु, सुनि पुरान, श्रुति बूझ्यो राग बाजी तांति ।[१२६]

---

१२४. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७८३ , बृहत् हिन्दीकोश, पृ० ३६२ और तुलसी शब्द-सागर, पृ० १२३

१२५. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७८६, और तुलसी शब्दसागर, पृ० १२२

१२६. विनय० २३३

किन्तु गाँडर एक प्रकार की घास की तांत से कुछ भी राग नहीं बज सकता । अतः 'क्या गाँडर (एक प्रकार की घास) की तांत से सुंदर राग बज सकता है', यह 'तात सुराग की गाँडर ताँती' का अर्थ हुआ । मानस के सभी टीकाकार इसी अभिधेयार्थ में फंसे रहे । 'क्या गाँडर (एक प्रकार की घास) की तांत से सुन्दर राग बज सकता है ? यह एक प्रकार का मुहावरा है । मुहावरे में लक्षणा या व्यंजना की प्रधानता होती है । अतः उक्त अर्थ पूर्वोक्त अर्धाली का लाक्षणिक अर्थ नहीं है । इसका अर्थ होगा - क्या नगण्य (बहुत ही साधारण-से होते अथवा नितांत असमर्थ व्यक्ति या) वस्तु से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) कार्य हो सकता है ?' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा- भरत और राम के जिस अगम प्रेम का वर्णन ब्रह्मा, विष्णु और महेश (त्रिदेव) भी करने में असमर्थ हैं । 'उस प्रेम को मैं दुर्बुद्धि किस प्रकार कहूँ ? क्या नितांत असमर्थ (नगण्य व्यक्ति या) वस्तु से उत्कृष्ट कार्य हो सकता है ?'

इसी प्रकार का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है —

<u>भुमि नागु सिर धरै कि धरनी</u>

सो मैं कहौं कवन बिधि बरनी । भुमिनागु सिर धरै कि धरनी ।।[124]

यहाँ पर भी बैजनाथ जी[125] शुकदेव जी,[126] ग्राउस महोदय,[127] [illegible]दास जी[128] श्यामसुन्दर दास जी और हरिहरप्रसादजी[129] 'भुमिनाग' का लाक्षणिक अर्थ पृथ्वी का साँप किया है । किन्तु हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ केंचुआ किया है और उदाहरण स्वरूप यही अर्धाली प्रस्तुत है ।[130] मानस पीयूषकार कहते हैं कि केंचुआ के सिर नहीं होता । अतः 'पृथ्वी का सर्प' अर्थ भी अच्छा घट जाता है ।[131]

---

१२४. मानस १।३५५।६

१२५. रामा०, पृ० ७५६

१२६. ,, पृ० २०६

१२७. अर्थाली सपॅट - द रामा० आव तुलसीदास, पृ० ६०३

१२८. मानस०, पृ० ३७३

१२९. वही, पृ० ३४३, रा०परि०परिशिष्ट, पृ० २१६

१३०. दे० पृ० ३३८५

१३१. मा०पी०बाल०खं० ३, पृ० ८८७

किन्तु नितांत असमर्थता सूचित करने के लिए लोक प्र[illegible] अर्थ केंचुआ ही उपयुक्त है। श्रीरामचरणदास, विनायकराव जी, वीरकवि जी, श्रीकांतशरण जी,[१३२] पोद्दारजी, रामेश्वर भट्ट जी, विजयानंद त्रिपाठी जी, रामनरेश त्रिपाठी जी,[१३३] तुलसीग्रन्थावली के संपादक और मानस पीयूषकार[१३४] ने केंचुआ अर्थ ही किया है।

'क्या केंचुआ पृथ्वी को सिर पर धारण कर सकता है?' यह उक्त अर्धाली के दूसरे चरण का अभिप्रायार्थ हुआ। यह भी मुहावरा है जिसका अर्थ है 'क्या नितांत असमर्थ जीव उत्कृष्ट कार्य कर सकता है' जहाँ भरत और राम के आपस स्नेह के वर्णन की असमर्थता जैसे व्यक्त की गयी थी, वैसे ही यहाँ गोस्वामी जी कहते हैं कि - चारों भाई (राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न) परिणय के उपरांत जब अयोध्या में आये, उस समय के प्रेम, परम आनन्द विनोद, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरता को सैकड़ों शारदा शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश और गणेश जी (भी) नहीं कह सकते। 'उसका मैं किस प्रकार से वर्णन करके कहूँ? क्या नितांत असमर्थ जीव उत्कृष्ट कार्य कर सकता है?' औचित्य नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है।

धुआँ देखि

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावनु प्रेरा ।।[१३५]

'धुआँ देखि' का लोगों ने अनेक तरह से अर्थ किया है। रामनरेश त्रिपाठी जी ने इसका शाब्दिक अर्थ 'धुआँ देखकर' किया है।[१३६] ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि खरदूषन की मृत्यु देखकर या बाणों से जलने का धुआँ देखकर।[१३७] हरिहरप्रसाद जी

---

१३२. दे० क्रमशः रामा० पृ० ४६०, वि०टी० पृ० ३०१, मानस,पृ० ४२३, सि०ति० पृ०श्रा० पृ० ८७७,

१३३. दे० क्रमशः मानस,पृ० ३२७, रामा० पृ० ३६५, वि०टी०ज्वाला० पृ०,५८७, मानस,पृ० ३६० ।

१३४. पृ०श्र०भा०वि० परि०,काशी, पृ० ३५० और मा०पी०बा०सं० ३,पृ० ८८७

१३५. मानस ३।२१।५

१३६. ,, पृ० ७७१   १३७. सं०टी०,पृ० ७११

कहते हैं कि धुर्वा बुंदेल खंड की भाषा है जिसका अर्थ है मृतक शरीर ।[१३८] कुछ लोग कहते हैं धुर्वा पंजाबी शब्द है जिसका अर्थ लाश होता है । विश्वानंद त्रिपाठी जी ने शंकरप्रसाद जी के अर्थ को स्वीकार किया है । तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने इसका अर्थ शव और पाद टिप्पणी में तर-दूषण के जलने का धुआँ अर्थ किया है ।[१३६]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि शब्द प्रयोग में इतना सावधान कवि हिन्दी में दूसरा नहीं दिखायी देता । मानस के तृतीय सोपान में शव के लिए 'धुर्वा' शब्द का व्यवहार हुआ है । कवि ने इसीलिए रामचरित मानस में अन्यत्र कहीं 'धुर्वा' शब्द का व्यवहार (अग्नि कारण के कार्य रूप धूम के लिए) नहीं किया । उस अर्थ में सर्वत्र 'धूम' शब्द का ही व्यवहार है । अपने अन्य ग्रन्थों में अग्नि से निकलने वाले धूम के लिए जब 'धुएँ' का व्यवहार किया तब वहाँ शब्द के अर्थ में इस शब्द को कहीं भी व्यवहृत नहीं किया ।

किसी किसी ने 'धुआँ' और 'धुर्वा' में अन्तर करके 'धुआँ' का अर्थ शव और 'धुर्वा' का अर्थ धूम किया है । हिन्दी शब्द सागर में उक्त अर्धाली में 'धुर्वा' का अर्थ 'धुरी, धज्जी' किया गया है । पर यह शब्द आज भी अवधी क्षेत्र में व्यवहृत होता है और उसका अर्थ मुर्दा ही है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द 'धूम' से विकसित न होकर 'ध्वंस' से विकसित हुआ है । इसी ध्वंस से 'धुआस' शब्द का भी विकास है, ऐसा लगता है । क्योंकि धुआँस शब्द का व्यवहार उरद के आटे के लिए होता है, इसलिए हिन्दी शब्द सागर में धुर+मास - उरद इसका विकास माना गया है । विकल्प में धूमसी शब्द भी दिया है । ध्वंस से विकास की अधिक संभावना इसलिए प्रतीत होती है कि वही उरद की दाल जब भिगोकर पीसी जाती है तब 'पीठी' कहलाती है । पीठी अर्थात् पिष्ट, पीसी हुई । पर चने की छिलके रहित दाल का आटा बेसन कहलाता है जो पेषण से विकसित जान पड़ता है । हिन्दी शब्दसागर में इस बेसन को देशज माना है । शब्द-श्रवण मात्र से अर्थान्तर का बोध हो जाय

---

१३६. प्र०सं०श०भा०वि०परि०काशी,पृ०६६६

१३८. रा०परि०परिशिष्ट,पृ०पृ० २३

इसलिए एक ही शब्द से विभिन्न शब्दों में अर्थान्तर कर लिया जाता है ।[१४०]

अनेकार्थी प्रधान टीकाओं में इसका अर्थ इस प्रकार है — श्रीराम चरणदास के अनुसार खर दूषण आदिक वीर जे दग्ध भये तिनको धुआँ देखि के यह धुआँ क्या सूझि गये ।[१४१] मानस मयंककार के मत से —

धूँध उठा खर देख से, वा सगामीनि धूम ।
धुआँ धुंग पुनि रुधिर से, निकसी चहुँ दिशि धूम ।। ४१।।

धुआँ के भयंकर ऐसे खरदूषण को देखकर अथवा धुआँ के भयंकर ऐसे नाश होते देख कर अथवा स्त्रियाँ जो अपने पति के साथ सती होती थीं उनकी चिता से निकला हुआ धूम को देखकर वा मुर्दों के रुधिर से (भाफ) धुआँ ऊँचा कर चारों ओर फैल गया इसको देख कर सुपनखा रावण के पास गई ।[१४२]

उपर्युक्त टीकाकारों ने इसके ये अर्थ किये हैं - मृत्यु, मृतक शरीर, लाश, शव, अथवा मुर्दों बाणों से खर दूषण के जलने का धुआँ, धुआँ जैसे सुलगना, धुआँ भयंकर जैसे नाश होते देखकर और पति के साथ सती होने वाली के चिता से निकला हुआ धूम यहाँ मुर्दा या शव अर्थ धुआँ का आपेक्षयार्थ हो सकता है । शेष सभी अर्थ काल्पनिक होने के कारण अग्राह्य हैं । [illegible] में 'धुआँ देखना' मुहावरा है । लोग क्रोधावेश में कहते हैं कि हम तुम्हारा धुआँ देखेंगे अर्थात् विनाश देखेंगे । अतएव 'धुआँ देखना' का अर्थ हुआ विनाश देखना । उक्त अर्धाली का अर्थ होगा — 'खरदूषण का विनाश देखकर सूर्पणखा ने जाकर रावण को प्रेरित किया ।'

श्री रामवल्लभ शरण ने यही अर्थ स्वीकार किया है । वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि 'नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि । अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां संप्रदृश्यते ।' अर्थात् स्वप्न में जो मनुष्य गधे पर सवार जाता देख पड़ता है, उसकी चिता से धुआँ उठता दिखायी पड़ता है ।[१४३] इससे भी 'विनाश' अर्थ का

---

१४० सरस्वती विशेषांक, श्रावण १९७४ पं० विश्वनाथ प्रसाद जी का लेख, पृ० १३१

१४१. रामा०, पृ० ८५४

१४२. मा०मं०, बालकि० श्री इन्द्रदेवनारायण, पृ० ३२४-२५

१४३. मा०पी० अरण्य० पृ० २१६, वाल्मी० २।६९।१८

ही आभास होता है।

पंजाबी जी, वीरकवि जी,[१४४] विनायकराव जी, अवधविहारीदास जी, पोद्दार जी,[१४५] श्रीकांतशरण जी[१४६] और ग्राउज महोदय ने[१४७] भी लगभग ऐसा ही अर्थ स्वीकार किया है। युक्तिसंगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

बेनुमूल सुत भएहु घमोई

अबहीं तें उर संसय होई। बेनुमूल सुत भएहु घमोई॥[१४८]

मानसपीयूषकार और श्रीकांतशरण जी ने 'घमोई' को अर्थ 'घमोई' ही ज्यों का त्यों रख दिया है।[१४९] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय के अर्थ से भी इसका अर्थ अस्पष्ट ही रहता है। उनके अनुसार 'तू तो बांस की जड़ में (उसे नष्ट कर डालनेवाला) घमोय बनकर उत्पन्न हो उठा है।[१५०] पोद्दार जी कहते हैं कि तू बांस की जड़ में घमोई हुआ (तू मेरे वंश के अनुकूल या अनुरूप नहीं हुआ।[१५१]) पंजाबी जी के अनुसार - 'घमोई नाम का एक घास बांस के मूल ढिग उपजता है सो उसका आकार लघु होता है परन्तु बांस के वृक्ष को नष्ट कर देता है तैसे अब ही से कहिये तेरी बालक अवस्था में ही मुझे संदेह भया है क्या जानिये हमारी मूलकातू-विनाशक उपज्या है।[१५२] डा० रामनाथ त्रिपाठी जी ने ~~लिखे~~ लिखते हैं कि 'मूल कर्षक के

---

१४४. क्रमश: मा०भा०, पृ० ३८, मानस, पृ० ७४७ ।

१४५. दे० क्रमश: वि०टी०, पृ० ७६, मानस, पृ० ६२५, मानस, पृ० ६२३

१४६. मानस सि०ति० सि०खं०, पृ० १६०२ ।

१४७. द० रामायन आफ़ तुलसीदास, पृ० ३४८ ।

१४८. मानस ६।१०।३

१४९. दे० मा०पी०लंका०, पृ० ७०, सि०ति० लं० कां०, पृ० २०५३ ।

१५०. तु० ग्रं०, ना०प्र० वि० परि०, काशी, पृ० ७९६

१५१. मानस, पृ० ७४८

१५२. मा०भा०, लंका०, पृ० १४

लिए बांस की जड़ में घमोइ (कीट) होना ।[१५३] ग्राउस महोदय ने नरकुल या सरकंडा (रीड) अर्थ किया है ।[१५४] किसी टीकाकार का कथन है कि घमोई नाम का एक कल्ला बांस का होता है जो निकलते ही गुलगुला कर घुल कर रह जाता है ।[१५५] अनेकार्थप्रधान टीकाओं के टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं । हरिहरप्रसाद जी के अनुसार घमोय रोग वंश नामक लोक प्रसिद्ध वृक्ष विशेष पैदा भयो बांस का ।[१५६] उन्होंने इसका अर्थ कटीला, सत्यनाशी और भड़भड़ा भी किया है । वे कहते हैं कि बैसवाड़ा प्रदेश में इसे कड़ुवा कहते हैं ।[१५७]

विनायकराव जी के अनुसार - अरे लड़के । तू बांस की जड़ में नरसल की नाईं उत्पन्न हुआ (भाव यह है कि लड़ने का संस्य तो पराक्रम जिन को होना चाहिए, मुझ सरीखे योद्धा के कुल में तू ऐसा कपूत हुआ जैसे बांस की लड़का घमोई जो बांस की समता कुछ भी नहीं रखता वरन् उसका नाशक हो जाता है ।)[१५८] मानस मयंककार के मत से -

ना वेनुज बालक सही, ना तिस गुण को लेश ।

इमि मम निज को जानु सठ, भो कहु यह तु देश ।।६३।।

रावण ने प्रहस्त से यह कहा कि अरे ! दुष्ट ! जैसे घमोय न तो बांस से पैदा होता है न बांस का कुछ गुण उसमें रहता है परन्तु वह बांस का नाशक सत्य है तैसे न तो तू मुझसे पैदा हुआ है न हमारा कुछ गुण तुझमें है परन्तु तू हमारा नाश करने वाला है ।[१५९] पं० ज्वालाप्रसाद जी पाठ परिवर्तन करके -वेणु वंश सुत भयसि घमोई का अर्थ करते हैं कि तू बांस के वंश में जलाने को घमोई अग्नि अथवा बांस ही के

----

१५३. रामचरित मानस और पूर्वकालीय रामकाव्य, पृ० ४४६

१५४. फ्राम दिस टाइम आई हैव ए डाउट अन माई माइंड, हैन ए वेबुलेट हैव प्रोड्यूस्ड सच ए मियर रीड , द रामा० आव् तुलसी०, पृ० ५२६

१५५. मा०पी०,लंका०, पृ० ७०

१५६. रा०प०० परिशिष्ट, पृ०,पृ० ११

१५७. मा०पी०, लंका०, पृ० ७०

१५८. रामा०,वि०टी०, पृ० २६

१५९. मा०म०, बा० ह०दे०ना०पृ० ४६५-६६

वंश के बिगाड़ने को तू घुन हुआ, अथवा घमोई घास है, जिसके होते ही बाँस(जड़) से सूख जाता है।'[190] श्यामसुन्दरदास जी इसका अर्थ मकोय का पेड़ या एक रोग करते हैं।[191]

[illegible] हरिदास जी, रामनरेश त्रिपाठी जी और रामेश्वर भट्ट जी ने 'घमोई' का अर्थ बाँस का एक रोग किया है।[192] घमोई का अर्थ रोग करते हुए श्री रामदास गौड़ जी लिखते हैं कि घमोई कटंगी बाँस का एक प्रकार का रोग है जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँस की जड़ों में नकुए से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बाढ़ और नये कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं।[193]

'घमोई' शब्द के टीकाकारों ने लगभग ६ अर्थ किये हैं — १. एक घास जो बाँस के मूल में उत्पन्न होकर उसे नष्ट कर देता है। २. कीट या घुन, ३. नरसल, नरकुल या सरकंडा। ४. घमोई नाम का एक कल्ला जो निकलते ही गुड़गुड़ाकर सूख कर रह जाता है। ५. बाँदा, ६. अग्नि, ७. मकोय का पेड़, ८. बाँस का एक प्रकार का रोग, ९. सत्यानाशी, भड़भाँड़ा।

हिन्दी शब्दसागर में घमोई और घमोय दो शब्द भिन्न शब्द हैं। घमोई का अर्थ है - संज्ञा स्त्री० (देशज) कटंगी बाँस का एक प्रकार का रोग जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इससे बाँस की जड़ों में नकुए से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बाढ़ और नए कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं। उदाहरणस्वरूप उक्त अर्धाली-प्रस्तुत की गयी है।

<u>घमोय</u>

संज्ञा स्त्री (देशज) एक छोटा पौधा जो गोभी की तरह का होता है। इसके पत्ते कटावदार तथा काँटों से भरे होते हैं। पत्तों के पीछे तथा कटाव की नोकों पर काँटे होते हैं। इसमें केवल एक डंठल ऊपर की ओर जाता है, इधर-उधर टहनियाँ नहीं फैलतीं। फूल पीले और प्याले के आकार के होते हैं। फूलों के झड़ जाने पर

---

१९०. सं० टी०, पं०भा०सं०, १०।३

१९१. मानस, टी०पृ० ८२८

१९२. दे० क्रमशः मानस, पृ०७१, ६२७ और रामा०पृ० ८९५

१९३. मा०पी०, लंका०, पृ० ७०

कंटीले बीज कोश्रा रह जाते हैं इसके डंठल और पत्तों से एक प्रकार का पीला रस निकलता है जो आँख के रोगों में उपकारी माना जाता है। यह पौधा उजाड़ स्थानों में आप से आप बहुत सा उगता है।[१६४] बृहत् हिन्दी कोश में घमोई और घमोय का उपर्युक्त अर्थ ही लिया है।[१६५] संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में घमोई और घमोय को एक ही शब्द स्वीकार करके कँटीले पत्तों का एक पौधा, सत्यानासी भड़भाँड़ अर्थ लिया है।[१६६] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी तुलनात्मक ढंग से विवेचन करके दोनों को एक ही शब्द स्वीकार किया है। उनके अनुसार - 'बाँस की जड़ में घमोय होने का यह अर्थ क्यों न लगाया जाय कि कहाँ मार करने वाला बाँस और कहाँ उसकी जड़ भी में उसी थाले में, उसके कगारों में उत्पन्न घमोय सी तुच्छ वस्तु जो बाँस की छड़ी गिरने से भी नष्ट हो जाय। सत्यनासी पेंड़ काँटेदार तो होता है पर होता बहुत कोमल है।'[१६७] गोस्वामी जी ने 'घमोय' शब्द का प्रयोग 'भड़भाँड़' के अर्थ में किया है -

> करत कछु न बनत हरि हिय हरष सोक समोय।
> कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोय ।।[१६८]

जायसी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है --

> देखउँ तोर मँदिल घमोई। माता तोहि आँधारि भइ रोई ।।[१६९]

वस्तुत: घमोय और घमोई दोनों एक ही शब्द हैं, जिसका अर्थ है --भड़भाँड़, सत्यानाशी। हिन्दी शब्दसागर में घमोई का अर्थ - बाँस का एक रोग उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों के आधार पर किया गया है, जो कि संगत नहीं लगता। इसके अति-

---

१६४. दे० पृ० ८७७.

१६५. दे० पृ० ३६३.

१६६. दे० पृ० २८६.

१६७ गोसाईं तुलसीदास, पृ० २२२-२५

१६८. गीता ५।५

१६९. पदुमावत ३६८।२

रिक्त शेष सभी अर्थ काल्पनिक और अप्रामाणिक हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'घमोई' की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए यह संकेत किया है कि यह शब्द संस्कृत 'गर्मुत' से निकला जान पड़ता है।[१७०] मोनियर विलियम्स के संस्कृत अंग्रेजी कोश में गर्मुत्, गर्मुटिका, गर्मुद्, गर्मुटिका, गर्मुटि तथा गर्मोटिका आदि शब्दों का प्रयोग हिन्दी 'घमोई' आदि के अर्थ में मिलता है। डा० पूर्णसिंह कहते हैं कि मेरे विचार से हिन्दी घमोई का विकास इन्हीं रूपों से हुआ है। विकास क्रम निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है -

सं० गर्मुत्, गर्मुद्, गर्मोटिका प्रा० घम्मोही, घमोई (पाइअ० ३०५ - ३) हि० घमोई (घमोइ, घघमोय) -- (पाइअसद्द- महण्णवो)[१७१] विद्यानंद त्रिपाठी और वीरकवि जी भी 'घमोई' का अर्थ भंडभांड़ करते हैं।[१७२] गोण्डा जनपद में इसे 'भड़भाड़ा' कहते हैं। आज भी इलाहाबाद जिले के करछना आदि तहसीलों में घमोई उसी भंडभांड़ के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। लोगों का यह भी विश्वास है कि इसके खाने से 'पीलपाँव' नामक रोग होता है।

'बाँस की जड़ में घमोई होना' मुहावरा है जिसका अर्थ है - 'योद्धा के कुल में कायर (भीरु) होना।' इसके पूर्व प्रहस्त ने रावण से कहा भी है -

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर।।[१७३]

रावण ने उसकी एक भी बात स्वीकार नहीं की। प्रहस्त ने कहा कि मुझे भीरु न समझियेगा। रावण ने उसे भीरु ही माना। विभीषण ने भी रावण से ऐसी ही बात कही थी -

---

१७०. पद्मावत, पृ० ३७०

१७१. हिन्दी में देशज शब्द, डा० पूर्ण सिंह डबास, पृ० २१४-१५

१७२. वि०टी०, वृ० भा०, पृ० १६८, मानस, पृ० १०२७

१७३. देखिए क्रमशः मानस ६।६।७,८,१०,४, ६।१०।१, ६।६।५, ६।१०।२

प्रहस्त	विभीषण
तात बचन मम सुनु अति आदर	मति अनुरूप कहौं
बचन परम हित सुनत कठोरे	हित ताता
सीता देइ करहु पुनि प्रीती	सीता देहु राम कहुँ ०
सुनत नीक पै आगें दुखु पावा	जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना
कुमत जग तोरा	जो आपन चाहै कल्याना । सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना ।।
जेहिं बारिधि बँधायउ हेला	तात रामु नहिं नरभूपाला ।।
सुलसन कइ दसकंठ रिसाई ।	सुनत दसानन उठा रिसाई ।।
अस मति सठ केहिं तोहि सिखाई ।।[173]	कुमत-कासनन-उक्त-फिर सिखवति सदा सठ मोर जिआवा ।।[174]

रावण प्रहस्त को भी लात मार कर निकाल देता किंतु उसे भय है कि इससे गृह में ही कलह हो जायगा । मंदोदरी तो राम के पक्ष की बात करती ही है, वह भी प्रतिकूल हो जायगी । यह भी संभव है कि उसके सभी लड़के भी प्रतिकूल हो जायं । अतः रावण नीति सें पल्लव गिरा कह कर ही रह गया ।

रावण ने विभीषण को भीरु, सभीत कहा भी है —

सकल भीरु कर बचन दृढ़ाई । सागर सन ठानी मचलाई ।।
सचिव सभीत बिभीषन जाकें । बिजय बिभूति कहाँ जग ताकें ।।[175]

अनुज हमार भीरु अति सोऊ ।[176]

अतः रावण का प्रहस्त को 'भीरु' मानना असंगत नहीं है । 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी 'भीरु' अर्थ ही [illegible] संगत प्रतीत होता है । अतएव उक्त

---

१७३. दे० क्रमशः मानस ६।६।७, ६।१०,४, ६।१०।१, ६।६।५, ६।१०।२
१७४. दे० क्रमशः मानस ५।३८।४, ५।४०, ६,५।३८।५, ५।३९।१,५।४१।२-३
१७४. मानस ५।५६।५ और ७
१७६. मानस ६।२३।३

अर्धाली का अर्थ होगा - "अभी से मन में संदेह होने लगा है। अरे पुत्र! तू योद्धा के कुल में भीरु उत्पन्न हुआ।" "बांस की जड़ में घमोई होना" मुहावरा वैसे ही है जैसे गांवों में लोग कहते हैं कि - "सिंह की कोख में सियार पैदा हुआ" प्रकारान्तर इसका अर्थ करते हैं कि "तू मुझसे पैदा नहीं हुआ।" ~~इसी आधार पर कुछ लोग अर्थ करते हैं कि "तू मुझसे पैदा नहीं हुआ।"~~ इसी आधार पर कुछ लोग अर्थ करते हैं कि "बांस की जड़ में घमोई होना" गाली है। किन्तु रावण प्रहस्त को स्वयं 'सुत' सम्बोधन कर रहा है। अतः यह अर्थ बिल्कुल असंगत है। यहां पर पूर्वोक्त अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है।

बाघों सम्मुख गए न खाईं

नाथ दीन दयाल रघुराई। बाघों सम्मुख गए न खाईं।।[१७७]

श्यामसुन्दरदास जी ने इसका अर्थ किया है कि बाघ की चाल होती है कि वह टेढ़ा और पीछे फिर कर खाता है। सामने वाले को नहीं खाता। सामने वाले को भी तिरछा होने पर स्वयं तिरछा होकर खाता है।[१७८]

मानस पीयूष में किसी का मत है कि "बाघ के विषय में यह प्रख्यात है कि उसके सम्मुख देखते रहने से वह हमला नहीं करता, वरन राह छोड़कर चला जाता है कि दृष्टि इधर-उधर होने पर ही वह मारता है।[१७९] रामेश्वर भट्ट जी ने तो अद्भुत अर्थ किया है - "हे नाथ राम जी दीनों पर दया करने वाले हैं, वे सामने जाने पर बाघ की तरह खा नहीं जायेंगे।[१८०]

यह अर्थ कि बाघ के सम्मुख देखते रहने से या नेत्र मिलाये रहने से वह नहीं मारता, असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वदा देखते रहना असंभव है। कभी न कभी तो दृष्टि इधर उधर हो ही सकती है फिर सम्मुख आगत का जीवित रहना असंभव हो जायगा। अतः उपर्युक्त अर्थ असमीचीन है। भट्ट जी का तो बिल्कुल ऊट पटांग

---

१७७. मानस ६।७१

१७८. मानस,पृ० ८२५

१७९. मा०पी०लंका०, पृ० ५३

१८०. मानस० पृ० ८६१

रही है।

वस्तुत: बाघ के भी सम्मुख जाने पर न खाना लोकोक्ति है। लोकोक्ति के पीछे कोई न कोई कथा रही है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि बाघ के सम्मुख लम्बा चित लेट जाने पर वह नहीं खाता। बाघ और सिंह मुर्दा खोर नहीं होते। अत: इस मुद्रा में लेटने से वे सूंघकर चले जाते हैं। हम लोगों को प्रारंभिक कक्षाओं में बताया गया है कि यदि भालू, सिंह या बाघ सामने आ रहा हो और उस समय बचने का कोई उपाय न हो तो तत्काल जमीन पर चित लेट जाना चाहिए, ऐसी अवस्था में वह नहीं खायेगा। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि भेड़िया से बचने के लिए बालू या धूल हो तो उस समय उसके सामने फेंकना चाहिए। भेड़िया धूल आंखों में पड़ने के भय से सम्मुख नहीं आयेगा। श्रीकांतशरण जी के शब्दों से उक्त बात की पुष्टि और हो जाती है। उनके अनुसार नेपालराज्यामिथिला देश के पैठोल ग्राम में एक बार जमीन का सरकारी बंदोबस्त हो रहा था। लोगों ने दिन में ही एक भारी बांस की झाड़ में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघों को देखा। शीघ्र ही उन्होंने बंदूकवाले राज्य कर्मचारियों से आकर कहा। उन्होंने आधे फर्लांग की दूरी से उन पर गोलियाँ चलायीं, पर बांसों के कारण निशाना चूक गया निदान दोनों बाघ उधर को ही वेग से टूट पड़े। वहाँ कुल ४-५ कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भाग कर बच गये। दो-तीन मरे और छ:सात घायल हुए, परन्तु एक कुली मारे डर के घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नाली में लम्बा गिर पड़ा। बाघों ने औरों को झपट झपट कर मार डाला। पीछे एक आकर उसकी पीठ पर अपने अगले पाँव (हल्के से) रखकर खड़ा हो, हाँफने लगा। फिर दोनों जंगल की ओर (जो वहाँ से ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूर को एक नख भी नहीं गड़ा और न उस पर कुछ दबाव ही पड़ा। उसी ने मुझसे कहा और वहाँ के रईसों ने भी कहा कि हम लोगों ने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।[१८१] इसीप्रकार की कोई घटना अतीत में लोक-जीवन में घटी होगी। उसी के आधार पर उक्त लोकोक्ति की प्रसिद्धि हो गयी होगी कालान्तर में गोस्वामी जी ने इसका साहित्यिक प्रयोग करके इसे चिरजीवन प्रदान कर

---

१८१. मानस सि०ति०, सु०कां०, पृ० २०४३-४४

किया । अतएव "बाघ के भी सम्मुख जाने पर न खाना" नामक लोकोक्ति का अर्थ हुआ - "बाघ जैसे हिंसालु जीव भी शरणागत होने पर हिंसा नहीं करते" उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - "हे नाथ ! श्री रघुनाथ जी दीनदयालु हैं । बाघ जैसा हिंसालु जीव भी शरणागत होने पर हिंसा नहीं करता ।" इस चौपाई के पूर्व के दोहे में - "रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ ।[१८२] और बाद में सोई रघुबीर प्रनत अनुरागी"[१८३] कहा भी गया है । अतः "प्रकरण" नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है ।

पानी भरी खाल है

तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही किये, कृपालु ।
कीजे न बिलंबु, बलि ,पानी भरी खाल है ।।[१८४]

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि पानी भरी खाल है पानी भरी खाल सम फूलों शरीर है वा फफोला सारे तन में पड़ो है भाव अति दुखी है ।[१८५] बैजनाथ जी के अनुसार - "पानी भरी खाल है यह उपमान अनुमति है यथा पानी भरी खाल रहि नहीं सकती है शीघ्र ही सरि जाती है तथा देह को ठेकाना नहीं तहाँ ईश्वर की भलाई में जीव के हेतु है देह अनित्य की क्यों सन्देह करें याको यह भाव कि जो कहे हैं कि तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही किये कृपालु तहाँ तुलसी नाम देह मात्र को है ताते देह अपनो गुलाम करि लीजे जामें दूसरी देह न धारिबे परै ।।

हरिहरप्रसाद जी का तो बिल्कुल अटपटांग अर्थ है । वस्तुतः "पानी भरी खाल है" यह शरीर के लिए एक मुहावरा है । लोग शरीर की अनित्यता को द्योतित करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं । इसी अर्थ में गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग किया है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - (तुलसी दास जी कहते हैं कि) हे दयालु ! तुलसी का हित तो आपके ही द्वारा हो सकता है । बलिहारी जाता हूँ । देर न

---

१८२. मानस ६।६

१८३. मानस ६।७।५

१८४. कविता० ७।६५

१८५. कवित० , पृ० १४६

कीजिये क्योंकि यह शरीर अनित्य या क्षण भंगुर है।" औचित्य नामक अर्थ निश्चय के साधन से नहीं अर्थ निश्चित होता है। मानक हिन्दी कोश[186] और संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में[187] "पानी भरी खाल है" यही अर्थ दिया है। लाला भगवानदीन जी,[188] चन्द्रदेवनारायण जी,[189] श्रीकांतशरण जी[190] पं० चन्द्रशेखर जी,[191] देवनारायण द्विवेदी जी,[192] सम्पाराम मिश्र जी,[193] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[194] आदि टीकाकारों ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। नश्वर से नष्ट-प्राय अर्थ लेना भी अनुपयुक्त नहीं है।

<u>भेंट पितरन कों न मूड़ हू में बार है</u>

> तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, न तु
> भेंट पितरन कों न मूड़ हू में बार है ॥[195]

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि "इन्हें मूछ मों बार तक नहीं है धन कों कौ कहेवा पालन करें पितर माता-पिता आदि तिन सों भेंट तक नहीं है और नष्ट इहाँ तक है कि सर में चोटी तक नहीं है अर्थात् हिन्दुन का चिह्न चोटी है सोऊ नहीं है तो देवता कैसे कृपा करेंगे।"[196] सम्पाराम जी के अनुसार — "नहीं तो पितरों से भेंट होती अर्थात् मर जाता और सिर में एक बाल न रहता (इतना मारा जाता) अथवा न पितृकर्म ही करा सकता, न देव कर्म ही के लिए सिर में बाल (धन) है।"[197]

बैजनाथ जी कहते हैं कि यह वक्रुति उपहास है यथा पितरन को भेंट देवे को वृषोत्सर्ग तेरहीं नित्य कुम्भ बरषीश्राद्ध, गया पीछे और कर्म भी पितृ काज की

---

१८६. दे० तीसरा सं०, पृ० ५७६ — १८७. दे० पृ० ६१०

१८८. दे० पृ० ६१ ४६ — १८९ कविता० पृ० १४२

१९०. वही सि०ति० पृ० ३२० — १९१. वही, पृ० १०७

१९२. वही, पृ० १७८ — १९३. पृ० १२२

१९४. द्वि०सं०, अ०भा०वि०प०रि०काशी, पृ०२५६

१९५. कविता० ७।६७ — १९६. कविता० पृ० १४८

१९७. कविता० पृ० १२४

है व्हाँ और कर्म की कौ कहै पितु भेंट देवै को मूड़ में बार भी नहीं है कि जो और कर्म भी तो बाम का रिये जैसे शरणागत की उपाय भी मेरे पास कुछ नहीं है।[१९८] श्रीकांत शरण जी भी वैजनाथ जी के अर्थ से पूर्णतया प्रभावित हैं।[१९९] इन्द्रदेव नारायण[२००] और तुलसीग्रन्थावली के संपादक ने[२०१] इसका अर्थ इस प्रकार किया है — 'अन्यथा इसके पास तो पितरों की भेंट चढ़ाने के लिए सिर पर बाल भी नहीं है।' चन्द्रशेखर जी और देवनारायण द्विवेदी जी ने भी ऐसा ही शाब्दिक अर्थ किया है।

हरिहरप्रसाद जी और बप्पाराम जी का अर्थ तो बिल्कुल ऊटपटांग है। शेष सभी टीकाकारों ने अभिधार्थ किया है।

'पितरों की भेंट करने के लिए सिर में बाल न होना' लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है 'कुछ भी न होना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए —

'तुलसीदास की प्रतिष्ठा तो राम-नाम के कारण ही बनी हुई है, नहीं तो इसके पास तो कुछ भी नहीं है।' 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से इसका यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त पंक्ति के कवित्त में कवि ने स्वयं ~~कहा~~ कहा है कि मैं लोक व्यवहार के योग्य नहीं हूँ। मेरे पास नौकरी, खेती व्यापार, कोई धंधा और कारीगरी नहीं है मात्र राम नाम का ही भरोसा है। इसके उपरांत निष्कर्षतः यही भाव होना चाहिए कि मेरे पास कुछ भी नहीं है। लाला भगवानदीन जी भी इसे कहावत स्वीकार किया है और अर्थ भी लगभग ऐसा ही किया है।[२०२]

---

१९८. कवित्त०, पृ० २१४

१९९. कविता०, पृ० ३७५

२००. पृ० १४४

२०१. हि० सं०, अ०भा० वि० परि०, काशी, पृ० २५

२०२. कविता०, पृ० १५२।

हरिहरप्रसाद जी,[223] श्रीकांतशरण जी[224] और तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[225] ने इसका अर्थ किया है कि चोर की चोटी साधु के हाथ है। किन्तु यह अर्थ संगत नहीं है। गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है कि हे नाथ! चोर भी और पहरेदार भी सब आप ही के हाथ हैं --

नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरू।[226]

अतः यहाँ अर्थ होना चाहिए कि चोर और साधु दोनों की चोटी कपिनाथ श्री हनुमान् जी के ही हाथ में है। बैजनाथ जी,[226] पं० महावीरप्रसाद मालवीय[227] श्री अंजनीनंदन शरण जी और देवनारायण द्विवेदी जी ने ऐसा ही[228] अर्थ किया है। उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों को देखने से पता चलता है कि लोगों ने हनुमान जी के हाथ में चोर और साधु की चोटी है इसको अस्पष्ट रखा है। हाथ में चोटी होना मुहावरा है जिसका अर्थ है - वश में होना। अस्तु उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ - 'लोक और वेद से भी प्रमाणित है कि साम, दान और भेद का विधान तथा दुष्ट और सज्जन दोनों ही कपिनाथ श्री हनुमान जी के ही हाथ में हैं।' परमेश्वरीदयाल जी ने उक्त मुहावरे का अर्थ ऐसा ही किया है। 'युक्तिसंगतता' अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। परमेश्वरीदयाल जी, बैजनाथ जी और बाबा जयरामदास जी ने[229] 'लबिद' का अर्थ दण्ड किया है किन्तु यह वेद का अनुकरणबोधक शब्द है जिसका अर्थ है -- वैदिक,[230] लौकिक।

<u>मीजौ गुरु पीठ</u>

मीजौ गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौ ॥[230क]

---

२२३. विन० कवित्त० पृ० २६२-६३   २२४. बाहुक सि०ति०, पृ० १२७

२२५. ति०सं० क०भा०वि०परि०काशी, पृ० ३०६   २२६. बाहुक, पृ० ३७

२२७. बाहुक, पृ० २६   २२८. बाहुक पीयूषवर्षिणी टीका०, पृ० १२४, " पृ० ५५

२२९. बाहुक पाद टिप्पणी, पृ० १२४   २३०. दे० तुलसी शब्दसागर, पृ० ४१५

२३० क. विनय० ७६

वैजनाथ जी ने इसका अर्थ किया है कि यह सुनकर करुणासिंधु, शरणापाल प्रभु ने मेरी पीठ में गुरु मीजै यह कहावत लोक विदित है अर्थात् निहेतु मेरा भला किया ।[२२३] लाला भगवान दीन जी ने 'गुरु' का अर्थ गुड़ किया है और लिखा है कि पीठ में गुड़ मींजौ - अत्यन्त सुख दिया ।[२२४] गुरु के अर्थ का समर्थन करते हुए, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि यहाँ मीजौ गुरु पाठ का अर्थ पुराने टीकाकारों ने 'गुरु ने पीठ मींजी' अर्थात् पीठ ठोंकी किया है । उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि विनयपत्रिका ब्रजभाषा में है इसलिए उसमें सकर्मक-क्रिया के साथ भूतकाल में कर्त्तरि प्रयोग नहीं होगा । 'मीजौ' का सम्बन्ध पीठ से नहीं हो सकता, इसलिए कि वह स्त्रीलिंग है । वैसी स्थिति में 'मीजी गुरु पीठ' होना चाहिए । वास्तविकता यह है कि पीठ में गुड़ मींजना 'बैसवाड़े का प्रसिद्ध मुहावरा है और आज भी वहाँ प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है किसी को अत्यधिक सुख पहुँचाना अतः इसका यही अर्थ हुआ कि उन्होंने अत्यन्त सुख दिया (मेरी पीठ पर गुड़ मींजा) मुझे अपनाया ।[२२५]

सामान्यतया उनका अर्थ ग्राह्य प्रतीत होता है परन्तु एक तो उन्होंने बैसवाड़े प्रयोग के कोई साहित्यिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये । दूसरे प्राचीन पाठ 'गुरु' है गुर नहीं और गुरु का अर्थ किसी कोश में गुड़ नहीं माना गया है । गुरु पाठ मानते हुए इस कठिनाई की ओर उन्होंने इंगित नहीं किया । अतः जब तक इन बातों का परिहार नहीं होता तब तक उनका अर्थ सर्वथा स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता । हो सकता है कि बैसवाड़े में 'पीठ में गुड़ मींजना' कोई मुहावरा हो, किन्तु यहाँ तो 'गुरु' पाठ है । 'गुर' पाठ होने पर भी 'गुड़' अर्थ की संगति हो सकती है । स्वयं मिश्र जी ने ही अपने मानस के संस्करण में 'गुरु' के स्थानपर 'गुर' पाठ माना है । यथा - बंदौं गुरुपद पदुम परागा [२२६]

---

२२३. विनय०, पृ० १४६

२२४. वही, पृ० ६४

२२५. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २७२

२२६. मानस १।१।१

श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती ।२२७

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन ।२२८

जिसका अर्थ है -- किसी कार्य की प्रशंसा करना । शाबाशी देना ।[२२९] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - इस पर गुरु रूप श्रीराम जी ने सुना, हाथ पकड़ और अपना कर मेरे इस (गुलाम होने अथवा शरणागत होने के) कार्य की प्रशंसा की । प्रकरण नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है । महाप्रसाद जी[२३०] देवनारायण द्विवेदी जी[२३१] वियोगीहरि जी,[२३२] पं० सूर्यदीन शुक्ल जी,[२३३] और श्रीकांतशरण जी [२३४] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है ।

कियो कथिक को दंड

सरुष [illegible] हित जानि मैं सबकी रुचि पाली ।
कियो कथिक को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली ।।[क]

श्रीकांत शरण जी 'कोदण्ड' पाठ स्वीकार कर जो अर्थ करते हैं कि 'कोदण्ड सारंगी बजाने वाली कमानी जिससे रेत कर सारंगी बजाई जाती है ।'[२३५] चरखारी टीकाकार के अनुसार - 'कथिक (कहने मात्र को) दंड (= इन्द्र धनुष) बनाया है जो कहने ही मात्र है, परन्तु पराक्रम सों वृथा है, ऐसे ही हमने मोको वृथा करो ।'[२३६] बैजनाथ जी के अनुसार- 'कथक के दंड के समान मुँह जड़कर लिया और कुचाली कर दिया । दंड में जड़ता स्वाभाविक होती है । ..... देहेन्द्रिय अधिक समाज विषय सुख जीविका के लिये देह संग दण्ड सम जीव फिरता है कामनादि व्यापार के कारण कुचाली है[२३७]

---

२२७. मानस १।१।५ | २२८. वही १।२।१

२२९. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६२४ | २३०. विनय०,पृ० १३४

२३१. वही, पृ० १५८ | २३२. वही, पृ० २२५

२३३. वही, पृ० ६० | २३४ वही सि०ति०, पृ० ५१८

२३५. विनय० सि०ति०,पृ० १००१ | क . विनय० १४७

२३६. वि०पी०,खंड ४, पृ० ११८

२३७. विनय० ,पृ० २८६

'कोदण्ड' का अर्थ सारंगी बजाने वाली कमानी' किसी भी कोश में नहीं मिलता। प्रायः सभी लोगों ने पाठ 'काछिक को दंड' माना है न कि 'कोदण्ड'। अतः यह पाठ कुछ क्लिष्ट कल्पना युक्त है। 'काछिक कोदंड' का अर्थ इन्द्र धनुष भी खींचतान अर्थ है। विश्वनाथ जी का अर्थ भी संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ काछिक का दंड 'अस्त्र' नहीं, अपितु चरित्रहीनता का सूचक है।

'बाबू शिवप्रकाश जी के अनुसार- 'नाचने वाले कत्थक हाथ में घुंघरू - बाँधकर लड़के को नाच सिखाते हैं। लड़का उस लकड़ी (के इशारे) के अनुसार नाचता है।' भगवान सहाय जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[239] इसी अर्थ के आधार पर वीर-कवि भी लिखते हैं कि -' कत्थक लोग बालकों को राग सिखाने के लिए डंडे में घुंघरू लगाते हैं और उससे ताल का संकेत करते हैं अर्थात् वह डंडा स्थिर नहीं रहने पाता कभी ऊपर कभी नीचे चलायमान जैसे नट का बेटा।'[240] देवनारायण द्विवेदी जी ने ज्यों का त्यों ऐसा ही अर्थ किया है।[241] लाला भगवान दीन जी, वियोगीहरि जी और पोद्दार जी का भावार्थ भी वीरकवि जी के ही समान है -'जैसे कत्थक अपनी लकड़ी के इशारे से नाच नचाते हैं, वैसे ही ये मुझे नाच नचाते रहते हैं जिधर चाहते हैं उधर ही ले पटकते हैं।'[242] पोद्दार जी का कत्थक का अर्थ जागर कुछ खटकता है।[243] रामेश्वर भट्ट जी के अर्थ से भी 'चांचल्य' का भाव झलकता है -' जैसे गाने वाला एक लकड़ी में घुंघरू बाँध कर लड़के को नाचना सिखाता है और लड़का उस लकड़ी के अनुसार नाचता है वैसे ही ये मुझे लकड़ी बनाकर मेरे मन को नचाते हैं।[244]

यथार्थतः 'काछिक को दंड' बनाना लोकोक्ति है, जिसका निर्माण बाबू शिवप्रकाश, और वीरकवि जी आदि उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों के आधार पर

---

२३९. विनयपीयूष खं० ४, पृ० ११८
२४०. विनय० पृ० २०३
२४१. वही, पृ० २६४
२४२. विनयपी० खं० ४, पृ० ११८
२४३. विनय० पृ० २४६
२४४. वही, पृ० २१३।

'अस्थिरता' घोषित करने के लिए प्रयुक्त हो सकता है। अतः 'कांपक को ढेंढ बनाना' लोकोक्ति का अर्थ हुआ 'अस्थिर या चंचल करना'। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'हृदय में निवास करने के कारण मैंने उन सब (कामादि) की रुचि पूरी की अर्थात् उनकी इच्छानुसार उनका भोग किया। परन्तु इन जड़ आंखोंवाले कुचालियों ने मुझे चंचल कर दिया।' 'औचित्य' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तक संगत प्रतीत होता है। गयाप्रसाद जी ने 'कपिक' के स्थान पर 'मांकिक' की कल्पना करके व्यर्थ की खींचतान की है।[२४५]

पुतरी बांधि है -

अब तुलसी पुतरी बांधि है सहि न जात मोपैपरिहास एते ।।[२४६]

गयाप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है -' अब तो तुलसीदास किन की भी मशाल उजियार है, क्योंकि मुझसे जे इतने ठट्ठा नहीं सह जाते कि रामदास होकर भी सुखी न भयो।[२४७] सूर्यदीन शुक्ल के अनुसार 'अब तुलसी (पुतला) बांधेगा, मुझसे इतनी हंसी सही नहीं जाती। यदि आप मेरी न सुनेंगे तो तुम्हारी नकल का पुतला ले तुम्हारी हंसी उड़ाता फिरूंगा कि मैं आपका सेवक हूं और मेरी सुनते नहीं हैं।[२४८] गयाप्रसाद जी का अर्थ तो बिल्कुल अंट पटांग है। शुक्ल जी का अर्थ 'हंसी उड़ाना' भी यहां संगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः 'पुतला बांधना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'किसी की निंदा करते फिरना, किसी की अपकीर्ति फैलाना। मध्ययुगीन भारत में, भाट आदि जिससे असंतुष्ट होते थे, उसकी कपड़े की आकृति बनाकर गली-गली उसका उपहास और निंदा करते फिरते थे। इसी से यह मुहावरा बना है।[२४९]

---

२४५. विनय० पृ० २२५

२४६. विनय० पृ० २४१

२४७. वही, पृ० ३६५

२४८. वही, पृ० २६५

२४९. मा०हि० को०, ती०खं०, पृ० ५३०

श्रीकांतशरण जी,[२६३] नरेन्द्र स्वामी एवं विद्याधर जी,[२६४] वामदेव जी[२६५] और पोद्दार जी[२६६] ने इसका अर्थ किया है कि 'भूमि पर पड़े हुए या भूमि से बादल छूना अच्छा नहीं है। नरेन्द्र जी ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि बढ़-बढ़कर इतनी बातें बनाना अच्छा नहीं। पोद्दार जी कहते हैं कि दूध मुँहे बच्चों पर ऐसा असंभव दोष लगाना अच्छा नहीं है।

वस्तुतः 'भूमि पर से बादल छूना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है - असंभव बात कहना या असंभव कार्य करना। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - ग्वालिन के वचन सुनकर भी यशोदाजी कहती हैं कि ऐसी (दूध, दही, माखन गिराना आदि) असंभव बातें कहना उचित नहीं है। 'युक्ति संगतता' नामक अर्थ निर्णय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है। गोस्वामी जी ने इस मुहावरे का प्रयोग अन्यत्र भी किया है।

भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा।[२६७]

तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय का अर्थ - 'बैठे धरती पर बादल उतारना (झूठी बातें बनाना) अच्छा नहीं होता।'[२६८] यहाँ असंगत प्रतीत होता है।

<u>धान को गाँव पयार तैं जानिय</u>

धान को गाँव पयार तैं जानिय ज्ञान विषय मन मोरे।[२६९]

रामायन सरन जी ने इसका अर्थ किया है कि 'धान का गाँव पयार सों जानि परन्तु है सो या बातें सो ज्ञान की सकल जानि परे कि कान्ह बड़े ज्ञानी हैं, ज्ञान विषय

---

२६३. श्रीकृष्ण सि०ति० पृ० १६

२६४. वही, पृ० ६६

२६५. वही, पृ० ११

२६६. वही, पृ० ११

२६७. मानस० ५।५७।२

२६८. टि०सं०, ना०प्र०स० काशी, पृ० ५५६

२६९. श्रीकृष्ण ४४।

यह अर्थ पूर्णरूपेण असंगत है । 'खाजी खाना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है -- मुहँ की खाना, बुरी तरह परास्त होना ।[२७७] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है -- भाइयों, अनुचरों एवं मंत्रियों के साथ दुष्ट दुर्योधन मुहँ की खाकर अथवा बुरी तरह परास्त होकर मुख धूमिल हो गया ।' श्रीकांतशरण जी,[२७८] नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी,[२७९] पोद्दार जी[२८०] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने[२८१] ऐसा ही अर्थ किया है । 'औचित्य' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत लगता है ।

करत गगन को गेंडुआ

लोगनि भलो मनाव जो भलो होन की आस ।
करत गगन को गेंडुआ सो सठ तुलसीदास ।।[२८२]

प्राय: सभी लोगों ने गेंडुआ पाठ माना है, किन्तु सभा का पाठ गेंदुआ है । अर्थ में कोई अंतर नहीं है । मैंने भी यहाँ 'गेंडुआ' पाठ माना है । श्रीकांतशरण जी,[२८३] और पोद्दार जी[२८४] ने इसका अर्थ अभिधेयार्थ आकाशको तकिया बनाना किया है । वास्तविकता यह कि 'आकाश को तकिया' बनाना मुहावरा है, जिसका अर्थ है अस्वाभाविक कार्य के लिए प्रयत्न करना ।' अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा -- 'तुलसीदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति (किसी के द्वारा) अपना भला होने की आशा से (ईश्वर को छोड़कर) लोगों को रिझाता रहता है, वह मूर्ख अस्वाभाविक कार्य के लिए प्रयत्न करता है । युक्तिसंगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ संगत

---

२७७. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० २४१

२७८. श्रीकृष्ण सि०ति०, पृ० १६८

२७९. वही, पृ० ६०   २८० वही, पृ० ७२

२८१. दि० सं०, अ० भा० वि० परि० काशी, पृ० ५८६

२८२. दोहा०गीता प्रेस, दोहा ४६१

२८३. वही, सि०ति०, पृ० ५८३

२८४. वही, पृ० १७१

प्रतीत होता है ।

नारद-नारदी

> मोरेहु मन अस आब मिलिहि बर बाउर ।
> लखि नारद-नारदी उमहि सुख भाउर ।।[२८५]

इसका अर्थ लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है । लाला भगवान दीनजी के अनुसार 'नारदी' का अर्थ है - नारदपन (सत्य भी कहना और भगड़ा लगा देना)।[२८६] सद्गुरु शरण अवस्थी के मत से - 'नारद जी की टेढ़ी बात अर्थात् उनके रहस्यात्मक चमत्कार युक्त वाक्य - नारद जी के ऐसे रहस्ययुक्त वाक्य सुनकर पार्वती जी के हृदय में प्रसन्नता हुई ।'[२८७] डा० माताप्रसाद गुप्त जी ने इसका अर्थ किया है - 'नारद जी की ऐसे एवं विशेष चतुरता पूर्ण बातें ।'[२८८] अयोध्यानाथ एवं रामकिशोरीजी के अनुसार -'नारदत्व । नारद घुमाफिरा कर सत्य बात कहने के लिए प्रसिद्ध हैं । उनकी बात स्पष्ट नहीं हुआ करती ।[२८९] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने 'अटपटी ,रहस्यभरी बातें' अर्थ किया है ।[२९०] उपर्युक्त टीकाकारों के भाव -उपयुक्त हैं, किन्तु वस्तुत: 'नारद-नारदी' मुहावरा है जिसका अर्थ है - 'नारद की इधर उधर की लगाने वाली प्रकृति ।' अत: उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - मेरी समझ में भी यही आसा है कि इस कन्या को वही बावलावर मिलेगा । नारद की इधर की उधर लगाने वाली प्रकृति को देखकर पार्वती जी के हृदय में प्रसन्नता हुई ।' युक्ति संगतता नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत लगता है ।

---

२८५. पा० मं० १६

२८६. तुलसी पंचरत्न,पृ० २

२८७. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ८७

२८८. पा०मं०,पृ० १६

२८९. वही, पृ० ७

२९०. टि०सं०,का०ना०प्र०सभा० काशी,पृ० २३

न्हात खसै जनि बार

ईस मनाइ असीसहि जय जस पावहु ।
न्हात खसै जनि बार, गहरु जनि लावहु ।।[क]

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने इसका पूर्णरूपेण ऊटपटांग अर्थ किया है । उनके अनुसार "शंकर को मनाकर वे आशीर्वाद देते हुए कहने लगे - 'तुम विजयी और यशस्वी हो ओ । स्नान करने में समय न बिताओ, विलम्ब न करो ।"[२६१] वस्तुत: "नहाते समय बाल भी न खसना" मुहावरा है, जिसका अर्थ है - "कुछ भी कष्ट या हानि न पहुँचना ।" अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - "ईश्वर को मनाकर वे (राजा, रानी और पुरवासी लोग) आशीर्वाद देते हुए कहने लगे - "तुम विजय और यश प्राप्त करो । तुम्हें कुछ भी कष्ट न हो, देरी न लगाओ ।"[२६२] लाला भगवानदीन जी सद्गुरु शरण अवस्थी जी[२६३] श्रीकान्तशरण जी[२६४] और गीता प्रेस के टीकाकार ने[२६५] ऐसा ही अर्थ किया है । "प्रकरण" नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्क युक्त लगता है । सूरदास जी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग किया है -

सूर असीस जाइ दई, जनि न्हातहु बार खसै ।[२६६]

क. जा०मं० ३२

२६१. वि०वं०, ब०भा०वि०परि० ,काशी,पृ० ४१

२६२. तुलसी पंचरत्न, पृ० २

२६३. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १७५

२६४. जा०मं०, सि०ति०,पृ० २४

२६५. वही, पृ० १२

२६६. सूरसागर - ३७८८

अध्याय -- ८

आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान :-

निराधार, ऊपर से मढ़ा हुआ अर्थ आरोपित अर्थ है। आरोपित अर्थ उस समय होता है जब विद्वान अपने पांडित्य के बल पर विशेष मनोरंजक, चमत्कार पूर्ण और कौतुहलोत्पादक अर्थ निकालते हैं। रामचरित मानस के व्यास या कथावाचक और कहीं कहीं साहित्यिक भी ऐसे असाहित्यिक, चमत्कारिक और कल्पना प्रसूत अर्थों की उद्भावना करते हैं जो गोस्वामी जी की कल्पना में कदाचित ही रहे होंगे। उदाहरणार्थ 'सरस' का अर्थ 'बढ़ना', 'मासदिवस कर दिवस' के अर्थ में अधिक मास की कल्पना, 'कुमार' का अर्थ दुष्टों को मारने वाले, जिसके रूप के समक्ष कामदेव (मार) कुत्सित (कु) है, कु- पृथ्वी पर-मार (कामदेव) के समान आदि अर्थ आरोपित अर्थ के ही अन्तर्गत आते हैं।

कथावाचकीय शैली के व्यास टीकाकारों ने अभीष्ट अर्थ निकालने के लिए व्याख्यातव्य पंक्तियों के पदों को तोड़-मरोड़ अथवा वर्ण-विच्छेद चातुरी से विचित्र-विचित्र अर्थों की उद्भावना की है। इस विषय में 'तुलसी-सूक्ति सुधाकर' भाष्य के भाष्यकार श्री बाबू रामशुक्ल का नाम अग्रगण्य है। शुक्ल जी ने मानस की एक अर्धाली का अर्थ पौने सत्रह लाख से भी अधिक किया है। ऐसे ही सीता चरन, का संधि करके 'सीताचरन' का अर्थ, सीता के आचरन (स्तन) में चोंच मारकर वह कौवा भागा, किया है। इसी प्रकार अंगद को लंका से आने में संदेह वहां की रूपवती स्त्रियों के कारण था अथवा 'फिरतीबार - तीन बार में जाऊं-आऊं, जिय संसय कछु- क्या आपको इसमें संदेह है?' ऐसा अर्थ किया गया है।

'सतपंच चौपाई' का संख्यापरक अर्थ ५१००, ५००, १०५, ७५, ५७, ३५, १२ आदि न जाने कितने रूपों में किया गया है। सतपंच शब्द का एक अर्थ अच्छे पंच भी किया है।

समग्रत: टीकाकारों ने अपनी व्याख्या का अचूक प्रभाव डालने के लिए तरह-तरह की कल्पनाओं का आश्रय लिया है। जिनको पढ़कर यही ज्ञात होता है कि उन लोगों ने अर्थ तो कम और अनर्थ अधिक किया है। प्रस्तुत अध्याय में टीकाकारों के चमत्कारिक प्रवृत्तिपरक आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न कतिपय प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

सुरुचि, सरस और अनुराग

> बंदौं गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥
>
> अमिअ मूरिमय चूरनु चारू। समन सकल भवरुज परिवारू ॥ [१]

प्रस्तुत अर्धाली के 'सुरुचि' शब्द का अर्थ कोई प्रकाश व दीप्ति करते हैं, कोई 'सरस' का अर्थ 'सरसना (बढ़ना)', तो कोई 'अनुराग' शब्द का अर्थ 'रंगीला' 'अरुणाई' करते हैं। इस प्रकार इसका अब तक किसी भी टीकाकार ने निर्दोष अर्थ नहीं किया है।

अर्थ -१- श्री रामचरणदास,[२] पंजाबीजी[३] और बाबा जानकीदास ने[४] इसका अर्थ किया है - "मैं श्री गुरुचरण कमल पराग की वंदना करता हूँ जिस पराग में सुंदर रुचि, उत्तम (सुगंध) और श्रेष्ठ अनुराग है।" श्रीरामचरणदास जी ने 'सुबास' का अर्थ 'सुष्ठु वासना' किया है, शेष अर्थ पंजाबी जी से मिलता है।

अर्थ २ - बैजनाथ जी[५] महावीरप्रसाद मालवीय जी,[६] रामनरेश त्रिपाठी जी,[७] जानकीशरण जी[८] और स्वामी प्रज्ञानंद जी ने [९] इसका अर्थ किया है — "मैं गुरु-

----

१. मानस १।१।१-२

२. रामा०, पृ० ७

३. मा०भा० पृ०भा०, पृ० ११

४. मा०की०, बा० सं० १, पृ० ७२

५. रामा० बाल० उक्त अर्धाली का अर्थ

६. मानस, पृ० ४

७. वही, पृ० ४

८. मानस मार्तण्ड, टीका पृ० २८

९. श्री रामचरित मानस गूढ़ार्थ चन्द्रिका, पृ० सं०, पृ० ४६-५०

पद पराग कमल की वंदना करता हूँ जिसमें सुरुचि रूपी सुवास और अनुराग रूपी रस या सम्यक प्रकार के रस से युक्त है। श्यामसुंदरदास जी ने ऐसा ही अर्थ किया है, किन्तु समझ में नहीं आता कि सुंदर किस शब्द का अर्थ है - "मैं गुरु महाराज के चरण कमलों की सुंदर, सुगंधित और प्रेम से रस युक्त रज को प्रणाम करता हूँ।[१०]

अर्थ ३ — रामायणपरिचर्यांकार और रामायण परिचर्या परिशिष्टकार ने इसका अर्थ किया है - "मैं गुरुपद कमल पराग की वंदना करता हूँ जो सुरुचि (सुंदर प्रकाश या दीप्ति), सुवास और रस युक्त है और जिसमें रंग भी है।[११] शुकदेव लाल जी के अनुसार - अब मैं अपने गुरुदेव के चरण कमलों की पराग (रज) को वंदन करता हूँ जो रुचिमत्त है, सुगन्धित है, सरस है और चरण कमलों की अरुणाई की झलक से कुछ अरुणा भी है।[१२] विनायक राव जी के अनुसार - "मैं अप गुरु जी के - कमल स्वरूपी चरणों की पराग के सदृश धूल की वंदना करता हूँ, जो धूल पराग ही की नाईं रुचिकर सुगंधित, रसीली और रंगीली है।[१३] शुकदेवलाल जी और विनायक राव जी का अर्थ लगभग रामायण परिचर्यांकार के ही जैसा है। ग्राउस महोदय ने भी "सुरुचि" का अर्थ दीप्ति (ब्राइट) किया है। "अनुराग" का अर्थ कोमल (हेलीकस) किया है।[१४] लगता है रामेश्वर भट्ट जी ने ग्राउस महोदय के अर्थ का हिन्दी अनुवाद कर दिया है - "गुरु के चरण कमलों की कान्तियुक्त सुगंधित और कोमल-रज की प्रेम से वंदना करता हूँ।[१५]

अर्थ ४ — मैं सुन्दर रुचि, सुन्दर वासना और सरस अनुराग से गुरु जी के चरण कमलों के पराग की वंदना करता हूँ ऐसा अर्थ श्री हरिहरप्रसाद जी ने किया है।[१६]

---

१०. मानस,पृ० ३ ११. मा०पी०,बाल०खं० १,पृ०७३

१२. रामा०,पृ० ४ १३. वि०टी०,पृ० १६

१४. आई रेवरन्स द पालेन लाइक डस्ट आव द लोटस फीट आव माई मास्टर, ब्राइट, फ्रेगरन्ट, स्वीट एंड हेलीकस" दे रामा०आव तुलसी०,पृ० २

१५. मानस०,पृ० ५

१६. रामा० परि०परिशिष्ट,पृ०पृ० ६

अर्थ ५ -- श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी ने अर्थ किया है - "मैं गुरु महाराज के चरण कमलों की रज की वंदना करता हूँ, जो सुरुचि (सुन्दर स्वाद), सुगंध तथा अनुराग रूपी रस से पूर्ण है।"[१७]

अर्थ ६ -- श्री विजयानन्द त्रिपाठी जी इसका अर्थ करते हैं - "गुरु चरण कमल की धुलि की वंदना करता हूँ, जो स्वाद से सुंदर, गंध से सुंदर और अनुराग से सरस है।"[१८]

अर्थ ७ -- तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने इसके दो अर्थ किये हैं --
(क) मैं अपने गुरु के उन चरणों की धूल को प्रणाम करता हूँ,जो (चरण),कमल के समान (सुंदर, रंगीन) है। जैसे कमल में सुरुचि -सुवास (मन भावनी सुगंध) और सरस अनुराग (सुहावना लाल रंग) होता है वैसे ही गुरु के चरणों में भी सुरुचि। अच्छी रुचि या श्रद्धा-भक्ति -भरे मन) का सुवास (मन बाहा या सुखकर निवास) होता है और उनमें सरस अनुराग (आनन्द देने वाला प्रेम) होता है और उनमें सरस अनुराग (आनंद देने वाला प्रेम) होता है। (गुरु के चरणों में निरंतर निवास करते रहने को, उनकी सेवा करते रहने की प्रबल इच्छा होती है और उन चरणों में प्रेम करते रहने में बड़ा आनंद मिलता है।
(ख) गुरु के चरणों की उस धूल को मैं प्रणाम करता हूँ जिसमें सुरुचि (अच्छी तरह रुचि या भक्ति-भावित मन) का सुवास (सुन्दर या निरंतर वास) होता है और जिससे सरस-रस से भरा,आनन्द से भरा अनुराग (प्रेम) होता चलता है।"[१९]

अर्थ ८ -- पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने इसका अर्थ किया है -- "मैं तुलसीदास श्री गुरु के चरण कमलों के पराग की वंदना करता हूँ जिसमें मेरी सुन्दर रुचि ही

----

१७. मानस,पृ० ३१

१८. वि०टी०,प्र०भा०,पृ० ७

१९. पृ०सं०,अ०भा०वि०परि०काशी,पृ० ७

सुगंध है जिसके कारण हृदय में अनुराग सरसता (बढ़ता) है।[20] बधलिकारीदासजी का अर्थ मिश्र जी से कुछ साम्य रखता है - प्रथम ग्रन्थकार ने गुरु के चरणकमलों की वंदना की जिसके बाद भी गुरु चरण रज की वंदना किये हैं कि गुरु पदपराग वन्दौं। वह पद पराग (रज) कैसी है? अच्छी रुचि, अच्छी वासना पुनः अनुराग इन तीनों की सरस करने वाली अर्थात बढ़ाने वाली है। गुरुचरण रज में यह प्रताप है।)[21]

श्रीकांतशरण जी ने मानसपीयूष के चार अर्थ विभिन्न टीकाकारों के अनुकरण करके अपनी टीका में उद्धृत कर दिया है।[22]

अर्थ १ -- और अर्थ --४ को स्वीकार करने से पक्ष समाप्त हो जाता है, जो कि उक्त अर्धाली का भूषण है। अर्थ २,३,५ और ६ में 'सरस' को 'पराग' का विशेषण मानकर उसे 'रस से पूर्ण' कहा गया है। किन्तु पंखुड़ियों को छोड़कर 'कमल' में ३ तत्त्व होते हैं --

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।।[23]

स्पष्ट है कि 'पराग' और 'मकरंद' अलग-अलग वस्तु है। अतः 'मकरंद' को रस युक्त कहना चाहिए न कि 'पराग' को।

अर्थ -- ३ में 'सुरुचि' का अर्थ 'प्रकाश' (दीप्ति) किया गया है। परन्तु गोस्वामीजी ने ३ अर्धाली के उपरांत श्री गुरुपदनख-ज्योति (प्रकाश) का विस्तृत वर्णन किया है। अतः 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर प्रकाश करने से पुनरुक्ति दोष हो जाता है। 'सुरुचि' का प्रकाश अर्थ में प्रयोग भी कहीं प्राप्त नहीं होता। अतः यह अर्थ पूर्णरूपेण आरोपित है।

---

२०. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०-४२।

२१. मानस, पृ० ४

२२. मानस, सि०ति०, प्र०सं०, पृ० २६

२३. मानस १।३७।६

अर्थ —७ भी असंगत अर्थ है। इस अर्थ से सुरुचि, सुबास और सरस अनुराग 'परागा' का विशेषण होना चाहिए, किन्तु टीकाकार ने उक्त विशेषणों को खींचतान कर पद-कमल और गुरु-चरण में संयोजित किया है। 'सुबास' का अर्थ सुन्दर बास या सुखकर निवास विशेष खटकता है। समग्रत: यह अर्थ भी पूर्णत: आरोपित अर्थ है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि - 'वस्तुत: इस अर्धाली में 'बंदौं' के अतिरिक्त कोई क्रिया नहीं है। अगली अर्धालियों से भी इसकी क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं।...... यद्यपि नीचे की सब अर्धालियाँ गुरुपद पदुम परागा का ही विशेषण हैं या उनसे ही सम्बन्ध रखती हैं, तथापि सुरुचि सुबास सरस अनुरागा का सम्बन्ध केवल गुरुपद पदुम परागा से है। इसलिए अर्धाली का यह चरण अपने अर्थ के लिए स्वतंत्र है। किन्तु इसमें कोई क्रिया नहीं है क्यों न 'सरस' शब्द को क्रिया मानकर अर्थ किया जाय। 'सरस' का अर्थ होगा 'सरसता है, बढ़ता है।' 'सरसाना' का अर्थ बढ़ाना बराबर होता है, 'सरसना' क्रिया का प्रयोग भी कम नहीं होता।'[२४]

किन्तु उपर्युक्त अर्धाली के तो मात्र दूसरे चरण में क्रिया नहीं है। यहाँ कतिपय अर्धालियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनमें एक भी क्रिया नहीं है। उदाहरणार्थ —

> अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।।
> सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला।।
> धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।।[२५]

'अर्थ-निश्चय' का एक साधन 'शब्दाध्याहार' है, जिससे अपूर्ण वाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के 'अध्याहार' (पूर्ति) से होता है। अत: क्रियाहीन वाक्य में 'क्रिया' का अध्याहार करके अर्थ निश्चय कर लेना चाहिए। 'क्रिया' के अभाव में किसी शब्द का 'खींचतान' करके क्रिया बनाना उपयुक्त नहीं है। दूसरे 'सरस' शब्द का प्रयोग क्रिया रूप में संभवत: कहीं नहीं प्राप्त होता। तुलसीसाहित्य में सर्वत्र

---

२४. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०-४२

'सरस' शब्द 'रसयुक्त' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है -

कह रिषिबधू सरस मृदु बानी । नारि धर्म कछु ब्याज बखानी ।।[२६]

राम सनेह सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ।।[२७]

उत जुवति-जूथ जानकी संग । पहिरे पट भूषन सरस रंग ।।

लिए छरी बेंत सोधें बिभाग । चाँचरि झूमक कहैं सरस राग ।।[२८]

मिश्र जी ने जो यह कहा है कि 'कुछ लोग इस (पराग को रस युक्त कहने के) दोष से बचने के लिए दूसरे ढंग से अर्थ करते हैं, वे 'सरस' का अर्थ 'बढ़कर' लेते हैं वे कहते हैं कि सीय सासु प्रति बेष बनाई । सादर करइ सरस सेवकाई ।।[२६]

(२।२५१।२)

किन्तु यहाँ 'सरस' पाठ बिल्कुल अप्रामाणिक है । स्वयं मिश्र जी ने ही अपने संस्करण मे तःअर्थ-८ में 'सरिस' का अर्थ 'बढ़ना' ~~किया है~~ पूर्णतया आरोपित अर्थ है ।

उपर्युक्त अर्धालियों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए -

"मैं तुलसीदास गुरुपदकमल और उसके पराग की बंदना करता हूँ । गुरु-पद कमल सुन्दर रुचि रूपी सुगन्धि और प्रेम रूपी रस से युक्त है । गुरुपद कमल का पराग (रज) अमर मूल (संजीवनी जड़ी) का सुंदर चूर्ण है, जो समस्त भवरोग के परिवार का नाश करने वाला है ।" इस अर्थ से किसी प्रकार की असंगति नहीं रह जाती । 'प्रकरण' अर्थ-निश्चय के साधन से यह अर्थ तर्क संगत भी लगता है । प्रथम अर्धाली में रूपक और यथाक्रम अलंकार है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पंखुड़ियों को छोड़कर कमल में ३ तत्व होते हैं -पराग,रस (मकरंद) और सुबास । गोस्वामी जी ने भी इसे स्वीकार किया है -

---

२६. मानस ३।५।४

२७. वही २।२७६।४

२८. गीता० ७।२२

२६. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा ।।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।।[३१]

उक्त व्याख्येय अर्धाली में पराग का उल्लेख प्रथम चरण में किया गया, शेष सुबासा और रस (मकरंद) का दूसरे चरण में । जैसे सुगंधि से आकृष्ट होकर भौंरा कमल में प्रवेश करता है, वैसे ही विशेष रुचि होने से शिष्य के हृदय में गुरु के चरणों को स्पर्श करने की प्रबल इच्छा होती है । जिस प्रकार भ्रमर कमल - रस (मकरंद) का पान करके आनंद प्राप्त करता है, वैसे ही गुरुपद में अनुराग होने से आनंद होता है । इसीप्रकार गौतम की स्त्री श्रीराम जी से स्तुति करती हुई कहती है कि (हेनाथ ! आपके)पद कमल-पराग और रसरूपी अनुराग को मेरा मन-मधुप पान करे -

पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ।[३२]

उपमात्मक यह प्रयोग पूर्वोक्त चौपाई के अर्थ को स्पष्ट करता है क्योंकि यहाँ भी लगभग वही भाव प्रकट किया गया है ।

मास दिवस कर दिवस भा

मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ ।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ ।।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि - जब राम का जन्म हुआ तब अधिक चैत्र मास था । इसलिए अशुद्ध चैत्र में कोई शुभ कृत्य नहीं हुआ । १ मास बाद अशुद्ध चैत्र बीत गया तब कृत्य किए गए । अधिक मास शुद्ध मास के बीच में रहता है । चैत्र अधिक होने से दोनों मास इस प्रकार रहेंगे - शुद्ध चैत्र कृष्ण + अशुद्ध चैत्र शुक्ल + अशुद्ध-चैत्र कृष्ण + शुद्ध चैत्र शुक्ल । अधिक मास की जिस तिथि को संतानोत्पत्ति होती है शुद्ध मास की वही तिथि मानी जाती है । अन्त में इस प्रकार राम का जन्म अशुद्ध

---

३१. मानस १।३७।५-६

३२. वही १।२११। छन्द १२

चैत्र को हुआ और उनकी जन्मतिथि का भान हुआ शुद्ध चैत्र शुक्ल ६ । पूरा एक मास "लट्टू लाते" गया और अशुद्ध चैत्र शुक्ल ६ से शुद्ध चैत्र शुक्ल ६ तक एक मास की गणना १ दिन हुई ।"[33] प्रोफेसर लाला भगवान दीन जी के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने इसका पूर्णतः पोषण तो नहीं किन्तु किंचित समर्थन किया है । उनके अनुसार - "इस अनुमान में सत्यता कहाँ तक है यह हम नहीं बता सकते ।[34]

मिश्र जी के मतानुसार अशुद्ध चैत्र शुक्ल ६ से शुद्ध चैत्र शुक्ल ६ तक अधिक मास था । किन्तु अधिक मास अमावस्या के पश्चात् ही लगता है । इस विषय के अधिकारी विद्वानों ने भी बताया कि अधिक मास अमावस्या के पश्चात् प्रतिपदा से लग जाता है । अष्टमी, नवमी आदि तिथियों से यह कभी भी प्रारंभ नहीं हुआ है । लग्न, मुहूर्त और राशियों के विवरण से भी अधिकमास की कोई संभावना नहीं प्रतीत होती । किसी भी राम साहित्य में श्रीरामजन्म के समय में अधिकमास था, इसका उल्लेख नहीं मिलता । अतः मिश्र जी का यह अनुमान पूर्णतः असंगत और आरोपित है ।

इस प्रकार का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है । वाल्मीकीय रामायण में अनुसूया जी के दश रात्रियों की एक रात्रि कर देने का वर्णन आदि कवि ने किया है -- देवकार्यं निमित्तं च यथा सन्त्वरमाणया । दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ।।[35]
मानस में "मासदिवस" कई स्थलों पर आया है -- "मासदिवस" तहँ रहेउ खरारी निसरी रुधिर धार तहँ भारी ।।[36]
"मास दिवस" महु कहा न माना । तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना ।।[37]
"मास दिवस" महु नाथु न आवा । तौ पुनि मोहि जिअत नहीं पावा"।।[38]

---

३३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १५२, १५३
३४. मा०पी० , बाल० सं० ३, पृ० ५८
३५. वाल्मी० २।११७।१२
३६. मानस ४।६।७

सर्वत्र इसका अर्थ सभी टीकाकारों ने एक मास (३० दिन) ही किया है। अतः यहाँ पर भी 'मास दिवस' का अर्थ एक मास (३० दिन) ही है। वस्तुतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। कवियों का दूर की उड़ान भरना प्रसिद्ध ही है। संभव है भक्तों को यह बात मान्य न हो, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस प्रकार का वर्णन अतिशयोक्ति अलंकार के अन्तर्गत ही आता है। यह बात दोहे के उत्तरार्ध से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है जिसमें रथ सहित सूर्य के भाव विभोर होकर रुक जाने का वर्णन कवि ने किया है।

<u>सीता चरन</u>

सीता चरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंदमति कारन कागा।।[३९]

श्री अवध बिहारीदास जी ने इसका अर्थ किया है कि -- 'सीता जी को चरण और चोंच से मारकर भागा।'[४०] मानस मयंककार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है कि 'चरण और चोंच दोनों मारे।'[४१] रामायण परिचर्याकार ने अर्थ किया है कि सीता के आंचर में चोंच हति के भागा अंचरा एहि पद से उरोजे का बोध है भक्ति मर्यादा से साक्षात् कुच के नाम न कहा। रामायण परिचर्या परिशिष्टकार के अनुसार-सीता अचरन दीर्घ पर अकार गुप्त वाल्मीकि के विरोध भय से है अर्थ औ अन्तर्वेद आदि में ऐसे हि बोले के रीति। रामायण परिचर्या परिशिष्टप्रकाशकार ने अर्थ किया है कि 'जयन्त श्री सीता जू के अचरन में चोंचमारि के भागा। भाव कि श्री रघुनाथ अपने प्यारी का अपराधी देखि जैतना बल होयगो करेंगे।'[४२] श्रीरामदास गौड़ जी कहते हैं कि 'व अंचरा पिलाना' - स्तन पिलाना। यह मुहावरा है। 'अंचल' का प्राकृत रूप 'आंचर' और 'अंचरा' दोनों है। अन्यत्र प्रयोग भी है -- ' दुहुँ ' आचरन्ह लगे मनि मोती।' इस प्रकार 'सीता चरन' की का

----

३९. मानस ३।१।७

४०. मानस पृ० ६६२

४१. मा०पी०अरण्य०,पृ० १७

४२. रा०परि०परिशिष्ट, पृ० अरण्य, पृ० २-३

विच्छेद, 'सीता आचरन' , इस प्रकार भी हो सकता है।[४३]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि - 'यों तो देखने में शब्दावली का सीधा अर्थ सीता के चरणों में चोंच मारना जान पड़ता है, पर ध्यान देने से पता चलता है कि तुलसीदास तथ्य भी कह गए और सीताचरन में यदि सीता और आचरन दो शब्दों की संधि मानें तो तथ्य की भी उपलब्धि हो जाती है।......
'सीता चरन' का उक्त संधि-विच्छेद किया जा सकता है। ऐसा संधि विच्छेद करके आचरन शब्द का अर्थ कीजिए। यह आचरण का तद्भव नहीं अपितु 'आंचर' का बहुवचनांत रूप है। 'न' बहुवचन का प्रत्यय है। 'आचर' शब्द का अर्थ 'स्तन' होता है। अवध ही में नहीं, इस अर्थ में यह शब्द बहुत व्यापक है। यह अंचल का तद्भव रूप है। स्तन का प्रयोग न करके 'अंचल' का प्रयोग करना शीलता के कारण है। आच्छादक का प्रयोग आच्छाद्य के लिए है। इस प्रकार अर्थ में यह शब्द स्त्रियों में ही अधिक चलता है।

पूरब में 'अचर' या 'आंचर' प्रचलित है और पश्चिम में आंचल। 'अंचल' के पूरब में दो विकृत रूप हुए 'आंचर' और 'अंचरा'। इनमें से पहला स्तन और अंचल दोनों के लिए आता है पर दूसरा अधिकतर अंचल (दुपट्टे या ओढ़नी अथवा धोती के उस छोर के लिए जो छाती पर पड़ा रहता है) के लिए। क्वचित् विभेद न करके स्तन के लिए 'अंचरा' का भी प्रयोग करते हैं। यदि किसी स्त्री के स्तन में घाव हो जाय तो कहा जायगा कि अमुक के आंचर में घाव हो गया है। इस आंचर या आंचल के अनेक मुहावरे हैं। जैसे 'आंचर दबाना' (स्तन मुंह में डालना, दूध पीना) 'आंचर देना' (दूध पिलाना) आदि। 'आंचर' का प्रयोग स्वयम् तुलसीदास ने मानस में अन्यत्र किया है, पर अंचल के अर्थ में -

पियर उपरना काखा सोती। दुहुँ आंचरन्हि लगे मनि मोती ।।[४४]

---

४३. मा०पी०, अर०य०, पृ० ६७

४४. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १८८-१६१

विवाद है करने के लिए मानसमर्मज्ञकार और अवधबिहारीदास जी ने चरण और चोंच दोनों मारे । ऐसा अर्थ किया है किन्तु यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि चरणों से प्रहार तो मानव या उसके सदृश कोई जीव करते हैं —

कुमति लात तकि कूबर मारा ।
परि मुँह भर महि करत पुकारा ।।[४५]

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा । अनुज गहे पद बारहिं बारा ।।[४६]

पक्षियों के लिए चरणों प्रहार अनुचित है । कौए आदि पक्षी नखों से प्रहार करते हैं । जैसा कि अध्यात्म रामायण में आया है —

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैः तुण्डेन चासकृत ।।[४७]

अतः यहाँ चरणों से मारा यह अर्थ आरोपित है ।

गोस्वामी जी मर्यादावादी और आदर्शवादी कवि थे । जब कि आदि-कवि वाल्मीकि जी तथ्यवादी या यथार्थवादी थे । वाल्मीकि जी ने लिखा है कि वायस ने सीता जी के स्तन में चोंच मारा —

ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात् समुत्थिताम् ।
वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे ।।[४८]

किन्तु भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जगज्जननी के स्तन में चोंच मारने को कभी नहीं कहेंगे । मर्यादा के प्रतिकूल स्थलों से उन्होंने स्वयं को सर्वदा बचाया है । जिस स्थल को वे आदर्श चरित्र के प्रतिकूल समझते थे, उसे या तो वे संकेत कर देते थे या पूर्णरूपेण उड़ा देते थे । उदाहरणार्थ- लक्ष्मण जी ने जो कटुवचन कहे थे, उसको व्यक्त न करके सुमंत्र से मात्र संकेत करा दिया है —

लखन कहे कछु बचन कठोरा ।[४९]

----

४५. मानस २।१६२।४

४६. वही २।४१।६

४७. अध्यात्मरामायण सुं० ३।५४

४८. वाल्मीकि० ५।३८।२२-२३

इसी प्रकार सीता के मर्म वचन को अभिव्यक्त करना वे मर्यादा के प्रतिकूल समझते थे —

मरम वचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।।[५०]

श्रीराम जी ने सीता जी को कौन-सा अपशब्द कहा था, उसे भी आदर्श-चरित्र के प्रतिकूल समझकर उन्होंने मात्र संकेत कर दिया है —

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातुधानीं सब लागीं करैं बिषाद ।।[५१]

इसी प्रकार यद्यपि आदि कवि के मत से यह स्पष्ट है कि जयंत ने कौए के वेश में सीता जी के स्तन में चोंच मारा, 'चला रुधिर रघुनायक जाना' से भी इंगित होता है कि स्तन में ही चोंच मारा गया, क्योंकि श्रीराम जी सीता के गोद में सो रहे थे, रक्त की गर्म बूंदों से उन्हें आभास हुआ कि रुधिर गिर रहा है, तथापि भक्ति संप्रदाय के प्रतिकूल समझकर उन्होंने बिल्कुल परिवर्तन कर दिया है। गोस्वामी जी मानस में अध्यात्म रामायण से विशेष प्रभावित लगते हैं। 'रामायणे निगदितम्' का अर्थ वाल्मीकि रामायण में सीमित नहीं, अध्यात्म रामायण में वर्णित है। अध्यात्म रामायण में सीता जी हनुमान् जी से कहती हैं कि उसी समय इन्द्र का पुत्र काक वेष में वहाँ आया और मांस के लोभ से मेरे पैर के लाल-लाल अंगूठे को अपनी चोंच तथा पंजों से फाड़ डाला। तदनंतर जब श्रीरामचन्द्र जी जागे तो मेरे पैर में घाव हुआ देखकर बोले —

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत् ।
मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया ।।
ततो रामः प्रबुद्धश्चाथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम् ।[५२]

अतः स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने भक्ति सम्प्रदाय के आदर्शवादियों के अनुसार ही परिवर्तन किया है। आनंदरामायण कार ने भी ऐसा ही किया है। आनन्द रामा-

---

५०. मानस २।२५, ३।२८।५

५१. वही ६।१०८।

मानस और अध्यात्म में एक ही श्लोक है। मात्र अध्यात्म के 'मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तो' के स्थान पर आनन्द रामायण में 'सीताङ्गुष्ठ मृदु रक्तं' है। गोस्वामी जी शिवकथित रामचरितमानस की कथा लिखते हैं। शिव जी कदापि नहीं कहेंगे कि स्तन में चोंच मारा।

उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों और समालोचकों ने 'आचरन' का खींच-तान करके 'स्तन' अर्थ किया है। 'आचरन' शब्द का स्तन अर्थ में प्रयोग कहीं भी नहीं प्राप्त होता। गोस्वामी जी ने यही नहीं अन्यत्र भी 'सीताचरन' का प्रयोग किया है --

सीताचरन भरत सिरु नावा। अनुज समेत परम सुख पावा।।
सीताचरन प्रनामु करि, सुमिरि सुनामु सनेम।।[53]

अत: 'आचरन' शब्द का अर्थ 'स्तन' यहाँ पूर्णरूपेण आरोपित अर्थ है।

'दुहुँ 'आचरन्हि' लगे मनि मोती।' के 'आचरन्हि' का अर्थ 'अंचल' है 'स्तन' से सम्बन्धित नहीं है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ है - 'वह मूर्ख, कुबुद्धि के कारण कौआ भी सीता जी के चरण में चोंच मारकर भागा। श्रीरामचरणदास[54], पंजाबी जी,[55] ग्राउस महोदय[56] और विनायकी टीकाकार[57] आदि टीकाकारों ने 'चरण में चोंच' मारा ऐसा ही अर्थ किया है। 'औचित्य' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

कुमार

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।।[58]

यहाँ 'कुमार' शब्द के अर्थ में टीकाकारों ने विचित्र कल्पनाएं करके पाण्डित्य-प्रदर्शन

---

५३. मानस ७।६।२ और रामाज्ञा० ३।४।५

५४. रामा०,पृ० ८०६

५५. मा०भा०,अरण्य०,पृ० २

५६. द रामा० आव० तुलसीदास,पृ० ३३४

५७. मानस,पृ० ६७८

किया है। पं० रामकुमार जी के अनुसार -

(क) 'पद की मैत्री के लिए कुमार पद दिया। जैसे उसने कहा था कि 'अब लगि रहिउँ कुमारि', वैसे ही प्रभु ने मिलता-जुलता उत्तर दिया कि 'अहै कुमार'। कुमारि का ब्याह कुमार के साथ उचित ही है, दोनों का जोड़ है।

(ख) 'कुमार' का अर्थ 'लड़का', 'छोटा' और 'राजकुमार' भी होता है, उस अर्थ में भी ले सकते हैं। यथा - 'तुम्ह हनुमंत संग ले तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा' ।। में सुग्रीव ने छोटा जानकर ही 'कुमार' शब्द लक्ष्मण जी के लिए प्रयुक्त किया है। वैसा ही यहाँ समझ लें। (कवि ने भी कभी- कभी 'कुमार' शब्द 'राजकुमार' अर्थ में प्रयुक्त किया है, यथा - 'देखि बिकलमहि जुगल कुमारा।' वैसा ही यहाँ भी समझ लें।)

अभिप्राय दीपक चक्षुकार कहते हैं 'रहित कुमार कुँअर कहि, अनट गिरा केहि हेतु। गत सम्बत रबि जागरित, जित मन नृप सुत सेतु ।।२५।।' अर्थात् जो कुमारे नहीं हैं, विवाहित हैं, उनको प्रभु ने कुमारा कहा, यह मिथ्या कैसे कहा? वे तो कभी असत्य नहीं बोलते? और उत्तर देते हैं कि वे असत्य नहीं बोले। रवि अर्थात् बारह संवत् (वर्ष बीतने पर राजपुत्रों को कुमार पदवी होती है। अथवा 'जागरित' अर्थात् रति संयोग रहित अरुजित मन' व मन के जीतने वालों को कुमार कहते हैं, यह मर्यादा है। लक्ष्मण अभी वैसे ही हैं।

दीन जी के अनुसार -यहाँ राजनीति है। नीति के विचार से राजनीति का उत्तर देना अनुचित नहीं। श्रीधर मिश्र के अनुसार - हास्य रस में मिथ्या बोलना दोष नहीं है। पुनः, छली के साथ छलमयी बातें करना नीति है। 'शठे प्रतिशाठ्यंकुर्यात्।' व्यापक जी के मत से - इस चरण का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये 'कुमार मोर लघु भ्राता अहै' अर्थात् वह कुमार मेरा लघु भ्राता है। भाव यह कि तुम यह न समझो कि वह हमारा कोई नौकर है, उसके साथ विवाह करने से नौकरानी बनना पड़ेगा। वह रघुवंशी है, हमारा भाई है।

और भी अनेक भाव लोगों ने कहे हैं....... कुमार से जनाया कि ब्रह्मचर्य व्रतधारण किये हैं, वा, ब्रह्मचारी और इन्द्रियजित् हैं। कुमार स्वामिकार्तिक को भी कहते हैं, उनके ये मोर है। तू सर्पिणी है, विवाह सजातीय में होता है। कु-दुष्ट। कुमार - दुष्टों को मारने वाले। कुमार-जिसने कामदेव को भी अपने रूप से कुत्सित

रूना किया । यथा -

'कोटि काम उपमा लघु सोऊ'

जय सरिर छबि कोटि अनंगा ।

स्वामी प्रज्ञानंद सरस्वती के अनुसार -"शूर्पणखा तो तो सुन्दर मनोहर पुरुष चाहिए । विवाहित या अविवाहित का प्रश्न तो विचार ही उसके आगे नहीं है । प्रभु भी यह स्पष्ट नहीं करते कि हम क्या है हैं ।[५६]

श्रीरामचरणदास जी के मत से - देशकाल अनुसार दिके कहा है यह आरण्य देश रावनासन के राज्य अरु विरोध को काल अरु आप ही जानकी संयुक्त हैं अरु लक्षमण जु अकेले हैं तहाँ जो स्त्री रहित पुरुष विदेश में होई ताकी एक देश में कुमार संज्ञा है जो वह पुरुष विवाह करि लेइ तो दोष नहीं है, तहाँ ऐसे कहिबे को अवसर है ताते कुमार है किन्तु श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि हे सुन्दरी मोर भ्राता ऐसो सुन्दर है कु कही कुत्सित है मार कहो काम जेहि के रूप के आगे ताते उनकर विकारुकरु ताते कुमार कहा ।[५६क] श्रीकरुणासिन्धु जी ने भी श्रीरामचरणदास के प्रथम अर्थ से मिलता अर्थ किया है ।[६०] हरिहरप्रसाद जी ने यह अर्थ दिया है 'कुमार कहिबे को भाव कि इहाँ इनकी पत्नी नहीं है, कोऊ कुत्सितो मारो यस्मात् स कुमार: कुत्सित है काम जेहि ते ताको कुमार कहेउ अर्थात्परम सुन्दर है... वा कुमार युवराजरीति राजकुमार... .... कुमार शब्द अविवाहित में रुढ़ि नहीं है तथाहि कुमार: स्यात्स्कंदकेस्कन्धे युवराजे एववारके । बालके करुणाद्रौ ना नद्यो-जात्व कांचन इति मेदिनी । अहं कुमार को मोर देवो वाला लघु भ्राता औ कुमार कार्तिका को भी पराभव करे वाला लघुभ्राता है, इहाँ अर्थ होते हैं ।[६१]

---

५६. मा०पी०अर०य०, पृ० १८५ क. रामा०, पृ० ८४६

६०. मा०पी० अर०य० पृ० १८५

६१. रा०प०रि०परिशिष्ट, पृ० १८

पंजाबी जी के अनुसार -"सौमित्र कौं कुमार कथन का भाव यह उसने जो कहा था मैं अब लौं कुमारि हौं ताते प्रभो ने यह मेरो लघु भ्राता कुमार है अथवा हमारे निकट तो नारी है अरु यह कुमार कहे युवती रहित है । नारियों के सम हास मों किंचित् झूठ का दोष नहीं ।....... कुमार पद प्रत्यक्ष स्त्री के अभाव लिये है अथवा कुमार जिसकी अवस्था है -"किंवा कु कहे पृथ्वी तिस विषे हार कहे मदन तिस राम सुंदर । [62]

श्रीकांतशरण जी लिखते हैं कि वह विधवा है, पर छल से कुमारी बन रही है, श्रीरामजी की राजनीति के अनुसार उत्तर दे रहे हैं कि मेरा भाई भी (ऐसा ही) कुमार है । भाव यह कि घर में विवाहिता स्त्री होने पर भी वैसा ही कुमार है । छली से छल भरी बात करना नीति है " शठे शाठ्यं समाचरेत्" [63] शुकदेवलाल जी[64] और राय बहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथप्रसाद जी ने[65] भी ऐसा ही अर्थ किया है ।

मानस मयंककार इसका अर्थ इस तरह करते हैं -

"मार शब्द लौकिक बिना ,लाजत द्वादस मीत ।
दार संग न संभवे हास अंत रसनीत ।। ५६ ।।

कुमार कहने का यह भाव है कि (मार) कामदेव जिसके अलौकिक द्वादश वर्ष के व्रत को देख कर लजाता है, जिसके संग स्त्री भी नहीं है ,यहाँ हास्य रस के अन्तर्गत नीति का उपदेश किया कि तुम्हारा तोष करने वाला कोई नहीं है, मुझे पत्नी विद्यमान ही है और मेरे भाई ने काम को द्वादश वर्ष के कठिन व्रत से निरादर ही किया । [66]

----

६२. मा०भा०अर०प्र०,पृ० २६

६३. मानस सि०ति०,वि०सं०,पृ० १५८६

६४. रामा०,पृ० १६

६५. श्री तुलसीतत्व प्रकाश,पृ० ७२

६६. मानस मयंक,वार्तिक श्री इन्द्रदेव नारायण,पृ० ३२२

स्वामी हरिहरदास जी आवेश में आकर इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं - "मानस-पीयूष के लेख से यह सूचित किया गया है कि श्रीराम जी ने शूर्पणखा से हास्य और झूठाई किया है। परन्तु मानस-पीयूष का यह लेख सर्वथा झूठ है, क्योंकि श्रीराम जी मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार हैं, कभी भी असत्य भाषण नहीं किया (वाल्मीकि रामायण में प्रमाण है कि "सत्य का व्रतों दृढ़व्रत:" पुन: मानस पीयूष में लेख है कि जैसे शूर्पणखा ने झूठ बोली है कि अभी कुंआरी हूँ वैसे श्रीराम जी ने भी यह कह दिया कि "अहै कुंआर"। परन्तु जब लेखक को भाषा बनाने का बोध नहीं तो टीका लिखना क्यों प्रारम्भ किया ? उचित है कि प्रथम क्रिया कर्म से पदच्छेद कर ले तब भाषा लिखे तो यथार्थ होता है। यहाँ "अहै" शब्द क्रिया है जिसको भ्राता शब्द से संयोग है कि भ्राता अहै अर्थात् यह कुमार हमारा छोटा भ्राता है। शूर्पणखा के वचन और श्रीरामजी के वाक्य की बराबरी नहीं हो सकती, क्योंकि शूर्पणखा ने जो अपने को कुंआरी कहा तो उसका वचन झूठा है। उसका विवाह हो चुका था। और श्रीराम जी ने जो लक्ष्मण को कुमार कहा है सो कुमार शब्द कहना इसलिए सत्य वचन है कि राजाओं के लड़के कुमार कहलाते ही हैं। बल्कि कुमार तो श्रीराम जी भी लिखे गये हैं कि "देखि विकल भए युगल कुमारा।" कुमार शब्द पदवी है ब्याहे को भी कहा जाता है। यहाँ सीता जी को चिन्ह कर वर्तमान व्यवस्था मात्र सूचित किया है कि हमारे पास स्त्री है। लक्ष्मण के पास यहाँ नहीं है। अत: श्रीराम जी का झूठ बोलने का लेख मानस पीयूष का सर्वथा झूठा और अनर्थ है।[६७] तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने इसका अर्थ किया है कि -"प्रभु राम ने सीता जी की ओर देखकर (कि मैं तो विवाहित हूँ और मेरी पत्नी है) उससे कहा-"देखो। मेरा छोटा भाई अवश्य कुमार (इस समय कुमार का व्रत लिए हुए) है"[६८]

टीकाकारों के "कुमार" शब्द के उपर्युक्त अर्थों से यह स्पष्ट होता है कि परिहास में भी श्रीराम जी को सत्यवादी बनाने के हेतु ऐसा अर्थ किया गया है।

----

६७. मानस, पृ० ७१७-१८

६८. पृ०सं०, ना०प्रा०वि०प्रि० काशी, पृ० ६५८

क. यहाँ पर विचारणीय है कि वस्तुतः 'कुमार' शब्द का क्या अर्थ है ? अध्यात्म रामायण में कहा गया है कि श्रीरामजी ने सीता जी की ओर संकेत करके मुस्करा कर कहा कि यह कल्याणी मेरी स्त्री है, जो मेरे पास सदा रहती है । तुम दूसरी पत्नी बनकर रहोगी तो सदा सपत्नी के दुःख से दुःखी रहोगी । मेरा भाई लक्ष्मण अत्यन्त सुन्दर है जो बाहर बैठा है । वह तुम्हारे अनुरूप पति होगा । तुम उसी के साथ विहार करो । यथा —

> रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत्
> भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी ।।
> त्वं तु सापत्न्यदुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि ।
> बहिरास्ते मम भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः ।।
> तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव संचर ।[६६]

आदि कवि जी लिखते हैं कि श्रीरामजी ने शूर्पणखा से मधुर स्वर में स्पष्ट हँसकर बोले । हे श्रीमति ! मेरा विवाह हो चुका है । यह मेरी प्रिय स्त्री है और मौजूद है । तुम्हारे समान स्त्रियों के लिए सपत्नी का होना बड़ा ही दुःखदायी है । यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है, सुन्दर शीलवान् देखने में सुन्दर और सब प्रकार की सम्पत्तिवाला है, इसके स्त्री नहीं है और यह बड़ा वीर्यवान् है । तुम्हारे इस सुन्दर रूप के अनुरूप यह तुम्हारा पति हो सकता है । हे विशालाक्षि ! तुम मेरे इस भाई को अपना पति बना लो । वहाँ तुम बिना सवति के रहोगी जैसे सूर्य की प्रभा मेरु पर रहती है । यथा —

> स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ।
> कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।
> त्व विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ।।
> अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः ।
> श्रीमान् कृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ।।
> अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।

---

६६. अध्यात्म० अ० ५।१२-१३-१४

अनुरूपा ते भार्या पस्यास्य भविष्यति ।।
एवं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ।।[७०]

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण के आधार पर यहाँ 'कुमार' शब्द का अर्थ बिना व्याख्या ही निश्चित होता है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी के मतानुसार - 'इस अर्धाली का 'कुमार' शब्द विचारणीय है। लक्ष्मण का विवाह हो चुका था फिर भी रामचन्द्र कहते हैं कि मेरा छोटा भाई क्वारा है। सीता की ओर देखने का तात्पर्य था कि मेरी स्त्री मौजूद है, देख लो। किसी दूसरे अभिप्राय से 'कुमार' शब्द प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। कम से कम सूर्पणखा को तो उन्हें अवश्य बताना था कि लक्ष्मण अविवाहित हैं। अतः विवाहित लक्ष्मण को अविवाहित (कुमार) कहने में कोई न कोई रहस्य है, व्यंग्य है। सूर्पणखा ने कहा था कि -

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग बिधि रचा बिचारी ।।
मम अनुरूप पुरुष जग नाहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहु नाहीं ।।
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ।।
(१७।८।१०)

पर कुमारी वह थी कहाँ। उसका विवाह हो चुका था, वह विधवा थी। यहाँ राम 'कुमार' कह कर 'कुमारी' का जोड़ मिला रहे थे। जिस प्रकार सूर्पणखा कुमारी उसी प्रकार लक्ष्मण कुमार'। उनकी स्त्री वहाँ नहीं थी।'[७१]

गोस्वामी जी ने शूर्पणखा को 'नागिनी' के समान कहा भी है। लक्ष्मण जी नागराज हैं ही। अतः 'नागिनी' और नागराज का सम्बन्ध भी सर्वोत्तम है।

वाल्मीकि जी के वाक्य 'स्मितपूर्वमथाब्रवीत्' अर्थात् श्रीरामजी ने हँसकर उत्तर दिया, इससे परिहास ही विदित होता है। शूर्पणखा तो मिथ्यावादिनी थी

---

७०. वाल्मीकि० स० १८।१-५

७१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १९५ - ९६।

स्वरूप । किन्तु रावण को जो उसने नीति[७२] और भी राम-सीता और लक्ष्मण का परिचय दिया वह पूर्णत: सत्य है ।[७३] उसी प्रसंग में उसने कहा है —

तासु अनुज काटे श्रुति नासा ।
सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा ।।[७४]

यहाँ परिहासा शब्द से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कुछ परिहास हुआ अवश्य था । वाल्मीकि जी ने कहा है कि शूर्पणखा परिहास में प्रवीण न थी, इससे वह लक्ष्मण जी की बात को सत्य समझ गयी —

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वच: सत्यं परिहासाविचक्षणा ।।[७५]

श्रीराम जी शूर्पणखा को लक्ष्मण जी के पास भेजते हैं और लक्ष्मण जी श्रीरामजी को सर्वसमर्थ बताकर रामजी के पास भेजते हैं । इससे तो परिहास का पूर्ण आभास होता है । श्रीरामदास गौड़ जी कहते हैं कि "मीठी चुटकी और लतीफ़ मज़ाक का यह नमूना है । हास्य रस में व्यंग में, कूट में, काकूक्ति में सत्य के कठिन काँटे पर बातों को नहीं तोलते । उत्तर प्रत्युत्तर का होना सुसंगत होता है । श्री रघुनाथ जी खूब जानते थे कि शूर्पणखा बूढ़ी विधवा है, पर हमारे सामने आकर सुन्दरी कुमारी बन रही है । इस बनी हुई धृष्टा निर्लज्जा अनूढ़ा नायिका को हँसी में ही भगवान लक्ष्मण जी जैसे क्रोधी, ब्रह्मचर्य व्रती के पास शिक्षार्थ यह कहकर भेजते हैं कि सुन्दरी! जैसी तू "कुमारी" है (यद्यपि विधवा है) वैसे ही मेरा छोटा भाई भी "कुमार" ही है (यद्यपि व्याहा है) अर्थात् दोनों ही इस समय दाम्पत्य सुख से वंचित हैं) तुम दोनों से पट जायगी । कुछ लोग यों अर्थ करते हैं कि भगवान ने "कुमार" सुन्दर

---

७२. मानस ३।२१।८-१२

७३. वही ३।२२।३-१०

७४. वही ३।२२।१०

७५. वाल्मीकि० १८।१३

श्लिष्ट अर्थ में कहा । कुमार अर्थात् कुत्सित है कामदेव जिसके । परन्तु इस श्लेषार्थ का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता ।"[७६]

श्रीमद्भागवतकार ने कहा है कि स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रशंसा करते समय, अपनी जीविका की रक्षा के लिए, प्राणसंकट उपस्थित होने पर, गौ-ब्राह्मण के हित के लिए तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिए असत्य-भाषण भी उतना निंदनीय नहीं है । उदाहरणार्थ —

> स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे ।
> गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ।।[७७]

अत: यहाँ पर श्रीरामजी के द्वारा लक्ष्मण जी को अविवाहित कहना आपत्तिजनक नहीं है । अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा -"सीता जी की ओर देखकर प्रभु श्रीराम-जी ने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई अविवाहित है ।" ग्राउस महोदय ने भी कुमार का अर्थ अविवाहित (बैचलर) किया है ।[७८] "प्रकरण" नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

माथ नाइ पूछत अस भयऊ

> बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ । माथ नाइ पूछत अस भयऊ ।।[७९]

हनुमान जी ने ब्राह्मण का वेश धारण करके क्षत्रियों को प्रणाम क्यों किया ? इस विषय में टीकाकारों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं —

रामायणपरिचर्याकार के अनुसार —"देवन में शिव विप्र जाति हैं और हनुमान जी रुद्रवतार एहिहेतु विप्र रूप धारे । रामायण परिचर्या परिशिष्टकार के अनुसार —

---

७६. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ६७-६८

७७. श्रीमद्भागवत ८।१६।४३

७८. द लार्ड लुकिंग एट सीता एंड सेइंग रिप्लाई : " माई यंगर ब्रदर इज ए बैचलर ।"
—द रामा० आव तुलसीदास,पृ० ३४५

७९. मानस ४।१।६

'भाव आपने रूप धरि गए रघुनाथ के स्वरूप में रुचि रूप लै जाया याही श्रुति में रुद्र ब्राह्मण वर्ण। रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार के अनुसार --
शंका -- विप्र रूप से गए तो इसी रूप को कैसे प्रणाम किए।
उत्तर। दोऊ भाइन के देखि हनुमान के चित्त में जेतने विकल्प भए सब प्रणाम योग्य स्वरूप में -- की तुम तीनि देव महँ कोऊ, इत्यादि।[८०] पंजाबी जी के अनुसार - अपना जो छात्र वेष है तिस लज्जा कर सुभावत शीश नीचा किया जाते अपने पाप का भय सभों को होता है किंवा उत्तमों की रीति है जो बातों श्रेष्ठों के साथ करणी होइ तो मुख नेत्र नीचे कर करणी। अथवा श्रीरामचन्द्र का प्रताप पड़ गया ताते सेवकी अर्थ विवश सिर नम्र भया।'[८१]

मानस-मयंककार के अनुसार --
पर लघु गुन ए पर रहे, लखे कहे ना आजु।
शिधी वदन दुर लाज हूँ, ऐसे हूँ हरतापु ।।५०।।

श्री हनुमान जी ने माथ नवा कर क्यों पूछा अर्थात् प्रणाम क्यों किया ? इसका कारण मयंककार कहते हैं कि हनुमान जी ने अपने से (पर) श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र को जाना और अपने को लघु समझा क्योंकि श्रीरामचन्द्र वानप्रस्थ और हनुमान जी ब्रह्मचर्य अवस्था में हैं पुन: यद्यपि श्रीरामचन्द्र ने आप नहीं कहा तथापि हनुमान जी लख गये कि ये गुण अर्थात् त्रिदेव से भी परे हैं। पुन: स्वामी से कपट करने से लाजवश शिर नीचा हो गया। यद्यपि हनुमान जी कपट रूप बनाये थे तथापि श्रीरामचन्द्र ने ग्रहण किया। कारण यह कि ऐसे ही रूप से अर्थात् कपट रूप ही से हनुमान जी द्वारा उनका ताप शमन होगा क्योंकि इसी रूप से जानकी जी का पता लगावेंगे और भरतादि के क्लेश को हरेंगे।।[८२]

१. श्रीरामचरण पाण्डेय आदि के अनुसार -- ईश्वर जानकर व देवबुद्धि से प्रणाम किया। हनुमान् जी के प्रश्न से यह बात स्पष्ट है,...... ब्रह्मा, विष्णु, महेश,

----

८०. रामा० परि०परि० परिशिष्ट,पृ० किष्कि०,पृ० २
८१. मा०भा०अरण्य,पृ० ४
८२. मा० वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ३५६

नर-नारायण और अखिल भुवनपति ये सब प्रणाम करने योग्य हैं। इसी से प्रणाम किया।

२. श्रीरामचन्द्र जी और श्री लक्ष्मण जी के तेजप्रताप का यह प्रभाव है कि श्री जनक महाराज और उनके मंत्री भूसुरवृन्द आदि जो उनके साथ विश्वामित्र जी से मिलने गये थे सभी ने बिना जाने ही बरबस उनका अभ्युत्थान किया था। यथा — "उठे सकल जब रघुपति आये। १।१२५।" और उनके चित्त में इनकी ईश्वरता झलक पड़ी, यथा — "ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।।........ १।२१६। जब भूसुर पर गुरु ज्ञाति शतानंद जी आदि ने अभ्युत्थान किया तब यहाँ आश्चर्य क्या? अपने से अधिक तेजस्वी प्रतापशाली महात्मा को देखकर स्वतः ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि बिना जाने ही हमारा मस्तक उनके सामने झुक जाता है। इसके प्रमाण में यह श्लोक भी है —

"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून: स्थविर आयति।

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।।" (मनुस्मृति आचा०)

अर्थात् बूढ़े के आने से जवान के प्राण ऊपर को चढ़ जाते हैं। उठने और अभिवादन से फिर ज्यों के-त्यों हो जाते हैं। (श्रीकांतशरण जी ने यही अर्थ अपनी टीका में किया है।)[८३]

प्रणामकरना वाल्मी० और अ०रा० में भी है। यथा —

विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च। वाल्मी० ४।३।३।"

विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत्। अ०रा० ४।१।११।" दोनों रामायणों से सिद्ध होता है कि दोनों भाइयों में महा तेज उन्होंने देखा तभी तो उनके वचन हैं कि "द्योतयन्तौ दिश: सर्वा: प्रभया भास्कराविव। अ०रा० ४।१।१२" प्रभया पर्वतेन्द्रो यो...... वाल्मी० ४।३।११।" अपने शरीर की कान्ति से आपने समस्त दिशाओं को सूर्य के समान प्रकाशमान कर रखा है। यह सारा पर्वत आपकी प्रभा से जगमगा गया है। अतः अपने से अधिक तेजस्वी देखकर प्रणाम करना स्वाभाविक है। देखिये महाराज परीक्षित् की सभा में वसिष्ठादि ऋषि भी शुकदेव जी

---

८३. मा०सि०ति०,कि०कां०, पृ० १६१६

जी को आते देख उठकर खड़े हो गये थे। रावण की सभा में अंगद के पहुँचने पर सभी सभासद आसनों से उठकर खड़े हो गये थे। तब तेजराशि तेजनिधान श्रीराम-लक्ष्मण जी को देखकर बटु का मस्तक झुकने में क्या आश्चर्य है। वाल्मीकीय आदि से यही स्पष्ट है कि हनुमान् जी इनको देवता ही समझे, यथा - "देवलोकादिहागतौ" (४।३।१२), अर्थात् क्या आप देवलोक से आये हैं। ऐसा प्रभाव पड़ने पर कैसे प्रणाम न करते?"

स्वामी प्रज्ञानंद जी के अनुसार - "भगवद्भक्तों की इन्द्रियों का यह सहज स्वभाव हो जाता है कि 'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।' उनके मन को ऐसी प्रेरणा प्रकृति से ही मिलती है। उनको ऐसे समय पर तर्क या विचार नहीं करना पड़ता। श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज 'सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा० । गीता १४।११।' इस श्लोक की व्याख्या में कहते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुण को जीतने पर सत्वगुण की वृद्धि होती है तब शरीर में ये लक्षण प्रकट होते हैं - प्रज्ञा, हृदय में नहीं समाती, इन्द्रिय द्वारों से बहने लगती है, समस्त इन्द्रियों में विवेक आ जाता है, मानों हाथों और पैरों में भी दृष्टि आ जाती है। इत्यादि। श्रीहनुमान् जी को यह प्रेरणा प्रकृति से मिली, उनका मस्तक स्वभावतः झुक गया।

(ख) श्री हनुमान् जी अभी निश्चयपूर्वक यह नहीं जानते कि ये क्षत्रिय हैं या नहीं, यह उनके 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा' इस प्रश्न से स्पष्ट है। कारण कि वेष तो है मुनियों का और धनुर्बाणादि तथा गति वीर्यादि क्षत्रिय के लक्षण हैं। ब्राह्मण हुए और प्रणाम न किया तो 'पूज्यातिक्रम दोष' रूपी पाप लगेगा। क्षत्रिय होने पर प्रणाम करने से पाप तो लगेगा नहीं। अतः मस्तक नवाने में कोई शंका की बात नहीं है।"

.... वेदान्त भूषण जी कहते हैं कि धर्मशास्त्रों की आज्ञा है कि किसी अपरिचित का अनावश्यक परिचय आदि न पूछना चाहिये। यदि परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो तो उसे नमस्कार करके परिचय प्राप्त करे। परन्तु गोत्रोच्चारण पूर्वक नमस्कार का बंधन नहीं है। हनुमान जी अभी श्रीराम से अपरिचित हैं। इसलिये वे नमस्कार करके परिचय पूछते हैं।" बैजनाथ जी के मत से वे नित्य पार्षद हैं, इसी से देखते ही ऐश्वर्य इनके हृदय में प्रविष्ट हो गया।"

पं० श्रीधर मिश्र के मतानुसार — "हनुमान् जी का भीतर शरीर तो वानर का है और ऊपर से रूप ब्राह्मण का धारण किये हैं जैसे बहुरूपिया करता है। अतः हनुमान् जी ने विचारा कि सम्मुख मुँह करके बात करते ही प्रभु हमको पहिचान लेंगे कि यह वानर है इससे भय से सिर झुकाकर पूछा। (पर जो रूप हनुमान् जी ने धारण किया वह ऐसा नहीं है कि उसको देखकर कोई यह जान लेता कि ये वानर हैं। हनुमान् जी को यह सिद्धि प्राप्त थी कि जो रूप चाहते थे धारण कर सकते थे, यह बात स्वयं उन्होंने श्रीरामजी से (वाल्मी० ४।३।२३) में कही है - "कामगं कामचारिणम्")

श्रीरामचरणदास जी के अनुसार — ब्राह्मणों के बालक जाना, वा, देखते ही परमेश्वर बुद्धि आ गयी अथवा यों अन्वय कर लें कि - "विप्ररूप धरि (सुग्रीवकहँ) माथ नाइ कपि तहँ गयऊ और अस पूछत भयऊ" अर्थात् सुग्रीव को प्रणाम करके कपि वहाँ गये और इस प्रकार पूछने लगे। (पर इस अर्थ का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। प्रायः सभी रामायणों में हनुमान् जी का दोनों भाइयों को प्रणाम करना पाया जाता है)"[८४]

मानस मर्यंककार, पंजाबी जी और श्रीधर स्वामी के भाष्यों से यह संकेतित होता है कि हनुमान जी "वर" क्रिया के अनुपयुक्त थे। किन्तु लंका में उन्होंने जो वर क्रिया का कौशल प्रदर्शित किया है उससे यह बात बिलकुल असंगत प्रतीत होती है। ब्रह्मा जी ने कपि को यह वरदान दिया था कि -" वह इच्छानुसार रूपधारण कर सकेगा और जहाँ चाहेगा जा सकेगा। उसकी अव्याहत गति होगी।"[क]

यहाँ विचारणीय है कि "विप्र" शब्द का क्या अर्थ है ? वाल्मीकि जी के मत से वानररूप मनुष्यों से बातचीत करने के उपयोगी नहीं, अतः भिक्षु रूप धारण करके गये —

---

८४. मा०पी० किष्कि० पृ० १६-१८

क. वि०पी०,खंड १,पृ० १८

कपि रूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः ।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः ।।[८५]

अध्यात्मरामायणकार के अनुसार -

गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः ।।[८६]

अर्थात् हे सखे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर उनके पास जाओ
श्रीरामजी ने हनुमान जी से कहा कि -

प्रभु अनुमानहि कहा बुझाई । धरि बटुरूप अवधपुर जाई ।।
भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु । समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ।।[८७]

हनुमान जी ने क्या किया -

विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ।।[८८]

यदि बटु और विप्र शब्द के अर्थ में विरोध होता, तो गोस्वामी जी कदापि ऐसा प्रयोग नहीं करते । इस तरह के प्रयोग से स्वामी जी की आज्ञा का उल्लंघन होता है, जो हनुमान जी ने कभी नहीं किया । इसी प्रकार सुग्रीव ने कहा कि -

धरि बटुरूप देखु तैं जाई । [८९]

हनुमान जी ने क्या किया -

विप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ ।।[९०]

फिर वही बात । यहाँ भी यदि अर्थ-विरोध माना जाय,तो स्वामी की अवज्ञा होती है । पूर्व कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी अध्यात्म रामायण से सर्वाधिक प्रभावित हैं । अध्यात्म रामायण के उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट है कि सुग्रीव ने

---

८५. वाल्मीकि० ४।३।२
८६. अ०रा० सर्ग १।८
८७. मानस ६।१२१।१-२
८८. वही ७।१।१८
८९. मानस ४।१।४
९०. वही ४।१।६

हनुमान जी को ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण कर श्रीराम के पास जाने को कहा था । अतः यहाँ भी 'विप्र' शब्द का प्रयोग 'ब्राह्मण ब्रह्मचारी' के अर्थ में हुआ है । न कि ब्राह्मणादि वर्णों के ब्रह्मचारी अर्थ में नहीं । हनुमान जी यत्र-तत्र 'विप्र' रूप धारण करके ही गये हैं -- 'विप्ररूप धरि कपि तहं गयऊ' ।[६१] सीता जी के पास विप्र रूप से इसलिए नहीं गये, क्योंकि सीता जी 'यती' रूप से धोखा खा चुकी थीं । उन्हें इस रूप से अविश्वास हो चुका था । दीन जी कहते हैं 'कि ब्रह्मचारी अवध्य और अबाध्य है, अतः यह रूप धारण किया । यह हर एक को प्रणाम कर सकता है, अतएव यह शंका ही निर्मूल है ।'[६२]

वेदान्तभूषण जी कहते हैं कि - 'स्मृतियों में वेद के विद्यार्थी की संज्ञा 'विप्र' शब्द से बतायी गयी है - 'वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।' ब्रह्म अर्थात् वेद के विज्ञाता की संज्ञा ब्राह्मण है । 'विप्र' शब्द की तरह 'बटु' शब्द का अर्थ भी विद्यार्थी ही है । अतः बटु और विप्र पर्यायवाची शब्द हैं । 'महावीर-चरितम्' में जब जनक जी ने परशुराम जी को परुषवादी 'द्विज' कहकर पुनः बटु रटने वाला बटु कहा, यथा -

'कस्य द्विजे परुषवादिनि विवादेः क्वणौ रटन्बटु कथं न बटुर्विसह्यः ।। ३।३१ ।'

तब परशुराम जी ने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या मैं अभी तक विद्यार्थी हूं जो बटु कह कर तुमने मेरा अपमान किया - मामेवं बटुरित्याक्षिपसि । इससे यह निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) आश्रम दृष्टि से न्यून कोटिका है । अस्तु । सुग्रीव ने बटुरूप धरकर आने को कहा तब 'विप्ररूप धरि कपि तहं गयऊ' । इसी से श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों ने विप्रवेष देखकर भी स्वयं आश्रम में श्रेष्ठ होने से बटु- छात्र को प्रणाम न किया । और स्वयं क्षत्रिय होने से विप्र विद्यार्थी के

---

६१. मानस ४।१।५

६२. किष्किं०,पृ० ३

हनुमान जी को ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण कर श्रीराम के पास जाने को कहा था। अतः यहाँ भी 'विप्र' शब्द का प्रयोग 'ब्राह्मण ब्रह्मचारी' के अर्थ में हुआ है। क्षत्रियादि ब्रह्मचारी के अर्थ में नहीं। हनुमान जी यत्र-तत्र 'विप्र' रूप धारण करके ही गये हैं -- 'विप्ररूप धरि वचन सुनाए।'[६१] सीता जी के पास 'विप्र' रूप से इसलिए नहीं गये, क्योंकि सीता जी 'यती' रूप से धोखा खा चुकी थीं। उन्हें इस रूप से अविश्वास हो चुका था। दीन जी कहते हैं 'कि ब्रह्मचारी अवध्य और आराध्य है, अतः यह रूप धारण किया। वह हर एक को प्रणाम कर सकता है, अतएव यह शंका ही निर्मूल है।'[६२]

वेदान्तभूषण जी कहते हैं कि - 'स्मृतियों में वेद के विद्यार्थी की संज्ञा 'विप्र' शब्द से बतायी गयी है - '... वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।' ब्रह्म अर्थात् वेद के विज्ञाता की संज्ञा ब्राह्मण है। 'विप्र' शब्द की तरह 'बटु' शब्द का अर्थ भी विद्यार्थी ही है। अतः बटु और विप्र पर्यायवाची शब्द हैं। 'महावीर-चरितम्' में जब जनक जी ने परशुराम जी को पहले 'ब्रह्मवादी द्विज' कहकर पुनः बटु रटने वाला बटु कहा, यथा -

'कस्य द्विजे पराकृष्टवादिनि विवादैः क्षमौ रटन्बटु कथं न बटुर्विसृज्यः ।। ३।३१।'

तब परशुराम जी ने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या मैं अभी तक विद्यार्थी हूँ जो बटु कह कर तुमने मेरा अपमान किया - मामेवं बटुरित्याक्षिपसि। इससे यह निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) आश्रम दृष्टि से न्यून कोटिका है। अस्तु। सुग्रीव ने बटुरूप धरकर जाने को कहा तब 'विप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ'। इसी से श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों ने विप्रवेष देखकर भी स्वयं आश्रम में श्रेष्ठ होने से बटु- छात्र को प्रणाम न किया। और स्वयं क्षत्रिय होने से विप्र विद्यार्थी के

---

६१. मानस ५।६।५

६२. किष्किं०,पृ० ३

प्रणाम करने पर आशीर्वाद भी न दिया। अत: विप्र वेषधारी हनुमान् जी का प्रणाम करना सर्वथा उचित ही हुआ, इसमें अनौचित्य का आभास तक नहीं है।[१००] शास्त्रों में ब्रह्मचारी को क्षत्रिय तथा शूद्रों तक को प्रणाम करने का आदेश है -

> वित्तं बन्धुर्वय: कर्म विद्या भवति पंचमी।
> एतानि मान्य स्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।
> पंचानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
> यत्र स्यु: सोऽत्र मानार्ह: शूद्रोऽपि दशमीं गत:।।[१०१]

धन, बन्धुत्व, वय, कर्म और विद्या ये पांचों वस्तुएं किसी को मान्य बनाती हैं। वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणों में हनुमान जी ने श्रीराम लक्ष्मण को प्रणाम किया है -

> विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च।[१०२]
> विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत्।।[१०३]

अतएव उपरोक्त अर्धाली का अर्थ होगा -

बटु अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण करके कपि हनुमान् जी वहाँ गये और प्रणाम करके इस प्रकार पूछने लगे। "प्रकरण" नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

जिय संसय कछु फिरती बारा

अंगद कहइ जाउं मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा।।[१०४]
अंगद को लंका से लौटने में सन्देह क्यों था ? इसकी अनेक कल्पनाएं टीकाकारों ने

---

१००. मा०पी०, किष्किन्धा०, पृ० १७
१०१. मनुस्मृति २।१३६-१३७
१०२. वाल्मीकि० ४।३।३
१०३. अध्यात्म० ४।१।११
१०४. मानस ४।३०।१

की हैं। रामायण परिचर्याकार के अनुसार - समुद्र का जल ऊँचा देखि के। रामा-यण परिचर्या परिशिष्टकार के अनुसार - हरिपार तो पर्वत ऊँचा है।
हरिहरप्रसाद जी के अनुसार - नाकिउ आदि में उरगार के दूसरे भाग में नीच पृथ्वी होत जहाँ कुटिल आदि हारक कठिन। कोऊ कोउ अस कहत, राक्षस से युद्ध नहीं किए जो प्रबल हनुमत को रावन जानि मित्र राखि न लेय और लंका के सुन्दरीगन में कुमार अंगद जात जो जात शांति सन्मुख फिरती विमुख से जिम संशय और आप मते जो प्रमानों आप के न मिलत लिखत।[105] पंजाबी जी लिखते हैं - परन्तु कछुक संदेह फिरती बार मो है जो राक्षसों संग संग्राम मैंने करा नहीं पर युद्ध बड़े बल्ली सुनीते हैं मैं उनसे समर करत कूदना सिंधु का होइ सके या न होइ।[106]
मयंककार जी के मत से —

> दुर्वासा की शाप है, वर्तमान जो देख।
> वा सहिदानी है नहीं, कहीं दीनता लेख।।

अर्थात् दुर्वासा के शापवश अंगद नहीं लौट सकते थे अथवा सहिदानी नहीं है क्योंकर जानकी जी पहचानेंगी इससे दीनता वश जाना अस्वीकार किया।[107]

पं० विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार - भोगावती और अमरावती से भी बंका दुर्ग है, उसमें प्रवेश के जानकी जी को देखना, और किसी के बिना जाने लौट आना साधारण व्यापार नहीं है। संभव है कि बात खुल जाय और युद्ध छिड़ जाय। युद्ध छिड़ जाने पर क्या होगा कौन कह सकता है, 'युद्धसिद्धिर्हि चंचला'। अतः लौटने में कुछ सन्देह अवश्य है। हनुमान जी साधु हैं, अब भी नहीं बोलते किंवदाचित् किसी को रामदूत पद प्राप्ति की अभिलाषा हो तो मैं उसमें बाधक क्यों होऊँ?

----

१०५. रा०परि० परिशिष्ट, पृ०पृ० २६

१०६. मा०मा०, पृ० ४०

१०७. मा० मं० वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ४२७

ठीक विचार कर रहा है, यदि सब लोग मुझे इस योग्य समझेंगे तो आज्ञा देंगे ही।"[१०८]

श्रीरामचरण पाण्डेय जी के अनुसार -- अंगद फिर लौटकर जो अपने जी में संशय करते हैं उसका कई प्रकार से अर्थ किया जाता है - (१) लंका रूपवती स्त्रियों से भरी हुई है और मेरी वानर जाति है एवं युवावस्था है, ऐसा न हो कि वहीं मोहित होकर रह जाऊँ।

(२) रावण और बाली मित्र थे, उस मित्रता के कारण प्रीतिरूपी फाँसी डाल कर कहीं रावण मुझे फँसा न ले।

(३) कोई कहते हैं कि कोई ब्राह्मण बालों का टिकाया हुआ नदी के किनारे रहता था। अंगद बाल्यावस्था में वानरों के बच्चों के साथ लेकर वहाँ कूदा करते थे जिससे ब्राह्मण पर छींटे पड़ते थे। एक दिन विप्र ने कुपित होकर शाप दे दिया कि जिस जल को तुम लाँघोगे (लाँघोगे) फिर लौट न सकोगे। उस शाप का स्मरण करके अंगद लौटने का संशय करते हैं - पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिला, यदि मिले तो अर्थ पुष्ट है, नहीं तो किसी का गढ़ा हुआ किस्सा है। दूसरे, यदि ऐसा शाप होता तो संशय पद का प्रयोग न करते वरन् उनको निश्चय होता, क्योंकि ये देवांश हैं, इनको विप्र-शाप का निश्चय होता है। - यह तो इस अर्थ के विषय में हुआ। रहे प्रथम दो, वे भी लचर हैं, क्योंकि उनमें अंगद की कायरता और रघुनाथ जी में उनकी प्रीति की न्यूनता सूचित होती है। - (इन बातों का निषेध रावण - अंगद संवाद से स्पष्ट हो जाता है। यथा - सुनु सठ भेद होइ मनता के। श्री रघुबीर हृदय नहिं जाके ।।६।२१।१०) - अतएव अर्थ यह जान पड़ता है कि अंगद कहते हैं कि जाने के समय में शक्ति से सम्मुख जाऊँगा, जो शक्ति के सम्मुख जाता है, वह असमर्थ भी हो तो समर्थ हो जाता है और जो शक्ति से पराङ्मुख होता है वह शक्तिमान् भी तो अशक्त हो जाता है, अशक्ता: शक्ति सम्पन्ना: ये च शक्ति-पराङ्मुखा:। असमर्था समर्था: स्यु: शक्तिसम्मुखगामिन:।" (नोट - पर यह बात तो हनुमान् जी के लिए भी हो सकती है।

---

१०८. वि०टी०,तु०भा०,पृ० ६६

किसी का मत है कि अंगद और अक्षयकुमार साथ पढ़ते थे। अंगद ने एक दिन उसे बहुत पीटा। गुरु ने सुना तब शाप दिया कि अक्षयकुमार के एक ही घूंसे से तेरी मृत्यु हो जायगी। तबसे अंगद लंका में नहीं गये। परन्तु पूर्वकथा की तरह इसका भी प्रमाण हमें अब तक नहीं मिला है।

श्रीधर मिश्र के मतानुसार - मानस मर्मज्ञकार का दोहा यह है -

'दस दस दश सब बढ़ गए नव्वे पर रह कूढ़।

तातें अंगद दस कहे फिरबों राखें गूढ़ ॥'

यहाँ 'गूढ़' शब्द का अभिप्राय यह है कि अंगद जी के सामने रघुनाथ जी ने हनुमान जी को मुद्रिका दी और संदेश दिया - 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु ॥' अतएव अंगद ने यह विचार कर कि आज्ञा तो हनुमान् जी को है और वे कुछ बोले नहीं, यह कहा कि 'फिरती बार' का संशय है। वह कुछ संशय यही है कि कदाचित् भी रघुनाथ जी कहें कि आज्ञा तो हमने सहिदानी के संयुक्त हनुमान जी को दी थी, तुम किसके कहने से गये और क्या निशानी भी जानकी जी की प्रतीति के लिए ले गए थे, तब मैं क्या उत्तर दूंगा। यहाँ केवल हनुमान जी के कुछ न बोलने से अंगद ने ऐसा कहा, नहीं तो उन्हें जाने-आने में संशय कदापि नहीं हो सकता था और न था।'

लाला हरिदास जी ने अपनी 'शीलावृत्त' की टीका में लिखा है - 'सब बानर यहाँ डींगें हाँकते हैं और रहुलन्ध होने पर तो न जाने कितने आकाश से गये हैं। यहाँ अंगद के वचन में भाव यही है कि कार्य तो हनुमान् जी को प्रभु ने सौंपा है, मैं कैसे जाकर करूं ? इसी भाव से जाम्बवान ने और उन्होंने भी संशय प्रकट किया। और भी अनेक भाव लोगों ने कहे हैं। जैसे कि - (१) मन्दोदरी मौसी है वह रोक न ले। २. फिर तीसरा- तीन बार में जाऊं - आऊं। 'जिय संशय कछु' - क्या आपको इसमें सन्देह है ? ३. संशय है कि हनुमान जी से प्रभु प्रश्न करेंगे कि तुमको मुद्रिका दी थी, इत्यादि, तुम क्यों न गये ? तब वे क्या उत्तर देंगे। इत्यादि।

वेदान्त-भूषण जी का मत है कि गुप्तचरों की तरह वेष परिवर्तन

किता राजकुमार अंगद को नहीं मालूम है। अपि सम्राट बाली के पुत्र और सुग्रीव के उत्तराधिकारी होकर वे किष्कार तो आयेंगे नहीं, आयेंगे तो राजकुमार की [illegible] से ही। इस दशा में आयें होने के पूर्व ही रावण-मेघनादादि वीरों से मुठभेड़ हो जाना बहुत संभव है। युद्ध में विजय सर्वथा अनिश्चित ही रहती है। और युद्ध में क्षत-विक्षत होने से सर्वथा बचा रहना जीव के लिये अनिवार्य(?) सा ही है। अत: इन सब संभावित समस्याओं पर विचार करते हुए सकुशल लौट आना संशयास्पद तो है ही। ऐसी दशा में संशय का न होना ही संशय का स्थान है।"[१०९]

उपर्युक्त सभी भाव काल्पनिक और आरोपित हैं। श्री नंगे परमहंस के अनुसार यदि राजकुमार से अंगद को मृत्यु का भय होता तो उसे छिपाने की क्या बात थी? वह साफ कह देते कि ऐसा शाप है। मंदोदरी के रखने की बात भी स्पष्ट कह सकते थे छिपाते क्यों? जो यह कहते हैं कि अंगद ने अपनी शक्ति व बल को छिपाकर नहीं लौटाने के बहाने से संदेह प्रकट किया है। संदेह का अर्थ बहाना करना, अंगद को अपनी शक्ति छिपाने का अर्थ करना गलत है, क्योंकि यहां किसी को अपना बल छिपाने की आज्ञा नहीं है। मुद्रिका के संदेह से न लौटने का बहाना क्यों करते? क्या इन्होंने मुद्रिका हनुमान् जी को देते हुए देखी थी? यदि अंगद ने ही देखा था तो वे साफ कह सकते थे कि हम आ-जा सकते हैं पर मुद्रिका सहिदानी तो हनुमान् जी के पास है। हम कैसे जायें? बस इतने में सब बात खतम थी। अत: अंगद के लिए बल का छिपाना और बहाने से संदेह करना दोनों बातें गलत हैं। अंगद ने संदेह अपने परिश्रम के कारण ही यथार्थत: किया है। क्योंकि आकाश में केवल उछाल मारकर चलना नहीं होता है। प्रथम उछलते हैं, फिर हाथ-पैर चलाते हुए आकाश मार्ग में चलते हैं। हाथ-पैर चलाकर चलने में आगे पीछे आना - जाना हो सकता है जिससे परिश्रम होगा। इसी से तो सिंधु ने मैनाक से हनुमान् जी के श्रम को हरने को कहा था। "तैं मैनाक होहि श्रमहारी।" इसी परिश्रम के कारण आने में संदेह कहा।[११०]

----

१०९. मा०पी० किष्किंधा०, पृ० २२७-२२८ और मानस पृ० ७८२-८३

११०. वही, पृ० २२८-२२९

लाला भगवान दीन जी ने अर्थ किया है कि -" अंगद जी कहने लगे मैं पार जा सकता हूँ पर लौटते समय कुछ संशय है। (शायद लौटते समय सौ योजन न पार कर सकूँ क्योंकि लौटते समय थका होऊँगा।")[111] ऐसा ही अर्थ पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने किया है।[112]

चार सौ कोस समुद्र कूदने से महा परिश्रम होगा, इसी कारण अंगद को लौटने में संदेह हुआ। अध्यात्मकार ने लिखा है कि —

अंगदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महोदधेः।
पुनर्लंघन सामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा ॥[113]

अर्थात् अंगद ने कहा कि समुद्र पार करने की शक्ति मुझमें है पर उधर से फिर समुद्र उल्लंघन का सामर्थ्य है या नहीं यह मैं नहीं जानता। आदिकवि वाल्मीकि जी ने भी ऐसा ही कहा है —

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां शतं महत्।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्नवेति न निश्चितम् ॥[114]

अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा -" अंगद ने कहा कि मैं पार तो चला जाऊँगा, पर लौटते समय मुझे (अपने सामर्थ्य में) कुछ संदेह है।" प्रकरण" नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ सही संगत प्रतीत होता है।

पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू :-

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥[115]

यहाँ पर कुछ लोग शंका करते हैं कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम जिन्होंने पिता

---

१११. मानस किष्किंधा, पृ० ६४
११२. मानस — गोसाईं तुलसीदास, पृ० २०७
११३. अध्यात्म० सर्ग ८।१२
११४. वाल्मीकि० ६५।१६
११४. मानस ६।६१।६

वचन प्रतिपालन हेतु अयोध्या का राज्य, युवावस्था का सुख, माता-पिता परिवार और पुरजन, गुरुजन वृंद को त्याग दिया था, वही यहाँ कहते हैं कि मैं पिता के उन वचनों को न मानता, यह श्रीराम जी के मुख से अशोभनीय है। इस आरोप से बचने के लिए टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से तोड़-मरोड़ कर अनेक अर्थ किये हैं। श्री अवधबिहारीदास जी के अनुसार - "यदि मैं जानता कि वन में भाई से बिछोह होगा तो पिता के ओहु (उस) वचन को नहीं मानता। ओहु अर्थात् पहले वचन को नहीं मानता, दूसरे ही वचन को मानकर शृंगवेरपुर से गंगा-स्नान करके अवध को लौट जाता। राजा के दूसरे वचन कौन हैं -

वन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि वेगि दोउ भाई।।
लखनु राम सिय आनेहु फेरी। संशय सकल संकोच निवेरी।।
राजा के इसी वचन को सुमंत ने शृंगवेरपुर में श्रीरामजी से कहा था।

.... राजा का पुन: दूसरा वचन सुमन्त से है कि -

"सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक सुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ दिखराइ वन फिरहु गए दिन चारि।।"

अत: पिता जी के इसी दूसरे वचन को श्रीराम जी मानने को कह रहे हैं।

.... "ओहु शब्द दो को सूचित करता है। जैसे ओहु (वह) फल लेते आओ "ओहु" "ये ही" दो का बोधक है किन्तु ओहु दूर को सूचित करता है और ये ही शब्द निकट को सूचित करता है। अर्थात् जो पहिला है वह दूर में गिनती है और जो दूसरा है वह पास में गिनती है।

अत: ओहु अर्थात् पहले वचन को नहीं मानते दूसरे को मानते। अब यदि कोई प्रश्न करे कि पिता के वचन को न मानने में दोष होता है। (उत्तर) पिता के वचन के साथ "ओहु" शब्द लगा है कि ओहु वचन न मानते (। इसका भाव यह हुआ कि यही वचन मानते अर्थात् दूसरे वचन को मानते जब एक ही बात के लिए है। पुन: दूसरा वचन अर्थात् वन को देखाइ श्री गंगा का स्नान कराइ के शीघ्र लौटा लाने के लिए है तो यह नीति है कि पिता के अन्तिम वचन को पुत्र माने और श्रीराम जी अन्तिम वचन मानने को कहते हैं। तब श्रीरामजी को पहिला वचन नहीं मानने में दोष कैसे लग सकता है अर्थात् नहीं लगेगा। अब यदि कोई

कि पुत्र को पिता के अन्तिम वचन मानने का धर्म है तो श्रीराम जी ने पिता के पहिले वचन को क्यों माना है ? उत्तर श्रीरामजी को पिता का दूसरा वचन मानना धर्म है सो छोड़कर पिता के सत्य वचन की रक्षा की है कि जो राजा ने कैकेयी को वचन दिया था कि जो मांगो सो हम देंगे तो कैकेयी ने श्रीराम जी को चौदह वर्ष का वन मांगा। राजा के उसी वचन को श्रीरामजी ने सत्य किया है। इसलिए श्रीरामजी ने पहिले वचन को माना है।

.... और जो कोई श्रेष्ठ वचन का अर्थ यह करते हैं कि मेघनाद मगर (घड़ियाल) बन कर अयोध्या आता था ताकि लक्ष्मण की मृत्यु करने के लिए सरजू में पकड़े। उसको लक्ष्मण जी पकड़ लाये। फिर राजा दशरथ जी ने छुड़वा दिया। उसी को श्रीरामजी कहते हैं कि पिता का वचन नहीं मानते, अर्थात् मेघनाद को नहीं छोड़ते। परन्तु यह अर्थ मिथ्या है क्योंकि यह बिना प्रमाण दंतकथा है। जब श्रेष्ठ वचन का अर्थ ग्रन्थ में स्पष्ट है तब बिना प्रमाण की दन्तकथायें मिथ्या कही जाती हैं। अतः पूर्व अर्थ सत्य है।[११६]

श्रीरामचरणदास के अनुसार - "माता-पिता के वचन कर प्रतिपालन सामान्य धर्म है अरु त्याग सामान्य अपराध है अरु बंधु जो लक्ष्मण जी हैं सो श्रीरामचन्द्र के परमानन्ददास हैं तिनकर सदा संयोग विशेष परम धर्म है अरु तिनकर वियोग विशेष दुःख है याते श्रीरामचन्द्र ने संकल्प कर ग्रहण कीन है अरु सामान्य कर त्याग कीन्ह है।"[११७] हरिहरप्रसाद जी ने ये अर्थ किये हैं -

"वन में भैया तेरे बिछोह जनत्यों जो सर्वानुलंध्य वा माता रोकतीं रही उहै मान लेउ वा पिता के श्रेष्ठ वचन मनत्यों जो "सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं।

राम चराचर नायक अहहीं।।"

से "राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी" तक कहा था। वा श्रेष्ठ वचन सो सुमंत द्वारा चक्रवर्ती महाराज की आज्ञा - रथ चढ़ाइ देखराइ बन,

---

११६. मानस, पृ० ६२७ - ६२९।

११७. रामा०, पृ० १०५४

फिरेहु गए दिन चारि । ताकु आ न मनत्यो ।"[११८] विनायकराव जी के अनुसार -- "पिता के वचन मानता, परन्तु तुम्हारी कही न मानता (भाव यह कि पिता जी ने श्रीरामचन्द्र जी को वनवास दिया था न कि लक्ष्मण को । श्रीरामचन्द्र जी तो लक्ष्मण की विनय सुनकर उन्हें अपने साथ लाये थे, सो इसी को कहते हैं मैं तुम्हारी विनय को न मानता, यदि जानता कि तुम्हारी ऐसी दशा होगा ।"[११९] कुछ लोगों के अनुसार -- "पिता का वचन मानता , पर उसको (सीता के वचन को - "रामसिय अवध जो अवधि लागि रहत न जानिअहि प्रान" न मानता । न वह साथ आती न यह कष्ट सहना पड़ता ।....... पिता के वचन को मान लेना कि "रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि ।" "लखन राम सिय आनेहु फेरी । संसय सकल संकोच निबेरी ।" पर पिता के पहले वचन को न मानता जो कैकेयी द्वारा कहे गये थे ।"[१२०] यहाँ पर उपर्युक्त सभी अर्थ आरोपित हैं । "आहु" शब्द से तात्पर्य दशरथ जी के उन शब्दों से है, जो उन्होंने सुमंत जी से कहे थे --

> सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनक सुता सुकुमारि ।
> रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गये दिन चारि ।।[१२१]

अर्थात् यदि यह ज्ञात होता कि भाई का वियोग होगा तो १४ वर्षों की कौन कहे, मैं चार दिन वाली यह आज्ञा भी न मानता । प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने यही अर्थ स्वीकार किया है । पिता की आज्ञा-उल्लंघन अनौचित्य के विषय में श्रीरामदास गौड़ जी कहते हैं कि - "मर्यादा पुरुषोत्तम के लिये "पिता वचन" पूर्ण महत्व का कर्तव्य है, कदापि उल्लंघन नहीं हो सकता है, उसकी कीमत चक्रवर्ती राज्य से, जवानी की अवस्था में गृहस्थी के सुखोपभोग से, माता-पिता परिवार और भरत-सरीखे आदर्श भाई के वियोग से कहीं अधिक है । "आहु" वह भी मैं नहीं मानता । एक "आहु" शब्द कहकर पिता-वचन के आत्यन्तिक महत्व का बोध कराया है । परन्तु बन्धु-वियोग का शोक ! यह तो इतना कठिन इतना असह्य है कि मैं इस समय

----

११८. रा०परि०परिशिष्ट,पृ०,पृ० ४६ ११९. रा०वि०टी०,पृ० १२३

१२०. मा०पी०, लंका० पादटिप्पणी, पृ० ३०६

प्रकट कर रहा हूँ कि वन के एकमात्र संगी बंधु का विछोह जानता तो ऐसे महत्त्व-पूर्ण पिता के वचन भी न मानता । यहाँ बंधु-प्रेम की पराकाष्ठा दिखाने में शोका-वेग की पूर्णता प्रकट करने में पुरुषोत्तमता का पूर्ण आदर्श दिखाया गया है। इससे ध्वनि द्वारा मर्यादा भाव की पुष्टि होती है । शोक में प्रलाप में मर्यादा पुरुषोत्तम जैसा आचरण करता है वही यहाँ विलक्षण रीति से कवि ने प्रकट किया है ।[122] व्याख्याकार श्री राजेन्द्र सिंह के अनुसार - "विद्वानों की राय है कि देवता मनुष्य का आदर्श नहीं हो सकता । मनुष्यों का अनुकरणीय होने लिए देवता और ईश्वर को भी अपना देवत्व एक ओर रखकर मनुष्य सदृश बर्ताव करना पड़ता है । इसी के अनुसार तुलसीदास जी के श्रीरामचन्द्र ईश्वर होते हुए भी मनुष्योचित कार्य करते हैं । उनका देवत्व उनके मनुष्यत्व ~~की सीमा~~ को दबा नहीं पाता । यही चित्रण-चातुरी है । इसके विपरीत अध्यात्म रामायण के राम के चरित्र में इतना अधिक देवत्व भर दिया है कि वह उनके मनुष्य चरित्र को कभी-कभी दबा देता है । उनके ईश्वरत्व को छोड़कर उसमें स्वभाव के दूसरे भागों पर बहुत कम दृष्टि रखी गयी है । परन्तु तुलसी के राम आदर्श तपस्वी, आदर्श नरपति, आदर्श भ्राता, आदर्श पति आदि सब कुछ हैं ।"

यदि राम में अपने छोटे भाई के लिए, कि जो उनके प्रेम में सब तृण-वत छोड़ उनके कष्टों में सहायक और साथी हुआ था, वैसा ही अन्योन्य प्रेम न देख पड़ता तो वे हमारे लिये आदर्श भ्राता कैसे हो सकते ? उनका यह प्रलाप ही उनका अतिशय प्रेम प्रकट कर रहा है । यदि देवत्व के कारण शब्दों को खींच-खाँच कर अर्थ कर भी लें तो वह तुलसीदास के इस चरित्र-चित्रण के प्रतिकूल ही होगा ।"[123]

कवि ने इस अर्धाली के पूर्व कहा है - "बोले वचन मनुज अनुसारी", "उठहु न सुनि मम बच बिकलाई," अंत में कहा है "नरगति भगत कृपाल देखाई ।" "प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर ।" इन शब्दों से विदित होता है कि श्रीराम जी ने मानुषीय प्रवृत्ति के अनुसार व्याकुलता और प्रलापावस्था में यह बात

---

१२२. मा०पी० लंका०, पृ० ३०६

१२३. वही, पृ० ३०७ ।

कही है। "प्रलाप" शब्द का अर्थ है - निरर्थक बात, अंडबंड या अनाप शनाप बात,[124] असंबद्ध बात, विलाप, रोना धोना।[125]

ज्वर आदि के वेग में लोग कभी-कभी प्रलाप करते हैं। व्याकुलता भरे वचन के लिए कवि ने कहा है —

रहत न आरत के चित चेतू।
"आरत कहहिं बिचारि न काऊ"।[126]

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इनको बिलगु न मानिए बोलहिं न बिचारी।।[127]

अतः यहाँ पर विषय की वास्तविकता पर नहीं, वरन् श्रीराम जी की नरलीला और करुणारस पर ध्यान देना चाहिए। श्रीराम जी ने ये वचन नरत्व और प्रलाप रूप में कहा है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — "यदि मुझे यह ज्ञात होता कि वन में भाई का वियोग होगा तो पिता का वनवास विषयक वचन मानता ही नहीं" "प्रकरण" नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। यहाँ श्रीरामजी पर दोषारोपण बिल्कुल असंगत और निरर्थक है।

मिलै न जगत सहोदर भ्राता

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलै न जगत सहोदर भ्राता।।[128]

प्रस्तुत अर्धाली" के "सहोदर" शब्द पर लोगों को आपत्ति है कि लक्ष्मण जी श्रीराम के "सहोदर भाई" तो थे नहीं। फिर राम जी ने क्यों कहा कि जगत में सहोदर भ्राता नहीं मिलते। इसी आपत्ति से बचने के लिए लोगों ने तोड़-मरोड़ करके अनेक असंगत अर्थ किये हैं।

---

१२४. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६५६
१२५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६७२
१२६. मानस २।२६८।४ और २।२५७।१
१२७. विनय० ३४

जी के उदर में थे पीछे आकर्षण द्वारा रोहिणी जी के गर्भ में आये ।"

तीसरे यह भी कह सकते हैं कि रघुनाथ जी ने यह कहा कि हे तात ! तुम यही विचारकर कि जैसे हमको तुम प्रिय भ्राता मिले हो वैसे इस संसार में सहोदर भी नहीं मिलते । ऐसा भी कहा जा सकता है कि रघुनाथ जी की माताओं में अभेद बुद्धि है अर्थात् उनमें अपने परायेपन का विचार नहीं है । इसी भाव को लेकर रघुनाथ जी ने सहोदर शब्द का प्रयोग किया है ।[१३२]

श्री अयोध्याविहारीदास जी के मत से -- "श्रीरामजी पिता के सम्बन्ध से लक्ष्मणलाल जी को सहोदर भाई कह रहे हैं क्योंकि दोनों भाई के पिता एक हैं और माता-पिता दोनों के उदर से जन्म होता है क्योंकि रज, वीर्य दोनों का स्थान उदर है जिन भाइयों के माता-पिता एक हैं, वे सगे भाई कहलाते हैं । सगे भाई को सहोदर भाई कहते हैं । यह श्रीराम जी ने पिता के सम्बन्ध से लक्ष्मण जी को सहोदर भाई कहा है -- और पिता के ही सम्बन्ध करके सहोदर भाई का पुन: मिलना भी असंभव कहते हैं । नहीं तो यदि केवल माता से भाई मिलता होता तो माता तो मौजूद ही है । अत: पिता के सम्बन्ध करके पुन: भाई नहीं मिलना कहा है । सहोदर भाई के विषय में हविष्य की शंका भी वृथा है क्योंकि श्रीराम जी का वचन माता-पिता के सम्बन्ध को लेती है न कि हविष्य को अत: हविष्य का भाव कहना वृथा है । यदि हविष्य ही का हठ हो तब भी एक ही हविष्य से चारों भाइयों का जन्म है जिससे कि चारों भाई सहोदर कहे जा सकते हैं ।[१३३] इससे तो यह सिद्ध होता है कि अगर दशरथ जीवित होते और पुत्र हो सकता तो लक्ष्मण की मृत्यु पर राम इतना दुखी न होते । यह अर्थ सर्वथा हास्यास्पद है ।

ज्वालाप्रसाद जी के मतानुसार "पिता के पक्ष में दोनों भाई सहोदर हैं कारण एक पेट हो अर्थात् दोनों का छल कपट रहित एक मन है । जैसे तुमने हमारे साथ पृथक उदर होकर भी स्नेह किया ऐसे जगत में सहोदर भी नहीं मिलते ।[१३४]"

----

१३२. रामचरित मानस की भूमिका, पृ० ६६-१००

१३३. मानस, पृ० ६२६

१३४. संजीवनी टीका, पृ० ६३०

श्यामसुन्दर दास जी ने इसका अर्थ किया है कि -- "यहाँ सहोदर शब्द की व्युत्पत्ति करने से (सह उदरं यस्य) निष्कपट भाव सिद्ध होता है।[135] बैजनाथ जी के अनुसार -- "सुमित्रा जी ने पायस भाग कौसल्या जी के हाथ से पाया, वह मुख्य भाग कौसल्या का ही ठहरा। उस भाव से सहोदर कहा।"[१३६]

रामायणी रामबालक दास जी कहते हैं कि -- "सात्त्विकी गुण सम्पन्नो निद्राविगतकल्मषः। ज्येष्ठानुसरणे लग्नः सहोदराभिधीयते ॥" ये सब लक्ष्मणजी में हैं। अतः सहोदर कहा।[१३७]

किन्तु यहाँ उपर्युक्त सभी अर्थ अपेक्षित नहीं हैं। इस अर्धाली से मिलता हुआ श्लोक वाल्मीकीय में मिलता है। यहाँ भी 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है --

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥[१३८]

गोस्वामी जी ने यत्र तत्र लक्ष्मण जी को रामानुज कहा है --

रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥[१३९]
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥[१४०]

'रामानुज' का अर्थ ही लक्ष्मण है। यह शब्द लक्ष्मण के लिए रूढ़ है। केशवदास ने रामचन्द्रिका में लक्ष्मण जी को 'सोदर' कई स्थानों पर कहा है --

हौं सुमिरौं गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे ॥[१४०]
सोदर सुत को देखत ही मुख। रावण के बिगरे पुनि सुख ॥[१४२]

सहोदर शब्द का अर्थ है -- "एक ही माता के उदर से उत्पन्न संतान।"[१४३] इस विषय में वेदान्त भूषण जी का तर्क अत्यन्त संगत प्रतीत होता है -- "सहोदर भ्राता का प्रश्न उठाकर जमीन आसमान के कुलाबे मिलाये जाते हैं। श्री राम जी यह नहीं

---

135 मानस पृ० ८८५
१३६. मा०पी०, लं०का०, पादटिप्पणी, पृ० ३०८
१३७. वही, पृ० ३०८
१३८. वाल्मीकि १०१।१४
१३९. मानस ६।३६।२
१४०. वही, १।२०७।१०
१४१. सत्रहवाँ प्रकाश, पृ० ३११
१४२. वही, पृ० ३१२
१४३. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ९५७

कहते कि तुम मेरे सहोदर भ्राता हो या है सहोदर भ्राता प्रयुक्त वे कहते हैं -
'सो अपलोक सोक सुत तोरा ' इसमें स्पष्ट रूप से वे सुत सम्बोधन कर रहे हैं
तो क्या भी लक्ष्मण जी श्रीराम जी के पुत्र थे ? वस्तुतः उस पूरे प्रसंग पर विचार
करने से यही निश्चित होता है कि यह सब विलाप-प्रलाप नर-नाट्य है ।

'मर्यादा पुरुषोत्तम का वचन है - भूषण न कहउं और यह माना' तब
वे असत्य कैसे कहेंगे ? ' ऐसा तर्क लोग करते हैं पर वे यह नहीं विचारते कि मर्यादा
पुरुषोत्तमता है क्या चीज ? सृष्ट्यारम्भ काल से जगत के लिए लोक-वेद के अनुसार
बंधे नियम का नाम मर्यादा है । उन सामाजिक नियमों के ठीक-ठीक पालन करने
का नाम मर्यादा पुरुषोत्तमता है । अनेक नियमों में एक यह भी प्रख्यात नियम है
कि - ' विषादे विस्मये कोपे हासे दैन्येऽथ च । गोब्राह्मण रक्षायां वृत्त्यर्थे प्राण
संकटे । स्त्रीषु नर्मविवाहेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ।। (धर्मविवेक माला) ।

विषाद की दशा में मनुष्य मूर्छित तो कम होते हैं, परन्तु विक्षिप्त
प्राय: हो जाते हैं और उस दशा में जब कि थोड़ी ही होश-हवास रहता (चैतन्यता)
रहता है - 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् । ' (वे०द० ३।२।१०) उस अर्धचेतनाभिभूत
मुग्धा (परिक्षिप्ता) अवस्था में, अर्ध चेतनावस्था में मुंह से निकला हुआ मिथ्या दोष
वह नहीं माना जाता । अतः वह प्रमाणाभिभूत नहीं । इसलिए यहाँ विषादजन्य
मुग्धावस्था में, श्रीराम जी ने 'सहोदर, सुत, एक कुमार, सोंपेसि, तेहि, उठहु,
सुनहु ' आदि बोलकर मानुषी मर्यादा का पालन करते हुए मर्यादापुरुषोत्तमता ही
को चरितार्थ किया है ।[१४४]

विनायक राव जी कहते हैं कि - 'कैसा भी समझदार प्राणी क्यों न
हो वियोग या भारी दुःख के समय उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता और वह ऐसी
बातचीत करने लगता है कि जो साधारण मनुष्य भी न करे , श्रीरामचन्द्र जी नर
नाट्य कर रहे थे सो यथार्थ में उनके ऐसे वचन प्राणियों की विह्वलता की दशा को
दर्शाने वाले हैं......... अंत में लिखा है प्रभुप्रलाप सुनि कान, भये विकल बानर
निकर ' से स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मण के विषय में जो शोक संयुक्त वचन कहे

----

१४४. मा०पी०,लंका०,पृ० ३०८

गये थे, वे सब प्रलाप ही थे — व्यासदेश में - 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' अर्थात् अनर्गल बकना ही 'प्रलाप' है।[१४५] अतएव स्पष्ट है कि श्रीराम जी ने 'सहोदर' नरलीला, व्याकुलता और प्रलाप की स्थिति में कहा है। उक्त अर्धालियों का अर्थ होगा - 'पुत्र, धन, स्त्री, घर, परिवार, संसार में बारंबार प्राप्त होते और नष्ट हो जाते हैं। पर हे तात् जगत में सहोदर भ्राता (बारंबार) नहीं मिलते, ऐसा हृदय में विचार कर चैतन्य हो अचेतावस्था को त्याग दो। अर्थात् उठ जाओ जैसे तुम सोये हुए थे। 'प्रकरण' अर्थ-निश्चय के साधन है यही अर्थ तर्क संगत लगता है।

निज जननी के एक कुमारा

निजजननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।।[१४६]

यहाँ पर भी कुछ लोगों ने यह आरोप लगाया है कि लक्ष्मण जी अपनी माता के अकेले नहीं अपितु दो पुत्र थे। फिर भी रामजी लक्ष्मण जी के प्रति यह क्यों कहते हैं कि 'तुम अपनी माता के एक ही पुत्र हो।' इसी आरोप से बचने के लिए टीकाकारों ने खींच तान करके संगत अर्थ करने का प्रयास किया है।

श्रीरामचरणदास जी इसका अर्थ करते हैं कि 'हे तात निज अर्थात् हमारी माता जो श्री कौशल्या जी हैं तिनके हम एक कुमार हैं अरु तासु कही हमारे तुम प्राण के आधार हो।'[१४७] रामायण परिचर्याकार के अनुसार - 'एक कुमारा ज्येष्ठपुत्र' रामायण परिचर्यापरिशिष्टकार के मत से - एक मुख्य में वा दूसरे वा एक वा निज जननी के ~~हम एक कुमार~~ (हरिहरप्रसादजी के अनुसार, एक पहला [illegible]) माँ को तुम प्रान अधार।[१४८] संत सिंह पंजाबी के अनुसार - 'निज जननी पद दोनों ओर लगावना प्रथम सुमित्रा-पक्ष अपनी मा तूं एक अधिक श्रेष्ठ पुत्र था सो श्रेष्ठता कहे कर अरु गुणों कर भी प्रमान किस्से। इकास्तु [illegible]। तिस सुमित्रा के प्राण हूं का तूं आधार था

---

१४५. वि०टी०, पृ० १२३-१२४

१४६. मानस ६।६१।१४

१४७. रामा०, पृ० १०५५

१४८. रा०परि०परिशिष्ट प्र०, पृ० ४७

कौशल्या के पक्ष में इस भाँति जिस माता का एक सुत होए जिसको अत्यंत प्रिय होता है जो मैं माता का एक आत्मज हौं परन्तु तिसु माता को भी गुनहुँ कर तू प्राण हूँ से प्यारा था ।"[१४६]

मानस मयंककार कहते हैं —

"जगन श्रेष्ठ एक जानिये मगन एक अतीत ।

दो उदिशि प्राण अधार जल, रक्षण गहि दृढ़ कीत ।। २०२ ।।

अर्थात् मूल में एक लिखा है कि उसके श्रेष्ठ जनों अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि जगन (सुमित्रा) के तुम (एक) श्रेष्ठ अर्थात् बड़े पुत्र हो यद्यपि एक पुत्र और है परंतु तुम उसके प्राणाधार हो । पुन: मगन (कौशल्या) के तुम एक ही पुत्र हैं तिसके प्राण के भी तुम आधार हो एवं प्रकार (दोउ दिशि) दोनों के प्राण आधार तुम ही हो और तुम्हारे रक्षण निमित्त तुमको मुझे सौंप दिया अत: तुम्हारी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है ।[१५०]

विनायक राय जी इसका अर्थ करते हैं कि " प्यारे ! अपनी माता का जो मैं अकेला पुत्र हूँ, उसके प्राणों के आधार तुम थे ।"[१५१] अवध बिहारीदास जी के मत से - "हे भाई हमारी माता (कौशल्या जी) जिसको तुम एक कुमार प्राण के आधार हो ।" [१५२]

श्रीरामदास गौड़ जी[१५३] और विजयानंद त्रिपाठी जी[१५४] ने "एक" का अर्थ प्रधान या मुख्य किया है ।

मानस-पीयूषकार - "एक का प्रधान शाब्दिक अर्थ करते हुए कहते हैं कि - "सुमित्रा जी के दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हैं । पर यहां प्रभु कहते हैं कि

----

१४६. मा०भा०,पृ० ७०

१५०. मा०मं०वार्तिककार इन्देवनारायण,पृ० ५४५

१५१. वि०टी०,पृ० १२५

१५२. मा०पृ० ६३०

१५३. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ९९-१००

१५४. वि०टी० तु०भा०,पृ० २६३ - ६४

'निज जननी के एक कुमारा' । यहाँ 'एक' का अर्थ प्रधान है । माता सुमित्रा जी अपने को इन्हीं के जन्म से पुत्रवती और भाग्यवान मानती हैं -

'भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह राम पद ठाउँ । अ० ७४ ।।
पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति भगत जासु सुत होई ।'

उन्होंने लक्ष्मण जी से यहाँ तक कहा है कि मैं तुम्हें अपना पुत्र तब जानूँगी जब तुम राम-सेवा में सरस निकलोगे । यथा गीतावल्याम्-'सियरघुवर सेवा सुचि ह्वैहौ तब तब जानिहौं सही सुत मेरो ।'

लक्ष्मण जी को मानो वे अपना एकमात्र पुत्र मानती थीं तभी तो 'सौमित्र' और 'सुमित्रानन्दवर्द्धन :' ये दोनों शब्द केवल लक्ष्मण जी के लिए जहाँ तहाँ प्रयुक्त हुए हैं । वाल्मीकि अध्यात्म, हनुमन्नाटक, मानस आदि कई ग्रन्थों में जहाँ जहाँ ये शब्द आये हैं वहाँ उनसे 'लक्ष्मण' का ही अर्थ लिया जाता है । यथा

'कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ।
उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ।। वाल्मी० १०१।१५-१६ ।।
'परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तुपश्यताम् ।
यदि पंचत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्द्धनः ।। (वाल्मी० ४८।७) ।।'

उपर्युक्त कारणों से 'एक कुमारा' कहा गया है । 'एक' शब्द के कई अर्थ हैं । उनमें से जो भी यहाँ घटित हो वही लेना चाहिये । यथा -'एको ऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे प्रश्न संख्यायां च प्रयुज्यते' इति दिनकरी ।'

यदि 'एक' का अर्थ एक लौता' संख्यावाचक' एक' लें तो इसको भी प्रलाप ही कहेंगे । पर 'एक' का अर्थ प्रधान' 'अद्वितीय' मानस में ही बहुत ठौर आया है इसमें यह अर्थ भी यहाँ लिया जा सकता है, और उसमें शंका की भी निवृत्ति हो जाती है । प्राचीन सभी टीकाकारों ने इसी अर्थ को प्रधानता दी है ।'[१५५]

---

१५५. मा०पी०,लंका०,पृ० ३१२

पं० नारायणप्रसाद मिश्र का यह कथन कि सुमित्रा जी का प्रेम लक्ष्मण पर जितना था, उतना शत्रुघ्न पर नहीं । इसी कारण श्रीरामजी ने लक्ष्मण जी के प्रति " निज जननी के एक कुमारा " कहा ।[१५६] किन्तु इस कथन से शत्रुघ्न जी की अवहेलना होती है । अतः यह बिल्कुल असंगत है ।

श्रीरामदास गौड़ जी ने चार कल्पों की कथाओं का अवलम्ब लेकर "लक्ष्मण" जी को सुमित्रा जी का "एकलौता" पुत्र प्रमाणित किया है । आनन्द - रामायणादि ग्रन्थों से तो यह बात उपयुक्त है, परन्तु तुलसी-साहित्य से यह बात प्रमाणित नहीं है । उदाहरणार्थ --

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई । बरत अनल घृत आहुति पाई ।।[१५७]

भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई । [१५८]

सुमित्रा जी जेठे पुत्र के घायल होने पर अपने दूसरे पुत्र को जाने की आज्ञा देती है --

"तात ! जाहु कपि संग" रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं ।[१५९]

रामाज्ञा प्रश्न से भी सुमित्रा जी के दो पुत्रों की सूचना मिलती है --

सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम ।

सुवन लखन रिपुदवन से, पावहिं पति - पद प्रेम ।।[१६०]

यहाँ पर "एक" का अर्थ "एकलौता" ही है । अन्य अर्थ आरोपित है । श्रीराम जी ने "निज जननी के एक कुमारा" भी खेदयुक्त प्रलाप अवस्था में कहा है । रामेश्वर भट्ट जी ने ठीक ही कहा है - "एक ही पुत्र कहने का मुहाविरा लोक में प्रसिद्ध है जिस प्रकार किसी के दो चार पुत्र हों और उनमें से यदि सबसे अयोग्यपुत्र भी मरणोन्मुख हो जाय तो उसके शोकाकुल प्रेमी उसी की प्रशंसा करते हैं और यही कहते हैं

----

१५६. मा०पी०, पृ० ३१२

१५७. मानस २।१६२।३

१५८. वही, २।१६४।२

१५९. गीता० ६।१३

१६०. रामाज्ञा० ७।३।४ और दोहा० २१३ ।

राम में यही एक तो था - गुण में, बल में, विद्या में, इसी प्रकार लक्ष्मण जी में मातृ-भक्ति तथा माता की प्रीति पात्रता का अपूर्व गुण सूचित किया है।" अतएव उक्त अर्धाली का यहाँ वाच्यार्थ ही संगत है -- "हे तात् ! तुम अपनी माता के एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो।" "प्रकरण" नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क-संगत प्रतीत होता है।

एक अर्धाली जिसके लगभग १७ लाख अर्थ किये गये हैं -

सब कर मत खगनायक एहा । करिअ रामपद पंकज नेहा ।।[१६१]

"तुलसी सूक्ति सुधाकर" नामक भाष्य में भी बाबूराम शुक्ल ने प्रस्तुत अर्धाली की पौने सत्तरह लाख से भी अधिक अर्थों की सृष्टि की है। कहते हैं कि इस भाष्य को लगभग ढाई वर्षों में तैयार किया गया है। सम्पूर्ण भाष्य को १६ कलाओं (प्रकरणों) में वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक कला में कई मरीचियाँ (उपप्रकरण) हैं। टीका के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में आठ-आठ कलायें हैं। पूर्वार्ध में विशेषतः "सब कर मत खग - नायक एहा" का अर्थ किया गया है और उत्तरार्ध में "करिअ रामपद पंकज नेहा" का। उत्तरार्ध में पूरी अर्धाली के आधार पर भी मनोनुकूल अनेक अर्थों की सृष्टि की गयी है। टीका के पूर्वार्ध में २००० अर्थ हैं। उत्तरार्ध में कुल अर्थों की संख्या १६,७३,१४६ है। उत्तरार्ध की मात्र नवीं कला में ही विभिन्न शब्दों के विविध अर्थों के द्वारा शुक्ल जी ने १,६५००० अर्थों का अंबार लगा दिया है। सम्पूर्ण टीका में ५२५ अर्थ विस्तृत हैं, शेष १६,७४,६२१ अर्थ संक्षेप में हैं।

यह टीका बहुशास्त्र-तत्त्व गर्भित, आध्यात्मिक तत्त्व की विवेचिका एक ऐसी टीका है, जिसमें कल्पना की ही प्रधानता है। शुक्ल जी ने वैदिक औपनिषदिक, दार्शनिक, पौराणिक एवं धर्मशास्त्रीय तत्त्वों की उद्भावना उक्त अर्धाली के विभिन्न अर्थों में किये हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के नाम, निवास, मानस के रचनाकाल और अपना नाम, सहयोगियों के नाम, ग्रन्थ रचना के संवत् इत्यादि को भी अर्धाली के द्वारा प्रतिपादित किया है। इस विषय में उत्तरार्ध की अन्तिम कला

---

१६१. मानस ७।१२२।१३

की द्वितीय एवं तृतीय मरीचि द्रष्टव्य है -

टीका के षोडश कलाओं का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है--

प्रथम कला - इसमें अर्धाली के प्रथम पांच अक्षरों सब करम के अर्थों की सहायता से ओंकार की सिद्धि इन्हीं अक्षरों के विविध अर्थों से दो मंगला चरणों, वर्णाश्रम, आपद्धर्म, नीतिवर्णन, सामान्य धर्म वर्णन एवं रामनाम महिमा का गुणकीर्तन किया गया है।

द्वितीय कला - इसमें अर्धाली के प्रथम छः अक्षरों सब कर मत के विविध अर्थों से वेद तत्व, आत्मतत्व - ज्ञान तत्व, औपनिषदिक तत्वों आत्मसाक्षात्कारत्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इन्हीं अक्षरों के भिन्न-भिन्न अर्थों के द्वारा नीतिपरक, बौद्धीय एवं जैनीय धर्म के तत्वों को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीयकला -- इसके अन्तर्गत उपर्युक्त अर्धाली के प्रथम चरण के १३ वर्णों - स, ब, क, म, त, ख, ग, ना, य, क, ऐ, हा के अर्थों द्वारा वर्णार्थानामर्थ संधानां के अनुसार एक मंगलाचरण की सृष्टि, दशधर्म निरूपण, गंगातीर्थ महिमा, ऋण त्रय का उद्धार, षड् दर्शन तत्त्व, जीव-बलि निर्णय, अंत में अपूर्व युक्ति का निदर्शन एवं भिन्न शास्त्रों, ईश्वर के भिन्न नामों तथा कतिपय मंत्रों का उद्धार वाह गुरु एवं बिस्मिल्लाह अक्बर आदि को युक्त प्रदर्शित किया गया है।

चतुर्थकला -- इसके अन्तर्गत उक्त अर्धाली के प्रथम चरण के १३ वर्णों स, ब, क, र, म, त, ख, ग, ना, य, क, ये, हा के अर्थ के साथ ही दूसरे चरण के १२ वर्णों के साधारण अर्थ को भी परस्पर सम्बद्ध कर दिया गया है। भवानीशंकरौ - के अनुसार मंगलाचरण सब कर मत के ४० अर्थ, राम-नाम चमत्कार, खग नायक रहा के २५ अर्थ, काम - क्रोधादि पर विजय तथा नरदेह की नौका के समान सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है।

पंचम कला - इसमें वन्दे बोधमयं के अनुसार मंगलाचरण, वैराग्य, भक्ति, सन्ध्यादिक धर्म, कर्म एवं ज्ञान से श्रेष्ठतर भक्ति को प्रमाणित किया गया है।

षष्ठकला- इसके अन्तर्गत विद्या से भक्ति की उत्कृष्टता, वैराग्य निरूपण, भक्ति रहित विद्या की निरर्थकता, "राम" के अक्षरों की उत्कृष्टता, भक्ति को यज्ञादि से उत्कृष्टतर एवं उसका फल, भक्तों का वर्णन, कलयुग का वर्णन और भक्ति करने के लिए शीघ्रता करना आदि का प्रतिपादन किया गया है।

सप्तमी कला -- इसमें व्याख्येय अर्धाली के प्रथम चरण के अर्थों में सूर्य का मंगलाचरण, पुरुषार्थ प्रारब्ध प्रशंसा, ज्योतिष से प्रारब्ध ज्ञान, ईश्वर कृपा से प्रारब्ध कर्मों का नाश, प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ दोनों पक्षों के खंडन का वर्णन, प्रारब्ध के नाश हेतु व्यासमुनि कृत सूत्रों का प्रमाण एवं नास्तिक मत खंडन आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

अष्टमी कला - इसमें उक्त अर्धाली के प्रथम चरण के अर्थों के द्वारा मंगलाचरण में गजानन की प्रार्थना, गुणत्रय का वर्णन, अवस्था के अर्थ, चतुः आश्रम धर्म, र, म की सूर्य चन्द्रवत स्थिति, भक्त के पितरों का सुख, राम में अनन्यता, सर्वदर्शनों की एकमेव गति राम, सर्वदेव राम, अनन्य भक्ति, सूर्य बिम्ब के सदृश घट-घट में राम की व्याप्ति, प्रश्नोत्तर से सत्संग, एक प्रश्न के आठ उत्तर, विभिन्न वर्णों में प्रश्नोत्तर, उसके अनेक प्रश्नों का उत्तर, स्त्रीधर्म निरूपण, विधवा धर्म निरूपण एवं सेवक के धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

नवमकला - इसमें उक्त अर्धाली के दूसरे चरण से १६५००० अर्थों की सृष्टि की गयी है। दूसरे चरण के "करिय" पद के पाँच अर्थ, "करिय" एवं "राम" के विभिन्न अर्थ, "पद" शब्द के पाँच अर्थ, "पंकज नेहा" के छः अर्थ, इन्हीं अक्षरों के उत्तम एवं सुगम ११ अर्थ किये गये हैं।

दशमकला -- इसके अन्तर्गत अन्वय से भक्तिवर्णन, अनुमत, शब्द का उद्धार, भक्ति-स्वरूप, भक्ति के प्रकार, नवधाभक्ति के लक्षण, व्यतिरेक से भक्ति, भक्ति के अधिकारी, भक्तों की दशा, भक्ति का फल, अभक्तों की दुर्दशा, ब्रह्म भेद निरूपण, निराकार निरूपण, साकार निरूपण, साकार-निराकार ब्रह्म के दो विरोधी रूपों की स्थिति का रहस्य, आनंदरूपाधिकारी सत्-चित् के लक्षण, वेदांतानुसार ब्रह्म-भेद, प्रथम विराट का निरूपण, द्वितीय विराट, तृतीय विराट, चतुर्थ विराट एवं हिरण्यगर्भ निरूपण, ईश्वर निरूपण, परमात्मविभूति निरूपण, अवतार के प्रकार

संक्षेप से दश अवतारों का वर्णन, दश अवतारों के नाम, बुद्ध की अवतारी स्थिति का रहस्य आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है ।

एकादश कला -- इसमें उक्त अर्धाली के २५ वें अर्थों के प्रतिपादन के साथ सीताराम का मंगलाचरण है ।

द्वादश कला-- इसमें उक्त अर्धाली के वर्णों की सहायता से भक्तियुक्त नीति एवं साधारण नीतियों का प्रतिपादन किया गया है ।

त्रयोदश कला - इसमें धन की उत्तम गति (दान) को कलि का प्रधान धर्म बताया गया है और कलि की महत्ता का वर्णन है ।

चतुर्दश कला - इसके अन्तर्गत वेद के सातों अंगों-छंद, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त एवं ज्योतिष का निरूपण उक्त अर्धाली के विविध अर्थों के द्वारा किया गया है । उपनिषद के तत्वों का भी प्रतिपादन किया गया है ।

पंचदश कला - इसमें उपवेदों का वर्णन प्रधान रूप में है । व्याख्येय अर्धाली के विविध अर्थों द्वारा तीन मंगलाचरण देव एवं नव ग्रहों के लिए किये गये हैं एवं वैदिक, धनुर्विद्या, वास्तुकला के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है ।

षोडश कला - इसके अन्तर्गत उपर्युक्त अर्धाली के विभिन्न अर्थों की सहायता से लक्ष्मण जी का मंगलाचरण, तुलसीदास के नाम, राजापुर व्याख्येय अर्धाली का जन्म,संवत, भाष्यकार का नाम, कुल, भाष्यकार के गुरु का नाम, भाष्य रचना का संवत्, दो सहयोगियों , अन्तिम मंगल एवं ग्रन्थ के आशीर्वाद आदि विषयों का उल्लेख किया गया है ।

टीका में प्रयुक्त अर्थ व्यंजना की प्रणालियाँ --

तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्यकार ने अपने लक्षाधिक अर्थों की पुष्टि हेतु निम्न ३ पद्धतियों को अपनाया है ।[१६२]

(१) अर्धाली के विशिष्ट पदों का अर्थ -

टीकाकार ने अर्धाली के प्रथम चरण के सब कर मत इन तीन पदों के

१६२. तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य, पृ०सं०,पृ० ६१

अर्थ द्वारा उसने उपनिषदों के प्रामाणिक महावाक्य अहं ब्रह्मास्मि का प्रतिपादन इस प्रकार किया है --

मूल -- सब कर मत

अर्थ - मत (देहाभिमान को छोड़कर) सब (उस परमात्मा के सम) (अपने को) कर । -

भाव - मैं हूं ऐसा देह में अहंकार छोड़ अहं ब्रह्मास्मि तत्वमसि इत्यादि महा-
वाक्यों को समझ -

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा ।

दीपशिखा सोइ परम प्रचंडा ।।

मत्त (मुझ से) शुद्ध संस्कृत शब्द) स --वह या ईश्वर ब समान । कोष्टकों में लिखे सब अर्थ सप्रमाण सुधाकर सोपान कोश में मिलेंगे ।

मत्वात् मत्वं विहायेत्यर्थः ल्यब्लोपे पंचमी ।। भाव प्रधानो निर्देशः ।।

प्रश्न - किस प्रकार से ? उत्तर दृष्टांत उन्हीं अक्षरों में है ।

उपर्युक्त अर्थ में टीकाकार ने केवल अर्द्धाली के प्रथम चरण सब कर एवं मत के द्वारा मनोनुकूल अर्थ सृष्टि के हेतु उनका स्थान परिवर्तन करके उनके अर्थ अपनी मान्यताओं के आधार पर ही किया है । मत शब्द का अर्थ पंचमी विभक्ति संस्कृत पद के रूप में लेकर मुझसे अर्थ किया है । स को संस्कृत की प्रथमा विभक्ति सः मानकर (वह)परमात्मा अर्थ किया है । ब का अर्थ समान किया है । (दे० सुधाकर सोपान कोश,पृ० ४८) यहाँ स्पष्ट है कि टीकाकार ने केवल खींच-तान कर अर्थ किया है, वरन् उन शब्दों को तोड़कर वर्ण-वर्ण का अलग अलग अर्थ करके असंगत और कृत्रिम अर्थ किये हैं ।

(२) अर्धाली के सम्पूर्ण पदों की व्याख्या पद्धति

अर्धाली के सम्पूर्ण पदों की सहायता से किये गये अर्थ टीका के उत्तरार्ध की दसवीं कला से सोलहवीं कला तक अधिक मात्रा में मिलेंगे । उदाहरणार्थ --

मूल - सब कर मत खग नायक येहा ।

करिय राम पद पंकज नेहा ।।

अर्थ -- (४२) सब (समस्त) क (काया में)रमत (रमते हुए) खग (देवोंके) नायक एहा (स्वामी यह राम है) ।

भाव -- निकाय करुणा हुर बीच समेता । छन्ता एक ते एक सबैता ।।

सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ।।

(कोष्टकों में लिखे हुए अर्थ सप्रमाण कोश में - शंकाओं के ऊपर प्रस्तावना में हैं ।)[163]

उक्त अर्थ से स्पष्ट है कि टीकाकार ने सभी पदों की सहायता से राम - के सर्व व्यापकत्व रूप को प्रतिपादित करने के हेतु अर्धाली के नवीन पदों का निर्माण करते हुए वर्ण अक्षरों को तोड़कर चमत्कारिक पद्धति का प्रदर्शन किया है । साथ ही उदाहरण भी मानस से राम के सर्व व्यापकत्व को व्यक्त करने वाली अर्धाली का दिया है ।

(३) सांकेतिक प्रणाली --

इसके अन्तर्गत 'मानस' के विभिन्न पदों के कई शाब्दिक अर्थ बनाकर परस्पर उन शाब्दिक अर्थों की सहायता से पूर्ववर्ती सभी अर्थों के साथ सम्बन्ध करते हुए अनेक नये अर्थों की सृष्टि की गयी है ।

टीका की ६ वीं कला में १,६५००० अर्थों की निष्पत्ति सांकेतिक पद्धति के अनुसार ही हुई है । उसी कला की प्रथम मरीचि में उक्त अर्धाली के मात्र 'करिये' पद से दस हजार अर्थों का सृजन किया गया है ।

ग्रन्थ के पूर्वार्ध के २ सहस्र अर्थों में 'करिये' शब्द का सामान्यार्थ करिये (कीजिए) माना गया है । सुधाकर सोपान कोश में इसके अन्य अर्थ (१) करने वाला, २. पतवार, ३. करि (हाथी) के पास (ग्राह से रक्षा करने के लिए जाना तथा 'र' और 'य' की सवर्णता से करि कलि । य यह । तो ४ कलिकाल में यह । ये अर्थ भी करने से २ सहस्र के १० सहस्र अर्थ बनेंगे ।[164]

यहाँ पर टीकाकार ने 'करिये' शब्द के ४ अर्थ किये हैं और चारों अर्थों की टीका की आठ कलाओं में उस अर्धाली के लिए २००० अर्थों के साथ करिये

----

१६३. तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य, पू०पी०, पृ० १७७

१६४. वही, पू०पी०, पृ० १५६

शब्द इन चार अर्थों के संयोग से ८००० नये अर्थों की संभावना अभिव्यक्त की है। इस प्रकार टीका के पूर्वार्ध के २००० एवं ८००० ये नये अर्थ मिलकर १० सहस्त्र अर्थ हो गये। इस कला की द्वितीय मरीचि में कारय एवं राम पदों के विभिन्न अर्थ किये गये हैं और उन सभी का संयोग इन १०० अर्थों के साथ करके ४०० अर्थों का निर्माण किया है। पुन: आगे भी अर्धाली के शेष पदों के विभिन्न अर्थ करते हुए इसी प्रकार सहस्त्रों से लाखों की संभावना व्यक्त की है। इसी प्रकार संभावित अर्थों के द्वारा ही टीकाकार ने उक्त एक अर्धाली के ६६,७५,१४६ अर्थों की सृष्टि की है। उक्त अर्धाली के सभी अर्थ केवल २०८ पृष्ठों की लघु आकार वाली पुस्तक में है, जिसमें ७६ पृष्ठ प्रस्तावना के ही हैं। इस प्रकार टीकाकार ने सांकेतिक प्रणाली से ही अधिकांश अर्थ किये हैं।

टीकाकार का कथन है कि तुलसीदास ने संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। अतएव मैंने भी इस अर्धाली के पदों में संस्कृत शब्दों की ही अत्यधिक विद्यमानता मानकर उसके अनेक अर्थ किये हैं। अनेक अर्थ करने के लिए टीकाकार ने ज्योतिष के अनुसार वस्तुओं के संख्यावाची अर्थों एवं अक्षरों से संख्याबोध की पद्धति का सहारा लिया है। टीकाकार का कथन है कि भाषा के कवि श, ष, स, ण, न सदृश अक्षरों में परस्पर कोई अन्तर नहीं मानते हैं। अतएव मैंने भी उक्त अर्धाली की व्याख्या करते समय यथावश्यक इन समान अक्षरों का प्रयोग अर्धाली के शब्द विशेष में करके उनसे अभीष्ट अर्थ निकाले हैं। कहीं-कहीं पर टीकाकार ने उक्त व्याख्येय अर्धाली के पदों के अर्थ उन्हें अरबी-फारसी शब्द मानकर किये हैं। इस प्रकार के अर्थ के उदाहरण सलक, अरम एवं अन शब्दों के अर्थ के रूप में देखे जा सकते हैं। टीकाकार का कहना है कि चूँकि ग्रन्थकार ने अपने 'मानस' में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग किया है, इसलिए मैंने भी उन उक्त पद्धति से अर्धाली के अर्थ किये हैं। भाषा में विभक्तियों एवं विराम चिह्नों का प्रयोग नहीं होता है अतएव टीकाकार ने उन्हें मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़कर उनसे मनोनुकूल अर्थ निकाले हैं। टीकाकार ने यत्र-तत्र वैदिक कोश निघंटु आदि के अवलंब से भी उक्त अर्धाली के पदों के अर्थ किये हैं। यद्यपि भाषा काव्य में वैदिक कोशों का व्यवहार अनुचित ही कहा जायगा, तब भी टीकाकार ने अनेकार्थ पद्धति का अवलंब

लेकर अनेक अर्थ किये हैं। उक्त अर्धाली के अर्थ करने में टीकाकार ने अर्धाली के २५ अक्षरों का मनोनुकूल संयोजना करके अनेक अर्थों की सृष्टि की है। अर्थ करने से टीकाकार ने क्लिष्ट कल्पना करके शब्द एवं वर्णों का विपर्यय करके और उनको तोड़ मरोड़कर लक्षाधिक अर्थों का प्रतिपादन किया है। मनोनुकूल अर्थ निकालने के लिए उक्त अर्धाली के २५ अक्षरों को मनमाने ढंग से संयोजित करके नवीन पदों का सृजन किया है। उन्हीं नवीन पदों का एक 'तुलसी सूक्ति सुधाकर' नाम का एक कोश भी उसने उक्त टीका में दिया है। इसमें उसने प्रथमतः अर्धाली के प्रत्येक अक्षर का अर्थ एकाक्षर कोश की सहायता से दिया है। पुनः क्रमशः उसने अर्धाली के दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, छः - छः एवं सात-सात अक्षरों के संयोग से विभिन्न पदों की रचना करके उनका अनेक अभीष्ट अर्थ दिया है। उक्त कोश प्रस्तावना के अन्तर्गत है।[१६५]

उक्त अर्धाली का जो अर्थ बाबूराम शुक्ल जी ने किया है, वह व्यास-शैली परक या पंडिताऊ, पूर्णरूपेण अनुपयोगी, अग्राह्य, चमत्कारपूर्ण और आरोपित है। यही कारण है कि शुक्ल जी के लाखों विच्छेद चातुरी युक्त अर्थों की संख्या को सुनकर लोग आश्चर्यचकित तो अवश्य होते हैं, किन्तु उन अर्थों को सुनकर निराश भी कम नहीं होते। ऐसे अर्थों से अनेकार्थ पद्धति के अनुरागी मानस-पाठकों का चित्तानुरंजन भले ही हो जाय, किन्तु सुविज्ञ साहित्यज्ञ एवं मानस मर्मज्ञ ऐसे असमीचीन अर्थों को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। लेखक ने रामचरितमानस के लगभग सभी पदों को अपनी विचित्र अर्थ प्रक्रिया में समाहित कर लिया है और इनकी इतनी क्षति कर दी गयी है कि लगता है तुलसी को केवल यही चौपाई लिखनी चाहिए थी उन्होंने शेष ग्रन्थ की रचना व्यर्थ की। आश्चर्य उन प्रशंसकों पर होता है जिन्होंने ऐसे अनर्गल और विवेकहीन अर्थजाल की सराहना करने में कोई संकोच नहीं किया तथा इस प्रकार अर्थ और अनर्थ का भेद मिटा दिया। उक्त अर्धाली की महत्ता निम्नलिखित अर्थों में ही है -- 'हे पक्षिराज। उन सब का मत यही है

---

१६५. द्रष्टव्य, डा० त्रिभुवननाथ चौबे, रामचरित मानस का टीका साहित्य, पृ० २४१-५० ।

कि श्रीरामपदकमल में प्रेम करना चाहिए ।"

सतपंच चौपाई --

सतपंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै ।

दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्री रघुबर हरै ।[१६६]

"सत पंच" के अर्थ में लोगों ने अनेकानेक विचित्र कल्पनाएं की हैं ।

कतिपय टीकाकारों के अनुसार गोस्वामी जी ने "सत पंच" से मानस की समस्त चौपाइयों की संख्या निर्दिष्ट कर दी है । उनके अनुसार "सत" का १०० और "पंच" का ५ अर्थ है । "अंकानां वामतो गतिः" नियम के अनुसार इसका अर्थ है -- ५१०० । अर्थात् रामचरित मानस में आदि से अन्त तक कुल ५१०० चौपाइयाँ हैं । श्रीरामचरणदास जी ने "सतपंच" का अर्थ ५१०० छन्द और कहीं पंच दो अर्थ किये हैं ।[१६७] मानस मयंककार के अनुसार --

एकावन शत सिद्ध है, चौपाई तहं चारु ।

छन्द सोरठा दोहरा, दस शत दस हजारु ।।

अर्थात् इस रामचरित मानस में एकावन सौ चौपाई का होना सिद्ध है और छन्द, सोरठा, दोहरा सब मिलकर दस कम दस हजार अर्थात् ९९९० (नव हजार नौ सौ नब्बे) श्लोक हैं ।[१६८] रामनरेश त्रिपाठी जी[१६९] और रामश्याम जी[१७०] ने भी ५१००० चौपाईं अर्थ किया है । श्रीरामदास गौड़ जी कहते हैं कि - "हमने हाल के छपे सभा वाले संस्करण से गिनती करायी तो उपर्युक्त संस्करण के पाठान्तरों के मिलने से और कुछ को घटाने बढ़ाने से ५१०३ संख्या की उपलब्धि हुई । हमें विश्वास है कि हमारी गिनने की पद्धति ठीक है । सतपंच का अर्थ अवश्य ही

----

१६६. मानस ७।१३०।छंद १५-१६

१६७. रामा०, पृ० ३६६

१६८. भा०मं०,वार्तिककार श्री इन्द्रदेवनारायण,पृ० ७३४

१६९. मानस०,पृ० १२४०

१७०. रामा० उत्तर० ,पृ० १११

५१०० है । तीन की आंकिक संख्या सहज ही कहीं भूल हो सकती है । पूरी पोथी भी गोस्वामी जी की ही लिखी उपलब्ध होती तो इस शंका का निवारण हो जाता तथापि निश्चित धारणा है कि कवि ने यहाँ चौपाइयों की संख्या ही बतायी है ।[१७१]

विनायकराव ने 'सतपंच' का अर्थ ५०० माना है ।[१७२] पं० पंजाबी जी ने भी ५०० अर्थ किया है । उनके अनुसार - 'मनोहर का भाव भगवद्यश मिश्रित सो परम सुंदर मैंने बनायी है । बाल वर्णन, रावण दिग्विजय, गंगा, नारद का आगमन, विराध युद्ध, कपि संख्या इत्यादि कथाएँ क्षेपक मानकर इस ग्रन्थ में से उनको अलग कर दिया है । इसी तरह और भी क्षेपक होंगे । इस प्रकार पंजाबीजी कहते हैं कि गोस्वामी जी ने भगवत के यश से मिश्रित पांच सौ चौपाई बनाई है । अथवा सतपंच-नावदश इत्यादि ।[१७३] शुकदेवलाल जी के मत से ५०० पर मनोहर चौपाइयों को अर्थात् १७५ रामजन्म से लेकर सीता-स्वयंवर तक बालकाण्ड की और ३२५ अयोध्याकांड की समस्त जो विस्तार से वर्णन है ।[१७४]

श्री विजयानंद त्रिपाठी जी[१७५] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने[१७६] 'सत पंच' का अर्थ १०५ किया है । उनके अनुसार - '१०५ चौपाइयाँ जे असि भगति जानि परिहरहीं (११५।१) से प्रारंभ होकर 'राम भजे गति केहि नहिं पाई' (१३०-८) तक हैं । उनके मत से फलश्रुति के प्रसंग की चौपाइयाँ भक्ति-ज्ञान के विवेचन में समग्रतः १०५ हुईं, इसलिए इसका यही अर्थ करना चाहिए । कुछ लोगों ने इसका अर्थ ७५ मानकरके और मानस से मनोनुकूल इतनी ही चौपाइयाँ निकाल कर एकत्र कर दीं ।

कतिपय टीकाकारों ने 'सत पंच' का अर्थ संख्या के संकलित करने की उल्टी पद्धति के आधार पर ५७ अर्थ किया है । इस प्रकार मानस से अभीष्ट ५७

----

१७१. श्रीरामचरित मानस की भूमिका, पृ० १२०-२१

१७२. रामा० विनटी०,पृ० ३२८

१७३. पा०भा०,उत्तर,पृ० १५३

१७४. रामा० पृ० ८६

१७५. विनटी०पृ० भा०,पृ० २५०

१७६. पृ०सं०,ना०प्र०वि०परि०काशी,पृ० १०२६

चौपाइयाँ खोज निकालीं ।

किसी ने ७ और ५ का गुणन करके इसका अर्थ ३५ किया है और उत्तर काण्ड में भुशुण्डि द्वारा कही हुई ३५ चौपाइयों से इसका अर्थ करते हैं। ये अर्धालियाँ 'कहउँ नाथ रघुपति गुनगाथा' से 'सुनि सब रामकथा सगनाथा' तक हैं।

लाला हरिदास जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -- (१) सतपंच - सात पाँच, यह लोकोक्ति है, बोलचाल है। सात अक्षर पाँच कहने का भाव कि जीवात्मा के सप्तावरण हैं सो सात चौपाइयों से सातों आवरण टूट जायेंगे फिर पंच चौपाई से पंच विकार रघुनाथ जी हरेंगे। पुन: ,
(२) ७+५ = १२। १२ ही राशि पर सारा जहान और सारे जीव हैं, अत: १२ ही से सबको मंगलकारी होंगे। १२ मास का वर्ष होता है, एक-एक मास से पालक करने को एक ही एक भी पर्याप्त है। इत्यादि।[177]

स्वामी प्रज्ञानन्द जी के अनुसार "यहाँ सतपंच" का अर्थ १२ चौपाइयाँ (त्रिपदिया) हैं। बालकांड दोहा १९९ की १२ चौपाइयाँ 'काम कोटि छवि श्याम सरीरा।' से लेकर 'सो जाने सपनेहुँ जेहि देखा' तक है।[178]

महादेवदत्त जी[179] महावीरप्रसाद जी मालवीय[180] और अवधबिहारी-दास जी ने[181] 'सतपंच' का अर्थ 'अच्छे पंच' किया।

इस प्रकार 'सतपंच' के इतने अर्थ किये गये हैं -- '५१००, ५००, १०५, ७५, ५७, ३५, १२ और अच्छे पंच' 'सतपंच' का अर्थ ५१०० उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मानस में '५१००' चौपाइयाँ नहीं मिलती। रामचरित मानस के विद्वान संपादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का कथन है कि "मानस की किसी भी शाखा में

----

१७७. मा०पी०,उत्तर०, पृ० ७२७-२८

१७८. मा०पी० , पृ० ७३४

१७९. वही, पृ० ७२७

१८०. वही, पृ० ७२८

१८१. मानस,पृ० ११९७-९८

१८२. गोसाईं तुलसीदास,पृ० २२९-३०

५१०० चौपाइयाँ न होने से यह कल्पना अभिप्रेत नहीं जान पड़ती ।"[१६२] इसका पैंतीस अर्थ भी तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता । इस विषय में स्वर्गीय गौड़ जी ने उचित ही कहा है -- "भुशुंडि जी ने जो संक्षिप्त कथा कही है वह पैंतीस अर्धालियों में है । कहने वाले यह समझते हैं कि गोस्वामी जी का इशारा इसी संक्षिप्त कथा की ओर है । परन्तु इस विषय में सोचना यह है कि यह अंक इस छंद से बहुत दूर पड़ गया है । यदि उसका माहात्म्य कहना था तो वहीं कह देते । यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है । इसलिए पैंतीस अर्थ करना ठीक नहीं ।"[१६३] फिर ५००, १०५, ७५, ५७ और १२ चौपाइयाँ ही मनोहर हैं ऐसी तो यही ध्वनित होता है कि शेष चौपाइयाँ मनोहर नहीं हैं किन्तु गोस्वामी जी ने तो रामवन गमन को भी सुंदर कहा है - "कहेउ राम बन गवनु सुहावा ।"[१६४] अतः यह कहना कि अमुक चौपाइयाँ ही मनोहर है, असंगत है ।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस सम्बन्ध में पाठानुसंधान की प्रक्रिया से एक अद्भुत समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । उनका कहना है कि "सत पंच" चौपाई के अनेक अर्थ संभव हैं, जिनमें से ३ संख्यावाची अर्थ रामचरित मानस के रचना-क्रम के विकास में प्रथम, द्वितीय और तृतीय पांडुलिपियों की चौपाइयों की संख्या के द्योतक हैं और कवि ने इसीलिए तीनों पांडुलिपियों में "सतपंच" वाली पंक्ति को ज्यों का त्यों रहने दिया है ।[क] इस धारणा की असंगति इस बात से स्वयं प्रकट हो जाती है कि तीनों पांडुलिपियों की छंदसंख्या क्रमशः "सतपंच" के विभिन्न अर्थों से जुड़ती चली गयी । मानों कवि ने इसे श्लेषार्थ में प्रयुक्त किया हो या उसके विभिन्न अर्थों के अनुरूप परिवर्तन किया है । ऐसा रचनाक्रम में किसी प्रकार स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । अतः इसे भी आरोपित अर्थ-परिकल्पना कहना होगा ।

---

१६२. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २२९-३०

१६३. मा०पी० उत्तर०, पृ० ७३०

१६४. मानस २।१४१।४

क. द्रष्टव्य, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख तथा उनका तुलसीदास नामक शोध-ग्रन्थ ।

'सत्पंच' का अर्थ सच्चे या अच्छे पंच भी यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि 'चौपाई' शब्द तो स्त्रीलिंग है और 'पंच' पुल्लिंग शब्द है। इसलिए चौपाइयों को अच्छे पंच कहना अनुचित है। यहाँ स्वर्गीय गौड़ जी का कथन तर्क पूर्ण प्रतीत होता है — 'यह भाव बड़ा अच्छा है परन्तु खेद है कि पंच का रूपक चौपाइयों के साथ सुसंगत नहीं बैठता। — एक तो यहाँ पंचायत का कोई प्रसंग नहीं है। दूसरे चौपाई शब्द स्त्रीलिंग है और पंच शब्द पुलिंग है। चौपाई का उल्लेख बालकांड में कवि ने इस प्रकार किया है —

पुरइनि सघन चारु चौपाई।
जुगति मंजु मनि सीप सुहाई।।

गोस्वामी जी सरीखे उद्भट विद्वान् और चतुर रत्नाकर कवि चौपाई को पुरइनि की उपमा देकर अंत में स्त्रीलिंग उपमेय के लिए पुल्लिंग उपमान रख नहीं सकते। और सो भी इतने बड़े महाकाव्य की रचना करके जिसमें कि ऐसी भूल कहीं नहीं हुई है, यहाँ आकर करें और पतत्प्रकर्ष के दोषी हों। यह बात कोई टीकाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये सच्चे पंच वाला अर्थ कदापि ग्राह्य नहीं है।[१९५] ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी का यहाँ सतपंच कथन माहात्म्यवत है। सामान्यतया यदि सत् का अर्थ सो लिया जाय तो सतपंच का लाक्षणिक अर्थ होगा - थोड़ी बहुत क्योंकि सत बहुत का बोधक है तो पंच अल्पत्व का। सात - पाँच एक प्रसिद्ध मुहावरा भी है, जैसा कि लोग कहते हैं कि —

सात पाँच की लाकरी एक जने का बोझ।

भक्तिकाव्य में माहात्म्यपरक ऐसे कथनों की पूरी परम्परा मिलती है। वाल्मीकि रामायण गीता, भागवत और अध्यात्म रामायण इसके प्रमाण हैं। भागवतकार ने कहा है कि - इसका एक श्लोक, आधा श्लोक या चौथाई ही श्लोक पाठ कर लेने से परम गति की प्राप्ति हो सकती है —

श्लोकार्धं श्लोक पादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्।।[१९६]

गीतामाहात्म्य में तो सप्तपंच अर्थात् सत पंच जहाँ स्पष्ट लिखा है —

---

१९५. मा०पी० उत्तर०, पृ० ७३० और श्रीरामचरितमानस की भूमिका, पृ०१२०-२१
१९६. भागवत माहात्म्य ३।३३।

गीतायाः श्लोक दशकं सप्त पंच चतुष्टयम् ।
त्रित्रिएक द्वयं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम् ॥

वाल्मीकि माहात्म्य में लिखा है कि इसका एक-एक अक्षर अनेक पातकों का हरण करने वाला है —

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ।[१६७]

अध्यात्मकार लिखते हैं कि जो पुरुष इसका एक पद (चौपाई श्लोक) भी पढ़ता है वह अपने हजारों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है । नित्य प्रति अनेकों पाप करने वाला पुरुष यदि भक्ति पूर्वक इसका एक श्लोक भी पढ़े तो सम्पूर्ण पाप राशि से छूटकर श्रीराम के सालोक्य पद को प्राप्त हो जाता है, जो दूसरों के लिए अलभ्य है --

यः पादमप्यत्र पठेत्सपापाद्विमुच्यते जन्मसहस्रजातात् ॥
दिने दिने पाप चयं प्रकुर्वन्पठेन्नरः श्लोकमपीह भक्त्या
विमुक्त सर्वाघ चयः प्रयाति रामस्य सालोक्यमनन्यलभ्यम् ॥[१६८]

यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है कि सत पंच का यदि ऐसा ही अर्थ कवि को अभीष्ट था तो वह उसके स्थान पर 'दस पाँच' शब्द का बहुत सरलता से प्रयोग कर सकता था । यथा -'दस पाँच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै' न तो इससे छंद में कोई विकार आता न भाषा में विसंगति होती । 'दस पाँच' का प्रयोग इस तरह के अर्थ में मानस में अन्यत्र कर भी चुके हैं । यथा -

मिलि दसपाँच राम पहिं जाहीं ॥[क]

अतएव सतपंच का प्रयोग नितांत सामान्य न होकर कुछ विशिष्ट पारिभाषिक तथा अर्थ-गर्भित भी लगता है । ऐसा सोचना निराधार नहीं कहा जा सकता । संभव है

----

१६७. दे० वाल्मीकि० महात्म्य ।

१६८. अध्यात्मरामायण उत्तर० सर्ग ६, श्लोक ६८-६९

क. मानस २।२४।१

वह मूलाधार अभी ज्ञात ही न हो, जिससे प्रेरित होकर तुलसी ने 'सत पंच' शब्द का प्रयोग किया है।

गोस्वामी जी ने दूसरी पंक्ति में ऐसी ही माहात्म्यपरक बात कही है यथा -- दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्री रघुबर हरे।
अतएव उक्त दोनों पंक्तियों का अर्थ होगा --
'(मुझे विश्वास है कि) जो मनुष्य मनोहर समझकर थोड़ी सी (सतपंच) चौपाइयाँ भी हृदय में धारण करेंगे, उनके दारुण पंचपर्वा अविद्या जनित विकारों को भी रघुनाथ दूर कर देंगे।

विशेष अर्थ में 'सत पंच' को संदर्भ गर्भित और गूढ़ार्थपरक मानना भी पूर्णतः निराधार नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उसके असंगत आरोपित अर्थों का पता लेना सर्वथा संभव नहीं है।

श्री स्वामी रामवल्लभशरण जी,[१९९] रामायणपरिचर्याकार, रामायण परिचर्यापरिशिष्टकार, रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार[२००] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[२०१] ने उक्त माहात्म्यपरक अर्थ ही स्वीकार किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ सही संगत प्रतीत होता है।

जयमाल

जयमाल जानकी जलाजकर लई है।[२०२]
हरिहरप्रसाद जी[२०३] और बैजनाथ जी[२०४] ने रघुवंश के ६।२५ के आधार पर लिखा है

---

१९९. मा०पी० उत्तर०, पृ० ७२८
२००. रा०परि० परिशिष्ट पृ० पृ० १३५
२०१ गोसाईं तुलसीदास, पृ० २२९ - ३०
२०२. गीता १।६४
२०३. वही बाल० पृ० १०५
२०४. वही, पृ० १८७-८८

कि जयमाल मधुका के फूल और दूब से निर्मित हुई थी । ठाकुर बिहारीलाल ने भी ऐसा ही अर्थ किया है ।[२०५] तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने कवितावली के निम्नपंक्ति के 'जयमाल' का यही अर्थ किया है [२०६] 'लीन्हे जयमाल करकंज सोहैं जानकी के ।' किंतु यहाँ जयमाल का अर्थ - 'मधुका और दूब की बनी माला' करना आरोपित अर्थ है । उक्त व्याख्येय पंक्ति की नम्नपंक्ति के 'मरालपांति' से यह सूचित होता है कि सीता जी ने श्वेत कमलों की माला पहनाई थी --

'मानस तें निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मरालपांति बैठी बनि गई है । [२०७]

क्योंकि हंस श्वेत होते हैं । श्रीमद्भागवत स्कंध ८, अध्याय ८ के अनुसार जब श्री-लक्ष्मी जी क्षीर समुद्र से निकली थीं, उस समय उनके हाथों में श्वेत कमलों की माला थी । जानकी मंगल से स्पष्ट होता है कि जयमाला कमल के पुष्पों की थी--

लसत ललित कर कमलमाल पहिरावत ।
कामफंद जनु चंदहिं बनज फंदावत ।। [२०८]

मानस की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट तो नहीं, किन्तु दीप देहली न्याय से सरोज 'कर' और 'जयमाल' दोनों का विशेषण है --

कर सरोज जयमाल सुहाई । [२०९]

इसी तरह इस पंक्ति में भी 'सरोज' 'सोह पानि' और 'जयमाला' दोनों के साथ है --

पानि सरोज सोह जयमाला । [२१०]

---

२०५. गीता० रामा०, पृ० १११
२०६. हि०ह० अ०भा०वि०परि०काशी, पृ० १६४
२०७. गीता० १।६४
२०८. जा०मं० १२२
२०९. मानस १।२६४।२
२१०. वही १।२४८।६

केशवदास जी ने भी लिखा है कि सीता जी ने कमलों की माला पहनाई --

सीता जी रघुनाथ को, अमल कमल की माल ।
पहिराई जनु सबन की, हृदयावलि भूपाल ।।[२११]

महुआ न तो सुगंधि के लिए प्रसिद्ध है और जिस शरद् ऋतु के कार्तिक मास में जय-माला सीता जी ने पहनाई थी, वह समय महुवे के फूलने का भी नहीं है । अतः यहाँ पर 'जयमाला' को 'महुवे की माला' कहना तर्कसंगत नहीं है । औचित्य नामक अर्थ-निश्चय के साधन से निश्चित होता है कि 'जयमाला' कमल पुष्पों से ही बनी थी । अतएव उक्त व्याख्यातव्य पंक्ति का अर्थ होगा -- 'श्री जानकी जी ने अपने कर कमलों में जयमाला (कमल की माला) ली है ।' प्रायः अन्य सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है ।

---

२११. श्रीरामचन्द्रिका, पाँचवाँ प्रकाश ५६

अध्याय – ६

कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट-प्रयोगों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान

'कूट' (कूट् + अच्) शब्द का सामान्य अर्थ है 'पटल, ढेर, निकाई या यथार्थ वस्तु का ढका होना, पहाड़ की चोटी, सींग, छल, धोखा, फरेब, मिथ्या, असत्य, भूठ, गूढ़ भेद, रहस्य आदि। शब्दार्थ की दृष्टि से 'कूट' शब्द वे हैं जिनके अर्थ बड़े पेंचदार तथा गूढ़ होते हैं। अर्थात् जिनका अर्थ-बोध सहज में न हो। मानक हिन्दी कोश के अनुसार साहित्य में ऐसा पद या रचना, जिसमें श्लिष्ट अथवा सम्बन्ध सूचक सांकेतिक शब्दों का प्राधान्य हो और इसीलिए जिसका ठीक अर्थ जल्दी सब लोगों की समझ में न आता हो। जैसे सूर के कूट।[१] काव्य के सम्बन्ध में कूट शब्द का प्रयोग गूढ़ काव्य के लिए होता है। ऐसी विशिष्ट शब्द योजना या शब्द जिसमें अर्थ कठिन उक्तियों में छिपा रहता है।

कूटोन्मुखी शब्द वे हैं जो पूर्णरूपेण 'कूट' तो नहीं हैं किन्तु कूटत्व की ओर भुके हुए हैं। कोशों के ऐसे अप्रचलित शब्द जो शव की भाँति पड़े रहते हैं, कवि द्वारा उन्हीं शब्दों को मेधा तथा प्रतिभा का अमृत छिड़ककर प्राणवान बना दिया जाता है।

'कूट' शब्दों के प्रयोगों के कारण ही सम्पूर्ण महाभारत का लेखन कार्य सम्पन्न हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि व्यास जी को जब महाभारत का कोई सुयोग्य लेखक नहीं प्राप्त हुआ तब उन्होंने इस कार्य हेतु गणेश जी से निवेदन किया, उन्होंने इसको इस आधार पर स्वीकार किया कि मैं सतत लिखता जाऊंगा, जिस समय आप मेरी लेखन-गति के अनुसार नहीं बोल पायेंगे, मैं लेखनकार्य समाप्त कर दूंगा। व्यासजी

---

१. वे० प्रथम खण्ड, पृ० ५६८

ने उक्त शर्त को स्वीकार करते हुए स्वयं एक शर्त प्रस्तुत किया कि जो कुछ आप लिखें ,को समझकर लिखें गणेश जी ने भी स्वीकार कर लिया । उन्होंने महाभारत का लेखनकार्य प्रारम्भ किया और जहाँ व्यास जी को विचार करने की आवश्यकता पड़ती थी, वहाँ वे कूट शब्दों का प्रयोग करके गणेश जी को सोचने के लिए विवश कर देते थे । इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत गणेश जी को लिपिबद्ध करना पड़ा ।

'सरल कवित्त' लिखने वाले गोस्वामी जी के साहित्य में भी अद्भुत प्रवाह है । किन्तु उन्होंने यत्र-तत्र कूटोन्मुखी एवं कूट शब्दों का प्रयोग करके पाठक की सूक्ष्म दृष्टि को आमंत्रण दिया है । संभवत: गोस्वामी जी को अमरकोश कंठस्थ था । फलस्वरूप उन्होंने उसके अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है । कूट विषयक शब्दों की व्याख्या में अमरकोश के उद्धरणों को उदाहरणस्वरूप यथास्थान प्रस्तुत कर दिया गया है । डा० अम्बाप्रसाद सुमन के अनुसार --
'भावातिरेक के क्षणों में कवि की हृदय भूमि में जन्म लेने वाली कविता की सृष्टि करते-करते जब कवि का मानस लोक थक सा जाता है, तब कुछ क्षणों के लिए कवि की मनीषा को अपना पाण्डित्य या चमत्कार दिखाने की इच्छा बलवती हो जाती है । सूक्तियों का जन्म भी तभी होता है, जब कवि अपने हृदय के भावलोक से बाहर आकर मस्तिष्क से चमत्कार-प्रदर्शन काअभिलाषी बनता है । कूटोन्मुखी शब्द पाठकों से भी पर्याप्त बुद्धि-व्यायाम करा लेते हैं । कभी-कभी तो पाठक कई दिनों तक निरंतर बुद्धि व्यायाम करने पर भी कूट शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाता 'कूट' शब्द का वास्तविक अर्थ पाठक की समझ में जल्दी से इसलिए भी नहीं आता है कि कवि उसका प्रयोग सामान्य या बहुप्रचलित अर्थ में नहीं किया करता, अपितु विशेष अथवा अप्रचलित अर्थ में किया करता है ।'[२]

गोस्वामी जी के साहित्य में जहाँ सरलता है, वहीं उदात्तता और जहाँ जहाँ जटिलता है, वहीं गरिमा । यद्यपि उनके साहित्य में सरलता का ही प्राधान्य है, तथापि उन्होंने मानस, कवितावली,बाहुक,विनयपत्रिका,दोहावली, बरवै और रामाज्ञा प्रश्न आदि ग्रन्थों में कूटोन्मुखी शब्दों एवं कूटों का भी प्रयोग किया है ।

---

२. रामचरितमानस का वाग्वैभव,पृ० ४

दोहावली के कतिपय दोहों में ज्योतिष विषयक कूट-प्रयोग हैं। शकुन सम्बन्धी कूट-प्रयोग रामाज्ञा प्रश्न में मिलते हैं। समीती, करन, बनज, सोना, कदंबा, सकल, समन, हार और समाधि आदि शब्द दुरूह हैं, अतः कूटोन्मुखी हैं। इन शब्दों के अर्थ टीकाकारों ने बहुत ही भ्रामक किये हैं। उदाहरणार्थ- 'सोना' शब्द का अर्थ - 'सोया हुआ,' 'कदंबा' का कदाचित्, सकल का सभी और समाधि का मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना अर्थ किया गया है, जबकि इनके वास्तविक प्रसंगार्थ भिन्न हैं।

'दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस, सुतिगुन, करगुन, रवि, हर दिसि, रस, नयन धातु आदि कूट प्रयोग हैं। इनके भी अर्थों में टीकाकारों ने खूब खींच-तान और क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं।

जो शब्द बाद में अप्रचलित हो जाने के कारण अथवा संदर्भ अज्ञात हो जाने से दुरूह लगने लगते हैं, उन्हें न तो कूटोन्मुखी कहा जा सकता है न कूट। वस्तुतः कूटता के लिए कवि के द्वारा उनके उसी रूप में प्रयोग की सजगता अनिवार्य है। जिन कवियों ने कूट लिखे हैं अथवा कूट शैली का यत्र-तत्र प्रयोग किया है, उन्होंने जान बूझकर ऐसा किया है। अनभीष्ट दुरूहता को कूटता नहीं कहा जा सकता। किन्तु कूट की भाँति दुरूह होने के कारण ऐसे शब्दों की भी व्याख्यायें प्रस्तुत अध्याय में ही कर दी गयी हैं। उदाहरणार्थ कुआरी शब्द।

कूटोन्मुखी शब्दों एवं कूट-प्रयोगों की अर्थ समस्याओं का निदान पृथक न करके उनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

समीती -

भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती॥[1]
कठिन शब्द होने के कारण बैजनाथ जी ने 'समीती' के स्थान पर 'सुरीती' पाठ करके 'सुन्दर रीति है' ऐसा अर्थ किया है।[2] हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ

----

१. मानस १।१५३।७

२. रामा० बाल० पृ० ४३१

'समता की हानि अवधि' किया है।[२] किन्तु यह अर्थ असंगत है। 'समीती' शब्द संस्कृत समिति (सम्+इण्+क्तिन) ही है। छंदानुरोध के कारण 'समति' को 'समीती' कर दिया गया है। 'समिति' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ सम्प्रति 'सभा, समाज[३] संस्था, सोसाइटी' है। आप्टे ने 'समिति' शब्द का पहला अर्थ - मिलना, मिलाप, साहचर्य दिया है।[४] अतः स्पष्ट है कि हिन्दी में 'समिति' शब्द का मेल-मिलाप अर्थ अवश्य अप्रचलित है, किन्तु संस्कृत में इसका यह अर्थ बहुप्रचलित था। अमरकोश से भी यही स्पष्ट होता है।

'समरे सङ्गे सभायां समितिः'[५]

'मेल या मिलाप' अर्थ में 'समिति' शब्द का प्रयोग एक तरह से कूटोन्मुखी है। इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - 'भाई-भाई (दोनों भाइयों भानुप्रताप और अरिमर्दन) में अत्यंत मित्रता थी और सभी दोषरहित प्रेम था।' प्रायः सभी टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

करन

> बिषयकरन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।।
> सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।[६]

करण अथवा करन का प्रसिद्ध अर्थ 'करना' क्रिया, करने वाला या साधन है। उदाहरणार्थ -

> भुवन-पर्यन्त पद-तीनि-करणं।[७]
>
> कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्वकारन करन।[८]

२- हे०श०पारि० परिशिष्ट पृ० प्रस्तुत अर्धाली का अर्थ

३. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६५७

४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७६

५. अमर० ३।३।७०

६. मानस १।११७।५-६

७. विनय० ५२

अंगकरन लागे मुनि भारी ।[९]

डा० अम्बाप्रसाद जी कहते हैं कि मानस में 'करन' शब्द का प्रयोग ३५ बार हुआ है ।[१०] गोस्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग अधिकतर 'करना' क्रिया के रूप में किया है । उक्त अर्धाली में करन शब्द का प्रयोग विशिष्ट और अप्रचलित अर्थ में है । वामन शिवराम आप्टे ने 'करणम्' का एक अर्थ इन्द्रिय किया है ।[११] कालिदास ने राजा अज की प्रियतमा का वर्णन करते हुए 'इन्द्रिय' के अर्थ में 'करण' शब्द का प्रयोग किया है --

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।[१२]

करन (सं० करण) कृ (करना)+ल्युट- अन्) का प्रयोग गोस्वामी जी ने भी यहाँ इन्द्रिय अर्थ में किया है । इन्द्रियाँ १४ हैं -- ५ कर्मेन्द्रिय- १. वाक, २. पाणि, ३. पाद, ४. वायु (गुदा), ५. उपस्थ ।

५. ज्ञानेन्द्रिय - १. श्रोत्र (श्रवण), २. त्वक् (त्वचा), ३. चक्षु, ४. जिह्वा, ५. घ्राण ।

४. अन्तः करण -- १. मन, २. बुद्धि, ३. चित्त, ४ अहंकार अतएव उक्त चौपाई का अर्थ होगा - विषय (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द), इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीव ये सब एक दूसरे से चेतन होते हैं । अर्थात् विषयों की प्रकाशक इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के प्रकाशक तत्-तत् देवता और उन देवताओं का प्रकाशक जीवात्मा है । शरीर के जीव रहित होने पर देवता इन्द्रियों को सचेत नहीं कर सकते । जीव भी बिना श्रीराम जी के अस्तित्व के कुछ नहीं कर सकते । इसीलिए जो सबका परम प्रकाशक है,वही अनादि (ब्रह्म) अयोध्याधिपति श्रीराम जी हैं ।

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध प्रसिद्ध है । अतः संयोग नामक अर्थ

---

९. वही,१, २१०।२

१०. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ४२-४४

११. दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २४९ करणं साधकतमं क्षेत्र गात्रेन्द्रियेष्वपि । अमर० ३।३।५४

निश्चय के शासन से यहाँ करन का अर्थ इन्द्रिय ही होगा। प्रायः सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ इन्द्रिय ही किया है। किन्तु इस शब्द का 'इन्द्रिय' अर्थ इतना अप्रचलित है कि बिना कोश की सहायता से इसका अर्थबोध नहीं किया जा सकता। अतः 'करन' शब्द कूटोन्मुखी है।

बनज

जय रघुवंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू ॥[१३]

बनज- सं० वनज (वन+ज) का शाब्दिक अर्थ है वन में उत्पन्न। 'वन' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ 'जंगल' है। आप्टे ने वन का एक अर्थ - 'पानी' और वनजम् का 'नील कमल' दिया है।[१४] अमर कोश में 'जल' के २७ पर्यायवाची में एक पर्याय- वन भी दिया है। 'जीवनं भुवनं वनम्।'[१५] गोस्वामी जी ने भी 'जल' अर्थ में 'बन' शब्द का प्रयोग किया है --

'बाँध्यो बन निधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।[१६]

पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।[१७]

'डा० अम्बाप्रसाद कहते हैं कि 'बनज' शब्द का 'कमल' अर्थ में प्रयोग मानस में ५ बार हुआ है।[१८] 'कमल' अर्थ में 'बनज' का कुछ प्रयोग इस प्रकार है --

बालचरित बहु बंधु के बनज बिपुल बहुरंग।[१९]

सुरसर सुभग बनजबन चारी। [२०]

----

१३. मानस १।२८५।१

१४. संस्कृत हिन्दी कोश,पृ० ८९५

१५. अमर० १।१०।३

१६. मानस ६।५

१७. कवितत० २।७

१८. रामचरितमानस का वाग्वैभव,पृ० १७८-७९

१९. मानस १।४०

२०. वही २।६०।५

उक्त अर्धाली के 'बनज' शब्द का अर्थ है जल में उत्पन्न अर्थात् कमल । अतएव उपर्युक्त अर्धाली का अर्थ होगा --

'हे रघुवंश रूपी कमल वन के सूर्य ! हे राक्षसकुल रूपी सघन वन को जलाने के लिए अग्निरूप ! आपकी जय हो ।'

गोस्वामीजी ने 'जल में उत्पन्न' अर्थात कमल के अर्थ में 'बनज' का ही प्रयोग नहीं किया है, अपितु 'जल-प्रदाता' बादल के अर्थ में 'बनद' का भी प्रयोग किया है --

बनजलोचन बनज-नाभ बनदाभ-वपु बनचर-ध्वज कोटि लावन्यरासी ।।२१

यहाँ सभी टीकाकारों ने 'बनज' का अर्थ कमल ही किया है । 'अन्य शब्द का सान्निध्य अर्थ-निश्चय के साधन से 'बन' शब्द के सामीप्य के कारण 'बनज' का अर्थ 'कमल' ही होगा । 'बन' शब्द का प्रचलित अर्थ जंगल अरण्य या कानन है । यहाँ 'बनज' का 'कमल' अर्थ में प्रयोग कूट ही कहा जायगा ।

<u>सोना</u> :-

निदरहिं बदन सोह दुति लोना । मनहु साँझ सरसीरुह सोना ।।[२२]

'सोना' शब्द का प्रचलित अर्थ - स्वर्ण, कनक और नींद लेना, शयन करना, आँख लगना है ।[२३] इसी भ्रम में कुछ लोगों ने इसका अर्थ सुनहला कमल किया है । संत-सिंह पंजाबी जी के अनुसार - 'मानों रात्रि में कमल सोया हुआ है ।'[२४] यहाँ 'सोना' का अर्थ 'सो जाना' नहीं हो सकता, क्योंकि 'अवधी' में सोने के लिए 'सोउब' शब्द का प्रयोग किया जाता है । तुलसी साहित्य में 'सोना' क्रिया का प्रयोग इस रूप में कहीं नहीं मिलता ।

---

२१. विनय० ५४

२२. मानस १।३५८।१

२३. मा०पी०बाल० खं० ३, पृ० ८९६ , संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर,पृ० १०१०

२४. मा०पी०बाल०खं० ३, पृ० ८९६

संस्कृत "शोण" (शोण् (गत्यादि)+अच्) से विकसित "सोन" शब्द है। छन्दानुरोध के कारण "सोन" का "सोना" कर दिया गया है। हिन्दी शब्द सागर और मानक हिन्दी कोश में "शोण" का अर्थ लाल, अरुण दिया हुआ है।[२५] यहाँ पर भी "सोना" का अर्थ "लाल" है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा- "नींद में भी अत्यंत सलोना मुख (ऐसा) सुशोभित हो रहा है मानो सायंकाल का लाल कमल हो।" इसी अर्थ में "सोन" शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी गोस्वामी जी ने किया है — सुभग सोन सरसीरुह लोचन ।।[२६]

प्रकरण नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ "सोना" का अर्थ "लाल" है। "लाल" अर्थ में "सोना" शब्द प्रयुक्त होने के कारण इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है। अधिकांश टीकाकारों ने इसकी व्याख्या "अरुण कमल" के रूप में ही की है।

कदँवा —

येहि बिधि करेहु उपाय कदँबा। फिरइ त होइ प्रान अवलँबा ।।[२७]

संतसिंह पंजाबी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है — "कदंब कहिये समूह करके। किंवा भाषा माँ कदँबा पद कदाचित का वाचक भी बनता है। जाते नृप को सीता के फिरने में भी संदेह था तातें कहा है हे सचिव तें ने उपाय करणा जो कदाचित सीता फिरि आवे तो मेरे भी प्राणों को आश्रय होता है।[२८] इसीप्रकार शुकदेव लाल जी ने भी "कदँबा" का अर्थ "कदाचित" किया है।[२९] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय का अर्थ तो पूर्णतया भ्रामक है —" इस प्रकार जैसे भी हो (कम से कम सीता को) लौटा लाने का उपाय अवश्य करना"[३०] यहाँ पर उपर्युक्त सभी अर्थ

----

२५. हि० शृ० ४७६५, मा०भा०, पृ० १९४

२६. मानस १।२१९।६ और कवित० २।२४

२७. मानस २।८२।६

२८. मा०भा०पृ० १०१

२९. रामा०,पृ० ४४

३०. प्र०सं०अ०भा०वि०परि०,काशी,पृ० ४३१

प्रामक है।

'कदँब' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ - एक प्रसिद्ध वृक्ष , कदम्ब है।[३१] आप्टे ने अपने कोश में कदम्ब :' और कदम्बक' दो शब्द दिये हैं। 'कदम्ब :' का अर्थ एक प्रकार का वृक्ष और 'कदम्बकम्' का अर्थ-समुदाय दिया है।[३२] अमरकोश में भी 'समूह' के २२ पर्यायवाची शब्दों में समूह का एक पर्याय 'कदम्बक' भी दिया है --

स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम् ।।[३२]

अभिज्ञान शाकुंतल में मृगों के झुण्डों के सम्बन्ध में 'कदम्बक' शब्द का प्रयोग किया गया है --

छायाबद्ध कदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्तु ।[३३]

गोस्वामी जी ने भी यहाँ कदँबा (सं० कदम्बक: (कद् + अम्बच + कृ) का प्रयोग समुदाय-समूह अर्थ में किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा -- (दशरथ जी कहते हैं) इस प्रकार अनेक उपाय (उपायों के समूह) करना। यदि वे (सीताजी) लौट आवें तो मेरे प्राणों को अवलम्ब हो जायगा ।'

डा० अम्बाप्रसाद जी लिखते हैं कि यहाँ पर भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी 'कदँब और कदम्बा में अर्थभेद करते हैं। उनके मत से 'कदँब' तो वृक्ष विशेष है और 'कदँबा' का अर्थ भुंड है।'[३४] किंतु डा० अंबाप्रसाद का यह मत तर्क संगत नहीं है। गोस्वामी जी ने 'कदँब' शब्द का प्रयोग वृक्ष विशेष और समूह दोनों अर्थों में किया है। वृक्ष विशेष अर्थ में --

सफल पूगफल कदलि रसाला ।
रोपे बकुल कदँब तमाला ।।[३५]

---

३१. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २४३

३२. अमर० २।५।४०

३३. अभिज्ञान शाकुन्तलम् २।६

३४. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ३९-४०

३५. मानस १।३४४। ७

कदलि कदंब सुचंपक, पाटल,पनस रसाल ।।[३६]

'समूह' अर्थ में --

भागे जंजाल विपुल,दुख - कदंब टारे ।[३७]

खेती बनिजन, भीख भलि, अफल उपाय कदंब ।

कुसमय जानब बाम विधि , रामनाम अवलंब ।।[३८]

उक्त व्याख्येय अर्धाली में छन्दानुरोध के कारण 'कदंब' को 'कदंबा' कर दिया गया है । 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से 'कदंब' का अर्थ यहाँ समूह या समुदाय ही तर्कसंगत प्रतीत होता है । अधिकांश टीकाकारों ने भी इसका अर्थ बहुत से उपाय, अनेक उपाय किया है । यहाँ पर समूह अर्थ में प्रयुक्त 'कदम्ब' शब्द कूटोन्मुखी है ।

<u>करारा</u> --

असगुन मोहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ।।[३६]

'करारा' का पहला प्रचलित अर्थ है -'नदी का वह ऊँचा किनारा जो जल के काटने से बनता है ।' गोस्वामी जी ने इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है --

लखन दीख पय उतर करारा,[४०]

सो प्रभु स्वं सरिता तरिबे कहँ मांगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े ।[४१]

दूसरा प्रचलित अर्थ-भयंकर-कहा है । इसी भ्रम के कारण संतसिंह पंजाबी जी ने इसका अर्थ किया है - करार कही भयानक जीव बोलते हैं ।[४२] आप्टे ने करट: (निरति

----

३६. गीता० २।४७।४

३७. वही १।३६

३८. रामाज्ञा० ७।५।३ और कुदत कबंध के कदंब बंब सी करत । कवित्त० ६।४८

३६. मानस २।१५७।४

४०. कवित्त० २।५

४१. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २४६

४२. मानस १।३०३।३

मंदम्-कृ+अटन्) का तीसरा अर्थ-'कौवा' और करटक: (करट+कन्) का पहला अर्थ 'कौवा' लिखा है।[३७] 'करटक: से 'करारा' का विकास इस प्रकार हो सकता है - करटक प्रा० करउअ करउअ करआ करारा। गोस्वामी जी ने 'करटा' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है --

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।।[३८]

सुखेत में काक के उपस्थिति को शुभ शकुन कहा गया है --दाहिन काग सुखेत सुहावा।[३९] अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - (भरत जी के)अयोध्या में प्रवेश करते समय अपशकुन हो रहे हैं। कौवे अपवित्र स्थानों में बुरी तरह (काँव-काँव की) रट रहे हैं।' स्थान या देश का उल्लेख होने से देश अर्थ-निश्चय के साधन से करारा का अर्थ कौवा ही होगा, क्योंकि अपवित्र स्थानों में उसका रहना प्रसिद्ध है। 'यहाँ करारा का अर्थ काक सरलता से बोधगम्य नहीं होता। अत: इस अर्थ में करारा का प्रयोग कुटोन्मुखी ही कहा जायगा।

सकल-सकल

राम सैल बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकलदुख नाहीं।।[क]

दूसरा 'सकल' अस्पष्ट लगने के कारण विनायक राव जी,[ख] ज्वालाप्रसाद जी[ग] और पंजाबी जी ने[घ] कतहुँ पाठ कर दिया है -- जहँ सुख सकल कतहुँ दुख नाहीं।। 'सकल' (कलया कलेन सह वा) का बहुप्रचलित अर्थ है, १. भागों सहित, २. सब समस्त, पूरा, पूर्ण।[ङ०] हरिहरप्रसाद जी[च] विजयानंद त्रिपाठी जी,[छ] श्रीकांतशरणजी[ज]

---

३७. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २४६

३८. रामाज्ञा० ३।१।५

३९. मानस १।३०३।३

क. मानस २।२४८।५

ख. रामा०वि०टी०,पृ० ३७२

ग. सं०टी०पृ० ६६७

घ. मा०पा०,पृ० २६३

ङ०. दे० संस्कृत हिन्दीकोश, आप्टे, पृ० १०५५

च. रा०परि०परिशिष्ट प्र०पृ० १४१

छ. वि०टी०,पृ०३६१

ज. मानस,सि०ति०,पृ० १३६३

पोद्दार जी,[भ] और पीयूषकार[ट] आदि ने इसी आधार पर 'सकल' का अर्थ किया है कि -'जहाँ सभी सुख है और सभी (सम्पूर्ण, सब के सब) दुख नहीं है।' आप्टे ने 'सकल' (शकुन+कलक्) शब्द का अर्थ भाग, अंश, हिस्सा, टुकड़ा, खंड किया है।[ट] मुद्राराक्षस में इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है -- 'उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां'[ठ] मानक हिन्दी कोश में भी इसका यही अर्ध खंड, टुकड़ा किया है। प्रसाद ने इसी अर्थ में एक स्थान पर इसका प्रयोग किया है -- पंचभूत का भैरव मिश्रण, शम्पाओं केशकल निपात।[ड] गोस्वामी जी ने भी यहाँ दूसरे 'सकल' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- (सभी अयोध्यावासी) श्रीरामचन्द्र जी के पर्वत (चित्रकूट कामदगिरि आदि) और वन को देखने जाते हैं जहाँ सभी सुख है और दुख का अंश भी नहीं है अर्थात् कुछ भी दुख नहीं है।' प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ यह अर्थ तर्कसंगत भी प्रतीत होता है।

रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'सकल' शब्द को संस्कृत का 'शकल' शब्द स्वीकार करके यही अर्थ किया है।[ढ] ग्राउस महोदय ने भी 'विपत्ति कुछ नहीं थी' ऐसा अर्थ किया है।[ण] अवधविहारीदास[त] शुकदेवलाल जी[थ] और श्यामसुन्दरदास जी[द] को चाहे संस्कृत शब्द 'शकल' का ध्यान न रहा हो, किंतु अर्थ 'कोई (भी) दुख नहीं है'

भ. मानस, पृ० ५३२

ट. मा०पी०, अयो० पृ० ८८४

ट. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ९९६

ठ. मुद्रा० ३।१५

ड. मानक हिन्दी कोश, पृ० १३७

ढ. मानस, पृ० ६४६

ण -कुँवर आल माज गुड एंड नाट (Nought) इ विल, द रामा० आव् तुलसी, पृ० २६३

त. मानस, पृ० ६१५ थ. रामा०, पृ० १३०

द. मानस, पृ० ५७२

उचित ही किया है। यहाँ पर दूसरे सकल शब्द का अर्थ सरलता से पकड़ में नहीं आता। अतः इसे कूटार्थी शब्द कहा जा सकता है।

<u>समन</u>

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना ॥[४०]

समन (संस्कृत शमन) का सामान्यतया अर्थ है - शान्त या नाश करने वाला। उदाहरणार्थ - मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥[४१]

जय राम रमा रमनं समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं।[४२]

अमरकोश में यम के पर्यायवाची शब्दों में एक पर्याय शमन भी दिया है --

धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट्।

कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यम राड्यमः ॥[४३]

मानक हिन्दी कोश में भी शमन- पुं० (सं० शम (शान्त होना) + ल्युट- अन) का तृतीय अर्थ यम दिया है।[४४] उक्त अर्धाली में भी समन शब्द का यही अर्थ है। अतएव पूरी अर्धाली का अर्थ होगा- (कागभुसुंडि जी गरुड़ जी से कहते हैं कि --) हे हिरण्य या गरुड़ जी! सुनिये - (जो रघुबीर से विमुख है) उसके लिए माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विष के समान हो जाते हैं। यमराज अर्थ में समन शब्द का प्रयोग एक स्थान पर और हुआ है --

प्रभु अगाध सतकोटि पताला। समनकोटि सत सरिसकराला ॥[४५]

प्रकरण नामक अर्थ निश्चय के साधन से इसका यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। यहाँ पर समन शब्द का यमराज अर्थ में पकड़ बड़ी कठिनाई से आता है। अतः समन कूटोन्मुखी शब्द है।

---

४०. मानस ३।२।६

४१. मानस ५।१६।७

४२. मानस ७।१४ छन्द १

४३. अमर० १।१।५८

४४. दे० मा० हि० पृ० १४५

४५. मानस ७।९२।१

कुठारी

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी । परिजन सहित संग निज नारी ।।
सादर जनक सुता करि आगे । एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ।।[४६]

'कुठार' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ - कुल्हाड़ी और परशु, फरसा है । गोस्वामी जी ने इन्हीं अर्थों में 'कुठार' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है ।उदाहरणार्थ-

कुल्हाड़ी अर्थ में --

जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ।।[४७]
जननी जीवन बिटप कुठारू ।।[४८]

परशु, फरसा अर्थ में --

धनु सर कर कुठारु कल कांधे ।।[४९]
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू ।।
व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ।।
रामकथा कलि बिटप कुठारी ।[५०]

मानस-मयंककार को छोड़कर मानस के प्राय: सभी टीकाकारों- ज्वाला प्रसाद जी,[५१] रामचरणदास जी,[५२] विनायकराव जी,[५३] विद्यानंद त्रिपाठी जी,[५४] श्रीकांतशरण जी,[५५] रामनरेश त्रिपाठी जी, पोद्दार जी, श्यामसुन्दरदास जी,[५६] ग्राउस

---

४६. मानस ६।२०।७
४७. मानस २।३४।६
४८. वही २।१८६।८
४९. वही १।२६८।८
५०. वही १।२७३।२ और ८, १।११४।
५१. रा०परि०परिशिष्ट प्र०पृ० १६
५२. रामा०,पृ० १०१५
५३. वि०टी०,पृ० ४७
५४. वि०टी० पृ०भा०पृ० २१८
५५. मा०सि०ति०पृ० २०८५
५६. दे०क्रमश: मा०स०,पृ० ६३८, पृ० ७५७ और पृ० ८३६ ।

महोदय,[५७] और श्री अवधबिहारीदास[५८] ने कुल्हाड़ी अर्थ किया है।

रामचरितमानस के अर्थ के विशेषज्ञ पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी 'कुठारि' शब्द के तात्त्विक अर्थ की छानबीन करते हुए लिखते हैं कि -- "यहाँ अंगद रावण से राम के शरणागत होने की बात कह रहे हैं। जो किसी की शरण में होने का निवेदन करता है वह शरण्य के सामने अपने को दीन पशु के रूप में उपस्थित करता है। दांतों में तृन या घास पकड़ने से इसी की सूचना मिलती है। कहीं-कहीं केवल एक ही संकेत पर्याप्त होता है पर दांतों से तिनका पकड़ने की अपेक्षा सबसे अधिक प्रचलित संकेत गले में पगड़ी, दुपट्टा या कपड़ा लपेट लेना रहा है। अपभ्रंश में केवल गले में पगड़ी लपेटने की बात निम्नलिखित छन्द में कही गयी है--

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः
शत्रुं पाडि लुटालि तोड़ि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः।
झूठे गर्व भरा मघालि (?) सहसा रे कन्त मेरे कहे
कण्ठे पाग निवेश जाह शरणं श्री मल्लदेवं विभुम्॥

यहाँ गले में या गले के चारों ओर कपड़ा लपेटने की बात भाव कहना चाहता है क्योंकि वही सबसे मुख्य संकेत परंपरा में चला आ रहा है। पर कंठ कुठारी का अर्थ मानस की परंपरा में सभी टीकाकारों ने कंठ में कुठार लटका लो किया है। 'गहहु' का अन्वय एक ओर तृनु से और दूसरी ओर 'कुठारी' से किया गया है। 'दांत से तृण पकड़ो और गले में कुठारि लटकाओ।' 'गहहु' शब्द का अर्थ पकड़ो तो हो सकता है पर 'लटकाओ' खींचतान है। जान पड़ता है कि रामचरितमानस की परम्परा में बहुत आरंभ से ऐसा ही समझ लिया गया। जो किसी की शरण में जाता है वह अपनी रक्षा की के लिए जाता है, मैं शरण में हूँ, चाहे मारो या छोड़ो का विकल्प वहाँ नहीं रहता अर्थात् शरणागत अपनी ओर से विकल्प नहीं देता। इसलिए संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि कहीं भी शरणागत होने वाले ने न तो

---

५७. मुट एट्ट्रा किटबीन योर टीथ एंड सन एक्स टू योर थ्रोट व --
द रामा० आव तुलसी०, पृ० ४३२

५८. मानस, पृ० ८८४

गले में कुठारी लटकाएँ और न किसी ने किसी को शरणागत होने के लिए ऐसी नेक सलाह दी । पर तुलसीदास ने इस चौपाई के 'कंठ कुठारी' का अर्थ गले में कुठारी लटकाना मानस की परम्परा में कुछ पहले से हो गया । इसका फल यह हुआ कि केवल टीकाकार ही नहीं अन्य लोग भी शरणागत के लिए गले में कुल्हाड़ी बाँधने की बात कहने लगे । जैसे भक्तिरस बोधिनी के निम्नलिखित कवित्त में —

> कही राजा रानी सों जो बात यह सांच भई,
>
> आँच लागी हिए अब कहीं कहा कीजिए ।
>
> चले ही बनत चले सीस तृन बोझ भारी
>
> गरे सों कुल्हारी बाँध लिया संग भीजिए ।
>
> निपसे ख्वार ह्वै के हारि दई लोक लाज
>
> ख्यौ में अकाज छिन छिन तन छीजिए ।
>
> दूर ते कबीर देखि ह्वै गये अधीर महा,
>
> आए उठि आगे कह्यौ डारि मत दीजिए ।।

वास्तविकता यह है कि 'कंठकुठार' शब्द अवधी भाषा का विशेष शब्द है । इसके अर्थ तो कई हैं पर सभी अर्थों का सम्बन्ध गले के चारों ओर किसी वस्तु से कुछ बना लेने या होने से अवश्य है । पशुओं के गले में काठ का जो ठोंक लगाया जाता है उसे भी कंठ कुठार कहते हैं । ऐंठे हुए वस्त्र से गला बाँधने को जैसा पुराने समय में बंट मार किया करते थे, कंठ कुठार कहते थे । गले में सटा हुआ फाँसरी की तरह वस्त्र कंठ कुठार कहलाता है । महामना मालवीय जी जिस प्रकार अपना दुपट्टा गले के चारों ओर लपेटे रहते थे उसे कंठ कुठार कहते हैं । इसलिए 'कंठ कुठारी' विशेषण है और उसका अर्थ है कंठकुठारी होकर । पूरे चरण का अर्थ होगा कंठकुठारी होकर, गले के चारों ओर वस्त्र लपेटकर, दाँतों से तृण पकड़ लो । इसके द्वारा यह सूचित करो कि मैं आपकी शरण में हूँ । शरणागत होने में पशुत्व अपने दैन्य व्यक्त करना दांत में तृण धारण करने से पूर्ण पूरा व्यक्त नहीं हो पाता । इसलिए गले के चारों ओर कपड़ा लपेट लेने से पशु के गले में पड़े हुए गिराँव की भी योजना अधिक स्पष्टता के लिए वांछित होती है ।

अर्थ करने वालों का काम गले में कुल्हाड़ी बाँधने से भी हो जाता है ।

पशु बेचारा तो दाँतों से तिनका भले ही पकड़ ले पर गले में कुल्हाड़ी नहीं बाँध सकता । हाँ, मनुष्य पशुत्व का प्रदर्शन करे तो अवश्य कर सकता है । पशु के गले में गिराँव तो पड़ा ही रहता है और वह पगहे से खूँटे में बँधा रहता है । कंठ कुठारी का जो अर्थ मानस की परम्परा में होता आया उसमें कोई बाधा नहीं हुई । किसी को कभी कोई आपत्ति तक नहीं हुई, केवल पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जब पुरानी हिन्दी शीर्षक निबंध लिख रहे थे तब उन्होंने उपर्युक्त चौपाई को दुपट्टा लपेटने के अर्थ में उद्धृत किया है । मानस की टीकाओं को उन्होंने देखा तो वे या तो उसका खंडन करते या उनकी बात मानकर इसका उद्धरण ही न देते । कंठ कुठार शब्द इस अर्थ में कैसे बना, उसकी व्युत्पत्ति क्या है, यह सब विचारणीय अवश्य है । पर इसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है । यहाँ तो इतना ही बतलाना प्रयोजन है कि 'कंठकुठार' शब्द भारतीय परम्परा के बहुत पुराने व्यवहार को सूचित कर रहा है अर्थात् यह शब्द जितना सरल समझा गया है उतना है नहीं । इसके द्वारा सारी परम्परा का द्योतन होता है ।

जन व्यवहार में आने वाले बहुत से शब्द विशेष अर्थ लिए हुए होते हैं । जो जनभाषा से परिचित होता है वह उसका ठीक अर्थ जानता है और उसी अर्थ में उसका व्यवहार करता है । तुलसीदास संस्कृत भाषा से जितने परिचित थे उतने ही जनभाषा से भी इसलिए उन्होंने जनभाषा के शब्दों का ठीक व्यवहार किया है । हम उसका अर्थ न जानें तभी कठिनाई होती है ।[५६]

मैं डा० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के मन्तव्यों से पूर्णरूपेण सहमत हूँ । उक्त मिश्र जी के उद्धरण में रेखांकित पंक्तियाँ अधोलिखित मानसमयंककार के अर्थ से ज्यों की-त्यों मिलती हैं —

छेदे कंठ कुठार है, ऐंठे वस्त्र मरोर ।
काको कंठ कुठार है, तिन्ह में वस्त्र कुठोर ।।११६।।

मयंककार कहते हैं कि कंठ कुठार गला छेदने वाले कुठार को कहते हैं पुनः ऐंठे हुए वस्त्र से गला बाँधने को कंठ कुठार कहते हैं और काठ के तौक (जो गाय,बैल के गले

---

५६. सरस्वती विशेषांक,सं० श्रीनारायण चतुर्वेदी,डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख, पृ० १२६-२७ ।

में डाला जाता है) को कंठ कुठार कहते हैं। पुनः वस्त्र को गले में फाँसरी सरीखे बाँधने को भी कंठकुठार कहते हैं।। (एवं प्रकार युक्त कंठ कुठार धारण करो । [६०])
मिश्र जी ने जो कहा कि "कंठ कुठार के कई अर्थ हैं" मयंककार ने उक्त कई अर्थ दिया भी है। किन्तु आश्चर्य है उन्होंने मयंककार का कहीं भी किंचित उल्लेख नहीं किया। कवितावली में मंदोदरी रावण से राम के समक्ष शरणागत होने के लिए केवल "दाँतों तले तिनका दबाकर" चलने के लिए कहती है —

> कंत ! पुन दंत गहि सरन श्रीरामहिं,
>
> > कहुँ यहि भाँति लै सौंपु सीता ।।[६१]

जायसी ने केवल "पगड़ी" बाँधकर" विनय करने की बात कही है —

> विनति कीन्ह घालि गियँ पागा ।
>
> ऐ जग सूर सीउँ मोहि लागा ।।[६२]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में लोग दाँतों तले केवल तिनका दबाकर" और" केवल गले में पगड़ी को बाँधकर शरणागत होने के लिए जाते थे। कभी-कभी दाँतों तले तिनका दबाकर और गले में पगड़ी भी बाँधकर दोनों स्थितियों में शरणागत के हेतु जाते थे। जैसा कि उपर्युक्त व्याख्येय अर्धाली में गोस्वामी जी ने प्रयोग किया है। स्वएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा —

(अंगद जी रावण से कहते हैं कि —) "दाँतों से तृण पकड़ लो, गले के चारों ओर वस्त्र लपेट कर कुटुम्बियों सहित अपनी स्त्रियों के साथ श्री जानकीजी को आदरपूर्वक आगेकर इसप्रकार सब भय त्याग कर चलो।"

"युक्तार्थसंगतता" नामक अर्थ-निर्णय के साधन से यही अर्थ निश्चय होता है। "कुठारि" शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग बिल्कुल अप्रचलित होने के साथ ही बड़ी कठिनाई से बोधगम्य होता है। अतः इसे कूट प्रयोग के सदृश कह सकते हैं।

----

६०. मा०मं०, बा० इन्द्रदेवनारायण, पृ० ५१५-१६

६१. कवित० ६।२७

६२. पद्मावत, पृ० ४६६

किन

कवच कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे ।।[६३]

"किन" शब्द "किस" के बहुवचन "किसने" के अर्थ में प्रसिद्ध है । क्रिया विशेषण रूप में इसका अर्थ क्यों न, क्यों नहीं है । इसी आधार पर मानसपीयूषकार कहते हैं कि "मेरी समझ में इसके अर्थ में किसी प्रकार के खींचतान की आवश्यकता नहीं है । "किन" का साधारण अर्थ "किसने" सभी जानते हैं । इस प्रकार यहाँ सरलता से यह अर्थ हो जाता है कि कांटे किसने प्राप्त किये ? अर्थात् आपके अतिरिक्त देव-मुनि इत्यादि के लिए वन-वन फिर कर कांटे सहना इत्यादि क्लेश किसी ने नहीं उठाये । दूसरे "किण" संस्कृत शब्द है उसके अनुसार भी अर्थ ठीक बैठता है और भा० ६।११।१९ के अनुकूल है । वहाँ शुकदेव जी कहते हैं कि प्रभु ने अपने उन कल्याणकारी चरणों को भक्तों के हृदय में स्थापित किया जिनमें दण्डकारण्य के कांटे, कंकड़ आदि गड़े थे -- "स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः । स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः ।।" - विप में वही भाव है ।" इस प्रकार अंजनीनंदनशरण जी ने अर्थ किया है - "आपको छोड़ और किसने कण्टकवन में फिरकर कांटे प्राप्त किये ? अर्थात् आपके सिवा किसी चक्रवर्ती ने ऐसे कष्ट नहीं झेले । एवं जिन चरणों में वन में फिरते समय घाव हो गये थे ।"[६४] स्पष्ट है कि "किन" शब्द के "किसने और घाव" दो अर्थ पीयूषकार ने किये हैं । इस प्रकार यह अर्थ निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता । श्रीकान्तशरण जी ने कुछ पीयूषकार के प्रथम अर्थ को स्वीकार किया है ।[६५]

श्रीरामचरणदास जी "कंटक किन लहे" के दो प्रकार से अर्थ करते हैं -- (अ) वे वन वन में फिरते समय "कंटकों" अर्थात तामसी जीव, कुश, कंटक, सर्प, बिच्छू वनचर कोल भील इत्यादि अनेक जीवों को प्राप्त हो गये ।

---

६३. मानस ७।१३। छन्द १५

६४. मा०पी०उ०र०,पृ० १०२ - १०९

६५. मानस सि०ति० उ०कां०,पृ० २४३६

(ख) जो ब्रह्मादि को दुर्लभ है वे पद भक्तों के हितार्थ वन में फिरते हुए कंटकों से क्लेश को प्राप्त हुए - यह आपकी कृपालुता है।[६६] इस प्रकार "कंटकिन" एक तो एक शब्द माना गया और उसका अर्थ हुआ "कंटकियों" कंटकी जीवों ने, दूसरे किन का अर्थ क्लेश हुआ। महावीरप्रसाद मालवीय जी का अर्थ रामचरणदास जी के प्रथम अर्थ से मिलता है। मालवीय जी के अनुसार "जिन चरणों को कंटकियों अर्थात् कांटों में रहने वाले कोल भीलों ने पायी।[६७]

ज्वालाप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि - "जिन चरणों में वन में फिरते समय कांटे गड़ गये हैं।[६८] ग्राउस महोदय ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है - "जिन चरणों में वन में भ्रमण करते समय कठोरता से कंटक चुभ गये थे।"[६९] शुकदेव लाल जी[७०] और रामेश्वर भट्ट जी ने[७१] इसका अर्थ किया है कि - "और वन में फिरते फिरते जिन्होंने कांटों और कंकड़ों तक को क्या नहीं अपना लिया अर्थात् उनका भी उद्धार कर दिया ऐसे आपके दोनों चरण-कमलों का हम नित्य भजन करते हैं।" विनायकराव के अनुसार जिन्हें वन वन फिरते समय किसी किसी नीच प्राणी ने भी पा लिया है। (जैसे शबरी किरात, भील, कोल, वानर आदि)।[७२]

मानस मयंककार लिखते हैं -

लहै न कंटक फल कमला कंटक मो गतिपाव।
कठिन भूमि इत्यादि को, उत्तर इहाँ दिखाव ।। १३३

अर्थात् कोमल चरण से कंटक में चलने पर भी अणुमात्र कंटक का फल नहीं लगा यह "कठिन भूमि कोमल पद गामी।" का उत्तर है यह श्रीरामचन्द्र की ऐश्वर्यता है जिसको हनुमानजी ने जानकर ऐश्वर्यता जाना था उसी ऐश्वर्यता को वेद कहता है ।।[७३]

---

६६. सुमा०, पृ० ११८३

६७. मानस, पृ० १२१०

६८. रामा० पृ० ११२९

६९. सोरली पियर्स्ड लार्ड द थार्न्स हर्टिंग थाई वन्डारिंग्स इन द फारेस्ट,

७०. रामा०, पृ० १३   द०रामा०भाव० तुलसीदास, पृ०५०४

७१. रामा०, पृ० १०६३   ७२. वि०टी०, पृ० ४३

७३. मा०मं०वा० इन्द्रदेवनारायण, पृ० ६२९

रेखा की अर्थ विजयानंद त्रिपाठी जी ने किया है - "ध्वज, वज्र, अंकुश और कमल ये युक्त किन चरणों में वन में फिरते हुए काँटे चुभे हैं ? अर्थात् कोई नहीं ।[74] वंदन पाठक जी, पं० रामकुमार जी[75] और अवधविहारीदास जी[76] ने किन का अर्थ 'घाव' किया है। श्यामसुन्दर दास जी ने भी 'भ्रामक' अर्थ किया है। - काँटों की नोक रह गई है (या चलते चलते घट्ठे पड़ गये हैं)।[77]

रामश्याम जी ने 'किन' का अर्थ न लगा सकने के कारण 'चिन' पाठ कर उद्धृत किया है।[78] उपर्युक्त अर्थों को देखने से पता चलता है किसी ने भी 'किन' का निर्भ्रान्त अर्थ नहीं किया है। कतिपय टीकाकारों ने तो 'किन' शब्द को छोड़ दिया है, उसका अर्थ ही नहीं किया।

वास्तविकता यह है कि किन, सं० किण: (कण् + अच् पृषोदरादित्वात् इत्वम्) शब्द है जिसका अर्थ है घट्ठा।[79] अभिज्ञान शाकुंतल में इसी अर्थ में इसका प्रयोग है --

शाख्यसि किणभुजौ मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क०कःति ।।[80]

हिन्दी शब्द सागर और तुलसी शब्दसागर में चुभने या रगड़ लगने का चिह्न अर्थ किया है।[81] बृहत् हिन्दी कोश में भी 'घट्ठा' अर्थ दिया है।[82] रामनरेश त्रिपाठी जी 'किन' शब्द का अर्थ 'घट्ठा' करते हुए लिखते हैं कि कालर्मदार-स्तोत्र में भी किण का अर्थ 'घट्ठा' किया गया है -

---

74. मानस वि०टी०, तृ०भा०, पृ० ३१-३२
75. मा०पी०, उत्तर, पृ० १०२
76. मानस, पृ० १०३१
77. मानस, पृ० ९८६
78. रामा०, उत्तर०, पृ० १४
79. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७५
80. अभिज्ञान शाकुंतलम् १।१३
81. दे० क्रमश: पृ० ५६१ और पृ० ८७
82. दे० पृ० २७७

शरासन ज्याकिणाकर्कशैः शुभैः
चतुर्भिराजानु विलम्बिभिर्भुजैः ।
प्रियापर्तसोत्पलकर्णभूषणैः
श्लथालकाबन्धविमर्द शंसिभिः ।।[८३]

पोद्दार जी[८४] और तुलसीग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[८५] ने भी किन का अर्थ "घट्ठा" किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा - "जिन चरणों में ध्वज, कुलिश अंकुश और कमल के चिह्न हैं और जिन चरणों में वन में भ्रमण करते समय कांटों के चुभने से घट्ठे पड़ गये हैं, उन मुक्ति-दाता दोनों चरणकमलों को हे राम। हे रमापति हम तर्कसंगत सर्वदा भजते रहते हैं"। "युक्तिसंगतता" अर्थ निश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत है। किन शब्द का अर्थ "घट्ठा" दुर्बोध होने के कारण कूटार्थी कहा जा सकता है।

दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस सबै

सरजु बरतीरहि तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर, सखा अरु बीर सबै ।
धनुही कर तीर निषंग कसे कटि,पीत दुकूल नवीन फबै ।।
तुलसी तेहि अवसर लावनिता दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस सबै ।
मति-भारति पंगु भई जो निहारि,बिचारि फिरी उपमा न पबै ।।[८५]

गोस्वामी जी के उपर्युक्त संख्याओं की शब्द क्रीड़ा में कवितावली के प्रायः सभी टीकाकारों ने अपनी सारी बुद्धि लगा दी है, किन्तु किसी का भी अर्थ निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ तीन तरह से किया है --

(१) तेहि अवसर की सोभा दसौ आमल, चारों उपवेद नवो व्याकरन और वेदत्रयी इतने में बिचारे।। औ रकीसौ ब्रम्हांड में निहारे अंजउपमा न पाये तब सरस्वती (की मति पंगु भई है) - देवगन औ ब्रम्हादि त्रिदेव सबते रकीस देखि बिचारमति भारती पंगु भई औउ अस- कता (२) चौदहो भुवन नवो खंड तीनों लोक औ रकीसो ब्रम्हांड निहारि बिचारि[८६] ।

---

८३. मानस,पृ० १०   ८४. मानस,पृ० ८८३
८५. पृ० सं०, अ०भा० वि० परि०,काशी, पृ० ६२६   ८५. कविता० १।७
८६. कवित ० पृ० ५

बैजनाथ जी[८७] देवनारायण द्विवेदी जी,[८८] चन्द्रशेखर शास्त्री जी,[८९] ना०प्र०सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादकों,[९०] और अखिल भारती विक्रम परिषद से प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक[९१] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है --

"दस-माधुर्य के दस गुण -- रूप लावण्य,सौंदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, यौवन, सुगंध, सुवेश, भाग्य, स्वच्छता, उज्ज्वलता ।

चार --प्रताप के चार गुण : -- ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, बल ।

नौ - ऐश्वर्य के नौ गुण :-- अद्भुतता, नियतात्मता, वशीकरण, वाग्मित्व, सर्वज्ञता ,संहनन, स्थिरता, वदान्यता ।

तीन --सत्व या प्रकृति के तीन गुण --सौम्यता, रमण, व्यापकता

इकीस-न्यण के इक्कीस गुण --सुशीलता, वात्सल्य, सुलभता, गंभीरता, क्षमा, दया, करुणा, आर्द्रव, उदारता, आर्जव, शरण्यत्व, सौहार्द्र, चातुर्य, प्रीतिपालकत्व, कृतज्ञता, ज्ञान, नीति, लोकप्रियता, कुलीनता, अनुराग, निर्वहणता (लोक-विजयी होना) ।

इन्द्रदेवनारायण इसका अर्थ करते हैं कि --" श्री शारदा की मति उस समय की सुन्दरता की उपमा चौदहों भुवन, नवों खंड, तीनों लोक और इकीस ब्रह्मांडों में जब विचारपूर्वक खोजने पर भी नहीं पा सकी तब कुंठित हो गयी । पाद-टिप्पणी में यह अर्थ दिया है --"उस समय शोभा की उपमा पाने के लिए शारदा दसों यामल-तंत्र, चारों उपवेद, नवों व्याकरण, वेदत्रयी और इक्कीस ब्रह्मांडों में सर्वत्र फिरी परन्तु उन सबको देख और विचारकर भी उसकी बुद्धि कुंठित हो गयी । अर्थात् उसे उस शोभा के योग्य कोई भी उपमा नहीं मिली । यह अर्थ हरिहरप्रसाद जी का प्रथम

---

८७. कविता०, पृ० १७-१८

८८. कविता०,पृ० ६

८९. ,, पृ० १२-१३

९०. कविता० पृ० १३२

९१. वि०ख०,पृ० १६२

गर्थ है ।[६२] ग्रन्थवाची अर्थों की श्रृंगार में स्थानवाची अर्थ देना दोषपूर्ण है ।
श्रीकान्तशरण जी ने इसका अर्थ किया है — श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सरस्वती
की बुद्धि ने उस समय की सुन्दरता की उपमा चौदहों भुवनों, नवों खण्डों और तीनों
लोकों में विचारपूर्वक देखा तो सबसे बढ़कर ही पाया । सब देखने पर भी जब उपमा
नहीं पा सकी, तब वह लौट पड़ी और फिर पंगु (ढूंढने की गति से रहित) हो
गई ।"[६३] चम्पाराम मिश्र जी ने इसका अर्थ किया है - "दस-दिशा, चारि-चारयुग,
नौ - नौ खंड, तीन- तीनों काल । इक्कीस- ७ लोक, १४ भुवन । हरिहरप्रसाद जी
के द्वितीय अर्थ से प्रभावित होकर लाला भगवानदीन जी[६४] और डा० माताप्रसाद
गुप्त[६५] ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है - "तुलसीदास कहते हैं कि उस समय की
जमात की सुन्दरता देखकर सरस्वती उपमा खोजने लगी और देखें दिग्पालों ,चारों
चतुर्व्यूहियों (कृष्ण, बलराम,प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) नवों अवतारों (मत्स्य,कच्छपादि,रामा-
वतार को छोड़कर) और तीनों देवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की जमातों से राम की
जमात की शोभा सबसे इक्कीस (बढ़कर) पाई ।" हरिहरप्रसाद जी का अर्थ अनेकार्थ-
प्रधान है । कौन-सा अर्थ उनको मान्य था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता ।
आधुनिक समस्त टीकाकार उनसे प्रभावित लगते हैं । ब्रजनाथ जी और सभा के सम्पा-
दकों का अर्थ भी तर्क संगत नहीं लगता । माधुर्य के गुणों को छोड़कर प्रताप,ऐश्वर्य,
प्रकृति और यश के गुणों में कोई लावण्य का आभास नहीं होता । यह अर्थ पाण्डित्य
पूर्ण है । चौदह भुवनों के अन्तर्गत ही तीन लोक और नौ खंड आ गये । अतः नौ
और तीन का अर्थ नौ खंड और तीन लोक करने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है ।
भुवन लोक और खंडों के क्रम से देखने में बिल्कुल असंगत नहीं कहा जा सकता तथापि यह
अर्धपूर्णरूपेण ग्राह्य भी नहीं है । यामल, तंत्र चारों उपवेद,नवो व्याकरण, वेदत्रयी
में लावण्य छिपा नहीं है । अतः इन्द्रदेवनारायण के इस अर्थ को भी स्वीकार करने
में संकोच होता है । यदि सभी संख्याओं का अर्थ ग्रन्थवाची ही जाय, तो इसे ग्रहण
किया जा सकता है किन्तु इक्कीस का ग्रन्थवाची अर्थ कहीं नहीं प्राप्त होता ।

----

६२. कवितां०,पृ० ५

६३. कवितां० सि०ति०,पृ० ११

६४. कवितां०,पृ० ५

६५. वही,पृ० ६६

इसी प्रकार श्रीकांतशरण जी का अर्थ असंगत प्रतीत होता है ।

चौदह भुवनों जिसमें नवों खंड और दसों दिशायें आ गयीं । तीनों काल में चार युग भी आ गये । अत: चम्पाराम मिश्र जी का यह अर्थ भी ग्रहणीय नहीं है ।

लाला भगवानदीन जी और डा० माताप्रसाद गुप्त जी का अर्थ, जिसका समर्थन डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने भी किया है[९६] भी निर्दोष नहीं है । क्योंकि लाला भगवान दीन जी स्वयं कहते हैं कि -- हमने जो अर्थ किया है उसमें कालदोष है अवश्य पर साहित्यिक दृष्टि से हमें वही जंचता है ।[९७] "नौ" का अर्थ नौ अवतार भी संगत नहीं प्रतीत होता है । मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह आदि अवतारों को स्वरूप की दृष्टि से सुन्दर कहना उचित नहीं है । ये अवतार कार्य विशेष के लिए थे । "स्वरूप" की दृष्टि से सुन्दर मात्र दो अवतार हैं -- राम और कृष्ण । अत: डा० मिश्र और डा० गुप्त का अर्थ भी असंगत प्रतीत होता है । मेरे विचार से उक्त अर्थों के अतिरिक्त दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है ।

दस चारि का अर्थ - चौदह भुवन । उपमा चौदह भुवनों में खोजने का उल्लेख स्वयं कवि ने किया है --

देखहु खोजि भुवन दस चारी । कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ।।[९८]

नौ और तीनि का अर्थ है बारह । सरस्वती, ब्रह्मा, पार्वती, महादेव, शेष, गणेश, लोमश, काकभुशुंडि, नारद, लक्ष्मी, विष्णु और हनुमान ये बारह देवी, देवता और मुनियों ने एक स्वर में यह घोषणा कर दी है कि राम के समान पुरुष नहीं है । नारद जी तो १४ भुवनों में देख आए हैं कि "राम" के समान कोई नहीं है । आश्चर्य है कि इसका उल्लेख उक्त व्याख्येय छन्द में आगे के नवीं घनाक्षरी में हुआ है । यथा--

बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही,
सही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिसो ।
चारिदस भुवन निहारि नर नारि सब,
नारद को परदा न नारद सो पारिखो ।।

----

९६. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २५०-२५२

९७. कवितां०, पृ० ६६

९८. मानस, २।११६।४

तिन कही जग में जगमगति जोरी एक,
दूजो को कहैया औ सुनैया चषचारसो
रमा रमारमन, सुजान हनुमान कही,
"सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिसो ।"[९९]

इसमें सारिख्स पुरुष शब्द भी आया है ।

"इकोसे" का अर्थ बढ़कर या श्रेष्ठतर[१००] है । अन्तिम पंक्ति का अर्थ होगा - "सरस्वती जिसकी बुद्धि भी (उन लोगों के साथ) कुंठित हो गयी थी उपमान को देखकर और यह विचार कर लौट आयी और कि राम की उपमा कहीं नहीं प्राप्त हुई । अन्य सब लोग तो अपने अपने स्थान पर चले गये । सरस्वती लौट आयी, क्योंकि सरस्वती जी वागधिष्ठातृदेवी, श्रुतियों, शास्त्रों की प्रष्ट्री और विद्वानों की श्रेष्ठ जननी हैं । विद्वान् लोग ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और गणेश आदि से उपमा न पूछ कर इन्हीं सरस्वती देवी से पूछते हैं । उपमाओं को ढूंढ़कर बताने का मुख्य कार्य इन्हीं का है -

देखि मनोहर चारिउ जोरी । सारद उपमा सकल ढंढोरी ।।
देत न बनहिं निपट लघु लागीं । एकटक रहीं रूप अनुरागीं ।।[१०१]

रामानिरूपम हैं भी -

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै ।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै ।।[१०२]

विद्वानों की भक्ति पर रीझकर सरस्वती जी दौड़कर आती है -

भगति हेतु विधिभवन बिहाई । सुमिरत सारद आवति धाई ।।[१०३]

यहां पर "जो निहारि बिचारि फिरी" से स्पष्ट होता है कि सरस्वती जी उस ~~सब~~ समाज को छोड़कर लौट आयीं थीं ।

पवै - शब्द संस्कृत प्रापण, प्राकृत पावण से विकसित है जिसका अर्थ है - प्राप्त हुई ।[१०४] पूरे छन्द का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है -

---

९९. कवितत० १।१६ | १००. दे० मानक हिन्दी कोश, प्र०खं०, पृ० ३०४
१०१. मानस १।३४६।७ | १०२. वही ७।९२। छन्द ६-१०
१०३. वही १।११।४ | १०४. दे० तुलसी शब्द सागर, पृ० २८२

"राम, उनके सखा और सब भाई सरयू के तट पर घूमते फिर रहे हैं। उनके हाथ में छोटे-छोटे धनुष-बाण हैं, कमर में तरकस कसे हैं और शरीर पर नवीन पीताम्बर सुशोभित है। तुलसीदास जी कहते हैं कि उस समय के लावण्य की उपमा सरस्वती, ब्रह्मा पार्वती, महादेव, शेष, गणेश, लोमश, काकभुशुंडि, नारद, लक्ष्मी, विष्णु और हनुमान ये बारह देवी, देवता और मुनि सभी ने चौदह भुवनों में देखी, किन्तु राम श्रेष्ठतर अर्थात् इक्कीस मिले। सरस्वती जिनकी बुद्धि भी कुंठित हो गयी थी, उपमान को देखकर और यह विचार करके लौट आयी कि राम की उपमा कहीं नहीं प्राप्त हुई।"

प्रकरण नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यह अर्थ तर्क संगत भी लगता है। काल दोष भी नहीं है एवं विशेष खींचतान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

इसके अर्थज्ञान में हमारी बुद्धि शीघ्र प्रवेश नहीं कर पाती अतः यह कूट प्रयोग है।

<u>हार</u>

कानन उजार्यौ तौ उजार्यौ न बिगारेउ कछु,
बानर बिचारो बाँधि आन्यौ हठिहार सों ।।[१०५]

"हार" शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है - पराजय। इसी आधार पर चम्पाराम मिश्र ने इसका अर्थ किया है कि "हठ जिससे हार गया (मेघनाद)"[१०६] किन्तु यहाँ यह अर्थ संगत नहीं है। हिन्दी हल से विकसित "हार का अर्थ है - खेत, चारागाह, "हार" देशज शब्द का अर्थ है - वन, जंगल।[१०७] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - (मंदोदरी कहती है कि) जंगल को उजाड़ा तो उजाड़ा, उसने कुछ बिगाड़ा नहीं था (क्योंकि वृक्षों की शाखाओं को तोड़ना तो बंदर का स्वभाव है), किन्तु इस बेचारे बंदर को वन से हठपूर्वक बाँधकर ले आए।"

----

१०५. कवितावली ५।११

१०६. कवितावली, पृ० ३६

१०७. मानक हिन्दी कोश प्र०खं०, पृ० ५४३

(लाला भगवान दीन जी, श्रीकांतशरण जी और देवनारायण त्रिवेदी जी ने वन ही अर्थ किया है।[१०८] चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने वाटिका अर्थ किया है।[१०९] 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से वन ही अर्थ निश्चित होता है। क्योंकि बंदर कानन को उजाड़ करके वहीं था और वहीं से मेघनाद बांधकर लाया था। यहाँ कार शब्द का जंगल अर्थ सरलता से नहीं ज्ञात होता। अतः इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है।

चारिहु को छहु को नव को दस आठ को

चारिहु को छहु को नव को दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यों फारे ।।[११०]

यहाँ चारिहु का तात्पर्य चारों वेद-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से है। छहु का अर्थ- छः शास्त्र -- सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) है। 'नव' का अर्थ है - नौ व्याकरण-इन्द्र, चन्द्रमा, काशकृत्स्न, शाकटायन आपिशलि, पाणिनि, अमर,जैनेन्द्र और सरस्वती। ये नौ इन्हीं आचार्यों के चलाये हुए हैं और इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।[१११]

दस-आठ का अर्थ है - अठारह पुराण-मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, भविष्यपुराण, भागवत पुराण, शिवपुराण,विष्णुपुराण,वाराहपुराण, वामन पुराण, ब्रह्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मांड पुराण, अग्नि पुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण, लिंग पुराण, गरुड़पुराण, कूर्मपुराण और स्कन्दपुराण।[११२]

१८ पुराण और ६ शास्त्र का उल्लेख रामायण की आरती में भी हुआ है

गावत वेद पुरान अष्टदस। छओ शास्त्र सब ग्रन्थन को रस।।

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा --चारों वेद, छहों शास्त्र, नवों व्याकरण का पढ़ना

१०८द्र० क्रमशः कविता० पृ० ४६, सि०ति० पृ० १०७ और पृ० ५७

१०९, कविता०,पृ० १६

११०, वही ७।१०४

१११, कविता०, टीकाकार चन्द्रदेवनारायण,पाठ टिप्पणी, पृ० १७०

११२, मा०पी०बाल० सं० १, पृ० ३७,वाक्य ८

ऐसा ही निष्फल है जैसे कुकाष्ठ को चीरना निष्फल होता है क्योंकि कुकाष्ठ कभी सीधा नहीं होता (उपयोगी नहीं होता)।" यह पूर्णरूपेण कूट-प्रयोग है।

अवन

सीय-सोच-समन, दुरित दोष दमन, सरन
आए अवन, लखन प्रिय प्रान सो ।।

'अवन' पुल्लिंग संस्कृत शब्द है जो अव (रक्षणा आद) + ल्युट अन' प्रत्यय लगा कर बना है जिसका अर्थ है रक्षण, बचाव।[११३] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा — (जो हनुमान जी) भी सीताजी के शोक का नाश करने वाले, पापों और दोषों को समाप्त करने वाले, शरणागत की रक्षा करने वाले और लक्ष्मण जी को प्राणों के समान प्रिय हैं।" 'अवन' शब्द का अर्थ-ज्ञान बिना कोश की सहायता से नहीं हो पाता। अत: इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है।

समाधि

व्याधि भूत-जनित उपाधि काहु खल की,
समाधि कीजे तुलसी को जानि जन फुर कै।[११४]

'समाधि' शब्द का बहु प्रचलित अर्थ - (१) ईश्वर के ध्यान में मग्न, होना, मन को ध्यानस्थ करने की स्थिति अथवा विधि, योग।

(२) मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना।

प्रथम अर्थ में कवि ने 'समाधि' का प्रयोग अन्यत्र किया है —

संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा ।।[११५]
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी ।।[११६]

उक्त पंक्ति के 'समाधि' का अर्थ तुलसी शब्दसागर के सम्पादक ने 'मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना' किया है। किन्तु यह अर्थ यहाँ बिल्कुल भ्रमपूर्ण और

---

११३. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६६

११४. बाहुक ४३

११५. मानस १।५८।८

११६. वही, १।६०।२

असंगत है।

हरिहरप्रसाद जी,[११७] श्रीकांतशरण जी,[११८] महावीरप्रसाद मालवीय,[११९] देवनारायण द्विवेदी जी,[१२०] श्रीअंजनीनंदनशरण जी[१२१] ने इसका अर्थ समाधान, मनको संदेह दूर करने वाली बात, शांत किया है। हिन्दी शब्दसागर में समाधि शब्द का आठवाँ अर्थ -- विवाद का अंत करना, झगड़ा मिटाना दिया है।[१२२] मानक हिन्दी कोश में इसका प्रयोग स्थानिक मान करके समाधान अर्थ किया है और उदाहरणस्वरूप यही पंक्ति प्रस्तुत की गयी है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- 'रोग भूत-प्रेत द्वारा उत्पन्न किया हुआ है यह उत्पात किसी दुष्ट ने किया है? अपना वास्तविक दास जानकर तुलसीदास का समाधान कीजिये।' 'समाधि' शब्द का प्रयोग यहाँ 'समाधान' अर्थ में कूटोन्मुखी कहा जायगा।

द्विजबंधु

वृत्र बलि बाण प्रह्लाद मय व्याध गज गृद्ध द्विजबन्धु निजधर्म त्यागी, साधुपद-सलिल-निर्धुत-कल्मष सकल, स्वपच यवनादि कैवल्य भागी।।[१२३] 'द्विज-बंधु' का शाब्दिक अर्थ है - 'ब्राह्मणभाई'। संस्कृत ब्राह्मण और क्षत्रिय के आगे 'बंधु' शब्द जोड़कर उनके 'अधमता' का बोध कराया जाता था। हिन्दी में ऐसी बात बहुत प्रचलित नहीं है। किन्तु संस्कृत में यह बहुप्रचलित था। हिन्दी में 'मिश्रबंधु' को बड़ी पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

वाचस्पत्यम कोश में 'ब्राह्मणान् बन्धून्' का अर्थ - 'व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्तः।' दिया है।[१२४] आप्टे ने अपने कोश में ब्रह्मबंधु का अर्थ दिया है --

---

११७. बाहुक, पृ० २८९
११८. वही सि०ति०,पृ० १८२
११९. वही, पृ० ३८
१२०. वही, पृ० ३६
१२१ वही पीयूषवर्षिणीटीका,पृ१७०
१२२. दे०पृ० ३४५७
१२३. विनय० ५७
१२४. दे० पृ० ४५९८

ब्राह्मण के लिए तिरस्कार सूचक शब्द, अयोग्य ब्राह्मण , जो केवल जाति से ब्राह्मण हो, नाम मात्र का ब्राह्मण ।"[१२५] क्षत्रबन्धु का अर्थ दिया है - क्षत्रिय मात्र, ~~निकम्मा~~ अधम क्षत्रिय, धूर्तपाल या निकम्मा क्षत्रिय ।[१२६]

गोस्वामी जी ने 'अधम क्षत्रिय' के अर्थ में 'क्षत्रबंधु' का प्रयोग किया है --

क्षत्रबंधु तैं विप्र बोलाई । घालै लिए सहित समुदाई ।।[१२७]

यह क्षत्रबंधु 'प्रताप भानु' के लिए आया है । कुछ लोगों ने इसका अर्थ 'राजा' किया है । किन्तु यह अर्थ बिल्कुल असंगत है ।

अतएव 'द्विजबंधु' शब्द का अर्थ यहाँ 'द्विजाधम' या 'नीच ब्राह्मण' है । यह 'द्विज बंधु' 'अजामिल' के लिए आया है । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -

'वृत्रासुर, बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, मयदानव, व्याधा, गजेन्द्र, गृध्रराज जटायु, अपने धर्म को त्याग देने वाला अधम ब्राह्मण अजामिल, श्वपच और यवन आदि सब के सब समस्त पापों को साधुचरणाम्बुज से बिल्कुल धोकर कैवल्य के अधिकारी हुए ।'

अजामिल के लिए 'विप्रबंधु' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है --

बेद-बिदित जग-बिदित अजामिल विप्रबंधु अघधाम ।[१२८]

भागवत में 'द्विजबन्धु' का प्रयोग उक्त अर्थ में हुआ है --

'स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा ।[१२९]

'प्रकरण' नामक अर्थ विषय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । अधम ब्राह्मण के अर्थ में द्विजबंधु शब्द को कूटोन्मुखी कहा जायगा ।

----

१२५. संस्कृत हिन्दी-कोश, पृ० ७१३

१२६. वही, पृ० ३१५

१२७. मानस १।१७४।१

१२८. विनय० १४४

१२९. भागवत १।४।२५

चारि

चारि चहत मानस अगम, चनक चारि कौ लाहु ।
चारि परिहरे चारि कौ दानि चारि चख चाहु ।।[१३०]

यहाँ संख्यावाची शब्द चारि का प्रयोग पाँच बार हुआ है । इनके अर्थों में परस्पर मतभेद है । श्रीनारायण सिंह लिखते हैं कि मनुष्य चार फल चाहता है । परन्तु उसका मिलना अगम है, क्योंकि वह चार चनों (अर्थात् संपत्ति-संचय) के लाभ में लगा रहता है । इसके अतिरिक्त उसे यह आवश्यक होता है कि वह काम क्रोध, मद, लोभ इन चार विषयों को परिहरे अर्थात् त्यागे, तन, मन, धन, धाम इन चारों का दान कर दे । (चारि कौ दानि) अर्थात् उनमें आसक्त न रहे तथा वह इतना सावधान रहे कि उसकी दृष्टि (चारि चख चाहु) चारों ओर चौकन्ना रहे ।[१३१]

पं० कालीप्रसाद जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है --(चारि) चारों वेद और (अगम) शास्त्र (मानस चहत) मन से चाहते हैं, क्या (चारि कौ लाहु) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का लाभ, कैसे (चनक) अर्थात् बड़ी शान से,किन्तु यदि (चारि परिहरे) चारों वेद व धर्मादि नहीं प्राप्त हैं, तो (चारि कौ दानि) पूर्वोक्त चारों को देने वाले श्रीरामजी को (चारि चख) भीतर और बाहर की मिलकर चारों आँखों से (चाहु)चाहो । तात्पर्य यह कि वेद और शास्त्र बड़ी शान से चारों वर्ग चाहते हैं, संभव है कि उनसे मिल जाते हों, किन्तु यदि तुम उन चारों को नहीं जानते तो उन सबों के देने वाले की शरणागत होवो, जिससे पदार्थ चतुष्टय एक ही साथ मिल जाय ।

दूसरा अर्थ इस प्रकार है --

(चारि चहत) चारों वेद वर्ण व आश्रम(चनक) बड़े जोर से चाहते हैं क्या (मानस अगम) जो मन से भी अप्राप्य है । सो क्या (चारि कौ लाहु) धर्मार्थ

---

१३०. दोहा० १५१

१३१. क्रान्तिकारी तुलसी, पृ० ६०

काम मोक्षों की प्राप्ति, गोस्वामी जी कहते हैं कि यह परिश्रम बेकार है, अतः (चारि परिहरे) इन चारों को छोड़कर (चारि को दानि) चारों पदार्थों के देने वाले तथा (चारि चख) चारों तरफ जाने वाली है आँख जिनकी ऐसे कमल नयन को (चाहु) चाहो। अथवा हे चारि चख चारों ओर जाने वाली नेत्रों मन से भी अप्राप्य है जो धर्म, अर्थ, काममोक्ष की प्राप्ति उसे चारों वेद व वर्ण व आश्रम चाहते हैं किन्तु बिना चारि के देने वाले श्रीराम जीके वह परिश्रम व्यर्थ है। अतः तुम इधर,उधर भटकते न फिरके श्रीराम को चाहो।"[१३२]

हिन्दी प्रेस के सम्पादक महोदय लिखते हैं कि -"तुलसीदास कहते हैं कि संसार में चार प्रकार के (अन्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज) प्राणी होते हैं और ये चारों अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को पाने की इच्छा करता है, किन्तु ये चारों पदार्थ मन एवं वाणी से अलग हैं। अर्थात् यदि कोई वाणी से इनके नाम कहे या उनका मन में मनन करे तो ये प्राप्त नहीं होते। अतः यदि कोई इन चार पदार्थों को प्राप्त करना चाहे तो चतुरजन को उचित है कि काम, क्रोध, लोभ, और मोह को त्याग दें और चतुर्वर्गदाता भगवान श्रीरामजी की कृपाकोर को प्राप्त करने की कामना करें। ऐसा करने में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष - ये चारों पदार्थ सहज में प्राप्त हो जाते हैं।"[१३३]

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने भी तीसरे 'चारि' का अर्थ काम, क्रोध, लोभ और मोह किया है।[१३४]

यहाँ पर प्रथक चारि का अर्थ चारों वेद अप्रासंगिक है और अण्डज, पिण्डज स्वेदज और उद्भिज आदि प्राणी अर्थ भी संगत नहीं है, यह आरोपित लगता है। द्वितीय 'चारि' का अर्थ 'अर्थ,धर्म, काम, मोक्ष की असंगत है। लाहु का अर्थ लोभ नहीं होता। 'लाहु' संस्कृत लाभ से विकसित है जिसका अर्थ लाभ,

-------- ----------------------

१३२. दोहावली की कौमुदी,टीका, पृ० ७६-८०

१३३. दोहा०,पृ० ८०

१३४. हि०सं० अ०भा० वि० परि,काशी, पृ० १३०

प्राप्ति है। यहाँ अगम का अर्थ शास्त्र नहीं अपितु अलभ्य, दुर्लभ है। गोस्वामीजी ने अन्यत्र ऐसा ही प्रयोग किया है -

बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,

जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।[१३५]

'चनक' का अर्थ बड़े जोर से भावना और 'बड़ी शान से' तो बिल्कुल ऊटपटांग है।

तृतीय 'चारि' का अर्थ चारों वेद वधर्मादि नहीं प्राप्त होते भी ऊट पटांग है। काम, क्रोध, मद, लोभ या काम, क्रोध लोभ, मोह भी संगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ये संख्यायें छः (षट) हैं। 'षट विकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं--

षट् विकार जित अनघ अकामा ।।[१३६]

छः विकार इस प्रकार हैं -- काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद। अतः तृतीय 'चारि' का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, मोह असंगत है। चतुर्थ चारि का अर्थ - तन, मन धन और धाम खींचतान का है। गोस्वामी जी ने राम जी को चारों फल देने के लिए 'सुगम' कहा है -

मोको अगम, सुगम तुम्ह को प्रभु। तउ फल चारिन चहिहौं ।।[१३६क]

'पंचम' 'चारि' सह चाहु का अर्थ चारों ओर चौकन्ना रहना और चारों तरफ जाने वाली 'आंख' भी असंगत है। गोस्वामी जी दो भीतर और दो बाहर चार आंखों को मानते हैं -- तुलसी जाके होयगी अंतर बाहिर दीठि।

सो कि कृपालुहिं देइगो केवटपालहिं पीठि ।।[१३७]

यहाँ चाहु का अर्थ चाहो नहीं देखो है। 'देखने' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अनेकों स्थलों पर किया है -- सखी सीयमुख पुनि पुनि चाही।[१३८]

---

१३५. कवितात० ७।७३

१३६. मानस ३।४५।७ १३६क विनय० २३१

१३७. दोहा० ४६

१३८. मानस १।३४६।५

वस्तुत: उक्त दोहे के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ 'बारि' का अर्थ - अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है। द्वितीय और पंचम 'बारि' का अर्थ 'चार' संख्या है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा - 'मनुष्य मन से भी अलभ्य अर्थ, धर्म,काम और मोक्ष की कामना (सर्वदा) करता है। परन्तु होता है परम दरिद्र। अतएव इन चारों की कामना त्यागकर, उन चारों फलों के प्रदाता (श्रीरामजी) को चारों नेत्रों - दो बाहरी (चर्म चक्षु) और दो अन्दर के (ज्ञान-वैराग्य) से देखो।'

'चार चने का लाभ' मुहावरा है जो दारिद्र्य की चरम सीमा का बोधक है। 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है। श्रीकांतशरण जी[१३९] पोद्दार जी[१४०] और वंदन पाठक जी ने [१४१] ऐसा ही अर्थ किया है। यह 'बारि' शब्द का प्रयोग 'पाणिपेणा कूट' है।

घर

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम-प्रेमपुर छाइ।।[१४२]

तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने इसका अर्थ किया है -- यदि घर में रहते हैं तो ध्यानरूपी घर नष्ट होता है और यदि ध्यान रूपी घर में रहते हैं तो यह संसार का घर जाता रहता है, इसलिए तुलसी ने तो वन में ही रामके प्रेम-नगर में घर बना धरा है।[१४३] स्पष्ट है कि इस अर्थ में द्वितीय घर का अर्थ 'ध्यान रूपी घर' किया गया है और 'घर बन बीच' का अर्थ छोड़ करके अटपटांग अर्थ किया गया है। अत: यह अर्थ असंगत है।

उक्त दोहे में पांच बार 'घर' का प्रयोग किया गया है। प्रथम, चतुर्थ और पंचम 'घर' का सम्बन्ध लौकिक घर से है और द्वितीय घर का सम्बन्ध पारलौकिक

---

१३९. दोहा०,सि०ति०,पृ० २१४
१४०. दोहा,पृ० ४७
१४१. ,, पृ० ५३
१४२. दोहा० १४२
१४३. दि०सं०,अ०भा०वि०प०रि०काशी,पृ० १४४

घर से है तृतीय पद का अर्थ गृहस्थी है । अतएव उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा -- "तुलसीदास जी कहते हैं कि लौकिक घर में (आसक्ति पूर्वक) रहने से वास्तविक घर (पारलौकिक घर) नष्ट हो जाता है और गृहस्थी छोड़कर वन में सन्यास ग्रहण कर रहने से लौकिक घर नष्ट हो जाता है । अतएव तू लौकिक घर और वन के मध्य में ही (अर्थात् लौकिक घर में ही अनासक्ति भाव से रहकर) श्री राम-प्रेम नगर बसा ।" तात्पर्य यह है कि भक्तिप्रेम में गृहस्थाश्रम बाधक नहीं है, अपितु गृहासक्ति बाधक है । लगभग ऐसा ही भाव इसके पूर्व भी कहा गया है --

सीस उघारन किन कहेउ, बरजि रहे प्रिय लोग ।
घर ही सती कहावती, जरती नाह-वियोग ।।[१४४]

अन्यत्र भी घर में अनासक्ति भाव से रहने की प्रशंसा की गयी है --

लखनु राम सिय कानन बसहीं । भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू । सब बिधि भरत सराहन जोगू ।।[१४५]

"प्रकरण" नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है । पोद्दार जी[१४६] श्रीकान्तशरण जी,[१४७] और पं०लालीप्रसाद जी ने[१४८] ऐसा ही अर्थ किया है । यहाँ पर "पारलौकिक गृह" अर्थ में घर का प्रयोग कुटोन्मुखी कहा जायगा ।

सुति गुन, करगुन, प-जुग, सखाउ

सुति-गुन कर गुन, पु-जुग मृग हय, रेवती सखाउ ।
देहि लेहि धन धरनि धरु, गएहु न जाइहि काउ ।।[१४९]

---

१४४. दोहा० २५४

१४५. मानस० २।३२५।२-३

१४६. दोहा० ८६

१४७. दोहा० सि०ति०,पृ० ३३६

१४८. दोहा० कौमुदी टीका, पृ० १२६

१४९. दोहा० ४५६

गुण - सत्व, रज और तम तीन होते हैं । अत: गुण से यहाँ तीन संख्या का बोध होता है ।

'श्रुतिगुन' का तात्पर्य है -- श्रवण से तीन नक्षत्र-श्रवण, धनिष्ठा और शतभिष् ।

'करगुन' का अर्थ है - हस्त से तीन नक्षत्र हस्त, चित्रा और स्वाती 'पु' - जुग का अर्थ है - दोनों 'पु' अर्थात् 'पु' से आरंभ होने वाले पुष्य और पुनर्वसु ।

'रलाउ' का अर्थ है -- अनुराधा ।[१५०]

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा - श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषु, हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा, अश्विनी, रेवती और अनुराधा - इन बारह नक्षत्रों में धन, भूमि और धरोहर का लेन देन करो, तो जाता हुआ धन भी कहीं नहीं जायगा । ''युक्ति संगतता' नामक अर्थ निर्णय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है । दोहावली के प्राय: सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है । 'श्रुति-गुन', करगुन पुजुग, रलाउ' कूट प्रयोग है ।

उगुन, पुगुन, वि, अज, कृ, म, आभा, अ, मू -

उगुन पुगुन वि अज कृ म, आ भ अ मू गुनु साथ ।
हरो धरो गाड़ो दियो धन फिर चढ़ न हाथ ।।[क]

'उगुन' का अर्थ है -- 'उ' से प्रारंभ होने वाले तीन नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद ।

'पुगुन' का तात्पर्य है - 'पू' से प्रारंभ होने वाले तीन नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वाभाद्रपद ।

'वि' से विशाखा, 'अज' से रोहिणी, 'कृ' से कृत्तिका, 'म' से मघा', 'आ' से 'आर्द्रा', 'भ' से भरणी', 'अ' से अश्लेषा' और 'मू' से 'मूल' का तात्पर्य है ।[१५१]

---

१५०. स्वात्यादित्यमृदुद्विदैव गुरुभे कर्णत्रयाश्वे चरे । पादटिप्पणी, तुलसी ग्रन्था-वली, ना०प्र०स०, काशी, पृ० ११८

क. दोहा० ४५७

१५१. तीक्ष्णा मिश्र ध्रुवोग्रैर्यत् द्रव्यंदत्तं निवेशितं ।
प्रयुक्तंच, विनष्टंच, विष्टयांपाते च नाप्यते ।। तुलसीग्र०, प्र०ना०प्र०स०, काशी, पृ०११८

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा -"उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वा भाद्रपद, विशाखा, रोहिणी, कृत्तिका, मघा, आर्द्रा, भरणी, अश्लेषा और मूल को भी पूर्वोक्त दोहे के साथ समझलो - इन चौदह नक्षत्रों में यदि धन चोरी हो जाय, धरोहर रक्खा जाय अथवा पृथ्वी में गाड़ा हुआ तथा उधार लिया हुआ धन पुन: हस्तगत नहीं होता ।" प्रकरण नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है । दोहावली के लगभग सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है । इसे भी कूट प्रयोग कहा जा सकता है ।

रबि,हर,दिस,गुन, रस, नयन, मुनि

रबि हर दिसि गुन रस नयन, मुनि प्रथमादिक बार ।
तिथि सब-काज-नसावनी, होइ, कुजोग बिचार ।।[१५२]

"रबि - भिन्न पुराणों के अनुसार इनके नामों में कुछ भिन्नता है । धाता ,मित्र, वरुण, अर्यमा, रुद्र, भग, सूर्य, विवस्वान,पूषा, सविता आदि १२ सूर्य कहे जाते हैं ।

हर - मन्यु, मनु महिनस, महान्, शिव, ऋतु ध्वज, उग्ररेता , भव, काल , वामदेव, धृत व्रत,। दूसरे मत के अनुसार - अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य, त्वष्टा, रुद्र, हर, शंभु त्र्यम्बक, अपराजित,ईशान, त्रिभुवन ये एकादश रुद्र हैं ।[क]

दिस - दिशायें दश हैं - पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण । प्रत्येक दो दिशाओं के बीच में एक कोण भी होता है । इनके नाम क्रम से अग्नि, नैऋत्य या निऋति , वायु और ईश के नाम पर रखे गये हैं । इनके सिवा एक दिशा उर्ध्व या सिर के ऊपर की ओर और दूसरी अध: या पैर के नीचे की ओर भी मानी जाती है ।[१५३]

गुन - गुण तीन होते हैं -सत्व,रज और तम

---

१५२. दो० ४५८ (क पद्मिनी मेनन पुराण सन्दर्भ कोश पृ० २३५)

क. पद्मिनी मेनन, पुराणसंदर्भ कोश, पृ० २३५

१५३. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४७२

'रस' छः होते हैं — मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ।[१५४]

नयन - नेत्र सबके दो ही होते हैं ।

'मुनि' सात कहे जाते हैं - कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, यमदग्नि और वशिष्ठ ।[१५५]

रवि, हर, दिसि, गुन, रस, नयन और मुनि से क्रमश: द्वादशी, एकादशी, दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया और सप्तमी तिथियों की ओर संकेत है । अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा - 'द्वादशी, एकादशी दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया, और सप्तमी ये तिथियाँ यदि क्रमश: रवि (सोम, मंगल , बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनिवार को पड़ें तो ये सब कार्य नष्ट कर देती हैं क्यों यह कुयोग समझा जाता है ।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । रवि , हर दिसि, गुन, रस, नयन और मुनि पूर्णत: कूट प्रयोग हैं ।

ससि, सर गुन, मुनि फल, बसु, हर, भानु —

ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु ।
मेषादिक क्रम तें गनहिं घात चन्द्रजिय जानु ।।[१५६]

'ससि' - चन्द्रमा एक है, 'सर' -बाण पाँच कहे जाते हैं - कामदेव के पाँच बाणों के नाम द्रवण, शोषण, तापन, मोहन, उन्मादन हैं तथा पाँच पुष्प बाणों के नाम- 'कमल , अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल हैं ।[१५७]

'मुनि' सात हैं जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है ।

'फल' चार हैं —अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष[१५८]

---

१५४. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ८३८

१५५. तुलसीशब्दसागर, पृ० ४४४

१५६. दोहा० ४५६

१५७. तुलसीशब्दसागर, पृ० २७५

१५८. वही, पृ० ३१८

'बसु' - आठ हैं - धर, ध्रुव, आप, अनिल, अनल, सोम, प्रत्यूष और प्रभास।'
हर - ग्यारह हैं - इनका उल्लेख पीछे हो चुका है।
भानु - बारह कहे जाते हैं - इनका भी उल्लेख इसके पूर्व हो चुका है।
f   ससि, सर, गुन, मुनि, फल, बसु, हर और भानु से क्रमशः १,५,३,७,४,८, ११ और १२ संख्याओं की ओर संकेत किया गया है।

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा --मेष के प्रथम, वृष के पांचवें मिथुन के नवें, कर्क के दूसरे, सिंह के छठे, कन्या के दसवें, तुला के तीसरे, वृश्चिक के सातवें, धन के चौथे, मकर के आठवें, कुंभ के ग्यारहवें और मीन राशि के बारहवें चन्द्रमा पड़ जायँ तो उसे मन में घातक समझो।' 'युक्ति संगतता' अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है। ससि, सर, गुन, मुनि, फल, बसु, हर और भानु कूट प्रयोग हैं।

बेद, अकास

बेद-नाम कहि अंगुरिनि खंडि अकास।
पठयो सुपनखहि लखन के पास ॥[१५६]

'बेद' 'श्रुति' के रूप में विख्यात है, किन्तु यहाँ 'बेद' का अर्थ श्रुति' कान है। इसी प्रकार 'आकाश' का बहुप्रचलित अर्थ 'गगन', नभ है, किन्तु यहाँ नाक के अर्थ में आया है। अतएव उक्त 'बरवै' का अर्थ होगा (लक्ष्मण को सुनाकर) वेद और आकाश के पर्यायवाची शब्द (श्रुति और नाक) उच्चारण कर और तर्जनी अंगुली से काटने का संकेत करके (राम ने) शूपर्णखा को लक्ष्मण के पास भेजा (कि इसके नाक-कान काट लो)।'

'प्रकरण' अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। 'बेद और आकाश' से कान और नाक की ओर संकेत कूटोन्मुखी कहा जायगा।

क पद्मिनी मेनन पुराण सन्दर्भ कोश

१५६. बरवै० ३।२८

मुनि, दिन, धातु

मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि बिचारि ।
देस, करम, करता, बचन, सगुन समय अनुहारि ।।[१६०]

'मुनि' सात हैं । दिन भी सात हैं -- रवि, सोम, मंगल, बुध, शुक्र और शनिवार । धातु भी सात कहे जाते हैं -- रस (पित्त), रक्त, मांस, मेद (वसा), अस्थि, मज्जा, शुक्र ।[१६१]

मुनि, दिन और धातु से सात संख्या की ओर संकेत है । इस प्रकार उक्त दोहे का अर्थ होगा -- 'सभी शकुनों पर देश (स्थान), कर्म, कर्ता (प्रश्न करने वाला), वचन तथा समय के अनुसार सात, सात और सात की गणना (सर्ग, सप्तक, दोहे) के अनुसार दोहे के फल का विचार करो ।' युक्ति संगतता अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत है । मुनि, दिन, और धातु कूट प्रयोग है ।

ससि, नयन, गुन

सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयवान ।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान ।।[१६२]

यहाँ शशि, नयन और गुण से क्रमशः एक, दो और तीन संख्याओं की ओर संकेत है । उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा -' एक, दो और तीन, नीतिमान के लिए सच्चे शकुन की, यह अधिक -से-अधिक सीमा है । (एक दिन तीन से अधिक प्रश्न न करे ।) जिसका जैसा प्रेम और विश्वास है उसी के अनुसार शकुन शुभ

----

१. रामाज्ञा० ७।७।२ ।
२. तुलसी ग्रन्थावली, द्वि०खं०, सं० आ० भा० पि० परि०, काशी, पाद टिप्पणी, पृ० ११० ।
३. रामाज्ञा० ७।७।३

तथा सफल होगा । (प्रश्न फल मध्यम है) ।"

तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -
"राम में जिसकी जैसी प्रीति और विश्वास होगा उसके अनुसार शकुन से निरंतर शशि (एक), नयन (दो), गुन (तीन) गुना अधिक ही अधिक सत्य और अच्छा फल मिलता चला जायगा ।"[१६३] किन्तु यह अर्थ तर्क संगत नहीं है । यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ही तर्क संगत प्रतीत होता है । "प्रकरण" नामक अर्थ-निश्चय के साधन से पूर्वोक्त अर्थ ही प्रासंगिक लगता है । "ससि" नयन और गुन" कूट प्रयोग हैं । गीता प्रेस की टीका में पूर्वोक्त जैसा ही अर्थ किया गया है ।[१६४]

---

१६३. दि०सं०अ०भा०वि०परि०,काशी, पृ०१०६

१६४. रामाज्ञा०, पृ० १०१

अध्याय - १०

अन्वयभेद एवं गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उसका निदान

अर्थानुसंगति को ध्यान में रखते हुए किसी पद्य या कविता की वाक्य-रचना को गद्य की वाक्य रचना के अनुसार बैठाने या ठीक करने की क्रिया को 'अन्वय' कहते हैं। पूर्वापर-प्रसंग पर ध्यान न देने के कारण तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने कहीं-कहीं असंगत अन्वय करके अर्थ समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं। उदाहरणार्थ -सीता जी के सौंदर्य की सराहना राम - लक्ष्मण दोनों से करायी गयी है। भरत और शत्रुघ्न की कुशलता कैकेयी के द्वारा पूछने पर कुबड़ी के हृदय में पीड़ा होना भी संगत नहीं प्रतीत होता। वशिष्ठ और राम द्वारा भरत की प्रार्थना का समर्थन करने को कहकर, पुन: लोकमत, साधुमत, राजनीति और वेद के अनुसार करना, ऐसे अर्थ से उक्त दोनों की बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इसी तरह काल और ग्रह जब बुरे होते हैं, तभी अनिष्ट कारक होते हैं। अत: दुष्ट काल और दुष्ट अर्थ करने से पुनरावृत्ति दोष हो जाता है। ऊधौ के पक्ष की बातों को गोपियों के पक्ष में घटाना आदि अर्थ-समस्या एं अन्वय भेद के कारण उत्पन्न हुई हैं। इसके उदाहरण अग्रिम पृष्ठों पर ~~देखा जा सकता~~ द्रष्टव्य है।

गूढ़ार्थ से मेरा तात्पर्य यहाँ अभिप्राययुक्त, गंभीर, दुर्बोध, गुप्त, अर्थ-गर्भित, गूढ़ विषय या आन्तरिक अर्थ (इन्टरनलमीनिंग) से है। काव्य में सामान्य अर्थ के अतिरिक्त गूढ़ार्थ भी होता है। गोस्वामी जी ने भी गूढ़ता को स्वीकार किया है --

कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। (मानस १।६७।१)

नारद बचन सगर्भ सहेतू ।। मानस० १।७२।३

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। मानस १।२३४।७

तुलसी साहित्य जितना सुगम है, उतना ही अगम । "सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे । अरथु अमित अति आखर थोरे ।" यह भारत के शब्दों की विशेषता है ही, साथ ही यह तुलसी साहित्य की भी विशेषता है ।[क] टीकाकारों ने उन गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठक को बड़ी उलझन में डाल दिया है । शब्दार्थ के साथ-साथ गूढ़ार्थ का भी अभिव्यक्तीकरण टीकाकारों का कर्तव्य है । गूढ़ार्थ की अस्पष्टता के कारण गूढ़ार्थ सम्बन्धी अर्थसमस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं । उदाहरणार्थ — "समुझाई" शब्द में ही राम ने अंगद को युवराज पद देने को कह दिया था । "सगुण" की श्रेष्ठता को सभी टीकाकार व्यक्त नहीं कर पाये हैं । टीकाकारों ने अर्थ किया है कि ब्राह्मण अगस्त्य के भय से समुद्र खारा हो गया था । प्रयाग में शरीर त्यागने के रहस्य को भी अस्पष्ट रखा गया है । "महाराज" शब्द में अनेक भाव भरे हुए हैं, किन्तु टीकाकारों का ध्यान इस पर नहीं गया । पूर्ववर्ती कवियों की परवाह न करते हुए चित्रकूट की कथा हनुमान जी ने सीता जी से क्यों कही ? ऐसे ही वक्रोक्ति गर्भित्व और वचनभंगिमा पर ध्यान न देने के कारण "सीता-त्याग" वाले पद की दो पंक्तियों का अनर्गल अर्थ किया गया है । "शशिकला" को लक्षित करने का कवि का क्या उद्देश्य था, आदि ऐसी ही गूढ़ार्थ विषयक समस्यायें हैं, जिन पर टीकाकारों का ध्यानाकृष्ट नहीं हुआ था ।

प्रस्तुत अध्याय में अन्वयभेद एवं गूढ़ार्थ विषयक कतिपय प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास पृथक् पृथक् किया गया है ।

अन्वय-भेद से उत्पन्न अर्थ-समस्यायें और उनका निदान :—

२३७ वें दोहे की प्रथम अर्धाली

हृदय सराहत सीय लोनाई । गुर समीप गवने दोउ भाई ।।[१]

क. द्रष्टव्य सरस्वती विशेषांक, अगस्त १९७४

१. मानस १।२३७।१

रामेश्वर भट्ट जी,[२] वीरकवि जी,[३] ग्रायस महोदय,[४] रामनरेश त्रिपाठी जी,[५] हनुमानप्रसाद पोद्दार जी[६] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय[७] ने इसका अर्थ किया है कि — "हृदय में सीता जी के सौंदर्य की सराहना करते हुए दोनों भाई गुरु जी के समीप गये।" सम्पूर्ण पुष्प वाटिका प्रकरण में राम जी ने सीता जी के सौंदर्य की सराहना की है —

देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा।।[८]

सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।[९]

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।[१०]

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं।।[११]

किन्तु लक्ष्मण जी ने कहीं भी सीता जी के सौंदर्य की सराहना नहीं की। पीयूष-कार के अनुसार लक्ष्मण जी को अदब का इतना ख्याल है कि फुलवारी की लीला में आदि से अन्त तक वे बोले ही नहीं। श्री किशोरी जी के चरणों को छोड़कर उन्होंने जीवन पर्यन्त सिर उठाकर उनकी ओर तो देखा ही नहीं। यहाँ की तो बात ही न्यारी है। यहाँ (पुष्प वाटिका प्रसंग में) तो प्रभु की बातें सुनते भर हैं, उनकी दृष्टि तो प्रभु के बराबर भी नहीं पड़ सकती। लक्ष्मण जी सरीखे मुँहलगे छोटे भाई के शील का गोस्वामी जी ने अपूर्व चमत्कारिक दृश्य दिखाया है।"[१२] अतः पूर्वोक्त अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता।

----

२. मानस १।२। , पृ० २४६ ३. मानस, पृ० २७६

४. द टू ब्रदर्स रिटर्न्ड टू दि अर गुरु, इन वर्डली प्रेजिंग सीताज़ लवलीनेस

— द रामा० आव् तुलसीदास, पृ० ११७

५. मानस, पृ० २६३ ६. वही, पृ० २२६

७. प्र० सं०, ना०प्र० सभा० , काशी, पृ० २३८

८. मानस १।२३०।५ ९. वही १।२३०

१०. वही १।२३१ ११. वही १।२३५।३

१२. मा०पी०बाल०,सं० ३ , पृ० २९६

विजयानन्द त्रिपाठी ने तो अर्थ पूर्वोक्त ही किया है, किन्तु उन्होंने व्याख्या में स्पष्ट किया है -"परम प्रेम मय....... ।" से प्रसंग छोड़ा था, अब वहीं से आरम्भ करते हैं। मानसिक चित्र में सीता जी का लावण्य देखकर प्रशंसा करते हैं। अत: यह वाक्यांश केवल रामजी के प्रति है। भगवती सखियों के साथ "मंदिर नहीं और प्रभु भाई के साथ गुरु जी के पास गये, यहां दोनों भाई के साथ जिहि भाँति गवने" क्रिया का अन्वय है। उसी भाँति सराहत" के साथ नहीं है। सराहना केवल राम जी कर रहे हैं। यथा - छत्रिणो गच्छन्ति। छाता किसी एक के हाथ में है, पर कहा जाता है कि छाता वाले जाते हैं। उसी भाँति सराहना केवल रामजी कर रहे हैं, पर "गवने" क्रिया के कर्ता होने से "सराहत" पूर्वकाल की क्रिया का सम्बन्ध दोनों भाई के साथ कर दिया गया है।[१३] पूर्वापर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए उक्त अर्धाली का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए - "दोउ भाई गुर समीप गवने। (रामु) सीय लोनाई हृदय सराहत।" अतएव इसका अर्थ इस प्रकार होगा- "दोनों भाई (राम-लक्ष्मण) गुरु (विश्वामित्रजी) के सन्निकट चले, श्री राम जी हृदय में सीता जी के सौंदर्य की प्रशंसा करते जा रहे हैं। सराहना करने में सराहना सुनने का भाव भी निहित है। मौन समर्थन भी सराहना सूचक है। अत: कोई असंगति नहीं है। यह माना जा सकता है कि सराहना केवल राम करते हैं।

श्रीरामदास गौड़ का यह मन्तव्य भी समीचीन है -"अन्वय" करने में गुरु समीप गवने दोउ भाई" को पहले पढ़कर फिर" हृदय सराहन सीय लोनाई", रामु कहा सब कौशिक पाहीं, पढ़ना चाहिए।"राम" शब्द के साथ हृदय सराहत" का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।"[१४] श्रीकांतशरण जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[१५] "अर्थ कृत आन्तर्य या अन्वय" नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है।

---

१३. मानस, वि०टी०,प्र० भा०,पृ० ४०१

१४. मा०पी०,बाल० सं० ३, पृ० ३४४

१५. मानस सि०ति०,प्र० सं० पृ० ६६१

श्रीरामचरणदास,[१५] बैजनाथ जी,[१६] श्यामसुंदरदासजी,[१७] ज्वालाप्रसाद जी[१८] और विनायक राव जी ने[१९] इसका अर्थ किया है -"(रामचन्द्र जी) अपने मन में सीता जी की शोभा की बड़ाई करते हुए लक्ष्मण सहित विश्वामित्र के पास गये।" किन्तु यहाँ उपर्युक्त अन्वय और अर्थ अधिक सटीक लगता है।

तेरहवाँ दोहा -

> सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
> लखनु भरतु रिपुदवनु सुनि भा कुबरी उर सालु।।[२०]

मानसपीयूषकार[२१] और हनुमान प्रसाद पोद्दार जी[२२] ने इसका अर्थ किया है कि "रानी ने डरकर कहा-अरी कहती क्यों नहीं? श्रीरामचन्द्र, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं? यह सुनकर कुबरी मंथरा के हृदय में बड़ी ही पीड़ा हुई। तुलसी-ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने भी ऐसा ही अर्थ किया है -"यह सुनकर तो कुबड़ी (मंथरा दासी) और भी झुँझला उठी (कि सबसे पहले राम का ही कुशल क्यों पूछ हाल रही है? अपने सगे बेटे भरत का कुशल क्यों नहीं पूछती?)"[२३] "यह उर साल" का अर्थ झुँझलाना विशेष खटकता है। प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने पोद्दार जी जैसा ही अर्थ किया है। किंतु यहाँ पर अन्यों का नहीं तो कम-से-कम भरत का कुशल-समाचार पूछने पर "कुबड़ी के उर में पीड़ा" नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह तो उन्हीं की हितैषिणी बनकर आयी है -

---

१५. रामा०पृ० ३६४
१६. वही, बाल०,पृ० ५८५
१७. मानस, पृ० २२८
१८. मानस सं० टी०,पृ० २६६
१९. मानस वि०टी०, पृ० १०६
२०. मानस २।१३
२१. मा० पीयूष अयोध्याकाण्ड, पृ० ८३
२२. मानस, पृ० ३४६
२३. पृ० सं० , ना० प्रा० वि० परि०, काशी, पृ० २८३

पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारे । जानति हहु बस नाहु हमारें ।[२४]

अतएव उपर्युक्त अर्थ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता । मंथरा ने उक्त दोहे के पूर्व जब राम का तिलक सुना था तब उसका हृदय जल उठा था -

पूँछेसि लोगन्ह काह उछाहू । रामतिलक सुनि भा उर दाहू ।।[२५]

दोहे के उपरांत वह कैकेयी से कहती है -

रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू जिन्हहि जनेसु देइ जुबराजू ।।[२६]

निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि वह राम से स्वभावत: ईर्ष्या करती थी -

प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी । रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ।।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ।।
भानु कमलकुल पोषनिहारा । बिनु जल जारि करै सोइ छारा ।।[२७]
रामहि तिलकु कालि जौं भयऊ । तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ ।।[२८]
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं । स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं ।।
दुइ बरदान भूपसन थाती । मागहु आजु जुड़ावहु छाती ।।
सुतहि राजु रामहि बनबासू । देहु लेहु सब सवति हुलासू ।।[२९]

अतएव उक्त दोहे का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए -

रानि सभय कह-कहसि किन ?.... रामु महिपालु लखनु भरतु, रिपुदमनु कुसलु ? (रामु कुसलु सुनि) कुबरि उर सालु भा ।"

अर्थ होगा --रानी ने भय युक्त होकर कहा - अरी ! कहती क्यों नहीं ? राम जी राजादशरथ,लक्ष्मण,भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं ? राम के कुशल (पूछने को) को सुनकर कुबड़ी के हृदय में पीड़ा हुई ।" रामका कुशल पूछा और रामका कुशल भरत से

----

२४. मानस २।१४।५

२५. वही २।१३।२

२६. वही २।१४।२

२७. वही २।१७।५-७

२८. वही २।१८।६

२९. वही २।२२।४-६

भी पूर्व पूछा । भरत का कुशल विशेष रूप से नहीं पूछा । इन बातों से कुबड़ी के हृदय में उत्कट पीड़ा हुई । पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । अर्थात् आनन्तर्य या अन्वय नामक अर्थ निश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है ।

२५७ वां दोहा --

> भरतविनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि ।
> करब साधुमत लोकमत नृप नय निगम निचोरि ।।[३०]

संत सिंह पंजाबी,[३१] ज्वालाप्रसाद जी,[३२] विजयानंद त्रिपाठी जी,[३३] विनायकरावजी,[३४] ग्राउस महोदय,[३५] श्यामसुन्दरदास जी,[३६] वीरकवि जी,[३७] रामनरेश त्रिपाठीजी,[३८] श्रद्धेय श्रीकांतशरण जी,[३९] मानस पीयूषकार,[४०] रामेश्वर भट्ट जी,[४१] पोद्दार जी[४२] और तुलसीग्रन्थावली के संपादक महोदय[४३] आदि अधिकांश टीकाकारों ने इस दोहे का अर्थ इस प्रकार किया है -- "पहले भरत की विनती आदरपूर्वक सुन लीजिए, फिर उस पर विचार कीजिये । तब साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों का निचोड़ (सार) निकाल कर वैसा ही (उसी के अनुसार कार्य) कीजिए ।"

परन्तु इस दोहे के पूर्व वशिष्ठ जी का कथन इस प्रकार है --

> भरत सनेह बिचारु न राखा ।।
> भरत भगति बस भइ मति मोरी ।।
> मोरें जान भरत रुचि राखी । जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी ।।[४४]

---

३०. मानस २।२५८।०
३१. मा०भा०, पृ० ३०५
३२. सं०टी०, पृ० ६२४
३३. वि०टी०त्रि०भा०, पृ० ३७५
३४. वि०टी०, पृ० ३८५
३५. लिसेन रेसपेक्टफुली भरताज प्रेयर, रिकांसीडर द मैटर, एंड आफ्टर वेइंग वेल द ड्यूटीज आव एकिंग एंड द टेक्स्टस आव स्क्रिप्चर, टेक द राइवाइस गिवेन यू बोथ बाइ फिलास्फर एंड मैन आव द वर्ल्ड । -- द रामा० आव् तुलसी०, पृ० २९८
३६. मानस, पृ० ५८१
३७. वही, पृ० ७३२
३८. वही, पृ० ६५८
३९. वही सि०ति०पृ० १३८२

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

उक्त दोहे के पश्चात् श्रीराम जी का वाक्य इस प्रकार है -

बोले गुर आयस अनुकूला । बचन मंजु मृदु मंगल मूला ।।
भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई । असकहि रामु रहे अरगाई ।।
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु ।।[४५]

अतः यदि उपर्युक्त दोहे का पूर्वोक्त अर्थ स्वीकार किया जाता है तो पूर्वापर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए विरोध उत्पन्न होता है । यदि विचार करके साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों के सार (निचोड़) के अनुसार करने की सम्मति दी गयी तो भरत के वाक्य को आदर पूर्वक सुनना नहीं कहा जा सकता । शंकर जी की साक्षी भी निरर्थक हुई । वशिष्ठ जी का भरत रुचिराखी और राम जी का भरतु कहहिं सोइ किये भलाई भी असत्य प्रमाणित हुआ । इस प्रकार भरत जी के कथन को कोई विशेष महत्व न देना ही सिद्ध होता है । पुण्यश्लोक भरत जी के वाक्यों का सर्वत्र समादर हुआ है -

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम सनेह सुधा जनु पागे ।।[४६]
समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सारु जग होइहि सोई ।।[४७]

पिछले पृष्ठ का शेष -

४०. मा० पी०, अयो०, पृ० ६२०
४१. मानस, पृ० ६१७
४२. मानस, पृ० ५३६
४३. पु०सं०, अ०भा०वि० परि०काशी, पृ० ५७६
४४. मानस २।२५७।६-८

---

४५. मानस २।२५८।३ और ८, २।२६३।०
४६. वही २।१८३।१
४७. वही २।३२२।८

इस कथन से भी सिद्ध है कि भरत जी का कथन सारयुक्त होता है।
दूसरे, भविष्यकालिक क्रिया करब का अर्थ कीजिए नहीं अपितु कीजिएगा होता है। अतएव पूर्वापर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए उक्त दोहे का अन्वय और अर्थ इस प्रकार होना चाहिए -- भरत विनय साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि सादर सुनिअ करिअ, बिचारु बहोरि करब।

अर्थात् - भरत की प्रार्थना जो साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों का सार निकाल कर बनी है अर्थात् सर्वमतों से संयुक्त है, उसे आदर पूर्वक सुनिये और (तदनुसार)कीजिए, पुन: विचार कीजिएगा। किंचित् दूरान्वय युक्त होते हुए भी यही अर्थ तर्कसंगत लगता है। अर्थात् आन्तर्य या अन्वय और प्रकरण नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ संभाव्य है। श्रीरामचरनदास,[४८] हरिहरप्रसाद जी[४९] और जयरामदास जी दीन[५०] ने ऐसा ही अर्थ किया है। इस अर्थ से पूर्वापर प्रसंग का विरोध भी समाप्त हो जाता है।

श्री अवधबिहारीदास जी का यह अर्थ -पहले भरत जी की विनय विनय आदर से सुनिये, फिर विचार कीजिए। वही साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेद का सार होगा असंगत है।

श्री जयरामदास जी दीन के शब्दों में भरत जी का वाक्य साधुमत, लोकमत, नृप नय, निगम निचोरि इस प्रकार है -- जब श्रीराम जी की स्वीकृति मिल गयी --

तब मुनि बोले भरत सन सब संकोचु तजि तात।
कृपा सिंधु प्रियबंधु सन कहहु हृदय कै बात।। मा० २।२५८

गुरुदेव श्रीवशिष्ठ जी की आज्ञा पाकर भरत जी ने यह विनय की है --

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ। (साधुमत)
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ।। (लोकमत)

---

४८. रामा०,पृ० ७४०

४९. रा०परि०परिशिष्ट,पृ० १४७

५०. कल्याण : गोरखपुर,वर्ष १३, मार्गशीर्ष १९९५, दिस० १९३८,सं० ५, पूर्ण-संख्या १४९, पृ० १२४३ - १२४५

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई । बहुरिअ सीय सहित रघुराई ।। (राजनीति)
जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुना सागर कीजिअ सोई ।। (निगम निचोड़)

-- मानस २।२६७, २६८।१-२

पहली विनय भरत जी की यह हुई कि आप मुझको अनुज सहित वन में भेजकर सबको सनाथ कीजिये अर्थात् राज गद्दी पर आसीन होइये । यह साधुमत है और दो प्रमाणों से है -- एक तो भरत जी को यही सम्मति साधु श्री वशिष्ठ द्वारा मिली थी -

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिअहिं लखनु सीय रघुराई ।।

--मानस २।२५५।३

दूसरे राज्य प्राप्ति के प्रश्न पर विचार करें तो दशरथ जी महाराज के विचार से (जेठ स्वामि सेवक लघु भाई) श्रीराम जी उसके हकदार थे और कैकेयी माता की वर याचना के अनुसार श्री भरत जी को वह मिलना चाहिये था । इस झगड़े के निपटाने के लिए भरत जी ने साधुमत प्रदर्शित किया कि मैं अपना हक आप को ही दिये देता हूँ, राज्य (लाभ) चाहता ही नहीं, बल्कि वनवास रूप जो हानि है ,उसी को मैं लूँगा ।

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।

मा० १।२

दूसरी विनय भरत जी यह कहते हैं कि दोनों छोटे भाइयों को घर भेज दिया जाय, मैं इन दोनों से बड़ा हूँ, मुझको ही साथ ले चला जाय ।" यही लोकमत है क्योंकि लोकप्रथा के अनुसार सयाने लोग ही परदेश जाते हैं, लड़के घर में रहते हैं । गीतावली में भी इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है -

"फेरि यहि नाथ लखन लरिका हैं ।" कौशल्या जी ने भी मिथिलेश से कहा है --"रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन ।" - मानस २।२८३।२

तीसरी विनय राजनीति पूर्ण है -- न तरु जाहिं बन तीनों भाई ।" क्योंकि सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ ।" अर्थात् भरत जी कहते हैं कि हम तीनों भाई हाथ पैर और नेत्र की भाँति सेवक हैं, श्री सरकार मुख के समान स्वामी हैं, इसलिए नीति के अनुसार युगल सरकार सिंहासनासीन होकर आज्ञा देते

रहें और हम तीनों भाई सेवकाई में वन जाकर आपकी आज्ञा के पालन के द्वारा कृतार्थ होवें। अस्तु, भरत जी का यह कथन कि हम तीनों सेवक सेवा करें,यही राजनीति है।

भरत जी की यह चौथी विनय कि जिस प्रकार करुणासिन्धु श्री प्रभु की प्रसन्नता हो, वही करें, निगम निबोह है। क्योंकि वेद-मर्यादा यही है कि भगवान् की जो इच्छा हो, वही जीव का कर्तव्य है। भगवदाज्ञा के पालन में ही जीव का सर्व प्रकार से कल्याण है। "सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा" यही वैदिक मार्ग है।

इस प्रकार से श्री भरत जी की विनय में साधुमत , लोकमत, नृपनय, निगम-निबोह इन चारों का होना कहा गया है। श्री वशिष्ठ जी की मति में, जिसके सम्बन्ध में —

भरत महा महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबलासी।।

मानस २।२५६।२

यह कहा गया है। भरत जी की विनय को साधुमत सम्मत तो सिद्ध कर दिया था, शेष तीनों विशेषणों का स्पष्टीकरण नहीं किया था, परन्तु, यह अनुमान कर लिया था कि ये तीनों विशेषण भी भरत जी की विनय में परिपूर्ण हैं, इसीलिए दोहे में ऐसा कहा गया है ,हाँ वशिष्ठ जी की मति ने एक बात का अनुमान अवश्य नहीं किया था, जिसको भरत जी ने अन्तिम निश्चय के रूप में प्रकट किया है —

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामिमन जाइ न पावा।।

मानस २।२६८।७

क्योंकि उनका यह निश्चय था कि —

जो सेवकु साहिबहि संकोची।निज हित चहइ तासु मति पोची।।

मा० २।२६७।३

वस्तुत: जब अनुमानत: भी नहीं पहुँच सके तभी उनकी मति के सम्बन्ध में यह वचन कहा गया है कि —

गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा।। [५१]

मा० २।२५६।३

---

५१ वही. कल्याण.पृ० १२४३ -१२४५

इस प्रकार उक्त दोहे का द्वितीय अर्थ ही प्राकरणिक एवं तर्क संगत है। इस पर चमत्कार प्रदर्शन और पांडित्यज्ञापन का आरोप अनुचित प्रतीत होता है।

३८ वें छन्दकी एक पंक्ति

देव, भूत, पितर, करम खल, काल ग्रह,

मोहिं पर दवरि दमानक सी दई है।[५२]

बैजनाथ जी ने 'खल' का अन्वय 'करम' और 'काल' दोनों के साथ करके कुटिल कर्म और खल काल, दुष्ट कलिकाल अर्थ किया है। इसके बाद 'दमानक' शब्द को भी खूब तोड़ा-मरोड़ा है --

'ग्रामदेव भूत प्रेत आदि पितर पूर्व वंश में मरे हुए कुटिल कर्म जो पूर्व के राखे हैं खल काल दुष्ट कलिकाल ग्रह सूर्यादि इत्यादि सब मोहिं पर दवरि दम आनक सी दई है दमकही दण्ड को यथा साहसंतुदमोदण्ड : इत्यमर: पुन: तुरुही डंकादि बाजा को आनक नाम है यथा भेरी पटहमानको इत्यमर: अर्थात् दंड देवे को आनक डंका तुरुही आदि बजाय सब मोपर धाये हैं।[५३]

परमेश्वरीदयाल जी[५४] और देवनारायण द्विवेदी जी ने[५५] 'खल' को 'काल' का विशेषण मानकर 'दुःखमय' और दुष्ट काल अर्थ किया है। महावीरप्रसाद 'मालवीय' जी ने 'खल' को ग्रह का विशेषण मानकर 'दुष्टग्रह' अर्थ किया है।[५६] श्रीकांतशरण जी बैजनाथ जी का अनुकरण करते हुए 'खल' को 'काल' और 'ग्रह' दोनों का विशेषण मानते हैं। उनके अनुसार - 'दुष्टकाल' से यहाँ कलिकाल एवं दुर्दिन का और दुष्ट ग्रह से क्रूर ग्रह जैसे शनि आदि का अर्थ है। 'खल' शब्द का पृथक् दुष्ट अर्थ इससे नहीं लिया गया कि यहाँ बाहु-पीड़ा के दुख का ही प्रसंग है, इसमें दुष्ट लोग कारण नहीं हो सकते।'[५७] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने

---

५२. बाहुक ३८

५३. वही पृ० ४६

५४. वही, पृ० ५३

५५. वही, पृ० ३३

५६. वही, पृ० ३४

५७. वही, सि०ति० पृ० १६४-६५

श्रीकांतशरण जी का अर्थों का त्यों अनुकरण करके दुष्टकाल और दुष्ट ग्रह ऐसा अर्थ किया है।[५८]

दमानक पूर्ण शब्द है और उसका अर्थ कोश के अनुसार 'तोपों की बाढ़' है। किन्तु उपर्युक्त पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए -- 'देव, भूत, पितर, करम, खल, काल, ग्रह दवरि मोहि पर दमानक सी दई है' इस अन्वय के अनुसार अर्थ होगा - देवता, प्रेत, पितृ, कर्म, दुष्ट, काल और ग्रह सभी धावा करके मुझ पर तोपों की बाढ़-सी लगा दी है।' अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। अनुमान बाहुक में भी कवि ने खलों की चर्चा की है --

बानर-बाज ! बढ़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा से ?[५९]

व्याधि भूत-जनित उपाधि काहु खल की,

समाधि कीजे तुलसी को जानि जन फुर कै।[६०]

हरिहरप्रसाद जी और श्रीजानकीनंदनशरण जी ने[क] ऐसा ही अर्थ किया है। कवि प्रयोग की दृष्टि से भी यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है। 'खल' को कर्म, काल और ग्रह का विशेषण मानना उचित नहीं है, क्योंकि कर्म, काल और ग्रह तो जब बुरे होते हैं, तभी अनिष्ट कारक होते हैं, यह सर्वविदित है। बुरे ग्रह के लिए सामान्यतया नीच ग्रह अथवा पापक ग्रह शब्द ज्योतिष में आता है। खल ग्रह नहीं। काल के लिए भी खल विशेषण सन्तोष प्रद नहीं है।

५१ वें पद की एक पंक्ति

नीलनव-वारिधर सुभग-शुभ कांतिकर पीतकौशेय-वरवसनधारी।[६१]

---

५८. वि०टी०, आ०भा०वि०परि० काशी, पृ० ३०१

५९. बाहुक, १८

६० वही ४३

क. कवित्त, पृ० २७२ और पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० १५५

६१. विनय० ५१।

टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से अन्वय करके इसके अनेक अर्थ किये हैं। बैजनाथ जी के अनुसार - "नववारिधर नवीन मेघ, नील रंग के, तद्वत सुभग सुंदर शुभ मंगलमय तनु की कांति ज्योति प्रकट करने वाले हो।"[६२] लाला भगवानदीन जी के अनुसार - "शरीर की शुभ कांति नवीन काले बादल के समान है"[६२]। वीरकवि के अनुसार - "नवीन श्याम मेघ के समान सुंदर मांगलिक शोभा उत्पन्न करने वाले"[६३] वियोगीहरि जी के मत से - नीले नवीन मेघ के समान उनके शरीर की कांति है।"[६४] श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ किया है -- "उनका शरीर नवीन नील रंग वाले सजल मेघ के समान और मांगलिक कान्ति विस्तार करने वाले हैं।[६५] रामेश्वर भट्ट जी के मतानुसार - "नीले नवीन मेघ के समान सुंदर मांगलिक कांति वाले"।[६६] गयाप्रसाद जी[६७] और पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[६८] ने इसका अर्थ किया है कि - "हे राम जी आप नवीन नीले मेघ से शोभायमान हैं, और उत्तम दीप्ति के प्रकाशक हैं।" देवनारायण द्विवेदी जी का अर्थ वियोगीहरि जी जैसा है।[६९]

किन्तु इसका अन्वय इस प्रकार होना चाहिए -- (हेराम जी। आप) नव नीलवारिधर सुभग, शुभ कांतिकर वर कौसेय पीतवसन धारी (हैं)" इस अन्वय के अनुसार अर्थ होगा - (हे राम जी) आप नवीन नीले मेघ के समान सुन्दर हैं। मांगलिक प्रकाशमान श्रेष्ठ पीताम्बर धारण किये हैं।" कवि ने अन्यत्र "नीलनीरधर श्याम" कहा है।[७०] पीताम्बर को प्रकाशमान भी कहा गया है --

तड़ित विनिंदक पीतपट उदर रेख वर तीनि।"[७१]

अर्थकृत तात्पर्य या अन्वय नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। "नव" शब्द में मेघ की सजलता का द्योतन होता है। अतः अर्थ में सजल मेघ" कहने की आवश्यकता नहीं।

---

६२. वि०पी०, सं० २, पृ० २६७

६२. विनय० पृ० ८७

६४. विनय०, पृ० १६५

६३. वही, पृ० ७६

६५. वि०पी० सं०, २, पृ० २६७

६६. वही, पृ० ७६

६७. विनय० पृ० ८२

६८. वही, पृ० ५७

६९. वही, पृ० ९८

७०. मानस १।१४६

७१. वही, १।१४७।

२७ वें पद की एक पंक्ति :-

सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन उदधि अपार ।
देख्यो सुन्यो न कबहुँ काहु कहुँ मीन-वियोगी बारि ।।[७२]

उक्त पंक्ति के प्रथम चरण का अन्वय श्रीकृष्ण के पक्ष में करते हुए रामायन सरन जी लिखते हैं कि - "हम लोग श्याम वियोग करि जीवतु हौं कैसो श्याम है सत्य औ सनेह सील सोभा सुख सब गुन के अपार उदधि हैं सो ऐसा आचरज कहीं देखि वे को सुनिए भी नहीं आई की आली की मीन वियोगी नाही रहतु हम लोग हु ऐसो की काहु जल सम औ हम लोग मीन सम बिछुरत मर नहीं गए मीन वियोगी बारि बने हौं सो झूठा हम लोगों का प्रेम है।"[७३] श्रीकृष्ण जी के ही पक्ष में अन्वय करते हुए पोद्दार जी अर्थ लिखते हैं कि - "हमारो प्रियतम सत्य, स्नेह, शील, शोभा सुख आदि सभी गुणों के समुद्र हैं। परन्तु आज तक कभी किसी ने कहीं यह नहीं देखा सुना कि जल (समुद्र) कभी मछली का वियोगी बना हो (मछली जैसे जल के वियोग में तड़प-तड़प कर मर जाती है, वैसे समुद्र भी मछली के बिछोह में कभी दुःखी हुआ हो)। इसी प्रकार श्यामसुंदर भी समुद्र की भाँति सर्वगुणनिधि होने पर भी हमारे वियोग का अनुभव क्यों करने लगे।"[७४] पं० वामदेव जी भी ऐसा ही अर्थ करते हुए लिखते हैं कि - "सत्य, स्नेह, शील, शोभा, सुख सब गुणों की खान श्रीकृष्ण अपार समुद्र के समान हैं। फिर भी मछली जिस तरह जल से बिछुड़ने पर तलफती है, वैसे दुःखी जल को न तो किसी ने देखा न सुना ही कभी। भाव यह कि जो बड़े होते हैं, उन्हें अपने प्रेमी की परवाह नहीं होती छोटे ही को अपना प्रेम निबाहना पड़ता है।[७५] किन्तु इस सहज अर्थ के विपरीत नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी उक्त पंक्ति का अन्वय

----

७२. श्रीकृष्ण०, २७
७३. वही, पृ० २७
७४. वही, पृ० ३५
७५. वही, पृ० ३५

'पानी' के साथ करते हुए अर्थ करते हैं पानी यद्यपि सब गुणों से युक्त है पर फिर भी मछली की भाँति विरह-व्याकुल नहीं होता।[७६] शील आदि गुण पानी के नहीं कृष्ण के गुण की प्रतीत होते हैं अत: प्रथम पंक्ति के समस्त गुणों को पानी पर आरोपित करना भ्रामक अन्वय परक अर्थ कहा जायगा। अर्थात् आन्तर्य या अन्वय नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने[७८] 'मीन वियोगी वारि' का अर्थ अन्वय व्यतिक्रम से वारि वियोगी मीन ग्रहण किया है। किन्तु इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं रह जाती, जबकि दूसरी पंक्ति में उसी पर बल दिया गया है। अतएव उसे अन्वय दोष कहना अधिक उपयुक्त होगा। इससे स्पष्टत: अर्थ की हानि होती है। ऐसा अर्थ करने के पीछे 'अपारि' शब्द को कदाचित् स्त्रीलिंग मान कर इसे मछली से सम्बद्ध करना रहा है, जबकि वस्तुत: वह उदधि का ही विशेषण है। 'अपार' शब्द के अंत में इ कारागम 'वारि' से उसकी तुकांत संगति लाने के निमित्त कवि ने किया है, जिसके तुलसी साहित्य में प्रचुर प्रमाण हैं। इस प्रकार पोद्दार जी का अर्थ ही सही अन्वयार्थ प्रतीत होता है।

<u>५० वां पद -</u>

> ऊधौ! यह ह्यां न कछू कहिबे ही।
> ज्ञान गिरा कुबरी सब की सुनि बिचारि गहिबे ही।।
> पाइ रजाइ नाइ सिर गृह ह्वै गति परमिति लहिबे ही।
> मति-मटुकी मृगजल भरि पूतकित मनहीं मनमहिबे ही।[७९]

रामायन सरन जी इसका अर्थ करते हैं -"ऊधौ प्रति वचन गोपिन्ह के हैं ऊधौ हम नाहीं कछु न कहब कुबरीहूँ के जो जो ज्ञान विराग करने को सिखावन है सोई सुनि के औ बिचारि के गहिबे ही नाम गहब तुम ऐसो गुरु कहाँ पावे गे पाइ

----

७६. श्रीकृष्ण, पृ० ७६

७७. वही सि०ति०,पृ० ५५

७८. तु० ग्रं० सं०,ना०प्र०स०काशी, पृ० ५६५-६६

७९. श्रीकृष्ण० ५०

रुखाइ आपकी आज्ञा पाइऔ आप ऐसों गुरु कौ सिर नाइ औ गति गृह मौं जाइ जोग धरै मौं जाइ औ परमिति लहिबै ही नाम मर्यादा पाइ रुतै दिन हम लोग के मरजाद की रही है। गंवारिन के गनती मौं अब महात्मनु गनती मौं होइबो गति परमिति लहिबै ही औ हम लोगों का मति सोइ मटुकी है तामों मृगजल भरिकै घृत हित के बदे मन ही मन मथिबै ही नाम से मङ्गल करब भाव हर्यो जोग ज्ञानमृग-जल बुद्धि मौं स्थिर करना सोइ भरब मन सों मनन करना सोई ,मन रूपी मथानी सों मथना आनँद घृत निकासने के वास्तक।[८०] पोद्दार जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है -"उद्धव जी हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। कुब्जा रमण की ये ज्ञान की बातें सुन कर एवं विचार करके उन्हें ग्रहण (धारण)करना है। उनकी आज्ञा पाकर, उसे सिर चढ़ाकर घर में रह करके परमगति (ब्रह्म) को प्राप्त करना है। (अब तो हमें) बुद्धि रूपी मटकी में (अज्ञानरूप) मृगतृष्णा का जल भरकर घृत (आनंद) के लिए उनको मन ही मन मथना है (उसमें कहीं आनन्द तो है नहीं -केवल मन की कल्पना है)"।[८१] पं० वामदेव जी का अर्थ पोद्दार जी से भिन्न है -"हे ऊधो। अब कुछ कहना नहीं है, कुबरीरवन कान्ह की ज्ञान भरी बातें सुन समझकर वैसा ही करना होगा। आज्ञा पा आज्ञा के अनुसार अपनी मर्यादा का पालन करते हुए घर में रहना ,बुद्धि रूपी हाड़ी में मृगजल भरकर घी के लिए मन ही मन मथना है। अर्थात् झूठी आशा से मन को सान्त्वना देना है।[८२] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने तीसरी पंक्ति का अर्थ कुछ भिन्न किया है -"देखो उद्धव। अब ये बातें कहने से क्या लाभ। अब तो कुबड़ी रमन (कृष्ण) की भेजी हुई ज्ञान की बातें सुन और समझकर मान ही लेनी पड़ेगी। अब तो घर को सिर नवाकर (घर से नाता तोड़कर) और घरवालों से आज्ञा लेकर (योग साधकर) पर गति प्राप्त करनी है। अतः घी निकालने के लिए बुद्धि की मटकी में मृगजल (कल्पित जल) भरकर उसे बैठकर मथना ही होगा।[८३]

रामायन सरन जी, पोद्दार जी, पं० वामदेव जी और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय के अर्थ यहाँ तर्क संगत नहीं प्रतीत होते। "मति मटकी" वाले

---

८०. श्रीकृष्ण ,पृ० ४०-४१

८१. वही, पृ० ४८

८२. वही, पृ० ४६

८३. हि०सं०प्र०ना०प्र०सभा०,काशी,पृ० ५७२

सांग रूपक का ग्रहण भी ऊधो के पक्ष में होना चाहिए, किन्तु इसका अन्वय गोपियों के पक्ष में किया गया है जो नितांत असंगत है। 'परमिति' का अर्थ चरम सीमा और मर्यादा दोनों होता है।[८४] यहाँ पर इसका अर्थ चरम सीमा या पराकाष्ठा ही ग्रहण किया जायगा। अतएव उक्त पंक्तियों का अर्थ होगा - 'गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! यह (ज्ञान, योग-साधन) बातें यहाँ (ब्रज में) कुछ भी नहीं कहना था। कुब्जा रमण-आनन्द की बातें सुनकर और चिंतन कर वहीं ग्रहण करने की वस्तु थी। (योग गुरु की) आज्ञा प्राप्त कर उन्हें प्रणाम कर (साधन) गृह (गुफा, कंदरा आदि) में निवास कर योग गति की पराकाष्ठा (चरम सीमा) प्राप्त करनी थी। पुनः बुद्धि रूपी मटकी में मृगजल रूपी ज्ञान गिरा से पूर्ण करके ज्ञानानंद रूपी घृत हेतु मन रूपी मथानी से मनन रूपी मंथन करना था।' पद की अन्तिम पंक्ति से यह और स्पष्ट हो जाता है। गोपी कहती है कि इन बातों को दब देना ही अच्छा है। ऊधो को भला-बुरा कहने से क्या लाभ? अर्थ-सांमंजस्य की की दृष्टि से यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। श्रीकांतशरण जी ने ऐसा ही अर्थ किया है।[८५] केवल 'परमिति' का अर्थ 'मर्यादा' किया है। अर्थंगत आन्तर्य या अन्वय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।

गूढार्थ से उत्पन्न अर्थ समस्यायें और उनका निदान

अंगद कहुँ जुवराज :-

> लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्रसमाज।
> राजु दीन्ह सुग्रीव कहुँ अंगद कहुँ जुवराज॥[८६]

श्रीराम जी ने लक्ष्मण जी से मात्र इतना कहा था कि 'राजु देहु सुग्रीवहि जाई', फिर लक्ष्मण जी ने अंगद को युवराज क्यों बना दिया? इससे तो श्रीरामजी की

---

८४. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ५८७

८५. श्रीकृष्ण, सि०ति०पृ० ६७

८६. मानस ४।११

आज्ञा का उल्लंघन होता है। किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। लाला भगवानदीन जी के शब्दों में - "जब लक्ष्मण जी चले थे तब रामजी ने केवल "राजु देहु सुग्रीवहिं जाई" कहा था, पर लक्ष्मण जी ने यहाँ आकर "राज दीन्ह सुग्रीवँ कहँ" के साथ "अंगद कहुँ जुवराज" पद भी दे दिया, इसमें कुछ लोग कह सकते हैं कि लक्ष्मण जी ने यह अपने मन से किया अथवा "पुरजन और विप्र समाज" के आग्रह से किया। पर यह बात नहीं है राम जी ने ही आज्ञा दी थी, तुलसीदास जी ने उसे प्रत्यक्ष नहीं किया है केवल एक शब्द के हेर-फेर में कह डाला है अर्थात् रामजी ने "राम कहा अनुजहिं समुझाई" इसमें "समुझाई" से अंगद की युवराज-पद की ओर ही लक्ष्य है। रामजी ने लक्ष्मण को यह समझाया था कि नगर की स्थिति अपने काबू में लाकर सुग्रीव के साथ ही अंगद को युवराज पद देना जिससे राज का उत्तराधिकारी वही हो, क्योंकि बालि अंगद को मुझे सौंप गया है।"[८७]

पं० विश्वनाथप्रसाद जी लिखते हैं कि "प्रस्तुत प्रसंग में "समुझाई" शब्द अंगद को युवराज बनाने का संकेत करता है, सावधानी पूर्वक युवराज बनाने का। अंगद को युवराज बनाना आवश्यक था। एक तो बालि का वध औचित्यपूर्ण नहीं था, जन विद्रोह संभावित था, दूसरे अंगद के विप्लव करने की संभावना थी। यदि अंगद रावण से मिल जाता तो शत्रु पक्ष प्रबल हो जाता। (अंगद के इस वचन - "सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्री रघुबीर हृदय नहिं जाकें।। (मा० ६।२१।१०) से स्पष्ट है कि रावण ने उनको मिलाने का प्रयास किया था) बालि ने उसे राम को सौंपा था। अतः विशेष ध्यान रखना आवश्यक था। सुग्रीव यदि विरुद्ध जायँ तो अंगद पक्ष में रहें आदि आदि अनेक हेतु कल्पित हो सकते हैं।"[८८] उक्त दोनों विद्वानों के शब्दों से स्पष्ट है कि श्रीराम जी ने "समुझाई" शब्द में अंगद के "यौवराज्य" का आदेश दे दिया था। श्रीराम जी शरणागत का कितना ध्यान रखते थे कि बालि के शरणागत होने पर उसके इन शब्दों पर -

---

८७. मानस किष्किंधा, पृ० २६।

८८. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २०४-२०५

"यह तनय मम सम विनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए ।[८९]

विशेष ध्यान रखते हुए इस "समुझाई" शब्द में सर्व प्रथम अंगद को युवराज बनाने को कहकर पुनः सुग्रीव को राज्य देने को कहा --

राम कहा अनुजहि समुझाई । राजु देहु सुग्रीवहि जाई ।।[९०]

श्रीराम जी का यह स्वभाव था कि जिस बात को वे परम गोपनीय रखना चाहते थे, उसको "समुझाई" शब्द में निहित कर देते थे । उदाहरणार्थ --

हरि जननी बहुविधि समुझाई । यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ।।[९१]

इस "समुझाई" का अभिप्राय है कि तुम यह समझकर कि मैंने "जगत-पिता" को पुत्र करके माना है, भयभीत न हो । "अदिति" और "शतरूपा" रूप में तुमने ही तप करके "मुझे" पुत्र रूप में प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की थी । वही मैं पुत्र रूप में अवतरित हुआ हूँ । पुनः समझाया कि वात्सल्य में लीन होकर तुम मुझे भूल रही थी, जो कि उचित नहीं है क्योंकि तुमने "विवेक" समाप्त न होने की याचना की थी --

जे निज भगत नाथ तव अहहीं । जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ।।[९२]

फिर शतरूपा रूप से जो तुमने अभिलाषा व्यक्त की थी --

उर अभिलाष निरंतर होई । देखिअ नयन परम प्रभु सोई ।।
अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहि परमारथ बादी ।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानंद निरुपाधि अनूपा ।।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना ।।[९३]
जो सरूप बस सिवमन माहीं । जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा । सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।।[९४]

----

८९. मानस ४।१०।छन्द १२-१३
९०. वही ४।११।६
९१. मानस १।२०२।८
९२. वही १।१५० और ८
९३. वही १।१४४।३-६
९४. वही १।१४६।४-५

यही में हूँ। इत्यादि भाव 'समुझाई' में भरे पड़े हैं। वेद पुरान सुनहिं मन लाई आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ।।[९५]

इस 'समुझाई' में वेद पुराणादि की अनेकानेक विस्तृत व्याख्यायें अन्तर्निहित हैं। इसी प्रकार --

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ।।[९६]

इस 'समुझाएहु' में श्रीराम जी ने यह आदेश दिया था कि 'सीता को न लाना'। तभी तो हनुमान जी ने सीता जी से कहा कि --

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई ।।[९७]

कुछ लोग कहते हैं कि 'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु' के 'तुम्ह आएहु' से स्पष्ट है कि तुम ही आना, सीता जी को साथ न लाना।[९८] किन्तु यह बात उपयुक्त नहीं लगती। 'प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई' से पूर्णतः स्पष्ट है कि श्रीरामजी ने हनुमान जी को स्पष्ट आदेश दिया था कि 'सीता को मत लाना' और यह आदेश 'समुझाएहु' में उसी तरह निहित है जैसे उपर्युक्त 'समुझाई' में अंगद का युवराज पद। यहाँ पर "अंगद को युवराज-पद" देना गूढ़ार्थ कहा जाएगा।

सगुन न जानहि कोइ

निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ ।।[९९]

अर्थात् निर्गुण रूप अत्यंत सुगम है। सगुण रूप को कोई जानता ही नहीं नहीं। सुगम और अगम अनेक चरित्रों को सुनकर मुनियों के मन में भ्रम हो जाता है।

---

९५. मानस १।२०५।६
९६. वही ५।२३।११
९७. वही ५।१६।३
९८. मा०पी० किष्कि०पृ० २००
९९. मानस ७।७३।

निर्गुनिया उपासकों ने सगुण को सुगम और निर्गुण को अगम करके माना है। इसी भ्रम में सगुणोपासक भक्त कवि सूरदास भी फँस गये। सूरदास जी कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह परमस्वाद और अधिक तोष उत्पन्न करने वाला है, परन्तु उसका स्वाद और तोष गूँगे के गुण की भाँति अस्वाद्य और प्राप्य है। यथा -

मन बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।।[100]

किन्तु गोस्वामी जी ने बराबर इस धारणा का खंडन किया है। उनके अनुसार निर्गुण सुलभ और सगुण दुर्लभ -

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।।
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी।।[101]
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी।।[102]

निर्गुणोपासकों की सगुण की सुलभता की प्रसिद्धि को समाप्त करने के कारण ही गोस्वामी जी को "सगुण की दुर्लभता" का व्याख्यान करना पड़ा। "सगुण की दुर्लभता" को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने स्तुत्य प्रयास किया है।

श्रीरामदास गौड़ जी के अनुसार - सत्व, रज, तमादि गुणों से परे, आदि-अन्त रहित, निराकार, अखंड आदि निर्गुण ब्रह्म के विशेषण सभी नकारात्मक हैं। नाम का अभाव, रूप का अभाव और गुण का अभाव, इन तीन अभावों से निर्गुणरूप कल्पना में नहीं आ सकता। यह जगत् मिथ्या है, माया की कल्पना है, केवल ब्रह्म के अधिष्ठान से सत्य-सा लगता है। निर्गुण ब्रह्म का यह ज्ञान मन को और कल्पना शक्ति को छुट्टी दे देता है। इन्द्रियों में वाक्-इन्द्रिय से और बुद्धि से सहज ग्राह्य दीखता है। जानने में यह बहुत सुलभ है। सगुण ब्रह्म के जानने में

----

१००. सूर-सुषमा, पद १
१०१. मानस ६।७४।१-२
१०२. वही १।१२१।२

यहाँ कठिनाई यह है कि उसमें समस्त भावों की पूर्णता का अनुमान करना पड़ता है। जो अव्यक्त है उसकी अव्यक्तता और अगोचरता ही पर संतोष हो जाता है परन्तु जो व्यक्त है उसके गुण नकारात्मक नहीं हैं, इसलिए उसके व्यक्त रूप की आदर्श कल्पना करनी पड़ती है। उसे किसी ने देख पाया नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष अनुभव से तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता, जिसने देखा है वह वर्णन नहीं कर सकता, जिसने जाना है वह पहुँच से बाहर हो गया है -- "आँखु कि सुवर सुद सुमरस काज न आमद" "सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई", "स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।" पूर्णता को व्यक्त करने के लिए वह शब्द कहा है और देखने के लिए वह इन्द्रिय कहाँ जिससे पूर्णरूप का दर्शन हो सके। वह पूर्ण-विकसित इन्द्रिय कहाँ है जिससे कि उस रूप का श्रवण स्पर्श, घ्राण, रसन आदि हो सके। इन्द्रियाँ परिच्छिन्न हैं। इन इन्द्रियों से सगुण रूप का अनुभव असंभव है। सगुणरूप की विरह-विभूति के क्षणिक दर्शन मात्र के लिए अपने परमभक्त और सखा अर्जुन को "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" कहते हैं। तुमको दिव्य आँख देता हूँ तू मेरे ऐश्वर्य -योग को देख। कमल पर बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा अपने सिरजन हार के चिन्तन में हैरान हैं और कमल नाल से सैकड़ों वर्ष उतरकर खोजकर परेशान होते हैं तब कहीं भगवत्कृपा से नारायण रूप का दर्शन होता है। निराकार के दर्शन के लिए कौन मूर्ख परेशान होगा ? उसकी निराकारता तो सहज सुलभ है। परन्तु साकारता ही तो गजब ढा देती है। कैसी है, कहाँ है, किस तरह की है ? खोजने वाले को हैरान कर देती है। बार-बार भगवान् कहते हैं कि यह सारा जगत् मुझमें है और मेरा अत्यन्त अल्प अंश है, परन्तु यह कैसी अद्भुत बात है कि उन्हीं की गोद में होकर हम उनके शरीर का कोई भी अंश देख नहीं सकते। उनसे इतने पास है कि देश और काल का कोई अन्तर नहीं है। साथ ही दूर इतने हैं कि अत्यन्त जवीयस् मन पहुँच नहीं सकता। सगुण रूप ऐसा दुर्लभ और अगम है। यही सगुणरूप जगत् की सृष्टि के लिए अनिवार्य है और सृष्टि भक्त प्रेमवश होती है। इसीलिये कहा है --

ब्रह्म अनादि अगुन अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।

इस अज्ञेय सगुण रूप को अपने भक्तों को सुलभ बनाने के अर्थ सगुण ब्रह्म के अवतार होते हैं और भगवान् अपनी माया से तरह-तरह के रूप धारण करते

है । इस तरह दुर्लभ सगुण रूप को सुलभ कर देते हैं । अवतार के इस रहस्य को जो तत्त्वत: नहीं समझते हैं भ्रान्ति में पड़े रहते हैं । भगवान् की माया बड़ी प्रबल है, बड़े-बड़े मननशील योगी और मुनि भी भगवान् की माधुर्य लीला से मोहित हो जाया करते हैं फिर साधारण जनों की बात ही क्या है ? यह सगुणरूप की दुर्लभता अपने को प्राकृत नरलीला में भी व्यक्त किये बिना नहीं रहती । इसीलिये कहा कि सगुण रूप को कोई नहीं जानता, उसको जो जानता है वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता - "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। गीता ।। ४-९ ।।"

"हे अर्जुन ! मेरे दिव्य अर्थात् अलौकिक जन्म और कर्म को जो पुरुष तत्त्वरूप से जानता है वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता किन्तु मुझ में मिल जाता है - "सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।।"

सगुण रूप को तत्त्वरूप से जानना स्वयं तन्मय हो जाना है और यह जितना दुर्लभ है उतना ही सगुण रूप का ज्ञान दुर्लभ है । भक्तों के लिए सगुण रूप को सुलभ करने के साधन ही अवतार हैं । क्योंकि जैसे सगुण रूप का ज्ञान दुर्लभ है वैसे ही उसकी उपासना सहज सुलभ है । और जैसे निर्गुण रूप सुलभ है वैसे ही निर्गुण की उपासना बहुत कठिन है । उपासना की दृष्टि से सुगमता और दुर्गमता का वर्णन गीता जी के अ० १२ में हुआ है ।"[१०३]

श्रीकान्त शरण जी लिखते हैं - "निर्गुण में प्रकट व्यापार, माधुर्य-चरित आदि नहीं हैं कि जिनके जानने में कठिनता हो । निराकार, निरवधि, नाम रहित, रूप रहित, आदि अगोचर आदि निषेधात्मक विशेषणों से उसका निर्देश होता है । वह सदा एकरस रहता है, सर्वव्यापक अखंड रूप से परिपूर्ण है । उसके विषय में भ्रम होने का डर नहीं रहता । इस तरह उसका जानना अति सुगम है, किन्तु उनका साधन कठिन है, सगुण के सुगम-अगम नाना चरित होते हैं, जैसे कि धनुर्भंग, परशुराम पराजय, बालि आदि के वध से उनका जानना सुगम होता है और

----

१०३. मा०पी०,उत्त०,पृ० ३७८-७९

सीता विरह में विलाप नाग पाश बंधन आदि अति माधुर्य के चरित्रों से उसका ऐश्वर्य जानना अति अगम हो जाता है। इन चरित्रों में भी भरद्वाज जी, श्रीसतीजी एवं श्री वशिष्ठ जी तक को भ्रम हो जाता है। इस तरह सगुण के जानने में कठिनता है। पर जान लेने पर महाविश्वासपूर्वक शरणागति से उसकी प्राप्ति अति सुगम हो जाती है।" [१०४] मनुष्य की बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं। इनमें अपरिमित ब्रह्म के अगम चरित्र आदि कैसे आ सकते हैं? व्यास जी ने इस पर सूत्र भी लिखा है। तथा "तर्काप्रतिष्ठानादपि। ब्र०सू० २।१।११।" अर्थात् उसके विषय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्यों के तर्क से बाहर है। "अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिक निषेधोऽपि दृश्यते। ब्र०सू० आनन्द भाष्य २।१।११।" अर्थात् अपनी परिमित बुद्धि से अचिन्त्य वस्तु में तर्क योजना नहीं करनी चाहिए। तथा - "नैषा तर्केण मतिरापनेया। कठ०१।२।९।" अर्थात् बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्मतत्त्व तो शुद्धचित्त सात्त्विक उपासक के समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है, यथा - "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कठ० १।२।२२।" [१०५]

विजयानंद त्रिपाठी जी के अनुसार - "प्रकृति पार पुरुष को जानना अत्यंत सुलभ है, क्योंकि उसमें कुछ करना धरना नहीं है। केवल चुप होकर बैठ जाने से वह जाना जाता है, यथा - "सदस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितं न तु भूयते। तूष्णीं स्थितो न शून्य त्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात्। पंचदशी।। अतः उसे अत्यन्त सुलभ कहा, परन्तु सगुण ब्रह्म को कोई नहीं जानता, वह तो मायी है, बिना माया को जाने वह जाना नहीं जा सकता और माया सत्वासत्व से अनिर्वचनीया है। उसे कोई कैसे जान सकता है। अतः उन मायी का चरित्र ऐसा है समझ में ही नहीं आता, यथा कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित खगेस अस राम कर समुझि परै कहु काहि।।" [१०६]

---

१०४. मानस, सि०ति०, कु० सं०, पृ० २६०३

१०५. मा०पी० लंका०, पृ० ३६६

१०६. वि०टी०, उ०का०, पृ० १२८

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण रूप सुलभ है। किन्तु साधना के सिलसिले में आत्मा और ब्रह्म की एकता की धारणा है, उस समय वह कठिन और अज्ञेय है। सगुण ब्रह्म को जानना इसलिए कठिन है, कि लीला रूप गुण आदि से सम्बन्ध होने के कारण उसका ब्रह्मत्व छिप जाता है या अज्ञेय हो जाता है। ऐसे ही समय में सती जी, गरुड़ जी, जयंत, नारद, वशिष्ठ और ब्रह्मादिक को भ्रम हो गया। वात्सल्य में मग्न होने के कारण कौशल्या जी को भी भ्रम हो गया था-

जहाँ तहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा।।[१०७]

निर्गुण रूप में लीला, रूप, गुण आदि का सम्बन्ध न होने से वह सुलभ है। सगुण-रूप के दुर्लभता के विषय में श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी ने कहा है -

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा।।
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः।। [१०८]

अर्थात् हे अनन्त! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का ज्ञान कठिन होने पर भी निर्गुण स्वरूप की महिमा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके शुद्धान्तःकरण से जानी जा सकती है। जानने की प्रक्रिया यह है कि विशेष आकार के परित्याग पूर्वक आत्माकार अन्तःकरण का साक्षात्कार किया जाय। यह आत्माकारता घट-पटादि रूप के समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरण का भङ्ग मात्र है। यह साक्षात्कार "यह ब्रह्म है," "मैं ब्रह्म को जानता हूँ" इस प्रकार नहीं, किन्तु स्वयं प्रकाश रूप से ही होता

---

१०७. मानस १।२०१।७

१०८. श्रीमद्भागवत १०।१४।६-७

है । परन्तु भगवन् ! जिन समर्थ पुरुषों ने अनेक जन्मों तक परिश्रम करके पृथ्वी का एक-एक परमाणु, आकाश के हिमकण (ओस की बूंदें) तथा उसमें चमकने वाले नक्षत्र एवं तारों तक को गिन डाला है - उनमें भी भला, ऐसा कौन हो सकता है, जो आपके सगुण स्वरूप के अनंत गुणों को गिन सके ? प्रभो ! आप केवल संसार के कल्याण के लिये ही अवतीर्ण हुए हैं । हे भगवन् ! आपकी महिमा का ज्ञान तो बड़ा कठिन है । अतः स्पष्ट है कि सगुण रूप अज्ञेय है ।

'सगुण' में कोई चरित्र तो अत्यन्त सुगम है और कोई अत्यन्त अगम । जिसमें तर्क किया जा सके, वह ~~सुगम~~ अत्यन्त सुगम है जिसमें तर्क न किया जा सके, वह अगम है । दुष्टों के दमन और युद्धादि में ऐश्वर्य रूप में भगवान् की शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन रहता है । जैसे अबंध, विराध खरदूषणादिक का वध सुगम चरित्र है । नरलीला में उसका गुरुत्व अज्ञेय हो जाता है तब साधारण की तो बात ही क्या अहर्निश मनन करने वाले मुनियों तक को भ्रम हो जाता है । जैसे-विलाप में वृक्षादि से पूछना, नागपाश-बंधन इत्यादि । यह भगवान का अगम चरित्र है । उपासना के पक्ष में सगुण रूप सुलभ है किन्तु इसका ज्ञान दुर्लभ है । इसके विपरीत निर्गुण रूप की उपासना कठिन है, किन्तु उसका ज्ञान दुर्लभ नहीं । अतएव सगुन न जानहि कोई गूढ़ार्थवाची वाक्य कहा जायगा । गूढ़ार्थ वाची होने के कारण इसके विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता थी ।

<u>हार्यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि</u>

> रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहू नाम-बल,
>
> हार्यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि ।।[109]

पं० सूर्यदीन शुक्ल,[110] रामेश्वर भट्ट जी,[111] गयाप्रसाद जी,[112] महावीरप्रसाद मालवीय जी,[113] वियोगी हरि जी,[114] देवनारायण द्विवेदी जी[115] और अनु-

---

१०९. विनय० २४७

११०. वही, पृ० २७०

१११. वही, पृ० ३३५ — ११२. वही, पृ० ३४१

११३. वही, पृ० ३०६ — ११४. वही, पृ० ५५८

११५. वही, पृ० ४०६-७

हनुमानप्रसाद पोद्दारजी[११६] आदि टीकाकारों ने 'खारो भयो भूसुर-करनि' का अर्थ अगस्त्य जी से सम्बन्धित माना है। उक्त टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है — 'अगस्त्य ऋषि ने भी इसी राम-नाम के बल पर विन्ध्याचल पर्वत को रोक लिया एवं समुद्र को सुखा लिया था। पीछे वह समुद्र उन्हीं ब्राह्मण (अगस्त्य) के भय से हृदय में हार मानकर खारा हो गया।' किन्तु जब अगस्त्य ऋषि समुद्र सोख ही गये तब जल कहाँ शेष रहा जो खारा हो जाए।

समुद्र को भरने के दो प्रमाण प्राप्त होते हैं। प्रथम स्वयं गोस्वामी जी ने गंगा जी के द्वारा समुद्र को भरने की चर्चा की है - 'सगर सुवन-साँसति-समनि, जलनिधि-जल-भरनि।[११७] 'महाभारत वनपर्व के अनुसार अगस्त्य जी ने, देवताओं की पुनः प्रार्थना पर कि अब समुद्र को फिर अपने पिये हुए जल से भर दीजिए, यह उत्तर दिया कि वह जल तो पच गया, तुम उसके भरने का कोई और उपाय सोचो। ब्रह्मा जी के पास जाने पर उन्होंने देवताओं को आश्वासन दिया कि भगीरथ महाराज गंगा जी को लावेंगे, वे आकर सगरपुत्रों का उद्धार करेंगी और समुद्र को भर देंगी। ऐसा ही हुआ भी। यथा —

> महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
> ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः ।।
> पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।[११८]

इस वचन की पूर्ति भगीरथ महाराज द्वारा हुई —

> समासाद्य समुद्रं च गंगया सहितो नृपः ।
> पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।[११९]

अर्थात् राजा भगीरथ ने गंगा जी के साथ समुद्र तट पर जाकर वरुणालय समुद्र को बड़े वेग से भर दिया। आगे लोमश जी के और भी स्पष्ट शब्द हैं —

---

११६. विनय० पृ० ३८६

११७. वही, २०

११८ महा० वन० १०६।२

११९. वही १०९।१७-१८

पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।

समुद्र को भरने के लिए ही गंगा पृथ्वी पर उतारी गई थीं । द्वितीय आनन्द रामायण में उल्लेख मिलता है कि सुना है कि क्रोध से कुंभज जी ने उसे पी लिया था और मूत्र द्वार से इसे भर भी दिया, इसी से वह खारा हो गया - "पीतोऽयं जलधि: पूर्वं श्रुतं क्रोधादगस्तिना । मूत्रद्वाराद्बहिस्त्यक्तो यस्मात् क्षारत्वभागत: ।।[121]

~~क्रोधादगस्तिना । मूत्रद्वाराद्बहिस्त्यक्तो यस्मात् क्षारत्वभागत:~~ किन्तु यह कथा यहाँ तर्क संगत नहीं प्रतीत होती । क्योंकि मूत्र तो स्वभावत: खारा होता है । यदि समुद्र मूत्र से पूर्ण किया गया तो भृगुर के डर से खारा होने का प्रकरण ही नहीं रह जाता । "खारोंभियों" से यह प्रतीत होता है कि समुद्र में जल था और "भृगुर के डर के कारण खारा हुआ था ।

समुद्र के खारा होने का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों की महत्ता सिद्ध करने वाली अनेक कथाएं अर्जुन से कहीं हैं । यहाँ से प्रारंभ करके कि ब्राह्मणों ने ही देवता, असुर और महर्षि आदि भूतविशेषों को उनके अधिकार पर स्थापित किया और उनके द्वारा अपराध होने पर उन्हें दण्ड भी दिया । उन्हीं में से एक कथा समुद्र को दण्डित करने की मिलती है । वह कथा है -" एक समय भगवान विष्णु लोकहितार्थ वडवामुख " नामक महर्षि होकर सुमेरु पर्वत पर तपस्या कर रहे थे । एक दिन उन्होंने समुद्र का आवाहन किया, किन्तु वह उनके पास नहीं गया । तब उन्होंने कुपित होकर समुद्र का जल स्थिर कर दिया और अपने शरीर के पास से उसे पसीने के समान खारा करके कहा-" आज से तुम्हारा जल अपेय हो जायगा । तेरा यह जल वडवा मुख के द्वारा बारंबार पिया

---

121. आनन्द रामायण, विलासकाण्ड सर्ग ६।२१

122. नारायणो लोक हितार्थं वडवामुखो नामपुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यत: समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्र : स्तिमित जल: कृत: स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणा भावो जनित: ।" उक्तश्चाप्येयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुख संज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति ।

—महा० शान्तिपर्व ३४२।६०-६१

जाने पर मधुर होगा ।" इस कथा से स्पष्ट है कि ब्राह्मण महर्षि वड़वामुख ने समुद्र के जल को खारा किया है । समुद्र को यह दंड दिया गया अतः वह भुधुर के डर से खारा ही बना रहता है । नाम-जप के प्रभाव से ही वड़वामुख ब्राह्मण ने उसके जल को खारा किया । श्रीजानकीनंदनशरण जी[123] और श्रीकांतशरण जी ने[124] इस कथा को स्वीकार करके अर्थ किया है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - "कुंभज अगस्त्य जी ने भी नाम के ही प्रभाव से विंध्याचल (की बाढ़) को रोक दिया और समुद्र को सोख लिया । वह ब्राह्मण वड़वामुख के डर से हृदय से हार मानकर खारा हो गया ।" यहाँ पर भुधुर के डर से समुद्र के खारा होने को गूढ़ार्थी कहा जायगा ।

<u>त्यागै तैं प्रयाग तनु</u>

तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु ,
धन ही के हेतु दान देत कुरुखेत रे ।।[125]

प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ - "तुलसीदास जी कहते हैं कि बिना विश्वास के ही तू प्रयाग में देह त्याग करता है तथा धन के लिए ही तू कुरुक्षेत्र में दान देता है ।" यहाँ प्रश्न है कि काशी में शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है, ऐसा प्रसिद्ध है । गोस्वामी जी ने भी लिखा है -

मुक्ति जन्ममहि जानि ज्ञानखानि अघहानि कर ।[126]

अयोध्या में भी शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है -

चारि खानि जग जीव अपारा । अवध तजें तनु नहिं संसारा ।[127]

यही नहीं सात स्थानों पर शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है -

---

123. वि०पी०,सं०प्र०,पृ० २४७-४८
124. विनय० सि०ति०,पृ० १४७२
125. कवितां० ७।१८२
126. मानस ४।सोरठा - १
127. वही, १।३४।४

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्ति दायिका ।।[१२८]

किन्तु इनमें कहीं भी प्रयाग का उल्लेख नहीं है। प्रयाग में अस्थि-विसर्जन की प्रसिद्धि अवश्य है। परन्तु यहाँ पर प्रयाग में शरीर त्याग करने की बात कही गयी है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही उल्लेख किया है -

कासी बिधि बसि तनु तजें हठि तन तजें प्रयाग ।
तुलसी जो फल सो सुलभ राम नाम अनुराग ।।[१२६]

इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि लोग प्रयाग में शरीर त्याग करते थे। हिन्दी शब्द सागर में मत्स्य पुराण का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है - संगमपर जो लोग अग्नि द्वारा देह विसर्जित करते हैं वे जितने रोम हैं उतने सहस्र वर्ष स्वर्गलोक में वास करते हैं।[१३०] रामप्रताप त्रिपाठी जी लिखते हैं कि - "प्राचीन काल में प्रयाग के नीचे धरती में भाला गाड़कर लोग अक्षयवट पर चढ़कर कूदते थे और इस प्रकार शरीर त्याग करने का विश्वास करते थे कि दूसरे जन्म में मन की अभिलाषायें पूर्ण होंगी। इसी परम्परा की ओर गोस्वामी जी का संकेत है। मत्स्यपुराण में इसका उल्लेख किया गया है।"[१३१] मत्स्य पुराण में प्रयाग में शरीर-त्याग करने का माहात्म्य इस प्रकार बताया गया है -"जो मनुष्य प्रयाग में अपने प्राण त्याग करते हैं, वे पुनः उत्पन्न नहीं होते।"[१३२]मनुष्य किसी व्याधि से पीड़ित हो, दीन हो, अथवा वृद्ध हो, किसी विपत्ति में ग्रस्त हो, यदि इस प्रयाग क्षेत्र में गंगा तथा यमुना के पुनीत संगम पर अपने प्राणों को छोड़ता है, तो वह तपाये हुए सुवर्ण की भाँति सुंदर, सूर्य के समान तेजोमय विमानों द्वारा, गंधर्व एवं अप्सरा समूह के मध्य-भाग में सुशोभित होकर स्वर्गलोक में क्रीड़ा करता है और अपने यथेष्ठ मनोरथों की

---

१२८. मा० पी०, किष्कि०, पृ० ६

१२६. दोहा १४

१३०. दे० पृ० ३१६०

१३१. कवितावली०, पृ० २५६

१३२. मत्स्यपुराण, अध्याय १०४। अनुवादक, रामप्रताप त्रिपाठी, पृ० २४४

प्राप्त करता है..... ऐसा ही महर्षियों ने कहा है ।[१३३]

इस पवित्र तीर्थ में गंगा-यमुना के संगम पर प्राणों को छोड़ने वाला प्राणी उस श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है, जिसे योगी एवं सत्य परायण मनीषी लोग प्राप्त करते हैं ।[१३४] प्रयाग तीर्थ में स्थित अक्षयवट के मूल भाग पर जाकर जो अपने प्राणों को छोड़ता है वह अन्य समस्त लोकों का अतिक्रमण कर रुद्रलोक में निवास करता है, जब तक दृष्टि का प्रलय नहीं होता ।[१३५] जो मनुष्य प्रयाग तीर्थ में सिर को नीचे तथा पैरों को ऊपर की ओर करके अग्नि की ज्वाला का पान करता है, वह एक लाख वर्ष तक स्वर्गलोक में पूजित होता है ।[१३६]

इसी माहात्म्य के कारण गोस्वामी जी ने प्रयाग में शरीर त्याग करने की चर्चा की है । कुरुक्षेत्र में दानार्थ द्रव्यार्जन कष्टप्रद होने के कारण वहां पर दान का विशेष माहात्म्य बताया जाता है । वहां प्रयाग में शरीर त्याग करना गुढ़ार्थी है ।

पद एक की एक पंक्ति --

महाराज, भलोकाज बिचार्‌यो वेगि बिलंब न कीजे ।।[१३७]

इसका अर्थ टीकाकारों ने किया है -- वाह राजन् ! यह तो आपने बहुत अच्छी लड़ अच्छी बात सोची है । यह काम झटपट कर डालना चाहिए । देर नहीं करनी चाहिए ।" किंतु यह तो उक्त पंक्ति का शब्दार्थ हुआ । इसमें अनेक भाव अथवा अर्थ-कल्पियां भरी पड़ी हैं । इसे अर्थगर्भित अति आकर गौरे कह सकते हैं । उक्तचरण में तीन खंड हैं --

१. महाराज, २. भलोकाज बिचार्‌यो , ३. वेगि बिलंब न कीजे ।

महाराज पद से राजा दशरथ का शासन गौरव व्यंजित होता है । इतना ही नहीं

---

१३३. मत्स्यपुराण, अध्याय १०५, पृ० २४५

१३४. वही, अध्याय १०६, पृ० २४८

१३५. वही, अध्याय १०६, पृ० २४७

१३६. वही, अध्याय १०६, पृ० २५०

१३७. गीता० १।१।३

इसमें निम्नलिखित भाव अन्तर्निहित हैं --

अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ । बेदबिदित तेहि दसरथ नाऊ ।।
धर्म धुरंधर गुन निधि ज्ञानी ।[१३८]

सीता जी के ये शब्द भी हैं --

ससुर चक्कवइ कोसल राऊ । भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ।।
आगें होइ जेहि सुरपति लेई । अरध सिंघासन आसनु देई ।।[१३९]

इसके अतिरिक्त ये गुण भी ध्वनित होते हैं --

सुरपति बसइ बाँहबल जाके । नरपति सकल रहहिं रुख ताकें ।।
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे ।[१४०]

'महाराज' शब्द से वाल्मीकि रामायण १,६ और ७ में जो कुछ लिखा है वह सूचित कर दिया । अर्थात् राजा वेदज्ञ , तेजस्वी, प्रजा के प्रिय, महान वीर, जितेन्द्रिय, राजर्षि, महर्षियों के समान तीनों लोकों में प्रसिद्ध ऐश्वर्य में इन्द्र और कुबेर के समान, (अवध राजु सुमाजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनद लजाई)[१४१] लोक के रक्षक, सत्य प्रतिज्ञ, शीलवान्, चरित्रवान्, धर्म धुरंधर, मनु के समान पुरी के रक्षक, पापहीन, अधर्म का नाश करने वाले, उदारदाता, ब्रह्मण्य, शत्रुहीन, महान प्रतापी और पराक्रमी थे । इन्द्र भी उनकी सहायता लिया करता था और उनको अपने साथ सिंहासन पर बिठाया करता था । इत्यादि, ये ऐसे प्रतापी थे कि इनका रथ दसों दिशाओं में बेरोक जाता था, इसीलिए इन्हें दशरथ कहते थे । देवासुर संग्राम में तथा शनैश्चर से युद्ध करने के लिये ऊर्ध्व दिशा में रथ समेत गये ही थे ।[क] तात्पर्य यह है कि 'महाराज' शब्द से उक्त सभी भाव ध्वनित होता है । अतएव जब

---

१३८. मानस १।१८८।७-८
१३९. वही, २।९८ ।३-४
१४०. वही २।२५।२ और ४
१४१. वही २।३२३। ६
क. मा०पी०,बाल० खं० ३, पृ० १- २ ।

'महाराज' दशरथ इस प्रकार के थे और उनके शासन काल में किसी व्यक्ति को किसी प्रकार कष्ट नहीं हुआ तो - भलो आज विचार्यो ' ऐसा तुरंत क्यों कहा गया ? गीतावली का यह पद्य वशिष्ठ जी का है । किन्तु मानस में दशरथ जी के द्वारा राम के युवराज करने के समाचार को सुनकर मंत्री ने कहा था --

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी । अभिमत बिरव परेउ जनु पानी ।।
बिनती सचिव करहिं कर जोरी । जिअहु जगतपति बरिसकरोरी ।।
जगमंगल भल काजु बिचारा ।[१४२]

राजा दशरथ को यह संदेह हुआ कि हमारे राज्य का तो सब लोगों ने अनुभव भी किया है और प्रत्यक्ष देखा भी है । तब राम-राज्य का नाम लेते ही, ये लोग क्यों सद्यः तत्पर हो गये । वाल्मीकि रामायण में राजा ने जब अपने इस प्रस्ताव को अपने सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया तो सभा में सब लोग मुदित हुए जैसे बरसने वाले मेघों के गर्जन को सुनकर मयूर उस गर्जन-ध्वनि का अनुकरण अपने शब्दों द्वारा करते हैं --

'इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपानृपम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ।।'[१४३]

वाल्मीकीय में ही जब राजा ने अपने इसी उद्देश्य को मंत्रियों के समक्ष रखा तो सब लोग राजा की बात सुनकर प्रसन्न हुए और एकमत्य होकर सबने कहा कि हम सब चाहते हैं कि रामराजा हों ।तब राजा ने ऊपर से रुष्ट होकर कहा कि हमें संदेह होता है कि आप लोगों ने मेरा अभिप्राय होने के कारण अपनी स्वीकृति दी है या आप लोगों का यथार्थ मत भी यही है, क्योंकि आप लोगों ने तुरंत हामी भर ली, सभी एक साथ सहमत हो गये । मैं तो धर्म पूर्वक राज्य करता ही था, फिर आप एक युवराज देखने की इच्छा क्योंकर रहे हैं ? यह सुनकर वे सब राजा से विनती करने लगे कि श्रीरामजी में लोकोत्तर गुण हैं जिसके कारण हम सबों ने तुरत अपनी स्वीकृति देदी । आप वे सब गुण सुनें हम कहते हैं, ये गुण सबको प्रिय और आनन्द देने वाले हैं । यथा --

प्रियानानन्दनात्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य तांशृणु ।[१४४]

इसके आगे सर्ग के अन्त तक श्रीरामजी के गुणों का वर्णन करके अन्त में उन्होंने कहा

----
१४२. मानस० २।५।५-७   १४३. वाल्मी०२।२।१७   १४४. वही २।२।२७

कि लोककल्याण में लगे हुए भगवान देव, देव विष्णु के समान, उदार गुणों वाले श्रीराम का, हम लोगों के कल्याण के लिए शीघ्र आपको राज्याभिषेक करना चाहिए

तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।

हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ।।[१४५]

यहाँ काज विचारयों में उक्त सभी भाव निहित हैं। प्रश्न है कि राम का राज्याभिषेक करना है और कार्य भी उत्तम एवं सर्वजन सम्मत है तो इतनी शीघ्रता क्यों? और फिर तुरंत तैयार करने को कहकर 'विधि दाहिनो होइ तो' क्यों कहा गया। इससे स्पष्ट है कि वशिष्ठ जी का राम के युवराज बनने में संदेह था। मंत्री ने भी कहा कि - 'बेगिअ नाथ न लाइअ बारा।।[१४६] मानस में वशिष्ठ जी ने कहा कि --

बेगि बिलम्बु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु ।

सुदिन सुमंगल तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु ।।

इससे स्पष्ट होता है कि या तो वशिष्ठ जी संदिग्धावस्था में थे या राम की इच्छा के विपरीत वे सोच भी नहीं सकते थे, इसीलिए 'विधिदाहिनों होइ तो' कहा। भरत जी ने भी जब कहा कि -

भानुबंस भये भूप घनेरे । अधिक एक तें एक बड़ेरे ।।

जनमहेतु सब कहँ पितुमाता । करम सुभासुभ देइ बिधाता ।।

दलि दुख सजइ सकल कल्याना । अस असीस राउरि जगु जाना ।।

सो गोसाँइ बिधिगति जेहिं छेंकी । सकइ को टारि टेक जो टेकी ।।

बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सबु मोर अभागु ।

सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु ।।[१४७]

तब वशिष्ठ जी ने कहा कि हे तात ये बातें सत्य हैं, किन्तु यह राम कृपा से ही हुआ।

---

१४५. वाल्मीकि० २।२।५४

१४६. मानस २।५।७

१४७. वही २।२५४।५-८

तात बात फुरि राम कृपाहीं । राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ।।[१४८]

वशिष्ठ जी के मार्मिक शब्दावली को मनोरथ विमोहित महाराज दशरथ नहीं समझ पाये । उक्त छोटी सी पंक्ति में मानस और वाल्मीकि रामायण के वशिष्ठ जी और मंत्रियों की उपर्युक्त आदि अनेक बातें समाविष्ट हैं । अतएव उक्त पद की विवेच्य पंक्ति गूढ़ार्थ प्रधान कही जा सकती है ।

चित्रकूट - कथा

चित्रकूट कथा कुशल कहिं सीस नायो कीस ।क

मुनिलाल जी,[१४६] बैजनाथ जी,[१५०] ठाकुर बिहारीलाल जी,[१५१] हरिहरप्रसाद जी,[१५२] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय[१५३] ने अर्थ किया है कि चित्रकूट की कथा हनुमान जी ने सीता जी से कहा । किन्तु श्रीकांतशरण जी ने चित्रकूट की कथा सीता जी द्वारा वर्णित बतायी है ।[१५४] यह सत्य है कि वाल्मीकि रामायण (५।३८) और मानस में एक खुल की कथा सीता जी ने हनुमान जी से कही है -

तात शक्रसुत कथा सुनाएहु । बन प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ।।[१५५]

किन्तु घटना को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि को किसी भी कथा में कल्पना की पूरी छूट है । फिर अभी बात तो हनुमान जी ही कर रहे हैं । सीता जी ने इस पंक्ति के बाद उस समय आशीर्वाद दिया है जब कि उन्हें विश्वास हो गया है कि यह मेरे स्वामी का प्रिय दास है । विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह हनुमान जी द्वारा ऐसी परम गोपनीय चित्रकूट की कथा कहना, यह अत्यंत उपयुक्त है । क्योंकि इस कथा को राम और सीता के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था । मानस में भी ऐसा ही एक प्रसंग है -

रामदूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुना निधान की ।।[१५६]

---

१४८. गीता० ५।६

१४६. वही, पृ० २६४

१५०. वही, पृ० ३६६

१५१. वही, पृ० २२५

१५२. वही, सुन्दर०, पृ० २२

१५३. हि०सं०अ०भा०वि०प०रि०, पृ०४६७

१५४. गीता० सि०ति०, पृ० ६७४

१५५. मानस ५।२७।५

१५६. मानस ५।१३।६

'श्री पहला जी कहते थे कि - स्त्रियाँ को स्वामी को सम्बोधन करने के लिए कुछ खास नाम रखता है । महारानी जी सरकार को 'करुणानिधान' विशेषण से सम्बोधन किया करती थीं । यह गुप्त बात थी, प्रभु ने हनुमान जी से बता दी थी । अत: उन्होंने इस नाम का यहाँ प्रयोग किया । मुद्रिका देने पर विश्वास न हुआ पर इस नाम के सुनने पर विश्वास हो गया । गोस्वामी जी ने सीता जी के साथ इस नाम का प्रयोग इसी विचार से जहाँ-तहाँ किया है । यथा -

'अतिशय प्रिय करुनानिधान की । सरल प्रकृति आप जानियत करुना-निधान की ।।' (विनय०)[१५७] मानस में भी 'करुणानिधान' कहने पर सीता जी को विश्वास हुआ था -

कपि के वचन सप्रेम सुनि उपजा मन विश्वास ।
जाना मन क्रम वचन यह कृपासिंधु कर दास ।।[१५८]

यहाँ पर भी चित्रकूट की कथा श्रीराम जी ने हनुमान जी से बतायी होगी । तभी तो कवि ने लिखा है कि -

चित्रकूट कथा कुसल कहि सीस नायो कीस ।
सुहृद सेवक नाथ को लखि दई अचल असीस ।।[१५९]

अर्थात् फिर हनुमान जी ने (प्रमाण हेतु) जयंत की कथा और का कुसल कह कर सीता जी को प्रणाम किया । स्वामी का प्रिय दास समझकर अमिट आशीर्वाद दिया -

आसिष दीन्हि राम प्रियजाना । होहु तात बल सील निधाना ।।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहु बहुत रघुनायक छोहू ।।[१६०]

अर्थ-सौष्ठव की दृष्टि से यही अर्थ तर्क संगत है । मानस के अनुसार चित्रकूट की कथा इस प्रकार है -

----

१५७. मा०पी०,सुंदर०,पृ० ११८

१५८. मा०५।१३

१५९. गीता० ५।६

१६०. मानस ५।१७।२-३

"एक बार सुन्दर फूलों को चुनकर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने हाथों से आभूषण बनाये। प्रभु ने सादर सीता जी को पहनाये और सुन्दर स्फटिक शिला पर बैठे। देवराज इन्द्र का पुत्र कौवे का वेश धरकर मूर्ख श्री रघुपति का बल देखना चाहता है। जैसे चींटी समुद्र की थाह लेना चाहे वैसे ही उस महानीच बुद्धि (जयंत) ने उनके बल की थाह पानी चाही। वह मूढ़ मंद बुद्धि का कारण कौवा श्री सीताजी के चरणों में चोंच मारकर भागा। खून बह चला तब रघुनाथ जी ने जाना। धनुष पर सींक का बाण रखकर चलाया। ब्रह्मास्त्र मंत्र से प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा। कौवा भयभीत हो गया और भाग चला। अपना वास्तविक रूप धरकर वह पिता के पास गया। राम विरोधी होने से उसने उसको न रखा। तब वह निराश हो गया, उसके मन में भय उत्पन्न हो गया जैसा दुर्वासा ऋषि को चक्र से भय उत्पन्न हुआ था। ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि समस्त लोकों में थका हुआ, भय और शोक से व्याकुल फिरा। किसी ने उसे बैठने तक को न कहा। श्रीरामजी के द्रोही को कौन रख सकता है? नारद जी ने विकल देखकर उसे रामजी के पास भेजा। भय और व्याकुलता सहित उसने शीघ्र जाकर श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये और कहा - "हे दयालु! हे रघुराई! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। कृपालु श्री राम जी ने उसके अत्यन्त आर्त वचन सुनकर उसको एकाक्ष करके छोड़ दिया।" वाल्मीकि जी का मत है कि श्री रघुनाथ जी श्री जानकी जी के गोद में सिर रख कर सो रहे थे और वह कौए ने स्तन में चोंच मारा था।"[१६१] यह एक एकांत समय की बात थी। इसे केवल श्रीराम-जानकी जानते थे। दूसरा कोई इस एकांत रहस्य को नहीं जानता था। केवल बल की परीक्षा के चाह से जयंत का वहाँ जाना और बाण प्रताप का हाल मंदोदरी आदि भी जानती थी --

सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा।।[क]

इस एकांत समय की कथा हनुमान जी ने सीता जी से कहकर दो बातों को व्यंजित किया। एक तो यह कि जिस प्रकार तुमसे विरोध करने के कारण जयंत की दुर्दशा

---

१६१. वाल्मीकि ५।३८।२२-२४

१६१क. मानस ६।३६।१२

हुई थी, उसी प्रकार यह रावण भी बच नहीं सकता । दूसरे इसे कहकर उन्होंने श्रीराम जी के प्रिय दास होने का प्रमाण दिया, क्योंकि यह कथा बहुत गुप्त थी यहाँ पर चित्रकूट की कथा और उसका भी हनुमान जी द्वारा कहना गूढ़ार्थी ही कहा जायगा ।

२६ वें पद की कतिपय पंक्तियाँ -

तापसी कहि कहा पठवति नृपनि कों मनुहारि ।
बहुरि तिहि विधि आइ कहि है साधु कोउ हितकारि ।।[१६२]

इस पंक्ति पर विचार करने से पूर्व सीता-त्याग की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर विचार कर लेना आवश्यक है । वेदान्त भूषण पं० रामकुमारदास जी ने मानस पीयूष[१६३] और श्रीरामचरित्र के तीन क्षेपक नामक एक लघु पुस्तिका में[१६४] सीता-त्याग की कथा को बिल्कुल कपोल-कल्पित सिद्ध किया है । और इसको प्रामाणिक मानने वालों की बहुत ही तीक्ष्ण आलोचना की है । उक्त पुस्तिका में ही उन्होंने लिखा है कि - "जिन महानुभावों ने ऐसा किया (तुलसी-साहित्य में प्रक्षिप्त अंश समाविष्ट किया) उन्हीं सज्जनों की संतुष्टि गीतावली उत्तरकांड के पच्चीसवें पद से ३६ वें पद तक की है इसके उपरान्त कोई मूल्य नहीं । और गीतावली में वर्णित कथाओं का सूत्र गीतावली के अन्तिम पद में कवि ने स्वयं दिया है उसमें सीताहरण का संकेत भी न होने से २६ से ३६ तक बारह पद स्वत: क्षेपक सिद्ध हो जाते हैं ।"[१६५] मानस के "सियनिंदक" वाली अर्धाली के विषय में उनका कथन है कि - "यह भगवान की कृपा ही है कि इस प्रसंग की केवल एक चौपाई के अतिरिक्त और पंक्तियाँ मानस में नहीं मिलाई गईं । वह चौपाई है -

---

१६२. गीता० ७।२६
१६३. मा०पी०उ०रा०,पृ० १६७ और १६६
१६४. वे० पृ० ४०-६४
१६५. वही, पृ० ६२

सिय निंदक अघ ओघ नसाये । लोक बिसोक बनाइ बसाये ।"[१९६]

में महात्मा जी के शब्दों का समादर करता हूँ । किन्तु गीतावली का अन्तिम पद जो सूत्र रूप में है उसके द्वारा पाठ निश्चय असंभव है, क्योंकि वह कोई सैद्धान्तिक आधार तो है नहीं । मानस के उत्तरकाण्ड में कागभुशुंडि जी ने गरुड़ को जो पूरी कथा सुनाई है । उसमें भी मानस की सभी कथाओं की सूचना नहीं है । इस तरह से पाठ-निश्चय तो बालकांड का नया जन्म की भाँति होगा । वाल्मीकीय के उत्तर-काण्ड के विषय में तो मेरा विशेष ज्ञान नहीं है, और न यहाँ इस विषय पर विस्तृत विचार विस्तार के भय से किया ही जा सकता है । गोस्वामी जी न तो बौद्ध थे और न जैन । किन्तु उन्होंने अपने मानस ,रामाज्ञा प्रश्न,दोहावली, कवितावली,गीतावली और विनय-पत्रिका जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में सीता-त्याग के विषय में कुछ न कुछ कहा अवश्य है । उदाहरणार्थ --

सिय निंदक अघ ओघ नसाए । लोक बिसोक बनाइ बसाए ।।[१९७]

"प्रक्षिप्त" मानने पर इसके पूर्व की अर्धाली का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । यदि राम की ममता अनुकूल अवध नर-नारियों पर ही थी तो इसमें क्या वैशिष्ट्य हुआ । अनुकूल लोगों पर ममता तो साधारण जन भी करते हैं । इस अर्धाली से ऊपर की अर्धाली के भाव की पुष्टि होती है, अर्थात् श्रीराम जी की ममता "सिय निंदक" पर भी कम नहीं थी । इसीलिए तो कवि ने कहा कि --"लोक बिसोक बनाइ बसाए" । विनय पत्रिका में भी कहा है --

सिय-निंदक मतिमंद प्रजा रचि निज नय नगर बसाई ।"[१९८]

अर्थात् श्री सीता जी की निंदा करने वाली मंदबुद्धि प्रजा को अपने नीति से अथवा नये नगर में रचकर बसाया (वा, नया, नगर रचकर बसाया ।" इसी प्रकार मानस के सप्तम सोपान की एक अर्धाली है --

दुइ सुत सुंदर सीता जाए । लवकुस बेद पुरानन्हि गाए ।।[१९९]

१९६, वही, पृ० ४९

१९७, मानस १।१६।३

१९८, वि०प० १६५।पृ० २३८

१९९, मानस ७।२५।६

यहाँ विचारणीय है कि लौकिक रीति के अनुसार जब किसी व्यक्ति के पुत्र पैदा होता है तो लोग उस व्यक्ति का नाम लेकर कहते हैं कि अमुक के पुत्र हुआ । स्त्री के पतिगृह में पुत्र का जन्म देने से पति के नाम से ही लड़के की ख्याति होती है । ऐसे ही यदि किसी स्त्री के नैहर में पुत्र पैदा होता है तो लोग उस स्त्री का नाम लेकर कहते हैं कि अमुक लड़की के लड़का पैदा हुआ । उदाहरणार्थ - जब भरता-दिक भाइयों के पुत्र हुआ तब गोस्वामी जी लिखते हैं कि --

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे । भए रूप गुन सील घनेरे ।।[१७०]

सीता जी के पुत्र अयोध्या में नहीं बल्कि वाल्मीकि के आश्रम में हुए । वाल्मीकि का आश्रम पितृ-गृह के समान था । स्वयं वाल्मीकि जी ने भी कहा है --

पुत्रि । न सोचिए आई हौं, जनक गृह जिय जानि ।[१७०क]

वाल्मीकि जी सीता जी को पुत्री के ही समान मानते थे । अतः जब सीता जीकेपुत्र हुए तो गोस्वामी जी ने लिखा कि --

"दुइ सुत सुंदर सीता जाए । लवकुस बेद पुरानन्हि गाए ।"

अतः यहाँ कवि ने गुप्त रूप से सीता-निर्वासन का भी संकेत कर दिया । अतएव "सीता जाए" यहाँ गूढ़ार्थी है । वेदांतभूषण जी का यह तर्क कि- "कैकय सुता सुमित्रा दोऊ । सुंदर सुत जनमत भईं ओऊ ।।" से चारों राजकुमारों का जन्म अवध से अन्यत्र मानना चाहिए ।[१७१] किन्तु मेरे विचार से वहाँ यदि यह कह दिया जाता कि "राजा दशरथ के चार पुत्र हुए" तो इससे यह बात स्पष्ट न होती कि किसके कितने पुत्र और कौन हुए ? अतः माताओं के नाम से पुत्रों का सम्बोधन स्पष्टीकरण के लिए किया गया । विजयानंद त्रिपाठी जी,[१७२] श्रीकांतशरण जी[१७३] विनायकराव जी,[१७४] श्रीरामदास गौड़ जी[१७५] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[१७५] आदि विद्वानों ने भी "सीता जाए" से सीता निर्वासन के संकेत को ध्वनित होना बताया है ।

---

१७०. वही ७।२५।८ | १७० क. गीता० ७।३२

१७१. मा०पी०उत्तर०,पृ० १६७ | १७२. वि०टी०तृ०भा०पृ० ५३

१७३. मानस,सि०ति०,तृ०सं०,पृ० २४८२-८३ | १७४. वि०टी०,पृ० ६८-६६

स्वामी प्रज्ञानंद स्वामी जी कहते हैं कि -"सीता-परित्यागादि दुःखद घटनाएँ यहाँ कितने अल्पशब्दों में और कितनी खूबी एवं कोमलता से सूचित की गयीं, यह देखते ही बनता है। महाप्रस्थान तो इससे भी अधिक गूढ़रीत्या सूचित किया गया है। इस प्रकार का भाव प्रदर्शन कला-कौशल अन्यत्र मिलना असंभव है।

मानसपीयूषकार लिखते हैं कि वेदांत भूषण का मत है कि "श्रीसीता-त्यागादि की कथा अप्रामाणिक है। वह वाल्मीकीय तथा पुराणों में महाकवि गुणाढ्य के अर्थ मौलिक उपन्यास "बृहत्कथा" के कल्पना के आधार पर लोगों में बढ़ाई है।" जो हो, भगवान जानें। पर यह कथा पद्मपुराणादि में भी है।"[१७६] इससे भी सीता-निर्वासन की अस्पष्ट सहमति मिलती है। गोस्वामी जी ने सीता-त्याग का संकेत अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार किया है --

> मानिय सिय अपराध बिनु, प्रभु परिहरि पछतात।
> रुचै समाज न राजसुख, मन मलीन कृस गात।।[१७७]
> मेरि बंधु निसिचर अधम, तज्यो न भरे कलंक।
> झूठे अघ सिय परिहरी तुलसी साईं ससंक।।[१७८]
> सीय-सिरोमनि सीय तजी जेहिं पावक की कलुषाई दही है।[१७९]

गीतावली में उत्तरकांड के २५ वें पद से ३६ वें पद तक सीता-निर्वासन का विस्तृत वर्णन किया गया है। अतः स्पष्ट है कि गोस्वामी जी सीता-निर्वासन को स्वीकार करते थे।

गीतावली के उपर्युक्त पद के वक्रोक्ति गर्भित्व और वचन भंगिमा पर ध्यान न देकर इस प्रकार अर्थ किया है। ठाकुर बिहारीलाल के अनुसार -"नृपति की मन हरणकारी तिसको तापसी बनाइ कहाँ पठावते हो। तिसको विधिपूर्वक पति-युत वामांगी आदि नाम फेरि कोई साधु हितकारी करेगा।"[१८०]

---

१७६. मा०पी०उत्तर०,पृ० १६८
१७७. रामाज्ञा० ६।७।२
१७८. दोहा० १६६। और दोहा० ४६२-४६३
१७९. कवित्त० ७।६, ७।१३८ एवं रामाज्ञा० ६।६।५
१८०. गीतावली रामा०, पृ० ३३७

लगभग इसीप्रकार का अर्थ करते हुए बैजनाथ जी लिखते हैं कि काहे ते नृपति कोमनकरण-हारी ताको तापसी कहि तापसी अनाथ कहा पठवत सो तेहि विधि पूर्वक आमांगी आदि नाम फेरि कोऊ साधु हितकारी करेंगो ।"[१८१] श्रीकान्तशरण जी के अनुसार-"यह सुनकर महर्षि के द्वारा सेवार्थ नियुक्त एक तपस्विनी ने कहा कि आप राजाओं को प्रार्थना नहीं कहकर भेजती हैं । फिर उसी तपस्विनी की भाँति कोई एक हितकारी साधु भी वहाँ आकर आश्वासन के वचन कहे हैं ।"[१८२] किन्तु उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए -- "मैं तपस्विनी होकर (तुम्हारे विदा करते समय-लक्ष्मण को लक्ष्य करके) राजाओं के अनुकूल क्या संदेश प्रेषित करूँ (संभव है अनुसार करने में अकुशल मुझसे पुन: कोई त्रुटि हो जाय) । (जिस प्रकार राक्षस के यहाँ शरण के कारण निवास करने पर मेरे विरुद्ध महाराज को किसी ने समाचार दिया था, उसी प्रकार मुझे विश्वास है कि कोई हितकारी सज्जन आकर (उनसे) मेरे पक्ष में भी कहेगा ।" "प्रकरण" नामक अर्थ निश्चय के साधन से यहाँ यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । क्योंकि यहाँ सीता जी प्रथम तो राजधर्म की कठोरता को लक्षित कराना चाहती हैं,जिसके कारण सीता को पुन: वनवास मिला । द्वितीय राजधर्म की न्यायशीलता पर भी व्यंग्य कस रही हैं । टीकाकारों ने इस बात पर ध्यान न देने के कारण ही अनेक असंगत अर्थ किये हैं । मुनिलाल जी[१८३] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी[१८४] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय ने[१८५] ऐसा ही अर्थ किया है । यहाँ पर उक्त पंक्ति भी गूढ़ार्थ युक्त है ।

<u>जो सोचहि ससिकलहि --</u>

> जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि ?
> कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरेहि ।।[१८६]

---

१८१. गीतावली,पृ० ४४६

१८२. वही,सि०ति०,पृ० ६६८

१८३. गीता०,पृ० ४३४

१८४. गोसाईं तुलसीदास,पृ० २५८-५९

१८५. वि०सं०, ब०भा०वि०परि०काशी,पृ० ५५

१८६. पा०मं० ६१

जिस समय पार्वती जी शिव जी को पतिरूप में प्राप्ति हेतु तपस्या कर रही थीं, उसी समय ब्रह्मचारी के वेश में शिव जी उनके प्रेम, प्रण, व्रत और नियम की परीक्षा हेतु गये । "कुमार संभव" में ब्रह्मचारी का कथन इस प्रकार है -

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।[१८७]

अर्थात् कपाली शिव के साथ रहने के अभिलाष से दो की दशा शोचनीय हुई, एक तो चन्द्रमा की (उस) कला की (जो उनके मस्तक पर रहती है) और दूसरे तुम्हारी,जो संसार के नेत्रों की चन्द्रिका हो (अत्यन्त रूपवती हो) तात्पर्य यह है कि कपालों की माला धारण करने वाले औघड़ के साथ इन दोनों रमणीय वस्तुओं का संयोग असमीचीन है ।

भाव यह कि पहले एक चन्द्रमा की कला ही थी, अब आप भी उसी श्रेणी में आ गईं । "कुमार संभव" के उक्त भाव को ही गोस्वामी जी ने अपनी लेखिनी की कलात्मकता से अपेक्षाकृत उत्कृष्टतर रूप में पार्वती-मंगल के उक्त छोटे से चरण में प्रस्तुत कर दिया है । उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है -"जो सर्वदा शशिकला को प्रसन्नचित्त रखने की चिंता करता रहता है क्या वह आपके पक्ष में भी कुछ विचार करेगा ? अत: मेरे कथन को हृदय में धारण करके उस पागल वर का वरण न करिये ।" यहाँ गूढ़ार्थ यह है कि वे शशिकला से युक्त प्रेम करते हैं । अतएव तुम्हारे साथ वैसा प्रेम नहीं कर सकते । इससे यह भी ध्वनित होता है कि तुम्हें शशिकला नाम की एक ज्येष्ठा सवति भी प्राप्त होगी । तुमको उसकी सेवा भी करनी पड़ेगी । स्त्रियाँ सौत से वैसे ही विद्वेष रखती हैं, फिर सेवा करना तो अत्यन्त असंभव है -

"नैहर जनमु भरब बरु जाई । जिअत न करबि सवति सेवकाई ।।[१८८]

तात्पर्य यह है कि उक्त पंक्ति में पार्वती जी की आसक्ति शंकर की ओर से मुक्त करने का भाव लक्षित होता है । लाला भगवानदीन जी,[१८९] सद्गुरुशरण अवस्थी

---

१८७. कुमारसंभव, ५।७१

१८८. मानस २।२१।१

१८९. तुलसी पंचरत्न,पा०मं०,पृ० ५

जी,[१९०] श्रीकांतशरण जी[१९१] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी [१९२] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

किन्तु उक्त गूढ़ार्थ पर ध्यान न देने के कारण कतिपय विद्वानों ने इसके असंगत अर्थ किये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार - 'यदि कोई चन्द्रकला का सोंचकरै तौ आपका भी सोंच करैं।'[१९३]

तुलसी ग्रन्थावली के संपादक महोदय के अनुसार -- 'जो लोग चन्द्रकला के लिए दुखी हैं (कि वह कहाँ शिव के सिर पर जा फँसी) वे आपके लिए भी पछतायेंगे (कि एक तो चन्द्रकला महोदय के सिर पर रहकर अपनी प्रतिष्ठा गँवाए बैठी है, दूसरे आप भी उसे वर बनाकर अपना जीवन बिगाड़ बैठी)।[१९४]

'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ही साहित्यिक और तर्क संगत,प्रतीत होता है।

----

१९०. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ११०

१९१. पा०मं०, सि०ति०पृ० ३४

१९२. गोसाईं तुलसीदास,पृ० २३२-३३

१९३. पा०मं०, पृ० ४५

१९४. टि०सं०, अ०भा०वि०प०रि०,काशी,पृ० २७ ।

अध्याय -- ११

छन्दानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान

शब्दसागर में छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है - वह वाक्य जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार विराम आदि का नियम हो । वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार विराम ,पद या वाक्य रखने की व्यवस्था । गद्यात्मक शब्द व्यवस्था की तरह छन्द में शब्द-व्यवस्था नहीं रहती क्योंकि इसमें गेयता और लयात्मकता की प्रधानता होती है । संगीतात्मक पद-विन्यास के कारण कहीं-कहीं मात्राओं को घटाना-बढ़ाना पड़ता है जिससे बहुधा अर्थ-समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं । कवि ने कहीं कहीं छन्द के आग्रह-वश लघु को दीर्घ कर दिया है । यथा - अपादान कारक परसर्ग `वाहि` को `वाही` और संस्कृत शब्द कोऽपि को `कोपी` और `सुरति` को `सुराति` । `रहि` का अर्थ ठीक से न लगाने के कारण छंदो-भंग कर दिया गया है --

बहुदाम सँवारहिं धाम जती । बिषया हरिलीन्हि न रहि बिरती ।।[ख]

तुकांत के अनुरोध से `आयु` को `आय` और `आउ` कर दिया है । इसी प्रकार नवीन शब्दों का भी निर्माण करना पड़ा है । यथा अजायक, उपजायक, अटायक आदि । अनुप्रास के कारण `सिपर` को सीपर कर दिया है । यत्र-तत्र नवीन क्रियाओं का भी निर्माण करना पड़ा है - संस्कृत `पतिता` से पतिताना `मुक्त` से `मुक्ताना` आदि । कहीं-कहीं छन्द के आग्रहवश संधि-विच्छेद भी कर दिया है । यथा रीति मारिखी और उत्तर अयन ।

कुछ समीक्षक इसे दोष - दृष्टि से देखते हैं किन्तु गोस्वामी जी ने ऐसा छंदानुरोध के कारण ही किया है । प्रस्तुत अध्याय में ऐसे ही छंदानुरोध के कारण

क. दे० पृ० ३२८

ख. मा०पी०उ०का० दोहा ,१०१।१

उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है ।

<u>चाही</u>

अरिहिं देउ जिआवत जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही ।[१]

राजापुर की प्रति और रामायण परिचर्यापरिशिष्ट प्रकाश में 'जीवन न' पाठ है ।[२] इसी आधार पर कुछ लोगों ने इसका अर्थ - 'उसे जीना न चाहिये' किया है, किन्तु यह पाठ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता । लेख प्रमाद के कारण 'जीव' और 'न' पृथक्-पृथक् लिख दिया गया होगा । अतः उक्त अर्थ भी असंगत है ।

सं० १७६२ की प्रति, लाला छक्कनलाल की पोथी और दीनराम जी के गुटका और सं० १७०४ की प्रति में 'जीवन' ही पाठ है ।[३]

उक्त व्याख्यातव्य 'चाही' शब्द अपादानकारक परसर्ग 'चाहि' अव्यय शब्द है । छन्द के आग्रह वश दीर्घ स्वरांत कर दिया गया है । 'चाहि' शब्द का अर्थ है- 'अपेक्षाकृत (अधिक), अतिरिक्त । संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में इसका विकास प्रा० चाहिए वांछित, अपेक्षित से स्वीकार किया गया है ।[४] मानसपीयूषकार के अनुसार - 'यह सं० चेव से बना हुआ जान पड़ता है । इसका प्रयोग जायसी ने बहुत किया है । बंगला में 'चाहिया' का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, अब 'चे' से वही अर्थ लेते हैं ।[५] गोस्वामी जी ने 'चाहि' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अर्थ में अन्यत्र भी किया है --

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ।[६]

----

१. मानस १।२१।२

२. मा०पी०,अयो०पाद टिप्पणी, पृ० ११४

३. वही, पृ० ११४

४. वे०पृ० ३११

५. मा०पी०अयो०,पृ० ११४-१५ ।

६. मानस १।२५८।४

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि । [७]

छन्द की मात्रा पूर्ति को ध्यान में न रखने के फलस्वरूप यहाँ 'इच्छा करना, चाहिए अथवा देखना' अर्थ में भ्रम होना स्वाभाविक है । उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार होगा -- 'विधाता जिसको शत्रु के वश में जिलाता है उसको जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है ।' 'प्रकरण' नामक अर्थ निश्चय के साधन से यही अर्थ सही संगत प्रतीत होता है ।

कोपी --

ऐसे गोसाइं नाहि दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहौं पन रोपी ।। [८]

सं० 'कोपिन्' से विकसित विशेषण 'कोपी' शब्द का प्रचलित अर्थ कोप करने वाला, क्रोधी है । गोस्वामी जी ने इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है --

चला न अचल रहा रथ रोपी । रन दुर्मद रावनु अति कोपी ।। [९]

किन्तु यहाँ 'क्रोधी' अर्थ में 'कोपी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है ।

उक्त 'कोपी' शब्द संस्कृत का 'कोऽपि' - 'क:' संस्कृत सर्वनाम और 'अपि' संस्कृत अव्यय शब्द है । यहाँ 'कोपी' शब्द का अर्थ है - कोई भी, कोई । छन्द की मात्रा पूर्ति के कारण दीर्घ स्वरांत कर दिया गया है । इसको न समझने से 'क्रोधी' अर्थ का भ्रम हो सकता है । 'कोई भी' अर्थ में 'कोपी' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है --

सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी । बिमुख राम त्राता नहि कोपी ।। [१०]

अतएव उक्त व्याख्येय अर्धाली का अर्थ होगा --

'ऐसा स्वामी (आपके अतिरिक्त) दूसरा कोई भी नहीं है । मैं हाथ उठाकर दृढ़ प्रतिज्ञा करके (सत्य) कह रहा हूँ ।

---

७. मानस ७।१६।१५

८. वही २।२६८।७

९. वही ६।८२।४

१०. मानस ५।२३।७

अजै

मुनि मानस पंकज भृंग भजे रघुबीर महा रनधीर अजै ।[११]

"भजे" शब्द से तुक मिलाने के कारण संस्कृत विशेषण शब्द "अजेय" के "य" को हटाकर "अजै" कर लिया गया है । "अजेय" का "अजै" रूप प्राप्त होता है --

हौं हार्यौ करि जतन बिबिध बिधि, अतिसय प्रबल अजै ।[१२]

किन्तु "अजै" नहीं । अतः "अजै" शब्द का प्रयोग यहाँ तुकांत के कारण ही हुआ है । "अजै" शब्द का सामान्य अर्थ- जिसे कोई जीत न सके" ही है । अस्तु उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- "रघुवंशी वीर, रण में महाधीर और अजेय होकर भी आप मुनियों के मन कमल के भ्रमर होकर उनको भजते हैं अर्थात् उनके प्रेम के वश होकर उनके हृदय - कमल में निवास करते हैं ।"

उपाया --

अखिल बिस्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ।।[१३]

प्रस्तुत पंक्ति में प्रयुक्त "उपाया" (उपाय) युक्ति , साधन अर्थ वाला शब्द नहीं है । यह हिन्दी "उपजना" का सकर्मक रूप है । कवि ने लय तथा गति के कारण "उपजाया" को ही "उपाया" कर दिया है । छन्दानुरोध को न समझने के कारण संभवतः संवत् १७०४ की काशिराज के यहाँ की प्रति और पं० रामगुलाम द्विवेदी के गुटका में "ममउपयाजा" पाठ स्वीकार किया गया है ।[१४] किन्तु आधुनिक पाठ विशेषज्ञों डा० मालाप्रसाद गुप्त[१५] और डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अतिरिक्त समस्त आधुनिक संस्करणों में भी उक्त "उपाया" पाठ ही स्वीकार किया गया है । गोस्वामीजी

---

११. मानस ७।१४।१७

१२. विनय० ८६

१३. मानस० ७।८७।७,(१४ दे०मा०पी० उत्तर० पाद टिप्पणी, पृ० ४३६)

१४. दे०मा०पी० पृ० ४३६

१५. दे० डा० गुप्त का संस्करण मानस,७।८७।७

ने अन्यत्र 'उपजाया' पाठ भी माना है -

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।।[१६]

किन्तु यहाँ 'उपजाया' कालबुहद्ध ''उपाया' छन्द के आग्रहवश ही किया हुआ प्रतीत होता है। अत: यहाँ यही पाठ स्वीकार्य है। इसका अर्थ है - 'पैदा किया हुआ।'

रही

बहु दाम संवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि रही बिरती ।।[१७]

गीता प्रेस[१८] और मानसपीयूषकार[१९] ने अर्थ न बैठने के कारण छंदो-विरुद्ध पाठ रखा है। दोनों संस्करणों में 'रही' के स्थान पर 'न रहि' पाठ है। किन्तु इससे छन्दो भंग हो जाता है। यह तोटक छन्द है, जो चार सगण युक्त १२ वर्णों का होता है। 'न रहि' पाठ स्वीकार ~~होने से~~ करने से छन्द के दूसरे चरण में १३ वर्ण होने से छन्दोभंग हो जाता है और तीसरा सगण समाप्त हो जाता है। 'रही' का अर्थ ठीक न लगा पाने के कारण ही ऐसा किया गया है। यहाँ 'रही' का अर्थ है 'थी' न कि 'रह गयी'। 'जो बिरति थी' उसे विषय ने हर लिया। रही सही विरति भी समाप्त हो गयी। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'सन्यासी बहुत धन लगाकर घर (धाम) सजाते हैं। जो बिरति थी, उसे विषय ने हर लिया।' पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने भी यही अर्थ और पाठ स्वीकार किया है।[२०] डा० माता-प्रसाद गुप्त ने भी वैज्ञानिक रीति से 'रही' पाठ ही निश्चित किया है।[२१] पं० राम-गुलाम द्विवेदी ने भी अपने गुटका में यही पाठ माना है।[२२] छंद की दृष्टि से भी यही पाठ विषयानुसंगत है।

---

१६. मानस १।१५२।४ १७. वही ७।१०

१८. दे० गीताप्रेस संस्करण, मानस ७।१०१।छन्द

१९. दे०मा०पी०, उत्तर० पृ० ४९६

२०. काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २८

२१. दे० मानस ७।१०१।छंद

२२. मा०पी० उत्तर० पादटिप्पणी, पृ० ४९६

अलायक

सुर स्वारथी, अनीस अलायक, निठुर, दया चित नाहीं ।[२३]

'लायक' विशेषण अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है -- सुयोग्य । 'अ' संस्कृत उपसर्ग लगाकर 'अलायक' शब्द छंदानुरोध, अनुप्रास और प्रवाह के कारण बनाया गया है । यदि 'नालायक' फारसी और अरबी शब्द का प्रयोग किया जाता तो छन्दोभंग हो जाता । 'अलायक शब्द का अर्थ है - नालायक , निकम्मा । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - देवता स्वार्थी, असमर्थ,नालायक और कठोर हृदय हैं । उनके हृदय में दया नहीं है ।'

कस

दंद-रहित,गत-मान,ज्ञानरत, विषय-विरत खटाइ नाना कस ।[२४]

'कस' के अनेक अर्थ किये गये हैं । पं० महावीरप्रसाद जी के अनुसार -- 'नाना व्यक्तियों में टिकाऊ हो जाय । अर्थात् शान्त, निरपेक्ष, ज्ञानी, वैराग्यवान, तपस्वी, योगी तथा सिद्ध मानने योग्य हो जायगा । वे लिखते हैं कि 'खटाइ' शब्द देशभाषा का है । इसके पर्यायी शब्द खटकने वाला, टिकनेवाला,खटाऊ, टिकाऊ, पायदार इत्यादि हैं । 'कस' शब्द फारसी भाषा का है, इसके पर्यायी शब्द व्यक्ति मनुष्य, साथी और मित्र आदि हैं ।'[२५] यह बिलकुल आरोपित अर्थ है ।

पं० सूर्यदीन शुक्ल के मतानुसार - 'विषयों में विरक्त खटाइओं में से अनेक कस-सा मिल जावे तो' । जैसे खट्टी चीज़ में एक ही जगह अनेक रसों का कस (सार भाग) (खट्टा, मीठा, नमकीन, कड़ुवा, तीता, कसैला) मिल जाने से अधिक रोचक हो जाते हैं ।'[२६] 'कस ' का 'सार' अर्थ भी संगत नहीं प्रतीत होता है । लाला भगवान दीन जी, वियोगीहरि जी, और श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ किया है -- ' विविध प्रकार की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाय, कसौटी पर खरा

----

२३. विनय० १४५

२४. वही, पृ० २०४

२५. विपी०,सं० ४,पादटिप्पणी, पृ० ५४७

२६. वही, पृ० ५४८

उतरै ।[२८] हरिहर प्रसाद जी और बाबू शिवप्रकाश जी के अनुसार - जैसे खटाई और नाना कसै यहाँ पर अकर्मक क्रिया खटाना से बना हुआ खटाई शब्द नहीं है और न संस्कृत कष से विकसित कसै का अर्थ परीक्षा, कसौटी है । उक्त कसै शब्द संस्कृत कषाय है, जिसका अर्थ है - कसाव, कसैलापन । कसै, जसै तुकांत के अनुरोध से कसै कर दिया गया है । खटाई का अर्थ खट्टी स्वाद वाली वस्तु इमली, कच्चा आम आदि है । खटाई[२८] पाठ से भी इसी अर्थ का समर्थन प्राप्त होता है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - द्वन्द्वों से रहित, अभिमान रहित, ज्ञान-प्रवृत्त और विषयों से अनेक प्रकार की खट्टी वस्तुओं के कसैले पन के समान विरक्त हो जाय । अर्थात् जैसे अनेक प्रकार की खटाइयों में कसै कसाव आ जाने से वे अप्रिय हो जाती हैं, पुन: उनकी ओर ध्यानाकृष्ट नहीं होता, इसी प्रकार विषयों से वैराग्य हो जाय, उन्हें देखने पर भी आसक्ति न हो, उनसे मन पूर्णतया हट जाय । अर्थ -सौष्ठव की दृष्टि से यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है, क्योंकि कसैली वस्तु को देखने मात्र से ही मन मचलाने लगता है, वैसे ही विषयों की ओर से विरति होनी चाहिए । त्याग भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत उपमान बहुत ही सटीक है । विरति के ही प्रसंग में लगभग ऐसा ही प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है --

रमाबिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ।।[२९]

बैजनाथ जी, पं० रामकुमार जी, बाबूशिवप्रकाश जी, रामेश्वर भट्ट जी हरिहरप्रसाद जी और पोद्दार जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है ।[३०]

<u>मिसकीनता</u>

रही दरबार है गरब ते सरब-हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता ।।[३१]

---

२८. वि०वि०पी०,पद २०४

२९. मानस २।३२३।८

३०. वि०पी०सं०,पादटिप्पणी,पृ० ५४८

३१. विनय० २६२

'मिसकीन' विशेषण अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है - दीन, गरीब ।[३२] 'मिसकीन' से संज्ञा शब्द 'मिसकीनी' बनता है किन्तु इससे छन्दोभंग हो जाता है, क्योंकि ऊपर की पंक्ति में 'प्रवीनता' शब्द है । अतः आगे की पंक्ति में भी ताकारांत होना चाहिए । इसी कारण गोस्वामी जी ने छन्दानुरोध के कारण 'मिसकीन' अरबी शब्द में हिन्दी या संस्कृत का 'ता' प्रत्यय जोड़कर 'मिसकीनता' भाव वाचक संज्ञा शब्द बना लिया है, जिसका अर्थ है - दीनता ।[३३] उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - ' इस दरबार (श्रीराम की राज्य सभा) में गर्व करने से सब प्रकार से हानि होती है और गरीबी (सर्वसाधनहीनता) एवं दीनता (पुरुषार्थहीनता) से योग-क्षेम का लाभ (प्राप्त) होता है ।'

पतितायो -

श्रवन नयन मगु मन लगे सब थल पतितायो ।[३४]

तुलसी ग्रन्थावली में 'थलपति तायो' पाठ है ।[३५] लाला भगवान दीन जी ने इसका अर्थ किया है - 'राजाओं को जाँच चुका ।'[३६] वियोगीहरि जी,[३७] रामेश्वर भट्ट जी,[३८] और पं० सूर्यदीन शुक्ल जी [३९] ने भी यही अर्थ किया है । संभवतः 'पतितायो' शब्द का अर्थ न लगा पाने के कारण ही 'पतितायो' के आदि के 'पति' को 'थल' के साथ जोड़कर 'थलपति' 'तायो' पाठ किया गया है ।

गोस्वामी जी छन्दानुरोध के कारण नवीन क्रियाओं का निर्माण कर लिया करते थे । यहाँ पर भी उन्होंने 'पतिता' से 'पतितानो' क्रिया बना ली है ।

---

३२. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ८०३

३३. वही, पृ० ८०३

३४. वि०पी० २७६।५

३५. दे० विनय० २७६

३६. वि०पी०, सं० ५, पृ० १०५१

३७. विनय०, पृ० ६२०

३८. विनय० पृ० ३७०

३९. वही, पृ० २६४

"पतितता" संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है --"पतित होने का भाव", "जाति या धर्म से च्युत होने का भाव," अपवित्रता, अधमता, नीचता," उसी से कवि ने "पतितानना" क्रिया बनाई है, अर्थात् अपवित्रता या अधमता को प्राप्त होना, पतित होना।"[४०]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - "कान और नेत्रों के मार्ग में मन के लग जाने से मैं सब स्थानों में गिरता ही (पतित ही होता) गया।"

विनय पीयूषकार[४१] बैजनाथ जी[४२] महावीरप्रसाद मालवीय जी[४३] और श्रीकांतशरण जी[४४] ने ऐसा ही अर्थ किया है। १. देवनारायण द्विवेदी जी ने "पतितानना" का अर्थ "विश्वास किया" किया है, जो कि तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।[४५] गयाप्रसाद जी का "सब स्थानों में पति खोजत फिरे" अर्थ पूर्णरूपेण असंगत है।[४६]

<u>बिस्तरहुँगे</u>

दास तुलसी बेद बिदित बिरुदावली,
विमल जस नाथ केहिभाँति बिस्तरहुँगे ।।[४७]

छन्दानुरोध के कारण भरहुँगे, हरहुँगे के तोल में गोस्वामी जी ने बिस्तरहुँगे अकर्मक क्रिया बना ली है। संस्कृत विस्तरण से निःसृत "बिस्तरना" क्रिया का अर्थ है - फैलना, इधर उधर बढ़ना।[४८] मानस में भी इस क्रिया का प्रयोग किया गया है।

---

४०. वि०पी०, खण्ड ५, पृ० १०५१
४१. वही, पृ० १०५२
४२. विनय० पृ० ५२०
४३. वही, पृ० ३३७
४४. वही, सि०सि०पृ०१५९७
४५. विनय०, पृ० ४५१
४६. वही, पृ० ४५१
४७. विनय० २११
४८. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७२८

जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं । गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं ।।[४९]

अतएव उक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा --

"तुलसीदास जी कहते हैं कि हे नाथ ! वेद प्रसिद्ध कीर्ति वाले निर्मल यश को आप किस प्रकार फैला सकेंगे ?"

इसी भाँति उन्होंने 'बिस्तारना' सकर्मक क्रिया का भी निर्माण छन्द के आग्रह वश ही किया है । संस्कृत विस्तारण से विकसित 'बिस्तारना' क्रिया का अर्थ है -- विस्तार करना, फैलाना । अन्यत्र इसका प्रयोग हुआ है --

"मन संभव दारुन दुख दारय । दीनबंधु समता बिस्तारय ।।[५०]

सही न जाइ कपिन्ह कै मारी । तब रावन माया बिस्तारी ।।[५१]

उतर अयन

मधु माधव मूरति दोउ संग मानों दिन मनि गवन कियो उतर अयन ।।[५२]

तुकांत के अनुरोध से 'उत्तरायण' का विच्छेद 'उतर अयन' कर दिया गया है । सूर्य की मकर रेखा की ओर से कर्क रेखा की ओर की गति को 'उत्तरायण' कहते हैं ।[५३] उत्तरायण में सूर्य मकर रेखा से चलकर बराबर उत्तर की ओर बढ़ता रहता है । उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है -" वे (श्रीराम) ऐसे जान पड़ते हैं मानों सूर्य के उत्तरायण में गमन करते समय, साथ में चैत्र और वैशाख दोनों मासों की मूर्तियाँ विराजमान हैं । 'उत्तरायण का 'उतर अयन' रूप अर्थ की दृष्टि से दुरूह है ।

उपजायक

सोक-कूप पुर परिहि, मरिहि नृप,सुनि संदेश रघुनाथ-सिधायक ।
यह दूषन बिधि तोहिं होत सब रामचरन-बियोग-उपजायक ।। "[५४]

---

४९. मानस ६।९९।३

५०. वही, ७।३५।४

५१. वही, ६।८९।६

५२. गीता० १।४९

५३. दे० तुलसीशब्दसागर,पृ० ५१

५४. गीता० २।३।३

भाषा के दृष्टिकोण से गोस्वामी जी परम स्वतंत्र कवि थे। वे व्याकरण, कोश और बोल-चाल की चिन्ता से रहित होकर आवश्यकतानुसार छन्दानुरोध के कारण शब्दों का निर्माण कर लेते थे। यहाँ पर भी उन्होंने छन्द के आग्रह वश संस्कृत के नियमों के अनुसार हिन्दी-क्रियाओं में 'क' प्रत्यय जोड़कर कर्तृवाचक शब्दों का निर्माण कर लिया है। 'उपजाना' सकर्मक क्रिया में कर्तृवाचक 'क' प्रत्यय जोड़कर 'उपजायक' शब्द बना लिया है, जिसका अर्थ है - 'उत्पन्न कराने वाला'। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - (कौशल्या जी कहती हैं कि -) राम के वन गमन का समाचार पाते ही सारा नगर शोक कूप में डूब जायगा और राजा दशरथ भी प्राण त्याग देंगे। रामचरणों से वियोग उत्पन्न कराने वाले हे विधाता! यह दोष अब तुम्हारे ऊपर आयेगा।' इसी प्रकार 'सिधारना' क्रिया से सिधारक, संस्कृत 'प्रापण' से पायक (पाने को) और 'आना' क्रिया से आयक' शब्दों का निर्माण कर लिया है।[५५]

<u>आय</u>

धन्य ते जे मीन से अवधि-अंबु आय हैं।
तुलसी प्रभु सों जिन्हहूँ के भले भाय हैं।।[५६]

यहाँ पर 'आय' शब्द का अर्थ आमदनी' आमद, लाभ प्राप्ति या धनागम नहीं है। यह संस्कृत 'आयुस' से विकसित 'आयु' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है, जिसका अर्थ है - वय, उम्र। छन्दानुरोध के कारण गोस्वामी जी ने 'आयु' का उकार हटा दिया है। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - 'जिन लोगों की आयु उनके लौटने की अवधि रूप जल में मीन के सदृश हो रही है वे धन्य हैं। तुलसीदास जी कहते हैं, जिनका प्रभु में सद्भाव है वे लोग भी धन्यवाद के पात्र हैं।'

इसी प्रकार तुकांत के अनुरोध से 'आयु' को 'आउ' भी कर दिया है। उदाहरणार्थ -- 'निपट सयाने हौ कृपानिधान कहा कहौं,
लिये बेरबदलि अमोल-मनि-आउ हौं।।[५७]

----

५५. दे० वही, २।३।४

५६. गीता०२।८८।६

५७. वि०पी०, पद २६१

प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ है -" हे कृपानिधान ! आपसे मैं क्या कहूँ ? आप तो परम चतुर हैं । मैंने अमूल्य मणिरूपी आयु को बेर से बदल लिया ।"

मुकुतावहिंगे -

लोकपाल-सुर-नाग-मनुज सब परे बंदि कब मुकुतावहिंगे । [५८]

छंदानुरोध के कारण संस्कृत मुक्त विशेषण शब्द से 'मुकुताना' क्रिया बना ली है, जिसका अर्थ है 'मुक्त करेंगे । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा - (जानकी जी हनुमान जी से कहती हैं कि -) लोकपाल, देव गण, नाग और मनुष्य - ये सब बन्दीगृह में पड़े हुए हैं । इन्हें वे (श्रीराम जी) कब मुक्त करेंगे ।"

सुरति -

तुलसिदास रघुबीर की सोभा सुमिरि, भई है मगन नहिं तनकी सुरति ।। [५६]

यह 'सुरति' संज्ञा स्त्रीलिंग फारसी शब्द 'रूप' आकृति या शक्ल' अर्थ वाला नहीं है । यह संस्कृत 'स्मृति' से विकसित संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है, जिसका अर्थ है - स्मरण, सुधि । [६०] गोस्वामी जी ने छंदानुरोध के कारण 'सुरति' का 'सुरति' कर दिया है । उक्त पंक्ति का अर्थ है - "तुलसीदास जी कहते हैं कि इस प्रकार रघुनाथ जी की शोभा का स्मरण कर सीता जी प्रेम में मग्न हो रही हैं, उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं है ।"

सीपर -

लागति साँगि विभीषन-ही पर सीपर आपु भये हैं ।। [६१]

उक्त 'सीपर' शब्द फारसी संज्ञा पुल्लिंग 'सिपर' शब्द है, जिसका अर्थ है - "ढाल" । [६२]

---

५८. गीता० ५।१०

५६. वही, ५।१७

६०. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६८६

६१. गीता० ६।५

६२. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६८६

गोस्वामी जी ने छन्द के आग्रह वश 'ही पर' (हृदय पर का) अनुप्रास मिलाने के लिए 'पिपर' को 'सीपर' बना लिया है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है -- 'इसीलिए यद्यपि शक्ति तो विभीषण के हृदय पर लगने वाली थी, परन्तु उसकी रक्षा के हेतु तुम उसकी ढाल बन गये।'

मारसी

भले भूप कहत भले भदेस भूपनिसों
'लोक लखि बोलिए पुनीत रीति मारसी।' क

प्रस्तुत पंक्ति को पढ़ने से यह विदित होता है कि 'मारसी' कोई पृथक पद है। तुलसी शब्दसागर के सम्पादक महोदय भी इसी भ्रम में पड़ गये। यही कारण है कि 'मारसी' शब्द का अर्थ तो टीकाओं के आधार पर 'परम्परागत' कर लिया है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध मानी है।[६३]

वस्तुत: 'मारसी' शब्द 'रीति' शब्द से जुड़ा हुआ 'रीतिमारसी' 'रीतिमु-आर्षी' पद है। छंदानुरोध के कारण संधि-विच्छेद करके गोस्वामी जी ने 'रीति मारसी' कर दिया है, क्योंकि आगे उन्हें इसी के तोल का 'आरसी' पद रखना है।

'आर्षी' विशेषण स्त्रीलिंग शब्द का एक अर्थ --पवित्र पावन भी है।[६४] अत: रीति आर्षी शब्द का अर्थ है - 'पवित्र ढंग'। यहाँ पवित्र ढंग से बात करने का अर्थ है --श्री जानकी जी को माता और श्रीराम चन्द्र जी को पिता के रूप में देखना। उक्त पंक्ति के नीचे की पंक्ति में यही कहा गया है। मानस में भी कवि ने कहा है --

साधु भूप बोले सुनि बानी। राज समाजहि लाज लजानी।।[६५]

आगे साधु भूप कहते हैं :--

क. कविता० १।१४

६३. दे० तुलसी शब्दसागर, पृ० ३८७

६४. दे० संस्कृत -हिन्दी कोश, पृ० १६०

६५. मानस १।२६६।६

देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोहु ।।[९६]

जानकी जी की प्राप्ति की चाह ही अपवित्र ढंग की बात है ।

तभी सज्जन राजा नीच राजाओं को समझाकर कहते हैं कि समाज को देख कर पवित्र ढंग (उचित ढंग) से बात कीजिए ।"

चारिखौ –

निन कही जग में जगमगति जोरी एक ,
दूजौ को कहैया औ सुनैया चष चारिखौ ।"[९७]

यह "चारिखौ" "चारिकौ", या चार का शब्द है, किन्तु छन्द के आग्रहवश तुकांत "चारिखौ" शब्द बना लिया है । क्योंकि इसके पूर्व "पारिखौ" और उपरांत "सारिखौ" शब्द है । उक्त पंक्ति का अर्थ है – "नारद जी ने कहा है कि संसार में एक श्रीराम जानकी जी की (ही) जोड़ी जगमगा रही है । उनसे बढ़कर और कौन चार आंखों वाला बतलाने और सुनने वाला है ।"

सरिक्ता –

टूट्यो सो न जुरैगो सरासन महेस जू को,
रावरी पिनाक में सरीक्ता कहा रही ।"[९८]

छंदानुरोध के कारण अरबी "शरीक" शब्द में हिन्दी का "ता" प्रत्यय जोड़कर गोस्वामी जी ने "सरिक्ता (शरीक्ता) भाववाचक संज्ञा शब्द बना लिया है । "सरीक्ता" शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है । इसका अर्थ है – साझा, हिस्सा । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा – "परन्तु शंकर जी का जो धनुष भंग हो गया है वह तो अब जुड़ नहीं सकेगा । फिर इस धनुष में मैं आपका कोई हिस्सा (साझा) भी नहीं था ।"

----

९६. मानस १।२६६

९७. कविता० १।१६

९८. वही१।१६

दील

घायल लखनलाल लखि बिलखाने राम ।
भईं आस सिथिल जगन्निवास दील की ।[६९]

यह 'दील' संज्ञा पुल्लिंग फारसी 'दिल' शब्द है, जिसका अर्थ है - मन, चित्त ।[७०] छंदानुरोध के कारण गोस्वामी जी ने 'ढील की' के तौल पर 'दिल' को भी 'दील की' कर दिया है । उक्त पंक्ति का अर्थ है -- 'लक्ष्मण जी को घायल देखकर श्रीराम जी बिलखने लगे और जगत् के निवास-स्थान (भगवान के दिल की आशाएं शिथिल हो गयीं ।'

कटाइक :--

साँकरे के सेइबे, सराहिबे सुमिरबे को,
राम सो न साहिब, न कुमति-कटाइको ।।[७१]

'कटाइक' शब्द के बनावट पर ध्यान न देने के कारण छन्द की चिंता न करते हुए गीता प्रेस के सम्पादक ने 'कटाइबे को' पाठ स्वीकार किया है,[७२] जो कि उचित नहीं प्रतीत होता । क्योंकि ऊपर की पंक्ति में 'कटाइ को' पाठ है । गोस्वामी जी ने छंदानुरोध के कारण हिन्दी 'काटना' सकर्मक क्रिया में संस्कृत के नियमानुसार 'क' प्रत्यय जोड़कर कर्तृवाचक शब्द बना लिया है । 'काटना' क्रिया संस्कृत 'कर्तन' से बनी है ।[७३] 'कटाइक' शब्द का अर्थ है काटने वाला, समाप्त करने वाला । 'घटाइको' के तौल पर 'कटाइको' का निर्माण किया गया है । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा -- 'संकट में काम आने वाला, सराहनीय, स्मरणीय और दुष्ट बुद्धि को समाप्त करने वाला कोई दूसरा स्वामी नहीं है ।

----

६९. कविता० ६।५२

७०. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४७०

७१. कविता० ७।२२

७२. कवितावली, गीताप्रेस संस्करण, पृ० ११८

७३. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० १८६

<u>दगाई</u>

करुनाकर की करुना करुना-हित नाम सुहेत जो देत दगाई ।[७४]
काहे को खीझिय ? रीझिय पै, तुलसीहु सों है बलि सोई सगाई ॥

संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द 'दगा' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है छल कपट या धोखा। तुक ठीक करने के लिए कवि ने 'दगाई' क्रिया बना ली है, जिसका अर्थ है धोखा देना।

उक्त पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार है -- 'करुणानिधान (श्रीरामजी) की जो करुणा है वह तो करुणा करने के ही लिये है। जो नाम का सुंदर निमित्त लेकर आपको धोखा देता है, हे राम जी! आप उससे रुष्ट क्यों होते हैं? कृपया प्रसन्न हों। तुलसीदास के साथ भी आपका वही सम्बन्ध है, वह आप पर न्योछावर होता है।'

<u>आँचि</u> --

भौंहकमान सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बान तें बाँचि ।[७५]
कोप - कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचि ॥

गीता प्रेस के संस्करण में 'आव न आँचे' पाठ है।[७६] सभा के संस्करण में 'आँच न आँचि' है। काव्य की दृष्टि से 'आँच न आँचि' पाठ अधिक उपयुक्त लगता है। तुकांत के कारण गोस्वामी जी ने 'आँच' से आँचना क्रिया बना ली है। 'आँच' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द संस्कृत 'अर्चि' से बनी है।[७७] 'आँचना' का अर्थ है - गरम होना तपना। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है - 'जो लोग भ्रुकुटि रूपी कमान पर अच्छी प्रकार चढ़ाये हुए कामिनी कटाक्ष रूप बाण से बचे हुए हैं, अभिमान रूप अवाँ में क्रोध रूपी अग्नि की ज्वाला से जिनके मन घड़े की भाँति न तपे हों।'

---

७४. कविता० ७।६३
७५. वही ७।११८
७६. दे० कविता० ७।११८
७७. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० ७७
७८.

कलाकी —

ऊधो जु ! क्यों न कहैं कुबरी जो बरी नटनागर हेरि कलाकी ।।[७८]

छंदानुरोध के कारण अरबी 'कलाक' से विशेषण 'कलाकी' शब्द बना लिया गया है जिसका अर्थ है —'मार डालने वाला, घातक' ।[७९] उक्त पंक्ति का अर्थ है — 'हे उद्धव जी ! कुबड़ी ऐसा क्यों न कहेगी, जिसे घातक कृष्ण ने खोजकर वरण किया है ।'

चुवा —

बारि चुवा चहुँ ओर चलें, लपटें झपटें सो तमीचर तौंकी ।।[८०]

यहाँ 'टपकने या चूने' के अर्थ में 'चुवा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । छंद के आग्रह वश गोस्वामी जी ने 'चौवा या चौपाया' को चुवा बना दिया है । 'चौपाया' संज्ञा पुल्लिंग संस्कृत 'चतुष्पाद' से बना है, जिसका अर्थ है — 'चार पैरों वाला पशु ।'[८१] उक्त पंक्ति का अर्थ है —

'दावाग्नि के ताप से तपकर सुन्दर पशु चारों ओर को इस प्रकार दौड़े जाते हैं जैसे लंका में आग की ज्वालाओं की लपट से झुलसे हुए राक्षसलोग इधर भागे थे ।'

अन —

उष्णाकाल अरु देह खिन, मगपंथी, तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे ऊख ।।[८२]

---

७८. कवितावली ७।१३४

७९. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० १७३४

८०. कवितावली ७।१४३

८१. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३२७

८२. दोहावली ३११

प्रस्तुत दोहे के चतुर्थ चरण में आया हुआ 'अन' शब्द संस्कृत शिक्षण 'अन्य' शब्द है। गति या प्रवाह के कारण गोस्वामी जी ने 'अन्य' को 'अन' कर दिया है। उक्त दोहे का अर्थ है -

ग्रीष्म-काल है, चातक का शरीर थका हुआ है, वह मार्ग में उड़ा चला जा रहा है, उसका शरीर गरम हो चला है किन्तु इतने पर भी उसे अन्य जल (स्वातिजल के अतिरिक्त) जल से सींचे हुए वृक्ष (पर विश्राम करने) की बात अच्छी नहीं लगी। 'यहाँ अन' का अर्थ 'दूसरा' है। उक्त दोहे के उपरान्त आने वाले दोहे में भी 'अन्य' का 'अन' कर दिया गया है -

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं, यह प्रवीन को काम।[८३]

----

८३. दोहा० ३१२

उपसंहार

शब्द की उपासना ही वाग्देवी की वास्तविक उपासना है । जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की व्यापकनिश्चयात्मक प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है । परन्तु अनेक अर्थ भ्रामक होते हैं और कुछ आरोपित भी । वास्तविक एवं प्रामाणिक अर्थ की खोज साहित्य चिंतन का मुख्य उद्देश्य है ।

गोस्वामी जी शब्द ही नहीं अक्षर-अक्षर और वर्ण-वर्ण के प्रति भी सजग रहे हैं । उनके अनुसार लयान्वित शब्द और अर्थ ही कवियों की शक्ति है । यथा --

कविहिं अरथ आखर बलु साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाँचा ।।[1]

उनके अनुसार उपमा रहित अर्थ सुन्दर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग मकरंद और सुगंध है ।[2]

वे अद्वितीय शब्द साधक और वाक्यसिद्ध कवि हैं । उनके साहित्य में वैसा अर्थ गौरव प्राप्त होता है, जिसके लिए भारवि विख्यात हैं । उन्होंने अर्थानुरूप शब्द की योजना की है । उनका काव्य सरस, मर्मस्पर्शी एवं गंभीर है । उनकी भाषा अभिप्राय-गर्भित है तथा उनका शब्द भाण्डार तदनुरूप विशाल है । संस्कृत के तत्सम से लेकर तद्भव और कृत्रिम तक जितने प्रकार के रूप भेद संभव हैं उनमें से प्राय: सबका प्रतिनिधित्व तुलसी साहित्य में मिलता है । उनके शब्दाकलन स्रोत भी बहुसंख्यक हैं, कुछ विद्वानों ने उन्हें सूची बद्ध करने की चेष्टा भी की है । शब्द सौंदर्य की धारणा व्यापक है । वह केवल अनुप्रास और अलंकार तक ही सीमित नहीं वरन् उसमें शब्द -शक्तियों के सामर्थ्य का सीमांत उपयोग दृष्टिगोचर होता है । तुलसी-साहित्य में कुछ दूर तक पात्रानुसारी भाषा लिखने की प्रवृत्ति के साथ-साथ लोकोन्मुखता का भी समावेश मिलता है । प्राचीन शास्त्रीय परम्परा और कवि सुलभ स्वातंत्र्य दोनों एक साथ लक्षित होते हैं । उदाहरणार्थ सत, श्रेक आदि शब्द स्वल्प प्रयुक्त हैं । हिन्दू तुरक और मुसलमान जैसी समाज को अवैदिक एवं जातीय आधार पर विभाजित करने वाली शब्दावली तुलसी साहित्य में नहीं है । इसीप्रकार कवि ने कहीं भी संत वेष का उल्लेख नहीं किया है ।क्योंकि संत वेश निश्चित नहीं है, गृहस्थों, वानप्रस्थों, कुवेश,यति,वैरागी, वैष्णव और शैव सबमें संत होते हैं, सबके वेष भिन्न-भिन्न हैं । इसीलिए कवि ने उनके केवल लक्षण बताये हैं । अमुक-अमुक लक्षणायुक्त व्यक्ति ही

---

१. मानस २।२५०।४

२. वही १।३७।६

संत हैं । उदाहरणार्थ- ए सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ।[3]

विभीषण राक्षस होते हुए भी संत थे -

"तुम सारिखे संत प्रिय मोरें ।[4]

गोस्वामी जी जैसे कुशल कवि की कला में शब्द गुण प्रत्येक स्थान पर विचारणीय हैं । उनके साहित्य में प्रत्येक शब्द का अपना स्थानीय मूल्य है । कुछ विद्वानों का कथन है कि उन्होंने लगभग १२६८२१ शब्दों का प्रयोग किया है । जहाँ कपटहीन शुद्धचित्त, धर्म, परमार्थ और सदुपदेश विषयक समीचीन वार्ता होती है, वहाँ कवि 'बतकही' शब्द का प्रयोग करता है । उदाहरणार्थ -

हंसहिं बक गादुर चातकही । हंसहिं मलिन खल विमल 'बतकही' ।।[5]

निज गृह गए सुआयसु पाई । बरनत प्रभु 'बतकही' सुहाई ।।[6]

ऐसे ही जहाँ ज्ञान और भक्ति का प्रबल सम्बन्ध होता है, वहाँ संवाद' शब्द का प्रयोग करता है ।

श्री रामचरणानुरागी को ही कवि ने 'बड़भागी' कहा है -

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी "[7] ।।

सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी । जो रघुबीरचरन अनुरागी ।।[8]

चतुर और चतुराई शब्दों का प्रयोग रामभजन, सत्संग और श्रीराम भक्ति के सम्बन्ध में ही किया है -

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ।।[9]

रीझेउँ देखि तोरि चतुराई । मागेहु भगति मोहि अति भाई ।।[10]

---

३. मानस ७।३८।७   ४. मानस ५।४८।८

५. वही १।६।२   ६. वही ७।४७।८ और द्रष्टव्य, १।२३१ , ७।६६, ४।२१, ६।१६/ ७, ६।१७। ८ ।

७. मानस ,३/१०।२१

८. मानस ४।२३।७, अन्य उदाहरण दे०, १।३२४, छन्द १६, २।८८।५,२।७४,७।१।११, विनय० ६५ ।   ६. मानस ७।१२०। ६,

१०. मानस ७।८५।५, ३।६ ।७, और दोहा ६७

ऐश्वर्य दिखाने में रामजी को सच्चिदानन्द कहते हैं, क्योंकि उसमें मोहादि विकार नहीं हैं। यथा --

जय सच्चिदानन्द जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन ।।[११]

'भगवान' शब्द का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थानों पर किया है जहाँ भक्तों के हित के विषय में कहा गया है --

व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।।

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।।[१२]

श्रीराम के जहाँ अतिशय सौंदर्य या अनेक रूप धारण करने का वर्णन करना होता है, वहाँ कवि 'खरारि' शब्द का प्रयोग करता है।[१३] क्योंकि शत्रु 'खर' ने उनके सौंदर्य को स्वीकार किया था --

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ।।

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ।।[१४]

जहाँ विशेष कौशल की रचना का कथन करना होता है वहाँ कवि विरंचि का बनाना कहता है --

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी ।।[१५]

मानस में कवि ने 'रुचिर' विशेषण शब्द का प्रयोग श्रीराम सम्बन्धी पदार्थों के साथ ही प्रायः प्रयुक्त किया है। यथा --

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई ।।[१६]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'रुचिर' शब्द श्रीराम को अत्यंत प्रिय था। इसीलिए स्थान-स्थान पर कवि ने इसे उनको समर्पित किया है। कदाचित यह बात शूपर्णखा को ज्ञात हो गयी थी। तभी तो वह 'रुचिर' रूप धारण करके राम के पास गयी थी --

---

११. मानस। ५०।३ और १।११६।५, ७।५२, ७।४७, ७।७२।३, ७।६८, ७।७७

१२. मानस १।१३।४-५, १।१४६।८, ७।७२

१३. वही १।१६२। छंद ४, १।२०२।६, ७।६।४ और विनय० ४५।

१४. मानस ३।१९।४

१५. मानस १।२२३।७, १।२२।६, १।३११।५

१६. मानस ७।७६।३, १।३५६।५, १।२१९।५, १।२४३।८, १।३२६।५, ३।२४।१

१७. वही ३।१७।७

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली बचन मधुर मुसुकाई ।।[१७]

जब जब कहीं रुकना पड़ता है तब तब गोस्वामी जी वहाँ से चलते समय 'चले' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा --

जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस ।।[१८]

जब नवीन प्रसंग का प्रारंभ करना होता है तब 'तेहि अवसर' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा --

तेहि अवसर आए दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई ।।[१९]

जहाँ किसी विशिष्ट घटना की ओर संकेत करना होता है वहाँ 'एकबार' शब्द का प्रयोग करते हैं । उदाहरणार्थ --

एक बार भरि मकर नहाए । सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए ।।[२०]

जहाँ कथा के किसी प्रसंग को मोड़ना होता है, वहाँ 'संध्या' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा --

'साँझ समय' सानंद नृपु गयेउ कैकई गेह ।[२१]

प्रत्येक लाभ पर लोभ बढ़ने वाली उक्ति कवि को बहुत प्रिय थी । इसीलिए उसने पुनरावृत्ति की चिंता न करते हुए रावण के सम्बन्ध में ही दोनों बार प्रयुक्त किया है । यथा --

काटत बढ़हिं सीस समुदाई । जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ।।[२२]

'राजिव नयन' का प्रयोग प्राय: ऐसे ही स्थानों में किया है जहाँ कृपादृष्टि का प्रयोजन है । उदाहरणस्वरूप --

राजीव बिलोचन भवभय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई ।।[२३]

मानस में, अधिकांश स्थलों पर 'रघुराया' के साथ 'दाया' और 'दाया' के साथ 'रघुराया' का प्रयोग हुआ है । यथा --

---

१७. मानस ३।१७।७   १८. मानस १।२०८।१२, १।२१०।१०, १।२१२।१ और ४

१९. वही १।२१५।४, १।२४१।१, १।२२८।२, २।२६६।४

२०. वही १।४५।३,१।४८।१, १।८८।७, १।१०६।४, १।२०१।१, ३।१।३

२१. वही २।२४, ६।४८।१, ६।३५, ६।५५।४

२२. वही ६।१०१।१,१।१८०।२

२३. वही १।२११।छंद - ८, ५।३२।१,६।११३। छंद १०

त्रास करहु तहँ रघुकुलराया । कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया ।।[२४]

ऐसी प्रसिद्धि है कि मानस की प्रत्येक अर्धाली 'रकार' 'मकार' युक्त है । ऐसा करके कवि ने 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा, रहि गई रघुपति नाम उदारा, और रामनाम जस अंकित जानी' आदि को चरितार्थ कर दिया है । किन्तु कुछ अर्धालियाँ ऐसी हैं, जिन 'रकार', 'मकार' का प्रयोग नहीं हुआ है । उदाहरणार्थ —

भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ।।[२५]

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को जो बातें अच्छी नहीं लगीं, उन्हें रकार मकारहीन कर दीं ।

रामचरितमानस को 'व' वर्णानामर्थसंघानां..... ' से प्रारंभ करके उसी अक्षर पर उसकी समाप्ति भी की । .... मानवा: ।'

तुलसी साहित्य को दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला के आधार पर थोड़ा बहुत परखा गया है । कुछ ग्रन्थों की विशद और अनेक टीकाएं भी लिखी गयी हैं । पर उनके समस्त साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान की ओर विद्वानों की दृष्टि समग्रत: नहीं गयी । अत: प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में तुलसी साहित्य के वास्तविक एवं प्रामाणिक अर्थ की खोज का प्रयास हुआ है ।

गोस्वामी जी का साहित्य अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से विशाल समुद्र की भांति व्यापक और अतल है । अत: इसकी थाह अर्थात् कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अर्थों को निर्धारित करके उसके मनोगत भावों का पता लगाना, उनकी अर्थच्छाया की सूक्ष्मता को ग्रहण करना एक दुरूह कार्य है । तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान हेतु अभी कितने ही मर्मज्ञ अनुसंधायकों के प्रयत्नों की आवश्यकता होगी । ऐसी स्थिति में तुलसी जैसे महाकवि की अर्थगत सभी समस्याओं का निदान मैंने कर दिया है, यह कहना दुस्साहस होगा । 'रहिदानु' शब्द फ़ारसी 'शाहिद' से विकसित है । 'जुरी,[२६] कुरी[२७] आदि

---

२४. मानस ३।१३।१७, ३।१।६, ३।२६।१

२५. वही १।१३७।५, २।१७३।८, २।१६१।३, ५।२।१, ७।३६।७ और भी अर्धालियाँ प्रमाणस्वरूप मिल सकती हैं ।

२६. मानस २।२४६।२

२७. वही ७।१५।८

शब्द भी अप्रचलित है। एक छंद में नहँ शब्द का दो बार प्रयोग कैसा विलक्षण है —

मकरंद जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनहँ।

तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्वकल कीरति नहँ।[२८]

शरणागत में प्रयुक्त प्रथम नहँ शब्द का अर्थ नदी है तो दूसरे का नवीन इसके अतिरिक्त कैसा, गेह, सोरि, कियो, हसाई, भगारि आदि देशी अल्प प्रचलित शब्द और कोतल, रैयत, हबूब, फहम, बहरी आदि फारसी-अरबी के अप्रचलित शब्दों पर विचार नहीं किया जा सका। ये भी अर्थ की दृष्टि से कठिन हैं। गोस्वामी जी के ठेठ शब्दों में भाव संवहन की अपूर्व शक्ति है। ठेठ एवं तत्सम शब्दों के प्रयोग से वे जनसामान्य एवं विद्वज्जनों के कंठहार हो गये हैं। अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा विषयक उदारता लक्षित होती है। यह प्रवृत्ति सम्प्रति धर्म निरपेक्ष कहलाने वाले हिन्दी पक्षधरों में भी कम मिलती है। कवि के ठेठ, तद्भव जैसे अप्रचलित शब्दों के अध्ययन से उसकी जन्मभूमि की खोज असंभव नहीं है, वरन् इसकी ओर गंभीर प्रयत्न अपेक्षित है।

काव्यात्मक गरिमा और तुलसी के शब्द समायोजन की प्रकृति को देखते हुए विषयानुसंगति और लेखानुसंगति के आधार पर पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं का समाधान ~~लेखानुसंगति के आधार पर पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं का समाधान~~ किया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वैज्ञानिक पाठानुसंधान के क्रम में अधिकाधिक पांडुलिपियों का उपयोग करते हुए भी अन्तत: साहित्यिक अर्थ विचार पर बल देना आवश्यक है, अन्यथा तथाकथित प्रामाणिक पाठ भी साहित्यिक दृष्टि से संगत एवं विश्वसनीय सिद्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा मान्य पाठ — सरिस स्वान मघवा निजु जानू[२९] प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें निजु जानू साहित्यिक दृष्टि से सदोष एवं अग्राह्य है। वास्तविक रूप है —

---

२८. मानस १।३२४। छंद १४ और २२

२९. वही २।३०२।८

"सरिस स्वान मघवान जुवानू ।" [३०]

कवि ने पाणिनि के "श्वयुवमघोनामतद्धिते" सूत्र का आधार लेकर उक्ति रची है और डा० गुप्त द्वारा मान्य पाठ इस सुप्रसिद्ध तथ्य की उपेक्षा करता है ।

"क्यों ऽवरहि जात सुनि भ्रात बिन हेरे" [३१] नामक पंक्ति में अकार के लोप का प्रमाण उद्धृत नहीं किया है । परन्तु कवि ने अन्यत्र ओकारांत और एकारांत पदों के बाद अकार का लोप किया है । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

सो दासी रघुबीर के समुझें मिथ्या सोपि [३२]

एकन्ह के इर लेपि हेराहीं [३३]

इससे स्पष्ट है कि "क्यों ऽवरहि जात" में अव (ऽव) का अवशेष है और उसे रहि के साथ मिलाकर "वरहि" शब्द की स्वतंत्र कल्पना करना भ्रामक है । अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ समस्याएँ तुलसी साहित्य में अधिक नहीं हैं ।

गोस्वामी जी ने कूट शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं किया है । कूट या कूटो-न्मुखी शब्दों के अर्थ निरंतर पर्याप्त समय तक बुद्धि व्यायाम करने के पश्चात् ही निश्चित हो पाये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ऐसे शब्दों का प्रयोग पांडित्य और चमत्कार प्रदर्शन हेतु किया है । परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा प्रदर्शन भी मध्यका-लीन काव्य में बहुत स्वाभाविक हो गया था और तुलसी ने जितनी मात्रा में उसका उपयोग किया है, उससे लगता है कि वह उनकी मूल प्रवृत्ति नहीं थी । उससे उनके काव्य ज्ञान और शास्त्रीय काव्य लेखन के सामर्थ्य की ही व्यंजना होती है । साथ ही यह भी प्रकट हो जाता है कि वे केशव और सूर की तरह अधिक महत्ता नहीं देते थे ।

उच्चारण से भी समस्या खड़ी होती है । "न यावद् उमानाथ पादारविंद" में कहीं-कहीं "यावदुमानाथ" होने से गड़बड़ होता है । ऐसे उच्चारण से वर्णन्यूनता आती है । इसी प्रकार "मारगन" [३४] को "मार्गन" संस्कृत शब्द लिखने से छंदो बाधा उपस्थित होती है । ऐसे ही "कारमुक" [३५] को संस्कृत रूप "कार्मुक" पढ़ने से भी छंदोभंग होता है । विस्तार भय से इसप्रकार की समस्याओं पर विचार नहीं किया जा सका और इसलिए भी कि ये

---

३०. मानस २।३०१।८ | ३१. विनय० २१० |
३२. मानस ७।७१।११ | ३३. वही ७।४।६ |
३४. वही ६।११।१४ | ३५. वही ६।१३।५ |

मूलत: अर्थ-समस्या नहीं है । अंत में यह बात कहना अनुचित न होगा कि तुलसी साहित्य के कतिपय टीकाकारों में पूर्वाग्रह या दुराग्रह की प्रवृत्ति विशेष रूप में प्राप्त होती है, जो अवांछनीय है । कतिपय अप्रचलित शब्दों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों तथा विपर्यस्त अर्थों की समस्याओं में पाठभेद भी मिलते हैं । इनके पाठभेद से भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं ।

यत्र-तत्र टीकाकारों ने अनेकार्थी शब्दों एवं कुछ अप्रचलित शब्दों के अर्थ-विपर्यय भी कर दिये हैं । कतिपय शब्द अप्रचलित होते हुए भी अनेकार्थी हैं । अत: दोनों संदर्भों में संगत माने जा सकते हैं ।

"संत पंथ अपवाद"[36] आरोपित अर्थ से सम्बद्ध है, किन्तु यह एक मुहावरा भी है । टीकाकारों ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों, अप्रचलित एवं अनेकार्थी शब्दों तथा विपर्यस्त अर्थों की कतिपय अर्थ-समस्याओं पर अर्थारोपण भी किये हैं । कुछ कूटोन्मुखी शब्द अप्रचलित भी हैं । कतिपय विपर्यस्त अर्थ अन्वय भेद के अन्तर्गत भी अन्तर्भुक्त हैं ।

तात्पर्य यह है कि तुलसी साहित्य की अर्थ-समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं । एक समस्या का अन्तर्भाव किसी दूसरी समस्या में हो जाता है और अनेक समस्याओं का किसी एक विधा में अन्तर्भाव हो जाता है । यद्यपि ~~प्रतीति~~ अधिकांश अर्थ-समस्याओं के निदान में यथेष्ट सफलता की प्रतीति हुई है तथापि पूरे प्रयत्न के उपरांत भी ऐसा संभव है कि कुछ अर्थ सर्वथा सुनिश्चित न माने जायें । विद्वानों की दृष्टि में कतिपय स्थल फिर भी संदिग्ध हो सकते हैं, इस संभावना से अनवगत नहीं हूँ ।

हमारा विश्वास है कि अर्थ-समस्याओं के निदान में हमने साहित्य से जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं अधिक अनुशीलन द्वारा उनकी और अधिक सम्पुष्टि होगी तथा वैसे ही अन्य प्रमाण सुलभ होंगे । तुलसी साहित्य के प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान करने के उपक्रम के बाद भी गोस्वामी जी की वाणी की अद्भुत अग्राह्यता समाप्त नहीं होती है, क्योंकि यह एक साहित्यिक विशेषता है दोष नहीं । शब्द वैचित्र्यमयी, अर्थ गौरवशालिनी और लिपिबंदग्रन्थ्यर्थीहत वाणी का स्वरूप ही ऐसा है --

सुनत श्रवन मृदु मंजु कठोरे । अरथु अमित अति आखर थोरे ।।
ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी । गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ।।[37]

यद्यपि कवि ने यह बात भरत - भारती के सम्बन्ध में कही है तथापि यह उनकी वाणी के लिए उतनी सार्थक है ।

---

36. मानस ७।१३०।छन्द १५ 37. वही २।२९३।२-३

परिशिष्ट--'क'

तुलसी साहित्य की कतिपय अतिरिक्त अर्थ-समस्याएं

(१) देखि अति लागत अनंद 'खेत खूंट सो ।'[१]

प्रस्तुत पंक्ति के 'खेत खूंट' के अर्थ में मतभेद है । हरिहरप्रसाद जी के अनुसार - 'खेत को खूंट कहें सीवा जो सो देखि अति आनंद लागत ।'[२] बैजनाथ जी कहते हैं कि- खेत को खूंट कहे सींव मेंढ़ सी लागत ।'[३] श्रीकांतशरण जी,[४] इन्द्रदेवनारायण जी[५] और लाला भगवान दीन जी के मतानुसार - खेत के टुकड़े की भाँति अत्यंत हरा भरा डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'खूंट सो' का अर्थ टुकड़ा सा'[७] और बम्पाराम मिश्र ने 'खूंट' का अर्थ कोना, सीमा' किया है ।[८] देवनारायण द्विवेदी जी ने 'खेतवारी' अर्थ किया है ।[९] पं० चन्द्रशेखर शास्त्री जी बोलचाल की भाषा मानते हुए 'खेत-खलियान' अर्थ करते हैं । तुलसी शब्द सागर में इसका अर्थ फसल काट लेने के बाद खेत में लगा हुआ डंठल का निम्न भाग ,खूंटी' दिया है ।[१०] तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक ने 'जिस क्षेत्र की भूमि बहुत उर्वरा है' अर्थ किया है ।[११]

---

१. कवितावली ७।१४१
२. कवित्त०, पृ० २००
३. कविता०, पृ० २८१
४. कविता० सि०ति० , पृ० ५१४
५. कविता०, पृ० १६७
६. कविता० पृ० २०७
७. वही, पृ० १२१
८. वही, पृ० १६४
९. वही, पृ० २३६
१०. वे० पृ० १११
११. पृ०सं०,अ०भा०वि०परि० ,काशी, पृ० २८१

(२) तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंध्रक धोरी ।[१२]

डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार -पूर्व का पाठ था :-

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंध्वक धोरी ।।

'धंध्वक' को १७२१ में 'धंधक' बनाया गया है । पहला अर्थ हीन है, दूसरा सार्थक है, अर्थ होगा 'धंधा करने वाला'[१३] ।

सामान्य पाठ है : तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंधकधोरी 'धंधक' के स्थान पर १७०४ में 'धंधक' लिखा गया था, संशोधन 'धंधरच' लिखकर किया गया है ।[१४]

डा० गुप्त ने अपने संस्करण में - धींग धरमध्वज धंधक धोरी' पाठ निश्चित किया है ।

भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १६४२) का पाठ है -

धिग धरमध्वज धंधक धोरी । १।१०।८

कालकांड में - श्रावण की प्रति, अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में 'धीग' पाठ है और सं० १७०४ की काशिराज वाली प्रति में 'धीग धरम ध्वज धंधरच' पाठ है । सं० १७२१ वि० की प्रति, सं० १७६२ की प्रति, छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति ,बंदनपाठक की प्रति, कोदवराम की प्रति में भागवतदास का पाठ है ।[१५]

श्री विजयानंद त्रिपाठी जी ने धींगधरमध्वज धंधरन धोरी ।' पाठ माना है वे कहते हैं कि 'ढंगरच (पाखंडी) शब्द का धंधरन हो गया ।'धंधक ' पाठ मानने से 'धर्म-ध्वज ' के धन्धा' का धुरी अर्थ करना पड़ेगा ।[१६]

मानस की टीकाओं में धीक, धिक और धींग,धिग पाठ मिलते हैं ।

---

१२. मानस० १।१२।४

१३. रामचरितमानस का पाठ, पृ० ३३

१४. वही, प्रथम भाग,पृ० ४६

१५. दे० शंभुनारायण चौबे,मानस अनुशीलन,पृ० ४८

१६. मानस०वि०टी०,पृ० ३४-३५ ।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि - "कैथीलिपि के कारण मानस की निम्नलिखित अर्धाली के दो पाठ हो गए --

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धिग धर्म ध्वज धंधक धोरी ।।

प्राचीनपाठ है "धीग धरम ध्वज धंधक धोरी" है । "धीग" को "धीग" और "धिग" दोनों कैसे पढ़ लिया गया यह कैथीलिपि बता देगी । वहाँ "धीग" को "धीग" और "धिग" दोनों पढ़ सकते हैं । जिसने "धीग" को "धिग" पढ़ा उसने मानस के नियम के विरुद्ध "धर्मध्वज" को भी पढ़ा । मानस में संस्कृत के दो पदों के समस्त होने पर "संयुक्ताक्षर दीर्घत्व" का नियम हिन्दी पाठ में नहीं है । "धंधक" शब्द के "ढर" को अनावश्यक समझकर "धंधक" कर दिया गया । इसके अर्थ में आज भी मतभेद है ।

यह धंधरक का विकारूप है, जिसका दूसरा रूप पूर्वी भाषाओं में ढंगरच चलता है । "ढंग" या "ढोंग" रचनेवाला इसका अर्थ होता है । केवल श्रीविजयानंद त्रिपाठी ने अर्थानुसारी पाठ "धंधरच" रखा है, शेष में "धंधक" का "र" भी हट गया है । इसका कारण यह है कि बालकांड की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति "कुंज" में परवर्ती संशोधित पाठ "धंधक" है । उसी में संशोधन के पूर्व का पाठ "धंधक" ही है । "धंधक" का अर्थ भगड़ा, बखेड़ा खड़ा करने वाला लगाया गया है ।"[१७]

उक्त विवादास्पद अर्धाली के द्वितीय चरण के अर्थ में भी टीकाकारों में परस्पर बहुत मतवैभिन्य है ।

३. कुबरिँ करि कबुली कैकेई । कपट छुरी उर पाहन टेई ।।[१८]

प्रस्तुत अर्धाली के प्रथम चरण के कई पाठांतर मिलते हैं ।

"कबुरी करी कबुली कैकेई" भागवतदास के प्रथम संस्करण का पाठ है । सं० १७६२ की प्रति, छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, बंदनपाठक की प्रति, सं० १७०४ वि० की काशिराज वाली प्रति, कोदवराम की प्रति, बालकांड में श्रावण कुंज की प्रति, अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में "करि कबुली" पाठ है ।[१९]

---

१७. मानस काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २६ ।

१८. वही २।२२।१, यही पाठ डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी माना है । दे० मानस २।२२।१

१९. सं० शंभुनारायण चौबे, मानस अनुशीलन, पृ० ८१

'करि' और 'कबुली' के अर्थ में भी मतभेद है। श्रीरामचरणदास जी 'कुबरी कर कबु बलि कैकेयी' पाठ मानते हुए अर्थ करते हैं - हे पार्वती कैकेयी बलि भई है तेहि कर कब कही बार सो कुबरी ने अपने हाथ में गह्यो है।'[20] पंजाबी जी ने पाठ माना है - 'कुबरी करकस कब कैकेई' और अर्थ किया है - करकश नाम कसाई का कब नाम अजा का सो कुबरी कसाइन सम अरु कैकेई तिस के हाथ में छेरी सम आई है। पाठांतर कुबरी कर कुबलि कैकेई। कुबरी के हाथ में कैकेई निर्बल हुवै गई जैसे वह चाहे तैसे करे। अथवा कुली नाम कुमरि पंछी का है तिसकी न्याई कैकेई को करके।'[21]

गोस्वामी जी के प्रत्यक्ष शिष्य रामु दिवेद प्रथम चरण की अनु टीका करते हैं -

एवं सा मंथराधीना सदाज्ञाकारिणी भृशम्।

नाटयित्री करानद्ध सूत्रा पुत्तलिकोपमा।।

'कबुली' मूल रूप में कहीं 'कठुली' (कठपुतली) न हो।[22]

रामायणपरिचर्या परिशिष्ट प्रकाश में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है - (१) कुबरी करि के (अर्थात् कुबरी द्वारा) कबुलवायी हुई कैकेयी (के मारने के लिए) (२) कबुली-मानता मानी हुई बलि। कुबरी द्वारा मानता मानी हुई जो बलिरूपी कैकेयी है उसके लिए।[23]

पं० ज्वालाप्रसाद जी का पाठ है - 'कुबरी करि कुबली कैकेयी' - कुबरी से कुबिलाई हुई जो कैकयी है, कुबरी ने उसके मारने को..... ।[24]

पं० विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार 'कुबरी ने कैकेयी से कबूल कराके।'[25] पोद्दार जी ने यह पाठ 'कुबरी करि कबुली कैकेयी' स्वीकार करते हुए अर्थ किया है - कुबरी ने

---

२०. रामा०, पृ० ५२२

२१. मा०भा०, प्र०भा०, अयो०का०, पृ० २८

२२. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० ३०२-३०३

२३. दे०मा०पी०अयो०, पृ० ११६

२४. सं०टी०, पृ० ४४६

२५. वि०टी०अयो०, पृ० ३६

कैकेयी को (सब तरह से) कबूल करवा कर (अर्थात् बलिपशु बनाकर)।[२६]

गौड़जी कबुली का अर्थ करते हैं - राजी की हुई, पत्नी भेद। [२७] अभिप्राय दीपक चक्षुकार के अनुसार 'करि' का अर्थ है - कसाई, गौमरी गौ को मारने वाली पापिनी। यथा - गौमरी करि चाण्डाली खवानी गाढ़ि विभाषा भास्करेति।' 'कबुली' का अर्थ है -- बलिपशु - यथा --

'प्राणान्त्यागे पशुश्चैव सार्द्धत्यागे कबुलिका इति मन्दीकोशे।'
यह अर्थ लखह न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलिपशु जैसे।।' के आधार पर है। [२८]

मानस मर्यंककार के अनुसार-

करी नाम है गौमरी, उक्त कल्पीकोश।
मरी अर्द्ध बलिपशुधरी, कबुलीकोशी कोश।।३५।।

वे मूल का अर्थ करते हैं कि 'कुरी' शब्द का अर्थ गौमरी अर्थात् कसाइन है। यह वररुचि कोश में कथित है और कबुली अधमरी बलिपशु को कहते हैं।

यह (सो) भास्कर कोश में लिखा है। अतएव इस चौपाई का यह अर्थ हुआ कि कसाइन कुबरी अधमरी बलिपशु रूपी कैकेयी को मारने के लिए अपने हृदय रूपी पाषाण पर कपट रूपी छुरी को पिजाती है। [२६]

श्री शुकदेव लाल का पाठ और अर्थ इस प्रकार है --कुबरी करी कुबलि कैकेई।' 'कुबरी ने कैकेई को बलि पशु किया। [30] विनायककार के अनुसार -- 'कुबरी करि कबुलि कैकेयी - मंथरा ने कैकेई से कबूल कराकर।' [३१] रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'करी' और

---

२६. मानस०,पृ० ३५२

२७. मा०पी० अ०पृ० १२६

२८. वही

२९. वार्तिककार श्री इन्द्रदेवनारायण,मानस मयंक, पृ० १६०

३०. रामा०,पृ० १३

३१. वि०टी०,पृ० ४०

'कुचालि' का अर्थ किया है - 'कुचालि का पशु बना कर ।'[32] और अवधबिहारीदास जी ने 'करि' का अर्थ 'किया' और 'कुचली' का 'कुत्सित चालि' लिया है ।[33] प्राचीन प्रतियों का पाठ 'करि कबूली' ही है । कवि ने अन्यत्र 'कबूलत' शब्द का प्रयोग 'स्वीकार करने' के अर्थ में किया है --

हौं न कबूलत बाँधि कै मोल करत करेरो ।[34]

(४) गरजि तरजि पाषान बरषि पबि प्रीति परखि जिय जानै ।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै ॥[35]

प्राचीन पाठ है --

गरज तरज पाषान बरषि पबि प्रीति पारख जिऊँ जानैं ।
.... पहिचानै ।[36]

यहाँ पाठ भेद से अर्थ में भेद हो गया है ।

(५) 'नकुल सुदरसन दरसनी, छेमकरी चक चाष ।'[37]

'चक' के स्थान पर क्रमशः 'चुप' 'नचा' पाठ भी मिलता है । वंदन पाठक ने 'चष' पाठ माना है ।[38] भागवतदास की प्रति में चुप पाठ है ।[39] इस प्रकार विभिन्न पाठ से अर्थभेद हो गये हैं ।

(६) लोचन अभिरामं तनुघनस्यामं निज आयुध भुज चारी ।[40]

---

३२. मानस०, पृ० ४२१

३३. वही, पृ० ३६६

३४. विनय० १४६

३५. वही ६५

३६. वि०पी० ६५ और पाद टिप्पणी

३७. दोहा० ४६०

३८. दोहावली, पृ० १५४

३९. दोहा० हि०लि० पृ० ५४८

४०. मानस १।१६२।छन्द ३

साम्प्रदायिकता के कारण टीकाकारों ने 'मारी' शब्द के अर्थ में अनेक क्लिष्ट कल्पनायें की हैं। कोई कोई 'धारी' पाठ की भी कल्पना करते हैं।

(७) कछु दिन भोजन बारि बतासा।[४१]

कुछ लोग 'बारि बतासा' का अर्थ जल का बबूला करते हैं।

(८) नहरू प्रभु प्रताप उतारू चढ़ाय चाप
देते पै देखात बल, फल पाप मई है।[४२]

'पापमई' के अर्थ में मतभेद है।

बैजनाथ जी,[४३] मुनिलाल जी,[४४] ठाकुर बिहारीलाल जी,[४५] और तुलसी ग्रन्थावली के सम्पादक महोदय ने[४६] इसका अर्थ किया है कि इससे प्राप्त होने वाला फल पापमय है (क्योंकि जगज्जननी सीता जी तो मेरी माता के समान हैं)। हरिहर-प्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी के अनुसार "योग्य बड़े भाई के बिना ब्याह हुए छोटे का ब्याह होना पापमय है।"[४७]

(९) का छतिलाभु जून धनु तोरें। देखा रामनयन के भोरें।।[४८]

यहाँ 'नयन' का अर्थ नेत्र नहीं 'नवीन' है। संभवतः 'नयन' अर्थ की भ्रांति के कारण ही 'नए के भोरें' और 'नये के' पाठ किये गये हैं, यद्यपि प्राचीन पाठ 'नयन' ही है।

(१०) पियरी झीनी झंगुली सांवरे सरीर खुली[४९]

प्रस्तुत पंक्ति के 'खुली' शब्द का अर्थ 'खुलना' नहीं 'खिलना' है।

----

४१. मानस १।७४

४२. गीता० १।८३।२

४३. वही, पृ० १६७

४४. वही, पृ० १२६

४५. वही, पृ० ९९

४६. हि०सं०भा०वि०परि० काशी, पृ० ३७७

४७. दे० क्रमशः, गीता० पृ० ६३ और सि०ति० पृ० २८२

४८. मानस १।२७२।२

४९. गीता० १।३०

(११) कपट मर्कट, विकट व्याघ्र पाखंड मुख दुखद - मृगव्रात उत्पातकर्ता ।[५०]
उक्त पंक्ति के 'मुख' अर्थ में मतभेद है । किसी ने 'मुख' का अर्थ 'मुँह' और किसी ने 'आरंभ' एवं 'आदि' किया है ।

(१२) ईस न, गनेस न दिनेस न, धनेस न,

सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने ।[५१]

हरिहरप्रसाद जी,[५२] बैजनाथ जी,[५३] इन्द्रदेव नारायण जी,[५४] देवनारायण त्रिवेदी जी[५५] और लाला भगवानदीन जी ने[५६] 'ब्रह्मा' अर्थ किया है ।

रामनारायण मिश्र ने 'शिव'[५७] और पं० चन्द्रशेखर ने 'सरस्वती'[५८] अर्थ किया है ।

श्रीकान्तशरण जी[५९] और तुलसी ग्रन्थावली के संपादक ने[६०] 'बृहस्पति' अर्थ किया है ।

(१३) रामनाम को प्रभाउ जानु जूड़ी आगि है ।[६१]

'जानु जूड़ी आगि' के अर्थ में टीकाकारों ने कुछ खींचतान की है । वैसे यह एक मुहावरात्मक प्रयोग लगता है ।

(१४) साँप सभा साबर लबार भये देव दिव्य,

दुसह साँसति कीजै आगे ही या तनकी ।[६२]

उक्त पंक्ति के प्रथम चरण के अर्थ में मतभेद है । किसी-किसी ने 'साँप सभा' पद को ही अर्थ का स्थान रख दिया है, उसको व्याख्यायित नहीं किया । 'देव दिव्य'

---

५०. विनय० ५९
५१. कवितावली ७।७८
५२. कवि० रामा०, पृ० २५७
५३. वही, पृ० २२६
५४. कवितावली १५२
५५. वही, पृ० १६०
५६. वही, पृ० १६१
५७. वही, पृ० १३१
५८. वही, पृ० १२५
५९. वही सि०सि०, पृ० ३६७
६०. तु०ग्रं० ना०प्र०स०काशी, पृ० २६०
६१. विनय० ७०
६२. वही, ७५

का एक अर्थ सपथ भी किया गया है ।

(१५) नाथिन रामसरसिक रस चाख्यौ, तातें ढेल सौ डारी ।।[६३]

प्रस्तुत पंक्ति के "ढेल सौ डारी" का अर्थ श्रीकांतशरण जी करते हैं फिर पत्थर सा मारते हो या ये वचन ढेलों के समान लग रहे हैं।"[६४] पोद्दार जी के अनुसार "ढेले से फेंकरहे हो ।"[६५] किन्तु यह एक मुहावरात्मक प्रयोग है, जिसका अर्थ है "रोड़ा अटकाना ।"

(१६) तुलसी त्यौं त्यौं होइगी गरुआई ज्यौं ज्यौं कामरि भींजे ।।[६६]

स्वारस्य और अर्थ-सौष्ठव पर ध्यान न देने के कारण इसके भी कतिपय टीकाकारों ने ऊट पटांग अर्थ किये हैं ।

(१७) जनमन मंजु कंज मधुकर से । जीह जसोमति हरि हलधर से ।।[६७]

प्रस्तुत अर्धाली के "मधुकर" शब्द के अर्थ में मतभेद है । कोई इसका अर्थ "भौंरा" करते हैं, तो कोई खंड करके "मधु" का अर्थ "जल" और "कर" का किरण (ही सूर्य किरण) करते हैं ।

(१८) तेहि अवसर एकु तापसु आवा ।[६८]

इस तापस को कुछ लोग गालव नृप का पुत्र, भगवान शंकर, सनत्कुमार, अग्नि, अगस्त्यमुनि का शिष्य, वृ.ग., चित्रकूट, चित्रकूट का वैराग्य, हनुमान जी, रावण वध का संकल्प, भरत का काण्ड रूप आदि बताते हैं, तो कुछ लोग स्वयं गोस्वामी जी को मानते हैं । वैसे "तापस" कवि के लिए अलखित है अर्थात् कवि नहीं जानते कि वह कौन है ।[६९] कुछ लोग तो इसे पूर्णरूपेण प्रक्षिप्त मानते हैं ।

----

६३. श्रीकृष्ण ३५

६४. वही सि०सि०,पृ० ८२

६५. वही, पृ० ४२

६६. वही ४६

६७. मानस १।२०।८

६८. वही २।११०।७

६९. कबि अलखित गति बेषु बिरागी । वही २।११०।८

(१६) पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,[७०]

अधिकांश टीकाकारों ने पात भरी सहरी का अर्थ पत्तल भर (सहरी) मछली किया है। देवनारायण द्विवेदी जी के अनुसार — किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जंचता क्योंकि सहरी शब्द सफरी का अपभ्रंश नहीं है, इसलिए इसका अर्थ मछली नहीं हो सकता। उनके अनुसार इसका अर्थ है - "मेरी गृहस्थी कच्ची है।"[७१]

बैजनाथ जी और चन्द्रशेखर शास्त्री के अनुसार "मेरा परिवार बड़ा है।"[७२] इसके पश्चात् व्यंग्यार्थ में बैजनाथ जी ने अनेकानेक आध्यात्मिक कल्पनाएं की हैं।

हरिहरप्रसाद जी के अनुसार - छोटे-छोटे लरिका पात भरी सहरी नाम छोटी मछरी सम हैं।[७३]

(२०) अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।[७४]

मूल अव्यक्त, चार त्वचा, षट्स्कंध, २५ शाखाएं, पर्ण सुमन घने, फल मधुकटु और बेलि अकेलि कुछ प्रयोगों के अर्थ में टीकाकारों में मतवैभिन्य है।

(२१) शून्य भीत पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोर मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे॥[७५]

शून्य-भीति, चित्र, रंग नहि, बिनु तन लिखा चितेरे, धोये - मिटइ-न-मरइ, एह तन हेरे और भीति दुख पाइय आदि कुछ प्रयोगों के भी अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं।

---

७०. कवितां० २।८
७१. वही, पृ० ३०
७२. दे० क्रमशः कवित्त रामा०, पृ० ४३ और कवितां० पृ० १५
७३. कवित्त रामा०, पृ० २२
७४. मानस ७।१३ छन्द १७-२६
७५. विनय० १११

२२. सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं । जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ।।
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी । रामु पुनीत प्रेम अनुगामी ।।[७६]

प्राय: अधिकांश टीकाकारों ने प्रस्तुत पंक्तियों को राम से ही सम्बन्धित माना है । परन्तु मानस मयंककार[७७] और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[७८] आदि कतिपय विद्वान इसे भरत से संबद्ध करते हैं ।

(२३) जाई राजघर ब्याहि आई राजघर माहँ,
राज-पूत पाएहूँ न सुख लहियतु है ।
देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है ।[७९]

इसी प्रकार उक्त प्रथम एवं द्वितीय चरण को कुछ लोग कैकयी के लगाते हैं तो कतिपय टीकाकार कौशल्या से सम्बद्ध मानते हैं । अन्तिम तृती चरण के उपमान उपमेय भी स्पष्ट नहीं हो पाते ।

(२४) परम कृपाल जो नृपाल लोकपालन पै,
जब धनु हाई ह्वैहैं मन अनुमानि कै ।।[८०]

लाला भगवान दीन जी "ह्वैहैं" के स्थान पर "है हैं" पाठ मानकर अर्थ करते हैं- "और जो राम जी राजाओं और लोकपालों पर परम कृपालु हैं, धनुष तोड़ने पर हय-स्वराज भी जिनसे हार मान गया, उन्हीं रघुनाथ को ईश्वर पहचान कर,"[८१] लगभग ऐसा ही अर्थ हरिहरप्रसाद जी भी करते हैं - "आप जब के है हैं नाथ रघुनाथ की धनु नम्रता मन में अनुमानी तब हारि मानी सूचना शेष करना ।"[८२] इनके अतिरिक्त

---

७६. मानस २।४।७-८
७७. वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, मानस मयंक, पृ० १७७-७८
७८. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १६१-६३
७९. कवित्ता० २।४
८०. वही ६।२६
८१. वही, पृ० ८५

प्राय: सभी टीकाकारों ने धनु हाई कुवें हैं का अर्थ - धनुष टूटेगा ही किया है।
(२५) गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ।।[८३]

अन्वय ठीक न बनने के कारण इसके भी अर्थ में भ्रान्तियाँ मिलती हैं। जुवा का अर्थ कुछ लोग द्यूतक्रीड़ा करते हैं और कुछ लोग युवक ब्राह्मण (मिलकर वेद पाठ करते हैं)।
(२६) जे परदोष लखहिं सहसांखी । परहित घृत जिन्ह के मन मांखी ।।[८४]

उक्त अर्धाली के सहसांखी शब्द के अर्थ में भी मतभेद है। इसका अर्थ कुछ लोग हजार नेत्र करते हैं और कोई-कोई पुनरुक्ति के भय से साक्षी सहित ।
(२७) राम भगति सुरसरितहि जाई । मिली सुकीरति सरजु सुहाई ।।[८५]

उक्त अर्धाली पर कुछ लोग पुराण विरुद्धता का आरोप लगाते हैं। इससे बचने के लिए कुछ लोग अर्थ करते हैं कि - श्रीराम जी की भक्तिरूपी गंगाजी वहाँ जाकर इस उत्तम-कीर्तिरूपी सरयू नदी में मिल गयीं।[८६] किन्तु यह अर्थ असाधु लगता है। उक्त अर्थ-समस्याओं के अतिरिक्त मानस और विनय-पत्रिका के निम्न-लिखित पंक्तियों के भी अनेक अर्थ किये गये हैं -
नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।[८७] - मानस १।मंगलश्लोक ७

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिबर बदन
करौ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ गुन सदन ।।

— मानस १ । मंगल सोरठा १

बंदौं गुरुपद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महामोह तमपुंज जासुबचन रबिकर निकर ।। मानस १।मंगलसोरठा ५

---

८३. कवितावली १।१७
८४. मानस १।४।४
८५. मानस १।४०।१
८६. टीकाकार बाबूश्यामलाल,बालकांड का नया जन्म, पृ० ३४
८७. मानस १।मंगलश्लोक ७

सुकृत संभु तन बिमल बिभूती । मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।। वही १।१।३

सियनिंदक अघ ओघ नसाए । लोक बिसोक बनाइ बसाए ।। वही १।१६।३

बिधि हरिहरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ।। वही१।१६।

आखर मधुर मनोहर दोऊ । बरन बिलोचन जनजियं जोऊ ।। वही १।२०।१

नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।। वही १।२१।२

सुनि अलौकिक सुचिल बल बाही । भाति मोरि मति स्वामि सराही ।।वही

१।२६।३

सुरसरिजलकृत बारुनि जाना । कबहुं न संत करहिं तेहि पाना ।।

सुरसरि मिलें सो पावनजैसें ।ईस अनीसहि अंतरु तैसें । वही१।७०।१२

सबंसदान दीन्ह सबकाहूं । जेहिं पावा राखा नहिं ताहूं ।। वही १।१६४।७

आपनी न बुझि, ना कहे को राढ़रोर, रे । बिनयं ० ७१

फिरि गर्भगत-आवर्त संसृति - चक्र जेहिं होइ सोइ कियो ।। वही १३६।७

संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए ।। वही १३६।११

ना तो बहुं समर्थ सो एक ओर किधौं हूं । वही १५० ।

गमन बिदेस न लेस कलेस को सकुचत सकृत प्रनाम सो ।

साखी ताको बिदित बिभीषन बैठो है अबिचल धाम सो ।। वही १५७ ।

लोक बिलोकि, पुरान बेद सुनि, समुझि बुझि गुरु ज्ञानी ।

प्रीतिप्रतीति रामपद-पंकज सकल सुमंगल-खानी ।। वही १६४ ।

पुनो प्रेम भगति -रस हरिरस जानहिं दास । वही २०३ ।

दानव दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चढ़े,

जीते लोकनाथ नाथबलनिभरम ।

रीझि रीझि दिए बर खीझि खीझि घाले घर,

आपने निवाजे की न काहू को सरम ।। वही २४६ ।

साहिब-सेवक-रीति प्रीति-परमिति नीति

नेम को निबाह एक टेक न टरत ।।

सुक सनकादि प्रह्लाद नारदादि कहैं ,

राम की भगति बड़ी बिरति-निरत ।। वही २५१

अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुं बिधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टारिहैं ।।

तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमगि उर भरि हैं ।

--वही २६८

परिशिष्ट 'ख'

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अध्यात्म रामायण— भाषाटीकायुतं इदं पुस्तकं मुम्बय्यांनगर्यां श्रीकृष्णदासात्मजेन खेमराजेन स्वकीयं श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणयन्त्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । संवत् १६७० शके, १८३५ ।

अभिधानचिन्तामणि:— व्याख्याकार-पं०श्रीहरगोविन्दशास्त्री, प्रका० चौखम्बा, विद्याभवन वाराणसी, प्र०सं०, वि०सं० २०२०

अष्टाध्यायी— पाणिनि

अमरकोश— अमरसिंह, सं०, प्रका० डा० सत्येन्द्र मिश्रा लेक्चरर मलाया युनिवर्सिटी कुआल, लम्पुर, प्र०सं० १६७२

आनन्द रामायण

उत्तररामचरितम्

ऐतरेय ब्राह्मण

ऋग्वेद — प्रथम एवं तृतीय खंड, सं० श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रका० गायत्री प्रका० गायत्री तपोभूमि, मथुरा, प्र०सं० १६६०

कठोपनिषद— प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

काव्यालंकार — भामह

काव्यालंकार सूत्र — वामन

कालिदास ग्रन्थावली — सं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिलभारतीय विक्रम परिषद, काशी, संवत् २००१

काव्यादर्श — महाकवि दण्डीकृत, प्रका० लाला तुलसीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत-हिन्दी पुस्तक विक्रेता, सैदमिट्ठा बाजार लाहौर, द्वितीयावृत्ति जन्माष्टमी १६६० ।

काव्य प्रकाश: — श्रीमम्मटाचार्य विरचित:, व्याख्याकार-डा० सत्यव्रत सिंह, प्रका० चौखम्बा विद्याभवन, १६५५, सं० २०१२ ।

काव्य प्रकाश: — अनुवादक स्व० हरिगोविन्दमिश्र एम०ए०,वि०सं०, २००० ,प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

काव्यानुशासन— हेमचन्द्र

केनोपनिषद— पं० यमुनाशंकर कृत, पांचवीं बार,लखनऊ नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित,सन् १६२४ ई० ।

छान्दोग्योपनिषद — टीका० महात्मा नारायण स्वामी जी, प्रका० -म० राजपाल ए०ड सन्ज, संचालक-आर्यपुस्तकालय व सरस्वती आश्रम अनारकली, लाहौर । पहलीबार, वसंतपंचमी सं० १९६६ वि०

जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण —

त्रिकाण्डशेष — व्याख्याकार - श्रीशीलस्कन्ध,प्रका० खेमराज श्रीकृष्णदास, सं० १९७२ शके १८३७,सन् १९१६ ।

ध्वन्यालोक :— श्रीमदानंदवर्धनाचार्य विरचित: , हिन्दी व्याख्या ० - आचार्य जगन्नाथ पाठक । प्रका० - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र०सं० वि०सं० २०२१ ।

ध्वन्यालोकलोचन — अभिनव गुप्त ।

निरुक्तम् — लक्ष्मणस्वरूप एम०ए० प्रका०-ए०सी० वुलनर एम०ए०सी०आई०ई०, हीन आव्द युनिवर्सिटी इन्सट्रक्शन, युनिवर्सिटी आव द पंजाब ।

न्यायमंजरी — जयन्तभट्ट ।

परिभाषावृत्ति — सीरदेव ।

परिभाषेन्दु शेखर - नागेश भट्ट बनारस,१९८५ ।

पाणिनीय सूत्र पाठस्य— संकलनकर्ता-श्रीधर शास्त्री एवं सिद्धेश्वर शास्त्री, भाण्डारकर मंदिर मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता: शाके १८५६ ख्रिस्ताब्दे १९३५, प्रका०-भाण्डारकर ओरेन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना,१९३५ ।

प्रसन्नराघव नाटक —

मत्स्य महापुराण — अनु० -रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सं० २०३३ ,प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग ।

मनुस्मृति - टीका अयोध्याप्रसाद भार्गव, प्रका० भार्गवपुस्तकालय गायघाट, बनारस,प्र०सं०सं० १९९५वि० ।

महाभाष्य — पतंजलि (कैयट की प्रदीप और नागेश की उद्योत टीकाएं)

महाभाष्यम् — महर्षि पतंजलि प्रणीतम् कैयट कृत व्याख्या सहितम् । पण्डित कृपाराम शर्मणा स्वकीय तिमिरनाशक यंत्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । काश्याम् संवत् १९४६, प्रथमवार ।

महाभारत —

मीमांसा-दर्शन— आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि: । श्रीजैमिनि प्रणीते मीमांसा दर्शने प्रथमोभाग:, प्रका० - आनंदाश्रममुद्रणालये, आयसाक्षैर्मुद्रयित्वा प्रकाशिता:, शालिवाहन शकाब्दा: १८५० क्रिस्ताब्दा: १९२९

मीमांसा श्लोकवार्तिक-कुमारिलभट्ट (पार्थसारथि मिश्र की टीका)

यजुर्वेद संहिता — भाषा-भाष्य (प्रथमखंड)भाष्यकार- पं० जयदेव जी शर्मा, द्वितीयावृत्ति-सं० १९९६ विक्रमाब्द, सन् १९४० ई० । प्रका० आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड अजमेर ।

रघुवंश- महाकवि कालिदासकृत,कालिदास समारोह समिति के लिए सूचनातथा प्रकाशन ,मध्यप्रदेश द्वारा प्रकाशित ।

रामायणं— आदिकवि श्री वाल्मीकि महामुनि प्रणीतं,वासुदेव शर्मणा संस्कृतम् । चतुर्थ संस्करणम्,प्रका०-पाण्डुरंग जावजी ,सन् १९३० ।

रसगंगाधर — जगन्नाथ पंडित

वक्रोक्ति जीवितम् — कुंतक कवि विरचितं, व्याख्याकार-श्रीराधेश्याम मिश्र, प्रका०-चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस,वाराणसी । प्र.सं. वि०सं०२०२४

वाक्यपदीय — (व्याकरण-दर्शन) भर्तृहरि,(बनारस, १९०५) हेलाराज पुण्यराज की टीकाएं ।

वाक्यपदीयम्— (ब्रह्मकाण्डम्)-भर्तृहरि, संस्कृत-आंग्ल-हिन्दीटीकोपेतम्,टीका०-डा० सत्यकाम वर्मा, प्रका० मुंशीराम मनोहरलाल, नईदिल्ली, प्र०सं०जुलाई १९७० ।

वाङ्मयार्णव: — महामहोपाध्यायपाण्डेय श्रीरामावतार शर्माविरचित:, प्र०सं० सं० २०२४ प्रका०- ज्ञानमण्डल लिमिटेड कबीर चौरा,वाराणसी. ।

वैशेषिक दर्शनम् -- पु० १ नं० ३, प्राप्तिस्थान -हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दी संग्रहालय, प्रयाग ।

वैयाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा - महामहोपाध्याय श्री नागेशभट्ट विरचिता, पं० माधव शास्त्री भांडारी, प्रका०-चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस बनारस, १६२५

बृहद् देवता -- शौनक

व्याकरण महाभाष्य -- भगवत्पतंजलि-विरचित (प्रथम नवान्हिक) अनुवादक - चारुदेव शास्त्री, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास बंगला रोड जवाहर नगर, दिल्ली । दिल्ली, पटना : वाराणसी, सं० २०२५, प्र०सं०

,, पतंजलि कृत, सं० एफ० केलहार्न सेकंड एडीशन, वाल्यूम २, १६०६) वाल्यूम - ३ (१६०६)
प्रका० - बाम्बे गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो ।

शब्दशक्ति प्रकाशिका-- जगदीश भट्ट

शतपथ ब्राह्मण -

श्रीकुमारसंभव -- महाकवि श्री कालिदास विरचितम्, क्षेमराज श्रीकृष्णदास-श्रेष्ठिना मुम्बय्यां स्वकीये श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्, सं० १६६६, शके-१८३४ ।

श्रीमद्भगवद्गीता -- मुद्रक तथा प्रका०-गीताप्रेस, गोरखपुर, दशम संस्करण ।

श्रीमद्भागवत महापुराणम् -- (सचित्रं सरलहिन्दी व्याख्या सहितम्) प्रथम एवं द्वितीय खंड) मुद्रक तथा- प्रका०-मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर चतुर्थ संस्करण

संस्कृत-हिन्दी कोश, लेखक-वामन शिवराम आप्टे, प्रका० - बंगलारोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७, १६६६ ।

साहित्य दर्पण :- विश्वनाथ कविराज प्रणीत:, प्रका०-सुन्दरलाल जैन अध्यक्ष पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, सैदामिट्ठा, बाजार, लाहौर, प्रथमावृत्ति, १६३८ ।

हिन्दी-ग्रन्थ :--

अयोध्याकांड तथा जानकी एवं पार्वती मंगल -- प्रका० नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, तृ०सं०, सं० २०१६

अर्थविज्ञान -- (पटना युनिवर्सिटी की संरक्षा में रामदीन सिंहर-शिक्ष व्याख्यान माला के अन्तर्गत) डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा दिए गए ८ व्याख्यान, १९४८, प्रका० रजिस्ट्रार पटना युनिवर्सिटी, पटना, सन् १९५१ ई० ।

अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन --डा० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी - प्र०वं० १९५१ ,प्र०सं० इलाहाबाद ।

अवधी कोश -- श्रीरामाज्ञा द्विवेदी समीर प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर-प्रदेश, इलाहाबाद,प्र०सं० १९५५ ।

कवित्त रामायन सटीक --टीका० हरिहरप्रसाद जी, उसे बनारस लाइट छापेखाने में मुंशी हरिवंशलाल वो बाबु अविनाशीलाल वो बाबु भोलानाथ की सम्मति में गोपीनाथ पाठक ने छापा सं० १९२३,१८६६ ।

कवितावली रामायण - गोस्वामी तुलसीदास रचित, टीका० बैजनाथ कुरमी, प्रका० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ,पांचवी बार (सन् १९२८ ई०)

कवितावली -- सं० डा० माताप्रसाद गुप्त एम०ए० डी०लिट्०, २००, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग,तृतीयबार ।

,, (बालबोधिनी टीका) टीका० लाला भगवान दीन,प्रका० रामनारायण लाल,इलाहाबाद,२००५ । तृ०सं० ।

,, अनुवादक-इन्द्रदेव नारायण,मुद्रक तथा प्रकाशक- घनश्यामदास जालान,गीताप्रेस गोरखपुर, सं० १९९४ ,प्र०सं० ।

,, सिद्धान्त-तिलक ,लेखक और प्रका०-श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी ,गोलाघाट, श्री अयोध्या । प्रथमावृत्ति, सं० २०१५

,, टीका० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रका० साहित्य भवन, लिमिटेड, प्रयाग, ५०सं० ।

,, टीका० देवनारायण द्विवेदी,प्रका० एस०बी०सिंह काशी पुस्तक-भंडार,चौक बनारस,श्रावण १९९९ ।

कवितावली -- टीका० -चम्पाराम मिश्र, बी०ए०,एम०ए०,एस०बी० (दीवान,कुच-पुर,स्टेट) प्रका०-इंडियन प्रेस,लिमिटेड,प्रयाग । प्रथमावृत्ति, सं० १९९० वि० ।

,, टीका० श्रीरामप्रताप त्रिपाठी ,शास्त्री, प्रका०-भारती निकेतन, इलाहाबाद ।

काव्यशास्त्र की रूपरेखा -- श्यामनंदन शास्त्री, प्रका० भारती भवन, पटना-४

,, डा० रामदत्त भारद्वाज, प्रका० सूर्य-प्रकाश ,नई सड़क-दिल्ली-६, प्र०सं०,फरवरी १९६३ ।

काव्यदर्पण -- रचयिता-पं० रामदहिन मिश्र, प्रका० ग्रन्थमाला,कार्यालय, पटना,४,द्वि०सं० १९५१ ई०

किष्किंधाकांड- टीका० लाला भगवानदीन, प्रका० रामसहायलाल मालिक,विद्या प्रचा०, बुक डिपो, कचहरी रोड,गयासिटी,प्रथमबार, अनंत चतुर्दशी,सं १९८३

क्रान्तिकारी तुलसी -- श्रीनारायण सिंह,शक० १८८०,हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग, प्रथमबार ।

कृष्ण गीतावली -- टीका श्री रामायन सरन जी, सं० १९३१,प्रका० गणेश प्रेस, लु० सं० बनारस ।

(श्री) कृष्णगीतावली -- टीका० श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस,गोरखपुर, सं० २०१४, प्र०सं० ।

,, सं० नरोत्तम स्वामी,एम०ए० विशारद और विश्वाध धर शास्त्री, साहित्य शिरोमणि प्रका०-गयाप्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर्स, आगरा,प्रथमावृत्ति,सन् १९३१ ।

,, सिद्धान्त-तिलक,तिलककार और प्रकाशक- श्री श्रीकान्तशरण , श्रीसद्गुरु कुटी,गोलाघाट,श्रीअयोध्या, प्रथमावृत्ति,सं० २०१३ ।

श्री ,, ,, टी०पं० वामदेव शर्मा, प्रका० रामनारायणलाल इलाहाबाद, द्वि०सं०,१९४७

गया सुल्तुगात-- गयासुद्दीन अनु० - मुंशी गुलाब सिंह, प्रका० लाहौर,दिल्ली, १८९५ ।

गीतावली -- सातोंकाण्ड,प्रकाशिका टीका, टीका० महात्मा हरिहरप्रसाद, प्रका० बाबू रणविजयसिंह

,, टीका० - श्री बैजनाथ,प्रका० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ - १९३७ । चौथा संस्करण ।

,, रामायण-- टीका० श्रीयुत ठाकुर बिहारीलाल,प्रका० - खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, श्री वेंकटेश्वर स्टीमप्रेस, सं० १९८३, शके १८४८ ।

,, टीका० मुनिलाल,मुद्रक एवं प्रकाशक, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस,गोरखपुर, सं० १९९१,प्र०सं० ।

,, सं० पाण्डेय रामावतार शर्मा,प्रका० सरस्वती भंडार,पटना, प्र०सं० १९८५

गीतावली -- सिद्धान्त तिलक- लेखक और प्रकाशक -श्रीश्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी,गोलाघाट,श्री अयोध्या प्रथमावृत्ति, सं० २०१५ ।

गोसाईं तुलसीदास - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रका० चन्द्रप्रकाश वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल,वाराणसी-१ प्र०सं०, सं० २०२२ ।

जानकी मंगल -- प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस,गोरखपुर । द्वि०सं० सं० २०१४ ।

(श्री) ,, सिद्धान्त तिलक प्रका० एवं तिलककार-श्री श्रीकांतशरण, श्री सद्गुरु कुटी, गोलाघाट,श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति- सं० २०१४ ।

तुलसी सूक्ति सुधाकरभाष्य - भाष्यकार-श्रीबाबूराम,शुक्ल, प्र०सं०, प्राप्तिस्थान- श्रीराम ग्रन्थागार, मणिपर्वत,श्रीअयोध्या ।

तुलसीदास -- डा० माताप्रसाद गुप्त एम०ए० डी०लिट्० , प्रका०-हिन्दी-परिषद, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग,तृतीय संस्करण, सितम्बर, सन् १९५३ , प्रयाग ।

तुलसी पंचरत्न - लाला भगवानदीन - प्राप्तिस्थान- हिन्दी संग्रहालय हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग ।

तुलसी काव्य-मीमांसा -- लेखक - श्रीउदयभानु सिंह, १९६६, प्रका० ओमप्रकाश राधाकृष्ण प्रकाशन,४-१४ रूपनगर, दिल्ली-७ ।

तुलसीदास की भाषा— लेखक डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव, प्रका० लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१४ वि० ।

तुलसी शब्दसागर— संकलनकर्ता-स्व० पं० हरगोविन्द तिवारी, सं० श्री भोलानाथ तिवारी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ०प्र०, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५०

तुलसीदास और उनकी कविता — दूसरा भाग, लेखक, रामनरेश त्रिपाठी, प्रका० हिन्दी-मंदिर, प्रयाग, पहला संस्करण, दिस० १९३७ ।

तुलसी के चार दल— पहली एवं दूसरी पुस्तक, लेखक श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी, एम०ए०, प्रका०-इंडियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग, प्र०सं०, १९३५ ।

तुलसी के भक्त्यात्मक गीत —विशेषत: विनयपत्रिका, लेखक डा० वचनदेवकुमार, प्रका०-हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली- ६, ब्रांच खजांची रोड, पटना, ४, प्र०सं० १९६४ ।

तुलसीकृत कवितावली का अनुशीलन - डा० भानुकुमार जैन, प्रका० पुस्तक प्रचार, ७१३। १२ ए।१५, प्रेमगली, गांधी नगर, दिल्ली ३१ । प्र०सं०, नवम्बर, १९७२

तुलसीदास का सौंदर्य-बोध- डा० छोटेलाल दीक्षित, प्रका० नंदकिशोर एंडसंस पो०बाक्स नं० १७, चौक, वाराणसी, प्र०सं० १९६५

तुलसीदास संदर्भ और दृष्टि — सं० डा० केशवप्रसाद सिंह और डा० वासुदेव सिंह, प्र०सं० १९७४, प्रका० विजयप्रकाश बेरी, हिन्दी प्रचारक संस्थान- पो० बा० १०६ पिशाच मोचन, वाराणसी ।

तुलसी-परिशीलन (स्मृति-ग्रन्थ) सं० बाबूलाल गर्ग, शास्त्री, प्रका० चित्रकूटधाम नगर पालिका करवी (बांदा), उ०प्र० सन् १९७२, प्रथमावृत्ति ।

तुलसीग्रन्थावली —दूसरा खंड, सं० रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन और ब्रजरत्नदास, प्रका०-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

तुलसी ग्रन्थावली—प्रथम खंड - सं० २०२८ वि०, द्वितीय खंड-सं० २०२९ वि० प्रधान संपादक - श्री सीताराम चतुर्वेदी, प्रका० अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, ६३।४३ उधर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृत्ति ।

दोहावली -- कौमुदी टीका, लेखक पं० काली प्रसाद शास्त्री, प्रका० रा० जयनारायण बी०ए० एल०एल०बी वकील, उन्नाव, प्र०सं० -अक्टूबर, सन् १९२४ ।

,, टीका० हनुमानप्रसाद पोद्दार, मुद्रक एवं प्रकाशक - घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर । प्र०सं० सं० १९९६ ।

,, सिद्धान्त-तिलक, लेखक और प्रकाशक- श्रीकांतशरण, सं० २०१२

,, श्रीतुलसीकृत दोहावली पद भावार्थ चन्द्रिका टीका, टीका० - श्रीमहाराजमानसीवंदन पाठक, गद्दी पर वर्तमान श्रीयुत छोटेलालजी ने प्रकाश किया श्री काशी विश्वनाथपुरी मुहल्ला बुलानाला सुधा निवास यंत्रालय श्री कन्हैया मिश्र के आज्ञानुसार छापा गया । सं० १९८३

,, सटिप्पण, प्रका० हिन्दी प्रेस, प्रयाग ।

पद्मावत -- जायसी

पार्वती-मंगल -- डा० मातापुसाद गुप्त -सं० १९९९, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीयावृत्ति ।

) ,, सिद्धान्त तिलक, प्रकाशक एवं लेखक, श्रीश्रीकांतशरण, प्र० श्री सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्या ।

,, टीका० अच्युतानन्ददत्त प्रका०-पुस्तक भंडार लहेरियासराय और पटना ।

,, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

,, प्रका० रामनारायणलाल प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, १९५४ ।

पाइअ-सद्द-महण्णवो -- (प्राकृत शब्द-महार्णव:) कर्ता-स्व०पं० हरगोविंददास त्रिकमचन्द सेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राध्यापक, काशी विश्वविद्यालय, प्रका० - दलसुख मालवणिया मंत्री प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी-५

पाठ — सम्पादन के सिद्धान्त — लेखक श्री कन्हैयासिंह प्रका० महात्मा प्रकाशन मन्दिर ... इलाहाबाद प्र०सं० १९६२

पाठालोचन के सिद्धान्त और प्रक्रिया — लेखक डा० मिथिलेशकान्ति, डा० विमलेश-कान्ति, प्रका० - ओमप्रकाश शर्मा, अध्यक्ष नवीनतम प्रकाशन, रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली - ३२ । प्र०सं०, १९६७

पुराण संदर्भ कोश — पद्मनी मेनन, प्रका० ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर-१२, दिसम्बर १९६९ प्र०सं० ।

बरवा रामायण — पं० चंदनपाठक, बाबू रामदिन सिंह ने प्रकाश किया, पटना खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, १८९६ ।

बरवै रामायण — प्रकाशक और तिलककार - श्रीकौशलशरण, श्री सद्गुरुकुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्याजी, प्रथमावृत्ति, सं० २०१४ ।

बरवै रामायण सटीक — टीका० जनार्दन मिश्र 'परमेश' प्रका० युगान्तर-साहित्य मंदिर भागलपुर सिटी, प्र०सं० अगस्त, १९३७ ।

बरवै रामायण — अनु० श्री सुदर्शन सिंह, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४

बरवै रामायण — अनु० श्रीसुदर्शन सिंह, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४ ।

बालकाण्ड का नया जन्म — लेखक और प्रकाशक-बाबू श्यामलाल, कल्ली जी का राममंदिर-बांक लखनऊ, १९३७ ई०, रामनवमी सं० १९९४ वि०, प्रथमावृत्ति ।

बिहारी रत्नाकर — प्रणेता जगन्नाथ रत्नाकर, बी०ए०, नवीन संस्करण-२, १९२५, प्रकाशक ग्रन्थकार शिवाला, बनारस ।

बृहत् हिन्दी कोश — सं० कालिकाप्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, प्रका० ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस १, प्र०सं० रथयात्रासंवत् २००९ ।

भाषा — (ब्लूम फील्ड की 'लैंग्वेज' का अनुवाद) अनु० - डा० विश्वनाथ-प्रसाद एम०ए०, पी०एच०डी० (लन्दन) सहायक - डा० रमानाथ-सहाय । श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास बंगलारोड, जवाहरनगर दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित । प्र०सं० १९६८

भाषा — जो० वान्द्रियेस, हिन्दी अनुवादक-जगवंशकिशोर बलवीर, प्र०सं०, १९६६, प्रका० हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

भाषाविज्ञान कोश — डा० भोलानाथ तिवारी,प्र०सं० माघ, सं० २०२०,प्रकाशक-
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी —१ ।

भाषातत्त्व और वाक्यपदीय—लेखक डा० सत्यकाम वर्मा,पी०एच०डी०,प्रका० भारतीय
प्रकाशन मंदिर ७।३, अशोकनगर,नईदिल्ली-१८,जनवरी १९६४

मानस मयंक — श्री शिवलाल पाठक रचित (बाल,अयोध्या, किष्किंधा, सुंदर,
लंकाह उत्तर) जिस पर बाबू इन्द्रदेव नारायण ने वार्तिक व तिलक किया बंग विलास प्रेस बांकीपुर,रामप्रसाद सिंह द्वारा
मुद्रित,१९२० ।

मानस अनुशीलन— (श्री शंभुनारायण चौबे) सं० सुधाकर पाण्डेय,प्रका० नागरी
प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र०सं०, सं० २०२४ वि०

मानस शंका समाधान रत्नावली भाग २, लेखक पं० रामकुमारदास प्रका० तुलसीसाहित्य
प्रचारक समिति,शृंगवेरपुर,जिला-इलाहाबाद ।

मुहावरा मीमांसा डा० ओमप्रकाश

रामचन्द्रिका पूर्वार्ध- टीका० भगवानदीन,प्रका० रामनारायण बेनीमाधव,प्रकाशक,
पुस्तक विक्रेता,इलाहाबाद - २ ।

रामचरितमानस — काशिराज संस्करण, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र,प्रका० - रमेश-
चन्द्र देव, मंत्री,सर्व भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, -
वाराणसी,प्र०सं० - सन् १९६२ ।

,, टीका० ज्ञानपुर निवासी पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य,
उपनाम 'वीरकवि' प्रका०-बेलवेडियर प्रेस,प्रयाग । सं० १९७९ विक्र-
माब्द प्रथमबार ।

,, सुंदरकांड,टीका० पं० महावीरप्रसाद मालवीय, प्रथमबार, सं०
१९७८ विक्रमाब्द ।

,, अमृतलहरी टीका सहित, टीका०-पं० रामेश्वर भट्ट, प्रका० -
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,प्रयाग, प्र०सं० सन् १९३६ ई०

,, टीका० रामनरेश त्रिपाठी,प्रका० - हिन्दी मंदिर,प्रयाग पहला
संस्करण, पौष,१९९२ ,सन् १९३६ ।

रामचरितमानस का पाठ -- प्रथम एवं द्वितीय भाग लेखक-डा० माताप्रसाद गुप्त, एम०ए०डी०लिट्०,प्रका०-साहित्य कुटीर १६२ एलेनगंज,प्रयाग, प्र०सं० १९४९ ।

रामचरितमानस : वाग्वैभव-- लेखक- डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' प्रका० -विज्ञान भारती, नई दिल्ली- ३, प्र०सं० १९७३ ।

रामचरितमानस का टीका साहित्य - डा० त्रिभुवननाथ चौबे, एम०ए०पी०एच०डी०, प्रका०-संभावना प्रकाशन, गौरीगंज,सुलतानपुर (उ०प्र०) प्र०सं०, १९७५ ।

रामलला नहछू -- सिद्धान्त तिलक,प्रकाशक एवं लेखक - श्री श्रीकान्तशरण,श्रीसद्गुरु-सदन कुटी,गोलाघाट,श्रीअयोध्या। प्र०सं० २०१३

रामाज्ञा प्रश्न -- प्रका०-घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस,गोरखपुर, सं० २०१४, पहला संस्करण,।

रामायण -- गोस्वामी तुलसीदास कृत, टीका० श्रीरामचरणदास तृतीय बार, सन् १९२४ ई०, लखनऊ केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट द्वारा नवल किशोर यंत्रालय में मुद्रित और प्रकाशित ।

टीका० विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र -संजीवनी टीका, मुद्रक व प्रका० - खेमराज श्रीकृष्णदास,श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस - बम्बई, संवत् २०२३, सन् १९६६

तुलसीदास,सातोंकाण्ड, जिसको मैनपुरी निवासी श्री शुकदेवलालजी ने संवत् १९२५ विक्रम में जगत कल्याण के अर्थ भाषा टीका रचि कर प्रामाणिक श्लोकों से भूषित किया था । चौथीबार, लखनऊ मुंशी नवलकिशोर के छापेखाने में छापी गई । जुलाई १८८८ ई० ।

बालकांड, सं० १९७१ सन् १९१५,प्रथमबार, अयोध्याकांड,सं०१९१० किष्किंधा कांड- सं० १९६९,सन् १९१२,

अरण्यकाण्ड- १९१२ , सुन्दरकांड-सं० १९७० ,सन् १९१३ प्रथमबार लंकाकांड,प्रथमबार सं० १९७३ सन् १९१६,

विनायकी टीका- टीका० विनायक राव (पुंव) असिस्टेंट सुप-रिटेंडेंट.टेनिंग इंस्टी० (सम्प्रत पेंशनर).जबलपुर ।

सटीक-टीका० पं० ज्वालाराम मिश्र,प्रका० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
२०३ हरिसन रोड,कलकत्ता,सातवाँ संस्करण ।
टीका० श्री बैजनाथ,लखनऊ श्री केसरीदास सेठ के प्रबन्ध से
नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित । तीसरी बार,सन् १९२६
टीका० डुमराव निवासी बाबू शिवप्रकाश कृत - रामतत्त्व-
बोधिनी नाम तिलक सहित । द्वितीयबार लखनऊ, श्रीयुत
मुंशी नवलकिशोर जी के यंत्रालय में बाजपेयि पा०ब्रह्म रामरत्न
के द्वारा शुद्धशोध्य छपी,दिसम्बर सन् १८७७ ई० ।
बाबू शिवप्रकाश सिंह कृत श्री काशी विश्वनाथ पुरी में मोहल्ले
सोनार पुरा केदार प्रभाकर छापाखाने में गोपाल चौबे के यहाँ
यह विनय पत्रिका टीका सहित शुध करके छपी । सं० १९४१ ।
सं० लाला भगवानदीन, प्रका० बल्लभदास,बनारस ।
सिद्धान्त तिलक (प्रथम एवं दूसरा भाग लेखक एवं प्रकाशक- श्रीश्रीकान्त
शरण,श्रीसद्गुरु कुटी,गोलाघाट,श्रीअयोध्या जी। प्रथमावृत्ति,
सं० २०१३ ।
पं० रामेश्वर भट्ट कृत सरला टीका सहित, प्रका०-इंडियन प्रेस,
प्रयाग, द्वितीय बार,१९१७ ।
श्रीहरितोषिणी टीका-समलंकृता, टीका० वियोगीहरि, प्रका०
साहित्य-सेवा सदन ,काशी,तृ०सं०, पूस, १९९२ वि०
प्रका० हनुमानप्रसाद पोद्दार,गीताप्रेस,गोरखपुर,सं० २०१८ उन्नी-
सवाँ संस्करण ।
टीका० पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य ,प्रका०-बेलवेडियर प्रेस,
प्रयाग,सं० १९८० विक्रमाब्द ,प्रथमबार ।
पं० सूर्यदीन शुक्ल,लखनऊ श्री केसरीदास सेठ द्वारा नवल किशोर
प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित , द्वितीयबार,१९२८ ।
टीका० गयाप्रसाद जी मास्टर,खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई
निज "श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम मुद्रण यंत्रालय में मुद्रित कर प्रसिद्ध
किया । सं० १९६६ शके १८३१ ।

विनय पत्रिका — विनय पीयूष (खंड १,२,३,४,५) (श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदास-विरचित विनय पत्रिका का सिद्ध भाष्य) सं० साहित्य वाचस्पति महात्मा अंजनी नंदन शरण जी, प्रकाशक- पीयूष प्रकाशन, श्री जानकीनिधान कुंज, रामघाट, अयोध्या-उ०प्र०, १९७२ ।

,, (देव दीपिका टीका समलंकृता) टीका० देवनारायण त्रिवेदी, प्रका० भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस । प्र०सं० फाल्गुन, १९९५ ।

विनय कोश — महावीरप्रसाद मालवीय, प्रका० बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सं० १९८० विक्रमाब्द, प्रथमबार ।

वैराग्य संदीपनी — टीका० जिला बाराबंकी मौजे हेड़वा, मानपुर के नम्बरदार बाबू बैजनाथ जी, ब लखनऊ -सुपरिन्टेंडेंट श्री केसरीदास सेठ के प्रबन्ध से नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित चौथीबार, सन् १९३० ।

,, नेह प्रकाशिका पं० चंदनपाठक कृत, बाबू महादेव प्रसाद ने प्रकाश किया, पटना खड्गविलास प्रेस-बांकीपुर, १८८६ ।

,, हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३, नृ०सं० ।

शब्द और अर्थ (संत साहित्य के संदर्भ में) डा० राजदेव सिंह, प्रका० - नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स बांस फाटक, वाराणसी, प्र०सं०, जनवरी, १९६८ ।

शब्दों का अध्ययन— डा० भोलानाथ तिवारी, प्रका०, शब्दकार, २२०३, गली डकोतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली ६, प्र०सं०, जनवरी १९६९ ।

शब्दान्तर — निशान्तकेतु:, संप्रति प्रकाशन, पटना, १३, की ओर से दिल्ली पुस्तक सदन, पटना- ४ द्वारा प्रकाशित, १मार्च, १९७२ ई०

श्रीरामचरितमानस— सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, एम०ए०डी०लिट्०, प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्र०सं०, १९४९ ।

,, बाल और अयोध्याकांड-रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश, टीका० हरिहरप्रसाद, पटना, खड्गविलास प्रेस-बांकीपुर में साहिब प्रसाद ने छापकर प्रकाशित किया । वि०१९५५ प्र०सं०

श्रीरामचरितमानस- आरण्य,किष्किन्धा,सुंदर लंका और उत्तरकांड अर्थात् श्री १०८ यु० देवतीर्थ स्वामीकृत मानस परिचर्या,श्रीमन्महाराज विजराज काशीराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर जी०सी०एस० आई० कृत मानस परिचर्यापरिशिष्ट और परमहंस प्रशंसमान-हंस वंशावतंस श्री जानकीरमण चरण सरोरुह राजहंस श्री सीतारामीय हरिहरप्रसाद जी कृत मानस परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश, पटना ,खंगविलास प्रेस बांकीपुर में साहित्य-प्रसाद सिंहने छापकर प्रकाशित किया । विक्रमाब्द १९५५- १८९६ ई०,प्रथमबार ।

मानस भाव प्रकाश(अयोध्या,बालकांड) प्रथम भाग, १९०१ ई० ।

मानस भाव प्रकाश (आरण्य किष्किंधा,सुन्दर,लंका और उत्तर) विक्रमाब्द १९५४,प्रथमबार, टीका० श्री संतसिंह साहिब ,प्रका०- पटना,खंग विलास प्रेस ।

श्री तुलसीकृत रामायण -(बालकाण्ड) टीका०- श्री बैजनाथ,प्रका०-केशरीदास सेठ, सुपरिन्टेण्डेण्ट,नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ,सन् १८२७ ई० ।

श्री रामचरितमानस- टीका०,डा० श्यामसुन्दरदास,प्रका० इंडियनप्रेस,प्रयाग,सं० १९९५

,, विजया टीका, प्रथमभाग-बालकाण्ड,द्वितीयभाग(अयोध्या०, अरण्य०) तृतीय भाग (किष्किंधा,सुंदर, लंका० उत्तर०) टीका०- मानस राजहंस, पं० विजयानन्द त्रिपाठी,भदैनी,काशी, प्रका०-मोतीलाल बनारसीदास,पो०बा० ७५, नेपाली खपरा,बनारस, सं० २०११ सन् १९५५ । प्रथम आवृत्ति

सिद्धान्त तिलक सहित, प्रथम खंड- बालकांड,द्वितीय खंड-अयोध्या अरण्य और किष्किंधा,तिलककार-श्रीकान्तशरण,प्रका०-पुस्तक-भंडार,लहेरिया सराय और पटना ।

मानस-पीयूष,बालकाण्ड-खंड १, सप्तम संस्करण संवत् २०२५, मा०पी०- बाल खं० २, पंचम संस्करण, सं० २०२४, मा०पी० बाल० खं० ३, चतुर्थ संस्करण सं० २०१८, मा०पी०-चतुर्थ खंड- चौथा संस्करण, सं० २०२३, मा०पी० अरण्य खं० ५, चतुर्थ संस्क०,सं० २०१८,

किष्किं० सं० ५, ब०सं०सं० २०१७, मा०पी०,सुन्दर० सं० ६, सं० २०२४,पं० सं०,मा०पी० लंका० सं० - ६, ब०सं० सं० २०२४७, मा०पी०,उत्तर०,सं० ७, बाँ०सं०,सं० २०१४ ।
सम्पादक - श्री अंजनीनंदन शरण,प्रका० मोतीलाल जालान,- गीताप्रेस गोरखपुर ।

श्रीरामचरितमानस - टी० श्री स्वामी अवधबिहारीदास जी, श्रीरामभवन,५७ मुला- राम बाग,इलाहाबाद, द्वितीय वृत्ति,सं० २०२४ ।

,, गूढ़ार्थ चन्द्रिका टीका (मराठी का अनुवाद) प्रथम एवं द्वितीय खंड,लेखक एवं अनुवादक स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती, प्रका० - मानस संघ सतना, मध्यप्रदेश, प्रथमबार,फाल्गुन २०११ वि० मार्च १९६२ ई० ।

श्रीरामचरित मानस की भूमिका-लेखक श्रीरामदास गौड़,प्रका० हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता,१२६ हरिसन रोड,कलकत्ता (देहली और काशी),प्र०सं० १९८२ ।

श्रीतुलसीतत्त्वप्रकाश - जिसको राय बहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथ भानु कवि ने बड़े परिश्रम के साथ निज यंत्रालय जगन्नाथ प्रेस,बिलासपुर में प्रका- शित किया । प्रथमावृत्ति ,सन् १९३१ ई०

श्रीरामचरितमानस - टीका० हनुमानप्रसाद पोद्दार,मुद्रक तथा प्रका० -मोतीलाल जालान,गीताप्रेस,गोरखपुर, तेरहवां संस्करण, सं० २०२० ।

,, (मोटे अक्षरों में केवल मूलपाठ) मुद्रक एवं प्रकाशक-मोतीलाल जालान गीताप्रेस,गोरखपुर,अष्टम संस्करण सं० २०२६ ।

श्रीरामचरितमानस की काव्य-कला - (श्रीमती) रूप शुक्ल और डा० हरिहरनाथ शुक्ल, प्रका० - विनोद पुस्तक मंदिर, कार्यालय, रांगेय राघव मार्ग, आगरा - २,प्र०सं० १९७३

श्रीरामचरित मानस के तीन दीपक- लेखक पं० श्री रामकुमार दास जी,प्रका०-श्रीतुलसी साहित्य प्रचारक समिति,शृंगवेर पुर,जिला-इलाहाबाद ।

श्री मानस मार्तण्ड टीका — रचयिता श्री जानकीशरण (स्नेहलता) कृष्ण० पावनी द्वारा चितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस में मुद्रित। प्रथमबार, संवत् १९९८ ।

मानक हिन्दी कोश - (पहला, द्वितीय, तीसरा, चौथा एवं पाँचवाँ खंड) सं०-रामचन्द्र वर्मा, प्रका०-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। प्र०सं०सं० २०१६वि०

मानस अनुशीलन — (श्री शंभुनारायण चौबे), सं० सुधाकर पाण्डेय, प्रका०-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र०सं०, सं० २०२४ वि०।

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर - सं० रामचन्द्र वर्मा, प्रका० - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, षष्ठ संस्करण, सं० २०१४वि०, सन् १९५८ ई०

साहित्य-सिद्धान्त — श्रीरामअवध द्विवेदी, प्र०सं० पटना बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद् १९६३।

सूर-सुषमा — सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, एम०ए०, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सातवाँ संस्करण, सं० २०२३ वि०।

हनुमान बाहुक — टीका० बैजनाथ कुर्मी, जिला नवाबगंज, बाराबंकी, मौ० - हैबतमानपुर।

(श्री) .. सिद्धान्ततिलक, तिलककार और प्रकाशक, श्री श्रीकान्तशरण, श्री सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्या, प्रथमावृत्ति, १९५० ई०।

.. .. अंग्रेजी अनुवाद और हिन्दी टीका सहित, प्रका० - श्रीपरमेश्वरीदयाल, मुंसिफ, बक्सर (शाहाबाद)

.. .. टीका० महावीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि' मुद्रक तथा प्रकाशक -घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर।

.. .. लखनऊ सुपरिन्टेण्डेण्ट बाबू मनोहरलाल भार्गव, बी०ए० के प्रबन्ध से मुंशी नवलकिशोर सी०आई०ई० के छापेखाने में छपा, सन् १९१३ ई०, द्वितीयबार।

.. .. टीका० देवनारायण द्विवेदी, प्रका० भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

.. पीयूष-वर्षिणी टीका, टीका० श्रीअंजनीनंदन शरण पीयूष कार्यालय, श्रीकरुणानिधान कुंज, ऋणमोचन घाट, श्रीअयोध्या।

हरियाणा की लोकोक्तियाँ - शास्त्रीय विश्लेषण —जयनारायण वर्मा, प्रका०- आदर्श साहित्य प्रकाशन, १२४। ८ वेस्ट सीलमपुर, दिल्ली-३१, प्र०सं० अगस्त, १९७२ ।

हिन्दी साहित्य का इतिहास —लेखक-रामचन्द्र शुक्ल, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२५ वि० सोलहवाँ संस्करण ।

हिन्दी भाषा का ऐतिहासिक विकास —लेखक - डा० शिवनाथ, प्रका० मोतीचन्द्र शर्मा, सचिव, प्रशासन निकाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग । प्रथम संस्करण - अक्टूबर १९६८, शक १८९०

हिन्दी शब्दसागर — पहला भाग- १९२६, दू०सं० - १९१६, च०भा०सं० - २०२४, १९६८ ई०, पं०भा०-सं० २०१५ वि० ,१९५८ ई०, छठा भाग- सं० २०१६ वि० १९५९ ई०, सा०भा०-सं० २०२७ वि०, १९७० ई० आ०भा० -सं० २०२८ वि०, १९७१ ई० ,नवाँ भाग - सं० २०२९, १९७२ ई० दसवाँ सं० - १९२८ प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० श्यामसुन्दरदास ।

हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन - लेखक - डा० केशवराम पाल, प्रका०-प्राची प्रकाशन, २२४ हरिदत्त शेर नगर गेट, मेरठ, प्र०सं० १९६४ ।

हिन्दी शब्द रचना — भाइ दयाल जैन

हिन्दी में देशज शब्द- डा० पूर्ण सिंह डबास, प्र०सं० १९७२, प्रका० - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली ।

हिन्दी मुहावरे — डा० प्रतिभा अग्रवाल, प्रका० श्री शिबेन्द्र नाथ, काँजीलाल, सुपरिन्टेन्डेंट, कलकत्ता, यूनिवर्सिटी प्रेस, ४८ हाजरा रोड, कलकत्ता- १९, १९६६ ।

अंग्रेजी-ग्रन्थ :-

एन आउट लाइन आफ़ लिंग्विस्टिक एनालिसिस —बर्नार्ड ब्लाक एंड जार्ज ट्रेगर ।

आल एबाउट लैंग्वेज — मारियो पेई

द फाउंडेशन्स आफ़ साइकालोजी - जे०एस० सूर ।

लैंग्वेज — एल ब्लूमफील्ड, जार्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड,लंदन,१९५०

लैंग्वेज—एण्ड रियालिटी— डब्ल्यू०एम० अर्बन ।

लैंग्वेज- आटोजेसपर्सन —जार्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड,लंदन,१९५० ।

द मीनिंग आफ़ मीनिंग — सी०के० आग्डेन एंड आई०ए० रिचार्ड्स रूटलेज एंड केगन पाल, लिमिटेड,लंदन,१९४६ ।

पाकेट थैसारस — डा०पी०एम० राजेट-१९५२ ।

द प्रिंसिपल्स आफ़ द हिस्ट्री आफ़ लेंग्वेज - हर्मन पाउल (जर्मन, इंग्लिश ट्रांसलेटर्स) एच० ए० स्ट्रांग, डब्ल्यू०एस० लाग्मैन, बी०एल० व्हीलर, लंदन— १८८७ ।

द रामायन आफ़ तुलसीदास — ट्रांसलेटेड फ्राम द ओरिजनल हिन्दी, बाई एफ० एस० ग्राउस, बी०सी०एस० एम०ए०, आक्सन, सी०आई०ई० फेलो आफ द कलकत्ता युनिवर्सिटी, फर्स्ट एडीशन, रिवाइज्ड एंड करेक्टेड इलाहाबाद नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एंड अवध गवर्नमेन्ट प्रेस , १८८३ ई० ।

द स्टोरी आफ़ लैंग्वेज —मारियो पेई,जे०बी०,लिपिनकाट कम्पनी, फिलाडेलफ़िया एंड न्यूयार्क- १९४९ ।

वर्ड्स एंड देयर यूज़ —एस० उल्मान ,फ्रेडरिक मुलर लिमिटेड,लंदन,१९५१ ।

पत्र-पत्रिकाएं -

कल्याण — वर्ष १३, मार्गशीर्ष १९९५, दिसम्बर १९३८ ई० , संख्या ५, पूर्ण संख्या - १४६

,, मानसांक — प्रथम खण्ड, वर्ष - १३, अंक १, गोरखपुर,श्रावण १९९५, अगस्त १९३८, संख्या - १, पूर्ण संख्या १४५ । संपादक -

हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रकाशक - घनश्यामदास जालान, कल्याण कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

माधुरी -- वर्ष ८, खण्ड - २, सं० ५, ज्येष्ठ ३०६, तु०सं०

विश्वभारती पत्रिका -

सरस्वती विशेषांक -- सं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, अगस्त, १९७४, वर्ष ७५, संख्या २ खण्ड २, पूर्णसं० ८८६, इलाहाबाद, अगस्त १९७४, भाद्रपद, २०३१ वि० ।

सम्मेलन पत्रिका-- मानस चतुःशती विशेषांक, भाग ६०, संख्या १, २, ३ हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित ।

हिन्दी अनुशीलन-- वर्ष - ६, अंक ५ ।